अथ

श्रीधनञ्जयविरचितम्

दशरूपकम्

धनिककृतयाऽवलोकव्याख्यया समेतम्

(समीक्षात्मक भूमिका-भाषानुवाद-व्याख्यात्मक टिप्पणी सहितम्)

डॉ॰ श्रीनिवासशास्त्री

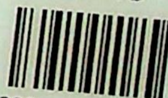
साहित्य भंडार, मेरठ

अथ
श्रीधनञ्जयविरचितं

दशरूपकम्

धनिककृतयाऽवलोकव्याख्यया समेतम्
[समीक्षात्मक-भूमिका-भाषानुवाद-व्याख्या-टिप्पणी-सहित]

कुरुक्षेत्रविश्वविद्यालयप्राध्यापकेन
डा० श्रीनिवासशास्त्रिणा
सम्पादिता





साहित्य भण्डार
शिक्षा साहित्य के मुद्रक एवं प्रकाशक
सुभाष बाज़ार, मेरठ-२५०००२

प्रकाशक :
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष :
साहित्य भण्डार,
सुभाष बाजार, मेरठ–२
दूरभाष : २२७५४

लेखक द्वारा सम्पादित अन्य उपयोगी पुस्तकें

१. कादम्बरी (पूर्वार्द्ध)
२. काव्यप्रकाश
३. तर्कभाषा
४. एम. ए. संस्कृत व्याकरण
५. संस्कृतरचनानुवादप्रभा
६. मृच्छकटिक
७. कुसुमांजलिकारिकाव्याख्या
८. न्यायबिन्दुटीका
९. वाचस्पतिमिश्र द्वारा बौद्धदर्शन का विवेचन

प्रथम संस्करण, १९६९ ई०
द्वितीय संस्करण, १९७३ ई०
तृतीय संस्करण, १९७६ ई०
चतुर्थ संस्करण, १९७९ ई०
पंचम संस्करण, १९८३ ई०
नवीन संस्करण, १९८९ ई०

मूल्य : तीस रुपये मात्र [३०.००]

मुद्रक :
राजकिशोर शर्मा
सर्वोदय प्रैस, मेरठ–२
दूरभाष : २३६३८

पूज्य माता-पिता

को

जिनकी प्रेरणा एवं प्रयास से

विविध शास्त्रों के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ

तथा

स्मरणीय गुरुजनों

को

जिनके चरणों में बैठकर

शास्त्रों का अध्ययन एवं विवेचन किया

वसन्त पञ्चमी सं० २०२५ की

यह विनम्र भेंट

सादर समर्पित

प्राक्कथन

दशरूपक की यह हिन्दी व्याख्या पाठकों की सेवा में प्रस्तुत की जा रही है। यहाँ भूमिका में नाटचशास्त्र का संक्षिप्त परिचय देते हुए धनञ्जय एवं धनिक का समय-निर्धारण, दशरूपक के प्रतिपाद्य विषय, महत्त्व तथा रस-सिद्धान्त आदि पर विचार किया गया है। विस्तार-भय से कई अंश छोड़ दिये गये हैं। हिन्दी-व्याख्या का क्रम यह रक्खा गया है—प्रथमतः कारिका, वृत्ति तथा उदाहरणों का हिन्दी में अनुवाद किया गया है। अनुवाद में स्पष्टता के लिये कहीं-कहीं आवश्यक शब्द या किसी शब्द की व्युत्पत्ति तथा विग्रह आदि कोष्ठक में रख दिये गये हैं, कहीं किसी अंश का भावानुवाद भी कर दिया गया है। संस्कृत के जो शब्द हिन्दी में उसी रूप में प्रचलित हैं, उनका ज्यों का त्यों प्रयोग किया गया है; किन्तु जो शब्द अपने रूप में प्रचलित नहीं है, उनका प्रचलित शब्दों द्वारा अनुवाद किया गया है। फलतः कहीं अविकलता की दृष्टि से अथवा कहीं स्पष्टता की दृष्टि से कमी भी दिखाई दे सकती है।

कारिका, वृत्ति तथा उदाहरणों को स्पष्ट करने के लिये आवश्यकतानुसार व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ दी गई हैं। इनमें कठिन शब्द, समासों आदि के अर्थ तथा व्याख्या दिखलाई गई है, गहन विषय के स्पष्टीकरण का प्रयास किया गया है, विवादास्पद विषयों के पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष को सरल शब्दों में प्रस्तुत किया गया है और यथासम्भव किसी लक्षण को उसके-उदाहरणों में घटित करके दिखलाया गया है। अधिकांश प्रसङ्गों में यह दिखलाया गया है कि दशरूपक का कोई विषय अन्य प्रमुख नाटच सम्बधी ग्रन्थों में कहाँ मिलता है। इसके सन्दर्भ मात्र दे दिये गये हैं, जहाँ विशेष अन्तर है उसे स्पष्ट कर दिया गया है। संक्षेपतः अनुवाद तथा टिप्पणी के द्वारा मूल ग्रन्थ के अभिप्राय को स्पष्ट करने एवं इसकी विषय-वस्तु का तुलनात्मक अनुशीलन करने का प्रयास किया गया है।

प्रश्न उठ सकता है कि दशरूपक के कई एक अनुवाद तथा व्याख्याओं के होते हुए इस नवीन व्याख्या की क्या आवश्यकता है। इस विषय में यही नम्र निवेदन है कि सरस्वती की पूजा विविध जन अपने-अपने भाव से किया करते हैं, उनकी दृष्टि तथा शैली में भी भेद हुआ करता है। अतः यह सम्भावना है कि यह नवीन व्याख्या दशरूपक के पाठकों के लिये अवश्य उपयोगी सिद्ध हो सकेगी।

इस व्याख्या में आवश्यकतानुसार साहित्यशास्त्र, नाटचशास्त्र, काव्य एवं नाटक आदि के अनेक मूल ग्रन्थों का आधार लिया गया है। विविध ग्रन्थों की

भूमिकाओं, अंग्रेजी तथा हिन्दी में लिखे गये संस्कृत साहित्य के इतिहास एवं समालोचना सम्बन्धी ग्रन्थों से भी पर्याप्त सहायता ली गई है। उनमें अधिकांश का यथास्थान उल्लेख किया गया है, जिनका उल्लेख नहीं किया गया उनका भी यह लेखक ऋणी तो है ही। इसलिये उन सभी ग्रन्थों के प्रणेता विद्वानों का यह लेखक हृदय से आभार स्वीकार करता है। वस्तुतः दशरूपक के तथ्यों की अभिव्यञ्जना में उन सभी विद्वानों की कृतियों ने प्रकाश-स्तम्भ का कार्य किया है। उनके कृपा-प्रसाद से ही यह ग्रन्थ पूर्ण किया जा सका है, इसमें जो भी ग्राह्य है वह उनका ही है जो अग्राह्य है वह लेखक का असफल प्रयास मात्र है।

अन्त में साहित्य भण्डार के अध्यक्ष रतिराम शास्त्री जी को भी धन्यवाद एवं साधुवाद देना लेखक अपना परम कर्त्तव्य समझता है, जिनके अनुरोध से ही इस कार्य का समापन हो सका है। साथ ही प्रिय वत्स राजकिशोर शर्मा को भी आधुवाद देना आवश्यक है, जिन्होंने मुद्रण के कार्य में अथक परिश्रम किया है।

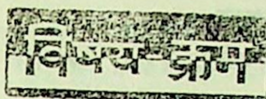
ग्रन्थ को शुद्ध एवं उपयोगी बनाने का पूर्ण ध्यान रक्खा गया है तथापि साधनाभाव अथवा दृष्टि-दोष के कारण कुछ कमियाँ रह जाना सम्भव ही है। स्नेहशील विद्वज्जनों के सत्परामर्श से उन कमियों को दूर करने का प्रयत्न किया जायेगा। यदि इससे पाठक जन का कुछ भी उपकार हो सका तो लेखक अपने प्रयास को सफल समझेगा।

—लेखक

पुनश्च

हिन्दी-व्याख्या सहित इस दशरूपक का पाठकवृन्द ने यथेष्ट स्वागत किया है। साथ ही अपने सत्परामर्श से हमारा महान् उपकार किया है। एतदर्थ हम पाठकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं और आशा करते हैं कि आप भविष्य में भी हमारा उत्साह संवर्धित करते रहेंगे।

—लेखक



प्रमुख सहायक ग्रन्थों के संकेत तथा विवरण

भूमिका

१. संस्कृत नाटचविद्या का परिचय; भरत के पूर्ववर्ती आचार्य, भरत का नाटचशास्त्र, नाटचशास्त्र के कर्त्ता तथा समय, भरत के परवर्ती आचार्य, नाटचशास्त्र के व्याख्याकार, नाटचशास्त्र के आधार पर लिखे गये स्वतन्त्र ग्रन्थ, काव्यशास्त्र के ग्रन्थ जिनमें नाटचसम्बन्धी विवेचन है।

२. धनञ्जय और उसका दशरूपक; धनञ्जय का समय, दशरूपक का आधार, दशरूपक की शैली, दशरूपक की टीकाएँ और धनिक का दशरूपावलोक, धनिक का समय तथा कृतियाँ आदि।

३. दशरूपक के प्रतिपाद्य विषय पर एक दृष्टि।

४. रस-सिद्धान्त और दशरूपक का मन्तव्य; आचार्य भरत, अलङ्कारवादी आचार्यों का रसविषयक दृष्टिकोण, ध्वनिवादी आचार्य तथा रससिद्धान्त, ध्वनिविरोधी किन्तु रसवादी आचार्य, भरत के रससूत्र की विविध व्याख्यायें [भट्टलोल्लट, श्रीशङ्कुक भट्टनायक, अभिनवगुप्त], दशरूपक का रसविषयक मन्तव्य।

५. संस्कृत साहित्यशास्त्र विशेषकर नाटचशास्त्र को दशरूपक की देन।

प्रथम प्रकाश—नायक-नायिका भेद

मङ्गलाचरण १. ग्रन्थ का प्रयोजन ३. नाटच का स्वरूप ६. रूपकों के भेद ८, नाटच, नृत्त एवं नृत्य का अन्तर ८. रूपकों के भेदक तत्त्व १२, वस्तु के भेद-प्रभेद १२, प्रासङ्गिक कथावस्तु के भेद १३, इतिवृत्त का फल १७, अर्थ-प्रकृतियाँ १८, कार्यावस्थायें २१, सन्धियाँ २४. मुख सन्धि तथा उसके अङ्ग २६, प्रतिमुख सन्धि तथा उसके अङ्ग ३६, गर्भसन्धि तथा उसके अङ्ग ५०, अवमर्श सन्धि तथा उसके अङ्ग ६३, निर्वहण सन्धि तथा उसके अङ्ग ८१, सन्ध्यङ्गों का प्रयोजन ९५. वस्तु-निबन्धन की दृष्टि से वस्तु-विभाजन ९६, विष्कम्भक आदि अर्थोपक्षेपक ९०, नाट्योक्ति की दृष्टि से वस्तु के भेद (जनान्तिक इत्यादि) १०२।

द्वितीय प्रकाश—नायक-नायिका भेद

नायक के गुण १०९, नायक के प्रकार (धीरोदात्त इत्यादि) ११३, नायक की शृङ्गाररस सम्बन्धी अवस्थायें (दाक्षिण्य आदि) १२२, नायक के सहायक १२७, नायक के सात्त्विक गुण १२९, नायिका-भेद (स्वकीया इत्यादि) १३४, नायिका के अन्य भेद (स्वाधीनपतिका आदि अवस्थायें) १५, नायिका की सहायिकायें १६०, नायिकाओं के अलङ्कार १६१, नायक के अन्य सहायक १७९, भारती आदि वृत्तियाँ

तृतीय प्रकाश—रूपकों के प्रकार

चतुर्थ प्रकाश—रस-विवेचन

———

प्रमुख सहायक ग्रन्थों के संकेत तथा विवरण

अभिज्ञानशाकुन्तलम् (अभि० शा०), कालिदास; साहित्य भण्डार, मेरठ,

अभिनयदर्पण, नन्दिकेश्वर; के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता १९५७.

अभिनव भारती (अभि० भा०), अभिनवगुप्त, गायकवाड़ ऑरियण्टल सीरीज, बड़ौदा-

अमरुशतक (अमरु०), अमरु; मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद १९६१.

उत्तररामचरित (उत्तर०), भवभूति; चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस १९५३.

कर्पूरमञ्जरी, राजशेखर; रूपरेल कालेज, बम्बई १९.

कादम्बरी, बाणभट्ट, साहित्य भण्डार, मेरठ,

कामसूत्र, वात्स्यायन; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १८९१.

काव्यप्रकाश (का० प्र०), मम्मट, साहित्य भण्डार, मेरठ १९६७.

काव्यादर्श, दण्डी; जीवानन्दविद्यासागरव्याख्यासहित, चेन्नपुरी १९५२.

काव्यानुशासन (काव्यानु०), हेमचन्द्र; महावीर जैनविद्यालय, बम्बई १९३८.

काव्यालङ्कार, भामह; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना,

काव्यालङ्कार, रुद्रट; वासुदेव प्रकाशन दिल्ली, १९६५.

काव्यालङ्कारसंग्रह, उद्भट; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९२८.

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, वामन; आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली १९५४.

किरातार्जुनीय (किरात०) भारवि; चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९५२.

कुमारसम्भव (कुमार०), कालिदास; निर्णयसागर० १९५५.

गाथासप्तशती (गाथा०) हाल; प्रसाद प्रकाशन, पूना १९५६.

दशरूपक (दश०) धनञ्जय तथा धनिक; (i) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९४१. (अवलोकसहित)

" (ii) प्रभा (सं०) व्याख्यासहित; गुजराती प्रेस, बम्बई १९२७.

" (iii) अंग्रेजी अनुवाद हॉस); मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६२.

" (iv) हिन्दी दशरूपक; साहित्य निकेतन, कानपुर १९६६.

" (v) चन्द्रकला हिन्दी व्याख्या; चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १९६७.

" (vi) भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक; राजकमल प्रकाशन दिल्ली.

दी टाइप्स ऑफ संस्कृत ड्रामा, मनकड,

ध्वन्यालोक (ध्वन्या०), आनन्दवर्द्धन; गौतम बुक डिपो, दिल्ली १९५२.

ध्वन्यालोकलोचन (लोचन), अभिनवगुप्त; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६३.

नागानन्द, हर्ष, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस १९५६.

नाट्यदर्पण (ना० द०), रामचन्द्र, गुणचन्द्र, (हिन्दी व्याख्या) दिल्ली विश्वविद्यालय, १९६१.

नाट्यशास्त्र (ना० शा०) भरतमुनि, गायकवाड़ ऑरियन्टल सीरीज, बड़ौदा,
नाट्य शास्त्र, भाग १ (अनुवाद तथा व्याख्या सहित), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६३.
प्रतापरुद्रयशोभूषण (प्रता०), विद्यानाथ; बालमनोरमा प्रेस, मद्रास १९५०.
भर्तृहरिशतक, भर्तृहरि;
भावप्रकाशन (भा० प्र०), शारदातनय; ऑरियण्टल इन्स्टीटयूट, बड़ौदा १९३०.
भोजप्रबन्ध, बल्लाल, साहित्य भण्डार, मेरठ
महावीरचरित (वीरचरित) भवभूति; चौखम्बा विद्याभवन, बनारस १९५५:
माघकाव्य (माघ), माघ; निर्णयसागर० १९५७.
मालतीमाधव (मालती०), भवभूति, निर्णयसागर० १९३६.
मालविकाग्निमित्र, कालिदास; निर्णयसागर० १९५०.
मुद्राराक्षस, विशाखदत्त; साहित्य भण्डार, मेरठ.
मृच्छकटिक, शूद्रक; साहित्य भण्डार, मेरठ १९६८.
मेघदूत (मेघ०), कालिदास; साहित्य भण्डार, मेरठ.
रघुवंश (रघु०), कालिदास; निर्णयसागर० १९४८.
रत्नावली, हर्ष; सहित्य भण्डार, मेरठ.
रसगङ्गाधर, पण्डितराज जगन्नाथ; चौखम्बा विद्याभवन, बनारस १९५५.
रसतरङ्गिणी, भानुदत्त: वेङ्कटेश्वर प्रेस प्रकाशन.
रसार्णवसुधाकर, शिङ्गभूपाल;
वक्रोक्तिजीवित (वक्रोक्ति०), कुन्तक, के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता १९६१.
विक्रमोर्वशीय (विक्रमोर्वशी), कालिदास; चौखम्बा संस्कृत सीरीज १९५३.
वेणीसंहार (वेणी०), भट्टनारायण; साहित्य भण्डार, मेरठ १९०.
व्यक्तिविवेक, महिमभट्ट; चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस.
सरस्वतीकण्ठाभरण (सर० क०), भोजराज; निर्णयसागर प्रेस बम्बई.
साहित्यदर्पण (सा० द०), विश्वनाथ; चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १९५७.
संगीतरत्नाकर, शार्ङ्गदेव; अड्यार लाइब्रेरी १९४४.
संस्कृत-नाटक, ए० बी० कीथ; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६५.
संस्कृत पोयटिक्स, एस० के० डे०; के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता १९६०.
हनुमन्नाटक (महानाटक), (दामोदर मिश्र ?), जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता १८९०.
हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स (HSP) पी० वी० काणे; मोतीलाल बनारसीदास; दिल्ली.

———

भूमिका

१. संस्कृत नाटयविद्या का परिचय

लक्ष्यग्रन्थों की श्रीवृद्धि के उपरान्त ही लक्षण-ग्रन्थों की रचना हुआ करता है। उन लक्षण-ग्रन्थों में लक्ष्य-ग्रन्थों का आश्रय लिया जाता है और उनकी विशेषताओं को ध्यान में रखकर कुछ ऐसे नियमों का अन्वेषण किया जाता है, जो भावी कला-कृतियों के लिये मानदण्ड निर्धारित किया करते हैं। फलतः जिस प्रकार रामायण, महाभारत तथा कालिदास आदि के काव्यों का आश्रय लेकर अलङ्कार शास्त्र का उद्भव तथा विकास हुआ होगा उसी प्रकार किसी समृद्ध रूपक-परम्परा के आधार पर ही प्रथमतः नाटचशास्त्र-विषयक ग्रन्थों की रचना हुई होगी। यह कहना कठिन है कि भारतीय रूपक की प्राचीनतम रचनाएँ कौन सी थीं और उनके आधार पर सर्वप्रथम कौन सा नाटच-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा गया। भारतीय परम्परा के अनुसार त्रेता युग में ब्रह्मा द्वारा नाटक की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के आधार पर नाटचवेद की रचना की। यह नाटचवेद पञ्चम वेद है, जिसमें पाठच, गीत, अभिनय तथा रस चारों तत्त्वों को क्रमशः ऋक्, साम, यजुष् तथा अथर्ववेद से लिया गया है। ब्रह्मा की प्रेरणा से विश्वकर्मा ने नाटच-गृह की रचना की और भरतमुनि ने अभिनय की व्यवस्था की। भरत ने अपने सौ शिष्यों तथा अप्सराओं को नाटचकला की शिक्षा दी। नाटचकला को पूर्ण बनाने के लिये शिव ने नाटच के साथ ताण्डव का और पार्वती ने लास्य का समावेश कर दिया।

आधुनिक दृष्टि से यह समझा जाता है कि सम्भवतः भरत के नाटचयशास्त्र की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये एवं इसके माहात्म्य की वृद्धि के लिये ही इस आख्यान की कल्पना की गई होगी। फिर भी इससे कतिपय तथ्यों पर अवश्य प्रकाश पड़ता है। इससे प्रकट होता है कि भारत में अति प्राचीन काल में नाटच काव्यों का विकास हो चुका था, जिनके आधार पर नाटचकाव्य का शास्त्रीय विवेचन करने की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा था। किन्तु प्रश्न यह है, इस आवश्यकता का सर्वप्रथम किस आचार्य ने अनुभव किया, क्या भरतमुनि का नाटचशास्त्र ही नाटचविद्या का प्रथम शास्त्रीय विवेचन है अथवा इससे पूर्व भी कोई नाटचशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ रहे होंगे ? इस प्रश्न का उत्तर निश्चित रूप से तो देना कठिन है, क्योंकि भारत के प्राचीन राजनैतिक और सामाजिक इतिहास के समान साहित्यिक

इतिहास का भी बहुत धुंधला सा आभास मिलता है। फिर भी नाट्य-साहित्य के विवेचन से इसके कुछ संकेत उपलब्ध हो सकते हैं।

नाट्य-सम्बन्धी साहित्य के आचार्यों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है (मि०, ना० द० भूमिका पृ० ८८)—

(१) भरत के पूर्ववर्ती आचार्य जिनके यत्र-तत्र उल्लेख मिलते हैं, किन्तु रचनाएँ अप्राप्य हैं।

(२) भरत का नाट्यशास्त्र।

(३) भरत के पूर्ववर्ती या परवर्ती आचार्य जिनकी सम्पूर्ण रचनाएँ अनुपलब्ध हैं, किन्तु अन्य आचार्यों ने उनका उल्लेख किया है अथवा कहीं-कहीं उनके उद्धरण भी दिये हैं; जैसे कोहल आदि।

(४) नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार कीर्तिधर, भट्टोद्भट, भट्टलोल्लट तथा अभिनवगुप्त आदि।

(५) नाट्यशास्त्र के आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने वाले धनञ्जय आदि।

(६) काव्यशास्त्र पर ग्रन्थ लिखने वाले आचार्य, जिन्होंने कुछ अध्यायों में नाट्यशास्त्र का भी विवेचन किया है, जैसे भोजराज, विश्वनाथ इत्यादि।

(१) भरत मुनि के पूर्ववर्ती आचार्य—पाणिनि (४.३. ११०. १११) ने शिलालिन् और कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख किया है। प्रो० हिलब्रान्ड का सुझाव है कि ये कृतियाँ भारतीय नाट्य की प्राचीनतम पुस्तकें मानी जानी चाहिए। किन्तु वेबर तथा कोनो के अनुसार ये नर्तकों तथा नट का काम करने वालों के लिये लिखे गये ग्रन्थ थे। कीथ का भी वही मत है (सं० नाटक पृ० ३०९)। दूसरी ओर मनमोहन घोष (ना० शा० भूमिका पृ० LXIV) का विचार है कि यहाँ 'नट' का अर्थ अभिनेता ही है। इस प्रकार पाणिनि के समय (चौथी शताब्दी ई० पू०) में नाट्य सम्बन्धी ग्रन्थों का होना विवादास्पद ही है। पतञ्जलिकृत महाभाष्य (लगभग १५० ई० पू०) में नाट्य कला के अधिक विकसित रूप के संकेत अवश्य मिलते हैं, फिर भी उनके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय कोई नाट्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ रचा जा चुका था। अभिनवगुप्त ने एक स्थान पर संग्रह और दूसरे स्थान पर संग्रहकार का उल्लेख किया है। भरत ने भी संग्रह श्लोकों के नाम से कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं (६. ३. १०)। ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यविषयक संग्रह ग्रन्थ भरत से पूर्व ही प्रचलित रहा होगा और अभिनवगुप्त भी उससे परिचित रहे होंगे। भरत ने पूर्वाचार्यों की अन्य कारिकाएँ भी 'भवन्ति चात्र श्लोकाः' अथवा 'अत्रार्ये भवतः' इत्यादि प्रकार से उद्धृत की हैं। ऐसे लगभग १०० पद्य नाट्यशास्त्र में हैं। इनसे भी यह प्रकट होता है कि भरत से पहिले भी नाट्यविषयक ग्रन्थ लिखे गये थे। यद्यपि कुछ उल्लेखों से यह विदित होता है कि भरत ने अग्निपुराण के आधार पर नाट्यशास्त्र की रचना की थी तथापि युक्ति और प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया जा

चुका है कि अग्निपुराण का साहित्यशास्त्र सम्बन्धी विवेचन बहुत बाद का है वह नाटचशास्त्र का आधार नहीं हो सकता (HSP पृ० ३--९)। इस प्रकार वर्तमान काल में उपलब्ध नाटच-विषयक ग्रन्थों में भरत का नाटचशास्त्र ही सबसे प्राचीन माना जाता है।

(२) **भरत का नाटचशास्त्र**—यह संस्कृत काव्यशास्त्र एवं नाटचशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। इसमें नाटच, नृत्य, सङ्गीत तथा अलङ्कार आदि सभी विषयों का विवेचन किया गया है, नाटच तथा रस का अत्यन्त विस्तृत विवेचन है। इसमें ३७ अध्याय हैं। विद्वानों का विचार है कि ३६ अध्याय प्राचीन हैं और ३७वाँ अध्याय बाद में जोड़ा गया है। यहाँ प्रथम अध्याय में नाटक तथा नाटचवेद की उत्पत्ति का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में नाटचगृह की रचना आदि का वर्णन है। तृतीय अध्याय में महादेव, ब्रह्मा, विष्णु, बृहस्पति, गुह्य की पूजा का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में देवों के समक्ष अमृत-मन्थन और महादेव के समक्ष त्रिपुरदाह नामक रूपकों के अभिनय की कथा है तथा ताण्डव नृत्य के उद्भव एवं शिक्षण का निरूपण है। पञ्चम अध्याय में पूर्वरङ्ग, नान्दी, प्रस्तावना आदि का वर्णन है। षष्ठ अध्याय में स्थायी भाव, रस आदि का विशद वर्णन है तथा सप्तम में भाव, विभाव, अनुभाव सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावों का निरूपण किया गया है। अष्टम में सात्त्विक, आङ्गिक, वाचिक और आहार्य चार प्रकार के अभिनयों का स्वरूप दिखाया गया है। आगे ९ से १२ तक के अध्यायों में आङ्गिक अभिनय का विस्तृत वर्णन है। अग्रिम अध्यायों के विषय निम्न प्रकार हैं—१३ भारती आदि वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का निरूपण। १४-१५ वाचिक अभिनय। १६. छन्द, नाटचलक्षण, अलङ्कार, काव्य के दोष तथा गुण आदि। १७. भाषाओं के लक्षण। १८. दशरूपकों के लक्षण। १९. २०. वस्तु, सन्धि, सन्ध्यङ्ग, भारती आदि वृत्तियों के अङ्ग। २१. आहार्य अभिनय। २२. युवतियों के अलङ्कार, नायिका की अवस्थाएँ। २३. नारी की प्रकृति। २४. नायक-नायिका के प्रकार। २५. अभिनय-सम्बन्धी निर्देश, नाटचोक्ति। २६-२७. नाटच प्रयोग। २८. आतोद्य-प्रयोग : २९. आतोद्य-विधान। ३०. सुषिर आतोद्य का स्वरूप। ३१-३२ ताल-लय आदि ३३. गायक, वादक का गुणदोष-विचार। ३४. मृदङ्गों का वर्णन। ३५. पात्रों की भूमिका की व्यवस्था। ३६. पूर्वरङ्गविधानकथा। ३७. नाटचावतार, नाटच-माहात्म्य।

गायकवाड़ ऑरियन्टल सीरीज बड़ौदा के संस्करण के अनुसार उपर्युक्त विषय-सूची दी गई है। भिन्न-भिन्न संस्करणों में अध्यायों की श्लोक संख्या तथा विषय-प्रतिपादन में अन्तर है।

नाटचशास्त्र के कर्त्ता तथा समय—नाटचशास्त्र के उपलब्ध स्वरूप में कई पाठ-भेद मिलते हैं। अतः यह कहना कठिन है कि नाटचशास्त्र का असल रूप क्या था, क्या यह समस्त नाटचशास्त्र एक ही भरत नामक आचार्य की रचना है तथा

इसकी रचना का कोई एक निश्चित समय भी है । विद्वानों का विचार है कि वर्तमान नाट्यशास्त्र एक काल की रचना नहीं अपितु शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का फल है । नाट्यशास्त्र में तीन अंश हैं—(१) **गद्य भाग**—यह सूत्र यथा भाष्य के रूप में है । इसकी शैली यास्क के निरुक्त की शैली से मिलती है । जैसे—**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः । को वा दृष्टान्त इति चेद् उच्यते ।** रस इति कः पदार्थः ? उच्यते—आस्वाद्यत्वात् (ना० शा० ६ श्लोक ३१ से आगे गद्य) । कुछ विद्वानों का विचार है कि यही अंश इस ग्रन्थ का मूल भाग है अन्य अंश कालान्तर में जोड़े गये हैं । (२) **सूत्रविवरणस्वभावा कारिकायें**—सूत्र तथा भाष्य के अभिप्राय को विस्तारपूर्वक समझाने के लिये ५००० से ऊपर कारिकायें हैं, जिनमें विविध शङ्काओं का समाधान भी किया गया है । (३) **अन्य श्लोक**, जो तीन प्रकार के हैं—(क) **आनुवंश्य**—भरत के नाट्यशात्र में १५ अनुष्टुभ् और १६ आर्या 'छन्द ऐसे हैं जिनका इस नाम से निर्देश किया गया है । अभिनव भारती (६·३५) से ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्य-विषयक कुछ मन्तव्य गुरुशिष्यपरम्परा से प्रचलित थे, 'उनका ही '**अत्रानुवंश्यौ भवतः**' इत्यादि रूप से नाट्यशास्त्र में संग्रह कर दिया गया है (ख) सूत्रानुविद्ध (अनुबद्ध) श्लोक—अनेक पद्यों को **सूत्रानुविद्धे आर्ये भवतः**' इत्यादि प्रकार से उद्‌धृत किया गया है । इनमें सूत्र का भाव सरल रूप से प्रकट किया गया है । अभिनवभारती के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि ये पद्य भरत-रचित ही हैं । (ग) पूर्वाचार्यों की कारिकायें '**भवन्ति चात्र श्लोकाः**' अथवा '**अत्रार्ये भवतः**' इत्यादि कहकर भी लगभग १०० पद्य उद्‌धृत किये गये हैं । अभिनवभारती के अनुसार ये पद्य प्राचीन आचार्यों के हैं जिन्हें भरतमुनि ने यथास्थान रख दिया है—'**ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिता मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः** (ना० शा० पृ० ३२७-३२८) ।

इस विवेचन से यह प्रकट होता है कि नाट्यशास्त्र का वर्तमान रूप अनेक परम्परा-प्राप्त विद्याओं का समन्वित रूप है तथा इसका मूल रूप भरत मुनि द्वारा रचा गया है । किन्तु अभिनवगुप्त के समय से ही यह शङ्का की जाने लगी थी (जो आज भी की जाती है) कि भरत के किसी शिष्य ने नाट्यशास्त्र की रचना की थी । अभिनवगुप्त ने इस शङ्का का निराकरण किया है (अ० १.७ पृ० ६)। भावप्रकाशन (दशम अधिकार पृ० २८७) में यह भी बतलाया गया है कि नाट्यशास्त्र के दो रूप थे। एक द्वादश सहस्र (१२०००) श्लोकों का था जो 'द्वादशसहस्री' कहलाता है और दूसरा षट् सहस्र (६०००) श्लोकों में संगृहीत किया गया था जो 'षट्सहस्री' कहलाता है । धनिक ने 'षट्सहस्रीकृत्' के नाम से भरत का एक उद्धरण दिया है (अवलोक ४·२)।

नाट्यशास्त्र के समय के विषय में विविध मत हैं। म० हरप्रसाद शास्त्री ने इसका समय ई० पू० द्वितीय शती माना है। प्रो० लेबी के अनुसार नाट्यशास्त्र का रचना-काल क्षत्रपों के शासन का समय है। पी० वी० काणे ने लेवी के मत का खण्डन किया है (HSP, पृ० ४०-४१)। कीथ का विचार है कि इसका रचनाकाल तीसरी शताब्दी से पूर्व नहीं हो सकता। उनके अनुसार बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रमाणों के आधार पर भी इसी मत की पुष्टि होती है- (१) 'संस्कृत के रूपकों में पूर्वरङ्ग का एक प्रकार से अस्तित्व ही नहीं है; किन्तु नाटचशास्त्र में उसका विस्तृत विवरण दिया गया है; इस तथ्य से कम परिष्कृत रुचि वाले युग का संकेत मिलता है। (२) 'जिन प्राकृतों से नाटचशास्त्र परिचित है, वे स्पष्टतया अश्वघोष की प्राकृतों के बाद की हैं और भास के नाटकों में उपलब्ध प्राकृतों के साथ उनका अधिक सादृश्य है। किञ्च, नाटचशास्त्र ने अर्धमागधी को मान्यता दी है जो इन दोनों में नाटककारों की रचनाओं में पायी जाती है किन्तु पश्चात्कालीन नाटककारों में नहीं' (३) भास ने एक नाटचशास्त्र का स्पष्ट रूप में निर्देश किया है, और बहुत सम्भाव्य है कि वे और कालिदास दोनों वर्तमान ग्रन्थ के किसी पूर्व रूप से परिचित थे'। (४) 'भास ने अपने नाटकों के उपसंहार के आकार-प्रकार में अथवा रङ्गमञ्च से मृत्यु के दृश्यों के बहिष्कार में नाटयशास्त्र के नियमों का आँख मूँद कर पालन नहीं किया है, इससे इतना ही सूचित होता है कि जिस समय उन्होंने अपने नाटकों की रचना की थी उस समय तक शास्त्र की नियामक शक्ति प्रतिष्ठित नहीं हुई थी (संस्कृत नाटक पृ० ३११)।

डॉ० पी० सी० सरकार ने वर्तमान नाटचशास्त्र में महाराष्ट्र और नैपाल के उल्लेख के आधार पर इसका समय दूसरी शती के बाद माना है, क्योंकि नैपाल का प्रथम उल्लेख समुद्रगुप्त-प्रशस्ति में चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ है और महाराष्ट्र का प्रथम उल्लेख 'महावंश' (पञ्चम शताब्दी) तथा ऐहोल अभिलेख (६३४ ई०) में हुआ है। काणे महोदय ने इस मत के आधार को युक्ति-युक्त नहीं स्वीकार किया (HSP. पृ० ४२)। मनमोहन घोष ने भरत के भाषावैज्ञानिक तथा छन्द-सम्बन्धी विवेचन, केवल चार अलङ्कारों का वर्णन, उपाख्यान और भौगोलिक विवरण के आधार पर नाटचशास्त्र का समय १०० ई० पू० तथा २०० ई० के मध्य निर्धारित किया है (वही पृ० ४१)। पी० वी० काणे ने इन सभी मतों की परीक्षा करके अनेक युक्तियों तथा प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि नाट्यशास्त्र का समय तीसरी शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता (वही पृ० ४७)। उनका विचार है कि वर्तमान नाट्यशास्त्र के षष्ठ सप्तम अध्याय, अभिनय-विषयक ८ से १४ तक के अध्याय तथा १७ से ३५ तक के अध्याय किसी एक समय ग्रथित किये गये होंगे। षष्ठ और सप्तम अध्याय के गद्य-अंश और आर्याएँ, जिन्हें अभिनवगुप्त ने प्राचीन आचार्यों से

लिया गया बतलाया है, लगभग २०० ई० पू० में लिखी गई होंगी और जब अन्य अध्याय लिखे गये तब उसमें जोड़ी गई होंगी। (वही पृ० १३)

(३) **भरत के पूर्ववर्ती या परवर्ती आचार्य**--(जिनके उल्लेख या उद्धरण तो मिलते हैं किन्तु रचनाएँ उपलब्ध नहीं)। इस युग में अनेक आचार्य हुए हैं, उदाहरणार्थ कोहल, दत्तिल, शालिकर्ण (शातकर्ण), बादरायण (बादरि), नखकुट्ट और अश्मकुट्ट आदि का नाम बाद के नाटच-विषयक ग्रन्थों में नाटचशास्त्र के प्रामाणिक आचार्यों के रूप में आता है। पी० वी० काणें ने वामन की काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति (१. ३. ७) कुट्टनीमत (५. १२३), तथा अभि० भा० (अ० ४) के साक्ष्य पर विशाखिल नामक एक पूर्ववर्ती नाटचाचार्य का भी उल्लेख किया है। उनका कथन है कि सम्भवत: अभिनव के विचार में भरत भी विशाखिल से परिचित थे (HSP. पृ० ५६)। निश्चित रूप से कहना कठिन है कि विशाखिल भरत के पूर्ववर्ती हैं समकालीन हैं अथवा परवर्ती। ना० शा० (३६, ६३) में कोहल का उल्लेख भी मिलता है। अभिनव गुप्त ने भी अनेकश: कोहल का उल्लेख किया है और कोहल को उद्धृत भी किया है। भावप्रकाशन में अनेक बार कोहल के मत उद्धृत किये गये हैं। अभि० भा०, रसार्णवसुधाकर, कामशास्त्र और कुट्टनीमत में दत्तिल या दत्तकाचार्य का उल्लेख मिलता है। रामकृष्ण कवि (J. Andhra H. R. S. Vol. iii p. 24) ने उनके ग्रन्थ 'गन्धर्ववेदसार' का भी उल्लेख किया है (मि० HSP पृ० ५७)। सागरनन्दी तथा विश्वनाथ ने अश्मकुट्ट एवं नखकुट्ट का भी नाटचाचार्य के रूप में उल्लेख किया है। सागरनन्दी के अनुसार बादरायण या बादरि भी कोई नाटचाचार्य हैं (वही पृ० ६२)। इसी प्रकार अन्य भी कुछ आचार्यों का उल्लेख मिलता है। उनकी कृतियां कौनसी थी तथा उनका समय क्या था ? यह कहना कठिन है।

(४) **नाटचशास्त्र के व्याख्याकार**—समय-समय पर नाटचशास्त्र की अनेक व्याख्याएँ की गईं, जिनमें आज किन्हीं के केवल नाम या संकेत ही मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नाटचशास्त्र पर कोई वार्त्तिक था, जिसके कर्त्ता श्रीहर्ष या हर्ष थे। उनका वार्त्तिककृत् या श्रीहर्ष के नाम से अनेक बार ऊल्लेख मिलता है (HSP पृ० ५६)। भावप्रकाशन (पृ० २३८) में सुबन्धु का भी नाटचविषय के आचार्य के रूप में उल्लेख है (सुबन्धुर्नाटकस्यापि लक्षणं प्राह पञ्चधा)। नान्यपति ? या नान्यदेव को भरत-भाष्य के कर्त्ता के रूप में स्मरण किया जाता है। शार्ङ्गदेव के सङ्गीतरत्नाकर में नाटचशास्त्र के व्याख्याकारों में लोल्लट, उद्भट, शङ्कुक, अभिनवगुप्त और कीर्तिधर का उल्लेख है। अभिनवगुप्त ने भट्टयन्त्र तथा भट्टनायक का भी उल्लेख किया है। म० मो० घोष के अनुसार अभिनवगुप्त ने भट्ट उद्भट के मत को तीन बार, भट्ट लोल्लट को ग्यारह बार और शङ्कुक को पन्द्रह बार उद्धृत किया है।

उद्भट के मत की भट्टलोल्लट ने आलोचना की है अतः उनका समय सप्तम-अष्टम शताब्दी मानना होगा, क्योंकि भट्टलोल्लट का समय अष्टम शती माना जाता है। शङ्कुक का समय नवम शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है। भट्टनायक का अभिनव-भारती में कई बार (म० मो० घोष के अनुसार ६ बार) उल्लेख किया गया है, विशेष रूप से रस के प्रसङ्ग में। इनका समय नवम-दशम शताब्दी माना जाता है। इनका 'हृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ था जो उपलब्ध नहीं है। परवर्ती ग्रन्थों के उल्लेखों से यह प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र के अन्य भी टीकाकार हुए होंगे। आज तो अभिनव-गुप्त की 'अभिनव-भारती' नामक टीका ही उपलब्ध है। इसे 'नाट्यवेदविवृति' भी कहा जाता है। इसका समय दशम शताब्दी का अन्तिम तथा एकादश शताब्दी का प्रारम्भिक काल माना जाता है। (मि० HSP पृ० ४७ तथा आगे; डॉ० रघुवंश ना० शा० भू०, पृ० XVII)। अभिनवभारती में नाट्यशास्त्र के अन्य सभी विषयों के साथ-साथ रूपक एवं नाट्य सम्बन्धी मन्तव्यों का भी विशद विवेचन है। भारतीय काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र के अध्ययन में अभिनवभारती का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(५) **नाट्यशास्त्र के आधार पर लिखे गये स्वतन्त्र ग्रन्थ**—भरत के नाट्य-शास्त्र की जटिल एवं विस्तृत सामग्री के सरल संक्षिप्त विवेचन के लिये कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना भी की गई, धनञ्जय का दशरूपक उनमें से ही अन्यतम है जिसका विशद विवेचन आगे किया जा रहा है। यहाँ इस प्रकार के अन्य ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है।

नन्दिकेश्वर का अभिनयदर्पण—संगीतरत्नाकर (१·४·६) में मतङ्ग के साथ नन्दिकेश्वर के मत का भी उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार नन्दिमत या नन्दि-केश्वर के अन्य भी उल्लेख मिलते हैं। (HSP., पृ० ५८, ६१)। नन्दिकेश्वर के समय आदि के विषय में विवाद है। रामकृष्ण कवि के अनुसार नन्दीश्वरसंहिता के लेखक और अभिनयदर्पण के कर्त्ता नन्दिकेश्वर एक ही व्यक्ति हैं। नन्दिकेश्वर को संगीत के विषय में आचार्य मतङ्ग ने उद्धृत किया है। मतङ्ग का समय चतुर्थ शताब्दी के लगभग है। इस प्रकार नन्दिकेश्वर का समय तृतीय शताब्दी के लगभग हो सकता है। दूसरे विद्वान् नन्दीकेश्वरसंहिता के कर्त्ता को अभिनयदर्पण के कर्त्ता नन्दिकेश्वर से भिन्न मानते हैं। म० मो० घोष ने अभिनयदर्पण के समय की परीक्षा करते हुए युक्ति तथा प्रमाणों के आधार पर यह निर्धारित किया है कि अभिनय-दर्पण १३ वीं शती के आरम्भ में विद्यमान था, यह तो निश्चित है, किन्तु ५ वीं शती से पूर्व इसकी विद्य-मानता में सन्देह है। (अभि० द० इन्ट्रोडक्शन)

डॉ० मनमोहन घोष ने अभिनयदर्पण (प्रथम संस्करण १९२४, द्वितीय संस्करण १९५६, प्रकाशक के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता) का सम्पादन किया है। कुछ समय पूर्व (१९५७) नन्दिकेश्वर का एक अन्य ग्रन्थ 'भरतार्णव' भी अंग्रेजी

एवं तामिल के अनुवाद सहित तन्जोर सरस्वती महल सीरीज से प्रकाशित हुआ है जिसमें नर्तन (नृत्य) का विवेचन है (H S P-पृ० ५८)। अभिनयदर्पण में कुल ३८४ श्लोक हैं। ग्रन्थ का विभाजन अध्यायों आदि में नहीं किया गया। आरम्भ में शिव को नमस्कार करके नाटच की उत्पत्ति का वर्णन है, फिर नाटच-प्रशंसा की गई है। तदनन्तर नाटच नृत्य, नृत्त, सभा, पात्र आदि का लक्षण करके पूर्वरङ्ग का संक्षिप्त निरूपण किया गया है। फिर आङ्गिक अभिनय का विशद विवेचन है। यही अभिनयदर्पण का मुख्य विषय है। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय ना० शा० के अष्टम तथा नवम अध्याय के समान है। यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि नाटच-शास्त्र के इस विवेचन पर अभिनयदर्पण का प्रभाव है अथवा अभिनयदर्पण का विवेचन नाटचशास्त्र से प्रभावित है (विशेष द्र० अभि० द० इन्ट्रोडक्शन)।

(ii) **सागरनन्दी का नाटकलक्षणरत्नकोश**—इसका समय क्या है? यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः इसका समय धनञ्जय के आस-पास ही है। इस ग्रन्थ में दशरूपक के समान ही नाटचसम्बन्धी विवेचन है कहीं कहीं अभिनय-सम्बन्धी चर्चा भी है। अनेक स्थलों पर नाटचशास्त्र की सामग्री को ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर दिया गया है। इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व यह है कि इसमें हर्ष-वार्त्तिक, मातृगुप्त, गर्ग, अश्मकुट्ट, नखकुट्ट तथा बादरि नामक नाटचकारों का उल्लेख किया गया है (म० मो० घोष नाटचशास्त्र का अनुवाद, भू० पृ० L X V III; मि०, रघुवंश, ना० शा० भू० पृ० XV)। आचार्य विश्वेश्वर का अनुमान है कि रामचन्द्र गुणचन्द्र के नाटचदर्पण में नाटकलक्षणरत्नकोष के कुछ मतों की और संकेत किया गया है। नाटकलक्षणरत्नकोष को सर्वप्रथम सिलवा लेवी ने (१९२२) प्रकाशित कराया था।

(iii) **रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाटचदर्पण**—रामचन्द्र गुणचन्द्र दोनों हेमचन्द्र के शिष्य माने जाते हैं। इनका समय १३ वीं शताब्दी है। नाटचदर्पण में मुख्यतः नाटचशास्त्र के २८ वें अध्याय के आधार पर रूपकों का वर्णन किया गया है यह भी कहा जाता कि धनञ्जय के दशरूपक की प्रतिद्वन्द्विता में यह ग्रन्थ लिखा गया है। यह ग्रन्थ कारिका तथा वृत्ति के रूप में है। समस्त ग्रन्थ चार विवेकों में विभक्त किया गया है। इसमें नाटचसम्बन्धी विषयों का विशद वर्णन है। नाटचशास्त्र के साथ-साथ अभिनवभारती का भी पूरा उपयोग किया गया है। नाटच-विषय के अन्य लेखकों के मतों की आलोचना भी की गई है। विशेषकर दशरूपककार के मतों की अनेक स्थलों पर आलोचना की गई है। आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार यहाँ १३ बार 'अन्ये' 'केचित्' आदि शब्दों से धनञ्जय के मतों का उल्लेख किया गया है। 'इनमें से दो स्थानों पर तो उनके मत की आलोचना करते हुए उन्हें 'न मुनिसमया-ध्यवसायिनः' और 'वृद्धसम्प्रदायवन्ध्यः' अर्थात् भरत मुनि के अभिप्राय को न समझने वाला' कहा है (ना० द० भूमिका पृ० २१), यत्र तत्र भरत मुनि से मतों का भी परिष्कार किया गया है, उदाहरणार्थ भारती वृत्ति के विवेचन में उनका मत भरत

से भिन्न है। संक्षेप में संस्कृत नाट्यशास्त्र को उनकी विशेष देन इस प्रकार हैं—(क) नाटिका तथा प्रकरणिका को जोड़कर १२ रूपक मानना। (ख) कैशिकी आदि वृत्तियों के आधार पर रूपकों का वर्गीकरण। (ग) रसों का सुखात्मक तथा दुःखात्मक दो वर्गों में विभाजन, शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त सुखात्मक हैं; किन्तु करुण, रौद्र, बीभत्स रौर भयानक दुःखात्मक हैं। (घ) नौ रसों के अतिरिक्त स्नेह रस, व्यसन रस आदि की कल्पना। (ङ) नाट्य-सम्बन्धी लक्षणों में नवीन दृष्टि; जैसे उनका 'अङ्क' का लक्षण भरत तथा धनञ्जय आदि से अधिक परिष्कृत है। (च) 'देवीचन्द्रगुप्त' इत्यादि के उद्धरण ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

वस्तुतः रामचन्द्र गुणचन्द्र की संस्कृत नाटचशास्त्र को अपूर्व देन है। उन्होंने अनेक अलभ्य रूपकों के उद्धरण दिये हैं। नाट्य-सम्बन्धी विषय का नवीन ढंग से चिन्तन किया है। विरक्ति-प्रधान जैन समाज में शृङ्गार-प्रधान नाट्य साहित्य का आदर बढ़ाया है। पूर्वाचार्यों द्वारा निर्णीत लक्षणों की आलोचना तथा उसमें संशोधन करके नाटचशास्त्र में स्वतन्त्र विचार का मार्ग प्रशस्त किया है (सि० ना० द० भूमिका)। सम्भवतः इसलिये वे गर्व के साथ अपनी रचना को सर्वथा मौलिक मानते हैं।

महाकविनिबद्धानि दृष्ट्वा रूपाणि भूरिशः।
स्वयं च कृत्वा, स्वोपज्ञं नाट्यलक्ष्म प्रचक्ष्महे ॥ (१/२)

(IV) **शारदातनय का भावप्रकाशन**—पी० वी० काणे (पृ० ४२७) के अनुसार इसका समय ११७५ तथा १२५० के मध्य है। यह अलङ्कार शास्त्र और नाटचशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है इसमें दशरूपक की अपेक्षा अधिक विस्तार से नाट्य-सम्बन्धी विषयों का निरूपण किया गया है। शारदातनय ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का आधार लिया है और अपनी मौलिक दृष्टि भी रक्खी है। यहाँ भरत के अतिरिक्त, कोहल मातृगुप्त, हर्ष, सुबन्धु आदि के मतों का भी उल्लेख किया गया है। साथ ही ध्वनिकार, रुद्रट, धनञ्जय धनिक, अभिनवगुप्त, भोज और मम्मट आदि के मत भी दिये गये हैं। यहाँ दशरूपक कारिका तथा अवलोक टीका के अनेक उद्धरण दिये गये हैं कहीं-कहीं उन्हें स्पष्ट करने का भी प्रयास परिलक्षित होता है। एक स्थल पर सदाशिव का नामोल्लेख करके धनञ्जय की कारिका उद्धृत की गई है (पृ० १५२) जो चिन्तनीय है।

भावप्रकाशन में नाट्य की रचना, नायक नायिका तथा रसों का ही विशेष रूप से विवेचन किया गया है। अभिनय आदि का भी संक्षिप्त वर्णन है। यहाँ रूपकों तथा उपरूपकों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। यत्र तत्र दार्शनिक विषयों की झलक भी दृष्टिगोचर होती है (जैसे सप्तम अधिकार पृ० १८१...)। भारत के विवध प्रदेशों का भी वर्णन किया गया है। यह एक विशाल ग्रन्थ है जिसका

दस अधिकारों (अध्यायों) में विभाजन किया गया है। इन अधिकारों में क्रमशः निम्न विषयों का निरूपण है :—(१) भावनिर्णय (२) रस—स्वरूप, रस का आश्रय, संक्षिप्त रस-प्रक्रिया (३) रस के प्रकार तथा रसों का स्वरूप। (४) शृङ्गार के आलम्बन नायक-नायिका का स्वरूप-निर्णय। (५) नायिका की अवस्थाएँ, नायिकाओं के अवान्तर भेद आदि। (६) शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध, शब्द-वृत्तियों के भेद, वाच्य आदि अर्थ का स्वरूप, संकेतित अर्थ के भेद, दशरूपक की रस-प्रक्रिया (पृ० १५२–१५४) इत्यादि। (७) नाट्य का लक्षण, नाट्य नृत्य तथा नृत्त का भेद, रङ्ग-पूर्वरङ्ग तथा सङ्गीत का संक्षिप्त परिचय, कथावस्तु वस्तुविभाजन आदि। (८) रूपकों के प्रकार, उनके लक्षण उदाहरण आदि (दशरूपकलक्षण)। (९) बीस उपरूपकों का वर्णन, पात्रों की भाषा-सम्बोधन के प्रकार तथा कतिपय काव्य-परम्पराओं (कविसमयों) का उल्लेख। (१०) नाटक की उत्पत्ति तथा भरत के नाट्यशास्त्र की रचना का संक्षिप्त निरूपण, अभिनय की संक्षिप्त **प्रक्रिया,** नृत्त के मार्ग तथा देशी भेदों का प्रयोग, विविध प्रदेशों के आकार वेष आदि का निरूपण। (विशेष द्र० भावप्रकाशन Preface)

(V) **शिङ्गभूपाल की नाटकपरिभाषा**—इसका समय १३३० ई० के लगभग है (HSP पृ० ४२३)। शिङ्गभूपाल के रसार्णव सुधाकर तथा नाटक-परिभाषा दो ग्रन्थ हैं। नाटकपरिभाषा में केवल नाट्य विषय का वर्णन किया गया है तथा रसार्णव-सुधाकर में काव्य के अन्य विषयों के साथ-साथ नाट्य का भी संक्षिप्त वर्णन है।

(VI) **रूपगोस्वामी की नाटकचन्द्रिका**—इसका समय १६वीं शताब्दी है। रूपगोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी थे उन्होंने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक दो काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की है और नाटक-चन्द्रिका नामक नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थ की भी। इस ग्रन्थ के आरम्भ में रूपगोस्वामी ने बतलाया है कि उन्होंने भरत तथा 'रसार्णवसुधाकर' का अनुसरण किया है और साहित्यदर्पण के मतों का निराकरण किया है; क्योंकि उसमें भरत के मन्तव्यों के विपरीत मत हैं। इसमें नाट्य सम्बन्धी प्रायः सभी विषयों का विवेचन किया गया है, जैसे नायक-नायिका, नान्दी, सन्धि, पताका, विष्कम्भक; भाषा इत्यादि। यहाँ भारती आदि वृत्तियों और रसों के साथ उनके सम्बन्ध का भी विवेचन है। अधिकांश उदाहरण वैष्णव ग्रन्थों से लिये गये हैं (HSP. पृ० ३१३)। इसमें साहित्यदर्पण से भी बहुत सी सामग्री ली गई है और उसकी आलोचना भी की गई है। परन्तु, जैसा कि कीथ का विचार है, नाटकचन्द्रिका साहित्यदर्पण की अपेक्षा कुछ सुधरी हुई या उत्कृष्ट नहीं है (मि०, सं० नाटक पृ० ३१४)।

(VII) **सुन्दरमिश्र का नाट्यप्रदीप**—सुन्दर मिश्र का समय १७वीं शताब्दी का आरम्भ है। नाट्यप्रदीप का रचनाकाल १६१३ ई० है (सं० नाटक पृ० ३१४

तथा HSP. पृ० ४२३)। यह ग्रन्थ दशरूपक तथा साहित्यदर्पण के आधार पर लिखा गया है।

उपर्युक्त नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त त्र्यम्बक के नाटकदीप, रुय्यक की नाटकमीमांसा, पुण्डरीक का नाटकलक्षण, त्रिलोचनादित्य का नाट्यालोचन तथा नन्दिकेश्वर का नाट्यार्णव इत्यादि ग्रन्थों के भी उल्लेख मिलते हैं (HSP, पृ० ४२३–४२४)।

(६) काव्यशास्त्र के ग्रन्थ, जिनमें नाट्य-सम्बन्धी विवेचन है—जिन ग्रन्थों में काव्यशास्त्र के सर्वाङ्गीण विवेचन के साथ-साथ नाट्य-विषयों का भी विवेचन किया गया है, उनमें भोजराज के ग्रन्थ प्राचीन कहे जा सकते हैं।

(i) भोजराज का शृङ्गारप्रकाश तथा सरस्वतीकण्ठाभरण—भोजराज का समय ११वीं शताब्दी है। शृङ्गारप्रकाश काव्यशास्त्र का एक सुविशाल ग्रन्थ है। इसमें ३६ प्रकाश हैं। इनमें ११वें प्रकाश से अन्त तक रस तथा भावों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। इसी बीच १२वें प्रकाश में रूपकों का निरूपण है तथा २१ वें में नायक-नायिका का। डॉ० राघवन् ने शृङ्गारप्रकाश का विशद अध्ययन प्रस्तुत किया है। **सरस्वतीकण्ठाभरण** में ५ परिच्छेद हैं। इसके पञ्चम परिच्छेद में रस, भाव, नायक-नायिका और उनके भेद तथा विशेषताओं, मुख आदि सन्धियों तथा भारती आदि चार वृत्तियों का निरूपण किया गया है। सरस्वतीकण्ठाभरण में ऐसे अनेक पद्य उद्धृत किये गये हैं जो धनिक की वृत्ति में है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वहाँ सभी पद्य धनिक की वृत्ति से ही लिये गये हैं। किन्तु उनमें एक पद्य ऐसा भी है (लक्ष्मीपयोधरो० दश० ४·७२) जिसे धनिक ने अपना कहकर (ममैव) उद्धृत किया था। इससे प्रतीत होता है कि सरस्वतीकण्ठाभरण का लेखक किसी अंश में दशरूपक का ऋणी है।

(i) हेमचन्द्रसूरि का काव्यानुशासन—हेमचन्द्र विविध विषयों के अनेक ग्रन्थों के कर्त्ता के प में प्रसिद्ध हैं। उनका समय १२वीं शताब्दी है। काव्यानुशासन का रचना-काल ११३६–११४३ ई० माना जाता है। यह ग्रन्थ संकलन मात्र है। ग्रन्थ के तीन अंश हैं—सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण। समस्त ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है, जिनमें काव्य के सभी अङ्गों का वर्णन किया गया है नाट्य-सम्बन्धी विवेचन केवल तीन अध्यायों में है। द्वितीय अध्याय में रस, स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव तथा सात्त्विक भावों का विवेचन है। सप्तम में नायक-नायिका का तथा अष्टम में दृश्य (प्रेक्ष्य) और श्रव्य काव्य और उनके भेद एवं लक्षण आदि का निरूपण किया गया है। काव्यानुशासन में अनेक आचार्यों तथा ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है किन्तु दशरूपक अथवा धनञ्जय या धनिक का कोई उल्लेख नहीं।

(ii) विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण—इसका समय चतुर्दश शताब्दी माना जाता है। ग्रन्थ के तीन अंश हैं कारिका, वृत्ति और उदाहरण। उदाहरणों

की लेखक ने स्वयं रचना की है, जिनमें, तैलंगाना के राजा प्रतापरुद्रदेव की प्रशंसा की गई है। इस ग्रन्थ में नौ प्रकरण हैं, जिनमें से प्रथम प्रकरण में नायक, तृतीय में नाटक तथा चतुर्थ में रस का विवेचन है। इस भाग में दशरूपक का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। लगभग १० उद्धरण दशरूपक से लिये गये हैं (Haas Intro P. xxviii)। इसके अतिरिक्त दशरूपक के मन्तव्यों की छाया भी कतिपय स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है।

(iv) विश्वनाथ का साहित्यदर्पण—विश्वनाथ का समय चतुर्दश शताब्दी है। १३००–१३८४ ई० के मध्य साहित्यदर्पण की रचना की गई होगी। अन्तः साक्ष्य तथा बाह्य साक्ष्य के आधार पर भी इसी समय की पुष्टि होती है (HSP पृ० २९६–३०२)। साहित्यदर्पण में काव्यशास्त्र के सभी विषयों का सरल सुबोध भाषा शैली में विवेचन किया गया है। यह काव्यप्रकाश की शैली पर लिखा गया ग्रन्थ है। इसमें काव्यप्रकाश की अपेक्षा नायक नायिका वर्णन तथा नाट्य-विषय का विवेचन अधिक है। इसमें दस परिच्छेद हैं। नाट्य-विषय की दृष्टि से तृतीय तथा षष्ठ परिच्छेद का ही महत्त्व है। तृतीय परिच्छेद में नायक-नायिका तथा रस का विवेचन है तथा षष्ठ परिच्छेद में रूपक, उपरूपक एवं उनके विविध अङ्गों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है। इसके नाट्य-सम्बन्धी विवेचन में भरत से नाट्यशास्त्र की सामग्री का उपयोग करते हुए दशरूपक और इसकी टीका का पर्याप्त आधार लिया गया है। कहीं-कहीं दशरूपक की पदावली को ज्यों का त्यों और कहीं कुछ परिवर्तन के साथ ले लिया गया है। धनिक के नाम से दशरूपक को उद्धृत भी किया गया है (६·६४)।

करुण-विप्रलम्भ रस के विवेचन में (३·२०९) 'अभियुक्ताः' (=विद्वान्) शब्द का प्रयोग करके दशरूपक के मत का उल्लेख किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि दशरूपककार के प्रति विश्वनाथ का समादर भाव था। यह दूसरी बात है कि विश्वनाथ ने यत्र-तत्र दशरूपक के मन्तव्यों की आलोचना भी की है। (उदाहरणार्थ दश० २·४३ की सा० द० ३·४३ में आलोचना की गई है)। इसके अतिरिक्त साहित्यदर्पण में दशरूपक की अपेक्षा कुछ अधिक नाट्य-विषयों का निरूपण किया गया है; जैसे वहाँ नाट्यलक्षण और नाट्यालङ्कार का विवेचन किया गया है, जिसे दशरूपक में छोड़ दिया गया है।

इसी प्रकार कतिपय अन्य ग्रन्थों में भी काव्य के विविध अङ्गों का विवेचन करते हुए नाट्य-विषय का निरूपण किया गया है। प्रायः सर्वत्र ही नाट्यविषयक विवेचन का मुख्य आधार भरत का नाट्यशास्त्र रहा है। अन्य नाट्य-ग्रन्थों का भी आश्रय लिया गया है, जिनमें से अधिकांश अप्राप्य है। कहीं-कहीं नवीन मार्ग का भी ग्रहण किया गया है। फलतः नाट्य-सम्बन्धी परवर्ती ग्रन्थों में पर्याप्त मात्रा में मतभेद मिलता है। अपने पूर्ववर्ती लेखकों से सामग्री ग्रहण करना, यत्र-तत्र उनकी

आलोचना करना तथा नवीन स्थापना करना—इसी मार्ग से संस्कृत नाट्यशास्त्र का विकास होता रहा है। इस विकास-परम्परा में धनञ्जय के दशरूपक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

२. धनञ्जय और उनका दशरूपक

(१) धनञ्जय का समय—धनञ्जय का समय निश्चित सा ही है। उन्होंने ग्रन्थ के अन्त में स्वयं ही लिखा है कि उन्होंने राजा मुञ्ज की सभा में वैदग्ध्य प्राप्त किया था, मुञ्जराज की पण्डित-परिषद् में उनकी धाक थी। इतिहासकारों ने राजा मुञ्ज का समय निश्चित करने का प्रयास किया है। यह भी माना गया है कि 'गौडवहो' के लेखक मुञ्ज से ये मुञ्जराज भिन्न हैं। 'गौडवहो' के लेखक मुञ्ज तो महाराज यशोवर्मन् की सभा के पण्डित थे। उनका समय अष्टम शताब्दी माना जाता है (द्र० Haas Introduction to Dasalupa p xxii)। दूसरी ओर मुञ्जराज का समय दशम शताब्दी माना जाता है। एपिग्राफिका इण्डिका (१.२२६) से विदित होता है कि मुञ्जराज के लिये विविध अभिलेखों में अनेक नामों तथा उपाधियों का प्रयोग किया गया है, जैसे वाक्पति, वाक्पतिराज, उत्पलराज, अमोघवर्ष, पृथिवीवल्लभ, इत्यादि। धनिक ने भी 'प्रणयकुपिताम्' इत्यादि पद्य को एक स्थल पर (४·५८) वाक्पति के नाम से तथा दूसरे स्थल पर (४·६०) मुञ्ज के नाम से उद्धृत किया है। बाद में परमार राजा अर्जुनदेव (१३ वीं शती) ने भी अमरुशतक की टीका में एक पद्य उद्धृत करते हुए यह स्पष्ट ही लिखा है कि यह पद्य हमारे पूर्वज महाराज मुञ्ज जिनका दूसरा नाम वाक्पतिराज था, का रचा हुआ है (अस्मत्पूर्वजस्य वाक्पति राजापरनाम्नोमुञ्जदेवस्य)।

वाक्पतिराज मुञ्जदेव मालवा के परमारवंशी राजा थे। बुह्लर के अनुसार वे अपने पिता (सीयक) के बाद ९७४ ई० में सिंहासनारुढ हुए और ९९५ तक राज्य करते रहे। ९९५ में चालुक्य राजा तैलप द्वितीय ने उन्हें पराजित कर दिया और उनकी हत्या कर दी (कीलहोर्न एपिग्राफिका इण्डिका २. २१४—२१५)।[1]

---

१. इस समय की पुष्टि निम्न आधार पर भी होती है—(१) इण्डियन एन्टीक्वेरी भाग ६ पृ० ५१·४२; वाक्पतिराज का एक अभिलेख ९७४ ई० (सं० १०३१) का है। इसमें लिखा है कि अहिच्छत्र देश से आये धनिक पण्डित के पुत्र वसन्ताचार्य को वाक्पतिराज ने भूमि दान में दी थी। (ii) इण्डियन एन्टीक्वेरी भाग १४, पृ० १५९—१६१ के अनुसार वाक्पतिराज ने सन् ९७९ ई० (सं० १०३६) में उज्जयिनी में भट्टेश्वरी को एक ग्राम पुरस्कार में दिया था। (iii) इण्डियन एन्टीक्वेरी भाग ३६ पृ० १७० के अनुसार तैलप द्वितीय ने मुञ्ज को हराया था। तैलप द्वितीय का मृत्युकाल शक सम्वत् ९१९ (९९७—९८ ई०) है (iv) अमितगति नामक विद्वान् ने 'सुभाषितरत्नसन्दोह' नामक ग्रन्थ की सम्वत् १०५० (९९३—९४) में मुञ्ज के शासनकाल में रचना की थी। इस प्रकार मुञ्ज ९९३ तथा ९९७ के बीच मारा गया (मि०, HSP, पृ० २४६)।

वाक्पतिराज मुञ्ज विख्यात योद्धा थे। वे अच्छे कवि थे और कवियों का आदर भी करते थे। यद्यपि आज उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है तथापि अनेक प्रमाणों के द्वारा उनका कवि होना सिद्ध होता है, जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है, धनिक ने उनका एक पद्य दो बार दो नामों से उद्धृत किया है। क्षेमेन्द्र (१०३७–१०६६) ने तीन पद्य उत्पलराज के नाम से उद्धृत किये हैं। धनञ्जय और धनिक के अतिरिक्त उनकी सभा को अनेक विद्वान् सुशोभित करते थे। तिलकमञ्जरी के लेखक धनपाल उनकी सभा के पण्डित थे। प्रसिद्ध कोषकार हलायुध ने भी अपना अन्तिम समय उनकी सभा में बिताया था। नवसाहसाङ्कचरित के रचयिता पद्मगुप्त ने भी उनका अनुग्रह प्राप्त किया था। फलतः अनेक विद्वानों ने उनकी काव्य-रुचि तथा गुणग्राहिता का वर्णन किया है। पद्मगुप्त ने उन्हें सरस्वती-कल्पलता का कन्द, कविबान्धव (१.७,८) तथा कविमित्र (११.९३) बलताया है। हलायुध ने पिङ्गल की टीका में उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। बल्लाल के भोजप्रबन्ध तथा मेरुतुङ्ग की प्रबन्ध-चिन्तामणि से भी उनके स्वयं कवि होने तथा कवियों को प्रोत्साहन देने के प्रमाण मिलते हैं।

विद्या तथा विद्वानों के प्रति मुञ्ज का यह अनुराग इस वंश में बाद में भी चलता रहा। उनके भतीजे भोजराज, शृङ्गार-प्रकाश तथा सरस्वतीकण्ठाभरण आदि अनेक ग्रन्थों के कर्त्ता के रूप में विख्यात हैं, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है। इस वंश के एक राजा अर्जुनदेव ने अमरुशतक पर टीका लिखी है।

ऐसे विद्यानुरागी महाराज मुञ्ज के राज्यकाल में ही धनञ्जय ने दशरूपक की रचना की। इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि दशरूपक का रचना-काल ९७४ और ९९४ के मध्य रहा होगा।

अन्य प्रमाणों के आधार पर भी इसी समय की पुष्टि होती है। दशरूपावलोक टीका में रुद्रट की एक कारिका ('रसनाद्रसत्वम्' काव्यालङ्कार १२.४ तथ दश० ४.३५) उद्धृत की गई है तथा दश० की कारिका (४.३६) में श्री रुद्रट के मन्तव्य की ओर संकेत है। इसी प्रकार ध्वन्यालोक की कारिका भी धनिक ने उद्धृत की है। पी० वी० काणे के अनुसार रुद्रट का समय ८५० ई० से पूर्व है तथा ध्वन्यालोक का समय ८६० तथा ८९० ई० के मध्य है। इस प्रकार दशरूपक (कारिका तथा वृत्ति) की रचना का समय इनके पश्चात् ही हो सकता है। दूसरी ओर दशरूपक में अभिनवगुप्त के मतों का उल्लेख नहीं मिलता, न ही अभिनवगुप्त के ग्रन्थों में दशरूपक मन्तव्यों का कोई संकेत है। इससे विदित होता है कि अभिनवगुप्त और धनञ्जय के समय में बहुत अन्तर नहीं रहा होगा (मि० HSP. पृ० २४७-२४८)।

इस प्रकार दशरूपक का रचनाकाल प्रायः निश्चित सा ही है। यह सुनिश्चित है कि धनञ्जय के पिता का नाम विष्णु था, जैसा कि उन्होंने स्वयं ही दशरूपक के अन्तिम श्लोक में उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त धनञ्जय की जीवनी आदि के विषय में कोई तथ्य उपलब्ध नहीं होता, न ही यह विदित होता है कि दशरूपक के अतिरिक्त धनञ्जय ने किसी और ग्रन्थ की भी रचना की थी या नहीं।

(२) **दशरूपक का आधार**—दशरूपक नाटचशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, (नाटच=रूप—रूपक)। इस ग्रन्थ में दश मुख्य रूपों या रूपकों का वर्णन है। अतः यह दशरूपक कहलाता है। हॉस (Haas) का सुझाव है कि इसका नाम दशरूप रहा होगा, क्योंकि धनञ्जय ने अन्तिम श्लोक में दशरूप नाम ही दिया है (दशरूपम्) एतत्), धनिक ने भी टीका का नाम दशरूपावलोक ही रक्खा है (Introduction, P·XXVII) किन्तु आज यह ग्रन्थ 'दशरूपक' नाम से प्रसिद्ध है। नाटचशास्त्र में अत्यन्त विस्तार से वर्णित नाटच-सम्बन्धी सामग्री को संक्षेप में किन्तु विशद रूप से प्रस्तुत करना ही धनञ्जय का लक्ष्य है। नाटचशास्त्र में नाटचविषयक मन्तव्य इधर-उधर बिखरे हैं, विविध विषयों के विवेचन में यत्र-तत्र उलझे हैं तथा अत्यधिक विस्तार से प्रस्तुत किये गये हैं। इसलिये भले ही विद्वज्जन नाटचशास्त्र के द्वारा नाटचविद्या का ज्ञान प्राप्त कर सकें, अल्प-बुद्धि जनों के लिये तो वह दुरूह ही है। को नाटचविद्याबोधगम्य बनाने के लिये ही धनञ्जय ने नाटचशास्त्र के मन्तव्यों को प्रायः नाटचशास्त्र के शब्दों में ही संक्षेप में ग्रथित किया है=तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा' (दश० १·५)। नाटचशास्त्र का आधार लेते हुए भी धनञ्जय ने यथासम्भव नवीन उद्भावनाएँ की हैं, जैसा कि उन्होंने स्वयं ही बतलाया है—'नाटचानां किन्तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि (दश० १.४)।

वस्तुतः धनञ्जय ने उस समय उपलब्ध समस्त नाटच सम्बन्धी सामग्री का भली-भाँति उपयोग किया है, पूर्ववर्ती आचार्यों के मन्तव्यों का परिष्कार किया है और यथावसर आलोचना भी की है। 'उदाहरणार्थ दशरूपक में उद्भट के वृत्तिविषयक मत की (२.६१) तथा रुद्रट (४.३६) एवं ध्वनिकार (४.३७) के रसविषयक मत की आलोचना की गई है। अनेक स्थलों पर नाटचशास्त्र में प्रयुक्त नाम, लक्षण तथा विभाजन को परिष्कृत किया गया है। भरत ने चार प्रकार की नायिका (दिव्या, नृपत्नी, कुलस्त्री तथा गणिका) का निरूपण किया था किन्तु धनञ्जय ने नायिका के तीन प्रकार बतलाये हैं—स्वकीया, अन्या (परकीया) और साधारणी। इसी प्रकार भरत ने शृङ्गार रस के दो भेद किये थे—सम्भोग तथा विप्रलम्भ; किन्तु धनञ्जय ने अयोग, विप्रयोग तथा सम्भोग नाम से तीन भेद किये हैं। धनञ्जय ने कहीं पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग में परिवर्तन किया है। (द्र० प्रकाश १ सूत्र ३१, ७९ ८०, ९६, १०७, १२०, तथा प्र० २ सूत्र ८०, ८६, आदि), कहीं लक्षण में परिष्कर किया है (द्र० प्र० १ सूत्र ४१, ४८, ५०, ९२, १०२,)। सम्भवतः इन परि-

वर्तनों और संशोधनों में उन नाटचाचार्यों के मन्तव्यों का भी प्रभाव पड़ा होगा, जो भरत तथा धनञ्जय के मध्य के युग में रहे होंगे।

(३) **दशरूपक की शैली**--इसकी शैली भरत के नाटचशास्त्र से नितान्त भिन्न है। नाटचशास्त्र में कोई बात अनेक वाक्यों में विस्तार से कही गई है. श्लोकपूर्ति के लिये बहुत से शब्दों और वाक्यांशों का प्रयोग किया गया है। इसके विपरीत दशरूपक में गिने चुने शब्दों में नाटच के मन्तव्यों को कह दिया गया है। इसकी कारिकाएँ सूत्र रूप में ही तथ्य को प्रकट कर देती हैं। कहीं विवश होकर ही भर्ती के शब्दों या वाक्यांशों का प्रयोग किया गया है। यह अवश्य है कि कहीं कहीं अत्यन्त संक्षेप के कारण अर्थ की स्पष्टता में बाधा पड़ती है। फलतः वृत्ति की सहायता के बिना अनेक लक्षण स्पष्ट नहीं होते। जहाँ कहीं नाटचशास्त्र के विस्तृत विषय को प्रकट करने के लिये केवल एक शब्द का प्रयोग कर दिया है, वहाँ तो नाटचशास्त्र अथवा अन्य किसी व्याख्या की सहायता से ही अथ समझा जा सकता है।

पारिभाषिक शब्दों के लक्षण करते समय धनञ्जय ने कहीं कहीं निर्वचन शैली का भी प्रयोग किया है। सम्भवतः नाटचशास्त्र से प्रभावित होकर ही उन्होंने इस शैली को अपनाया है। उदाहरणार्थ 'अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः' (१·१२) 'विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः' (४·७)। किसी विषय के भेद-प्रभेद दिखाकर उनकी व्याख्या करना; यह भारतीय प्रतिपादन शैली की प्रमुख विशेषता है जो दशरूपक में आरम्भ से अन्त तक दृष्टिगोचर होती है। नायक-नायिका तथा रस आदि के जो भेद-प्रभेद धनञ्जय को सम्भव प्रतीत हुए हैं, विस्तारपूर्वक बतलाये गये हैं। फिर भी धनञ्जय ने परवर्ती लेखकों की अपेक्षा संयम से काम लिया है।

दशरूपक पद्यमय रचना है। इसमें अधिकतर अनुष्टुभ् छन्द (श्लोक) का प्रयोग है। चारों प्रकाशों के अन्तिम पद्यों में तथा अन्यत्र भी १८ बार अन्य छन्दों का प्रयोग किया गया है; जैसे--आर्या वृत्त (१·३, ४·१३, ४·३५, ४.७६----") + ३ स्रग्धरा (१·४, ४·८, ४·२८) + ३ इन्द्रवज्रा (१·६, ४·४६----६ चरण, ४·८६) + ४ वसन्ततिलका (१·६८, ३.७६, ४·७२, ४·८५) + १ उपजाति (२·७२) + २ शार्दूल-विक्रीडित (४·७३, ४·७४)।

छन्दों के निर्वाह के लिये भाषा में भी परिवर्तन करना पडा है। कहीं छोटे शब्दों का तथा कहीं बड़े शब्दों का प्रयोग किया गया है, कहीं छोटे-छोटे समास हैं तो कहीं दीर्घ समास भी। समासों की विविधता छन्द-निर्वाह में बहुत सहायक हुई है। कभी-कभी छन्द की पूर्ति के लिये 'आख्य' (१·१८) तथा 'अथ' इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग करना पड़ा है। धनञ्जय ने 'स्यात्' भवेत्, इष्यते, स्मृतः' इत्यादि शब्दों का प्रयोग करके भी भर्ती के शब्दों को बचा दिया है। इसके अतिरिक्त छन्द-निर्वाह

के लिये (i) कहीं प्रसिद्ध शब्द के अर्थ में कोई अप्रसिद्ध शब्द रख दिया गया है; जैसे सूत्रधार के लिये सूत्रधृत् या सूत्रिन्, निद्रा के स्थान में स्वाप (४.८२) व्याधि के लिये आर्ति (४.७३) (ii) कहीं समस्त पद के लिये केवल पद का; जैसे विरहोत्कण्ठिता के लिये उत्का (४.६८), कहीं केवल पद के लिये समस्त पद का; जैसे शान्त के लिये शम प्रकर्ष (४.४५) का प्रयोग किया गया है। (iii) कहीं उपसर्ग जोड़ दिया गया है; जैसे हर्ष के स्थान पर प्रहर्ष (४.७२), कहीं उपसर्ग पृथक् कर दिया गया है; जैसे आवेग के स्थान पर वेग (४.७४), कहीं उपसर्ग बदल दिया गया है; जैसे अवमर्श के स्थान पर विमर्श (३.६०—६१), (iv) कहीं एक अर्थ के भिन्न-भिन्न प्रत्ययों से निष्पन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है; जैसे आलस्य के लिये अलसता (४.८), भाषण के लिये भाषा (१.५०) अनुमान के लिये अनुमा (१.४०) और (v) कहीं शब्द के अन्त से 'क' को पृथक् कर दिया गया है जैसे उद्घात्यक के स्थान पर उद्घात्य (३.१४) जनान्तिक के स्थान पर जनान्त (१.६५) (मि० Haas intro)। इसी प्रकार के कुछ अन्य परिवर्तन भी करने पड़े हैं। वस्तुतः पद्य बद्ध जो शास्त्रीय ग्रन्थ लिखे जाते हैं उनमें इस प्रकार के भाषागत परिवर्तन अनिवार्य ही हो जाया करते हैं। फिर भी कहीं-कहां ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि यदि सावधानी रक्खी जाती तो भाषा को और अधिक सरल बनाया जा सकता था।

कुछ दोषों के होते हुए भी अपने अपूर्व गुणों के कारण यह दशरूपक नाट्यविद्या के जिज्ञासुओं के लिये उपादेय बन गया। पठन-पाठन की दृष्टि से ही यह लोक-प्रिय नहीं हुआ; प्रत्युत परवर्ती नाट्य-विषयक कृतियों में इसका अनुसरण किया गया तथा कहीं-कहीं प्रतिद्वन्द्विता के भाव से इसकी आलोचना भी की गई; जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है, भावप्रकाशन, प्रताप-रुद्रयशोभूषण तथा साहित्यदर्पण के नाटक सम्बन्धी विवेचन पर इसका अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है, दूसरी ओर नाट्य-दर्पण में इसके लिये प्रतिद्वन्द्विता की भावना दृष्टिगोचर होती है। (भा० प्र०, ना० द०, प्रता० तथा सा० द० में दशरूपक की अपेक्षा जो विशेष अन्तर हैं उनमें से अधिकांश का टिप्पणी में यथावसर उल्लेख किया गया है)।

(४) **दशरूपक की टीकाएँ और धनिक का दशरूपावलोक**--भरत के नाट्यशास्त्र के पश्चात् धनञ्जय का दशरूपक ही भारतीय नाट्यविद्या का प्रसिद्ध ग्रन्थ रहा है। यह अत्यन्त संक्षिप्त है। इसलिये इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गई होंगी ऐसी सम्भावना है। किन्तु वे सभी टीकाएँ आज उपलब्ध नहीं, न ही उन सभी के कोई संकेत मिलते हैं। आज तो नृसिंह भट्ट, देवपाणि, कुरविराम तथा बहुरूपमिश्र की टीकाएँ हस्तलिपि में मिलती हैं। इनमें बहुरूपमिश्र की टीका बहुत उपादेय तथा प्रमेयबहुल है) बलदेव उपाध्याय भा० सा० शा० पृ० ८३; डॉ० राघवन् J. O. R. vol viii pp. 321-334) हॉल (preface, पृ०. ४ नोटस्) ने क्षोणीधर मिश्र की टीका का भी उल्लेख किया है। उपरिलिखित टीकाओं में से नृसिंह की टीका धनिक

की अवलोक टीका पर है (Bulletin of London School of O'studies vol. IV. p. २८०-मि० पी० वी० काणे HSP. पृ० २४७) ऐसा प्रतीत होता है की ये सभी टीकाएँ अभी तक अप्रकाशित ही पड़ी हैं, सम्भवतः बहुरूप मिश्र की टीका प्रकाशित हो रही है (द्र० HSP. पृ० २४७)। इस समय केवल धनिक की दशरूपावलोक (अवलोक) वृत्ति ही उपलब्ध है, जो अनेक बार प्रकाशित हो चुकी है। वस्तुतः आज इस वृत्ति के कारण ही दशरूपक के महत्त्व को समझा जा सकता है। दशरूपक के मन्तव्यों को स्पष्ट करने का कार्य इस वृत्ति ने ही किया है। कारिका और वृत्ति दोनों मिलकर ही दशरूपककार धनञ्जय के उद्देश्य को सिद्ध करते हैं।

(५) **धनिक का समय तथा कृतियाँ आदि**—धनिक भी विष्णु के पुत्र थे। अवलोक टीका के अन्त में यह लिखा मिलता है— 'इति विष्णु-सूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके रसविचारो नाम चतुर्थः प्रकाशः ।' इसके विदित होता है कि धनिक विष्णु के पुत्र थे, वे धनञ्जय के अनुज रहे होंगे। किन्तु कुछ उल्लेखों के आधार पर यह प्रकट होता है कि धनञ्जय और धनिक दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ, विद्यानाथ आदि ने दशरूपक की कारिकाओं को धनिक के नाम से उद्धृत किया है:—यदुक्तं धनिकेन 'न चातिरसो······लक्षणैः,' [दश० ३.३२—३३ तथा सा० द० ६.६४]

सम्भवतः इन विद्वानों की दृष्टि में धनञ्जय तथा धनिक एक ही व्यक्ति थे। इस मत का समर्थन इन युक्तियों से किया जा सकता है:-(i) दशरूपक की कारिकाओं से पृथक् वृत्ति में कोई मङ्गलाचरण नहीं किया गया। प्रायः यह देखा जाता है कि यदि वृत्ति, भाष्य या टीका का लेखक कोई भिन्न व्यक्ति होता है तो वह पृथक् मङ्गल किया करता है। (ii) परवर्ती आचार्यों ने धनिक की कृति के रूप में दशरूपक के उद्धरण दिये हैं जैसा अभी विश्वनाथ और विद्यानाथ के विषय में कहा गया है। (iii) यह वृत्ति दशरूपक की कारिकाओं का अभिन्न अङ्ग सा प्रतीत होती है इसके बिना दशरूपक अधूरा सा है।

दूसरी और विद्वानों का विचार है कि धनञ्जय और धनिक दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति ही हैं ; क्योंकि (i) कारिका तथा वृत्ति में कतिपय स्थलों पर मत-भेद दृष्टिगोचार होता है, उदाहरणार्थ २.२२ में 'सुखार्थ' शब्द के अर्थ में धनिक ने दो सम्भावनाएँ दिखाई हैं—'अप्रयासावाप्तधनः' या 'सुखप्रयोजनः' किन्तु वहाँ कोई निर्णय नहीं किया। इससे विदित होता है कि वृत्तिकार कारिकाकार से भिन्न व्यक्ति है। इसी प्रकार ३.४० में 'त्याज्यम् आवश्यकं न च' यहाँ कारिकाकार का अभिप्रेत यह प्रतीत होता है कि कथावस्तु के विकास के लिये जो आवश्यक हो उसे नहीं छोड़ना चाहिये किन्तु वृत्ति में इसका अर्थ किया गया है—'आवश्यकं तु देवपितृ-कार्याद्यवश्यमेव क्वचित् कुर्यात्, । (२) हस्तलिखित प्रतियों में यह लिखा मिलता है—

'धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके' तथा दशरूपक की कारिकाओं के अन्त में यह लिखा है—'धनञ्जयेन······आविष्कृतम्······दशरूपमेतत्'। इससे स्पष्ट विदित होता है कि दशरूपक के कर्ता धनञ्जय हैं और दशरूपावलोक नामक वृत्ति के कर्त्ता धनिक हैं। हाँ, धनिक जो वृत्तिकार हैं वे धनञ्जय के तात्पर्य से भली-भाँति परिचित रहे होंगे तभी तो दुरूह कारिकाओं की भी स्पष्ट व्याख्या कर दी है। सम्भवतः कारिकाओं की रचना में धनिक का भी सहयोग रहा होगा (इस विषय में विशेष द्र० Dr. De, S. P. vol. 1 PP. 131—134)।

धनिक की जीवनी के विषय में हमारी अधिक जानकारी नहीं है, हॉल ने अपनी भूमिका (पृ० ३ नोट्स) में लिखा है कि अवलोक की एक हस्तलिपि के अनुसार धनिक उत्पलराज के यहाँ एक आफिसर थे। बुहलर (उदयपुरप्रशस्ति E. I. vol. 1. P 227) का कथन है धनिक उत्पलराज के 'महासान्ध्यपाल, थे। मि० काणे HSP. पृ० २४४—२४५ टिप्पणी ३)। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उत्पलराज मुञ्जराज का ही औपाधिक नाम माना जाता है, जिसका राज्यकाल ९९४ तक रहा। तब क्या इससे पूर्व ही अवलोक वृत्ति भी लिखी जा चुकी होगी ? किन्तु यह सम्भव नहीं प्रतीत होता। कारण यह है कि धनिक ने पद्मगुप्त केनवसाहसाङ्कचरित का एक (पद्य उदा० १९५) उद्धृत किया है। नवसाहसाङ्कचरित की रचना सिन्धुराज के समय में हुई और मुञ्जराज सिन्धुराज के बाद सिंहासन पर बैठे। इसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, किसी धनिक पण्डित के पुत्र वसन्ताचार्य को मुञ्ज ने भूमि दान में दी थी। यदि लेखपत्र का धनिक पण्डित और अवलोक वृत्ति का कर्त्ता धनिक एक ही व्यक्ति है तो इन सब घटनाओं का सामञ्जस्य करने में कठिनाई है। इसलिये यह मानना उचित प्रतीत होता है कि अवलोक टीका सिन्धुराज के राज्यकाल में लिखी गई होगी। इसकी रचना धनिक ने अपनी वृद्धावस्था (लगभग ८० वर्ष की आयु) में की होगी फलतः इसका रचनाकाल दशम शती का अन्त या एकादश शती का आरम्भ माना जा सकता है। इस प्रकार धनिक को धनञ्जय का अनुज मानने में भी कोई कठिनाई नहीं है। किञ्च, दशरूपक तथा अवलोक टीका के समय में थोड़ा ही अन्तर रहा होगा।

धनिक गम्भीर विद्वान् थे तथा कवि भी। अवलोक टीका में पदे-पदे उनकी विद्वात्ता झलकती है, साहित्यशास्त्र, नाटयशास्त्र तथा मीमांसा आदि के विषय में उनका पण्डित्य प्रकट होता है। धनिक ने कारिकाओं की व्याख्या के साथ-साथ उदाहरणों द्वारा भी नाटय के नियमों को स्पष्ट किया है। काव्य तथा रूपकों से अवसर के अनुसार उद्धरण प्रस्तुत करना एक ओर तो उनके विस्तृत अध्ययन का सूचक है, दूसरी ओर उनके सूक्ष्म निरीक्षण एवं मनन को प्रकट करता है। अवलोक टीका में ६०० से अधिक उद्धरण दिये गये हैं, जिनमें कुछ गद्य में भी हैं। यहाँ २४ उदाहरण धनिक के स्वरचित हैं, जिनमें चार प्राकृत के हैं। इससे विदित होता है कि धनिक प्राकृत तथा संस्कृत के अच्छे कवि थे। वे साहित्यशास्त्र के भी उच्चकोटि के

विद्वान् थे। अवलोक टीका के एक उल्लेख से विदित होता है कि उन्होंने 'काव्यनिर्णय' नामक ग्रन्थ भी लिखा था। उस ग्रन्थ के सात पद्य अवलोक टीका में उद्धृत किये गये हैं। किन्तु दैवदश वह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है।

अवलोक टीका में धनिक ने अनेक ग्रन्थों का आधार लिया है। आज उपलब्ध पुस्तकों से उनके उद्धरणों में कहीं पाठ-भेद भी मिलता है। सम्भवत: उन्होंने अपनी स्मृति के आधार पर ही उदाहरण दिये होंगे; अथवा हस्तलिपियों में ही पाठभेद रहा होगा। धनिक ने कहीं-कहीं पूरा उहाहरण न देकर प्रतीक मात्र ही उद्धृत की है। कहीं एक ही पद्य को कई नाटच नियमों के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। कहीं 'प्रागुदाहृतम्' कहकर पहले उदाहरण की ओर संकेत कर दिया है। कहीं 'उदयनचरित' आदि उपाख्यानों को भी उदाहरण के रूप में दिखलया है। उद्धरणों के विषय में धनिक की यह विशेषता है कि उन्होंने अधिकांश स्थलों पर ग्रन्थ या कवि का नामोल्लेख किया है,[1] जिससे संस्कृत कवियों के काल-निर्णय में बड़ी सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त धनिक ने कतिपय शास्त्रीय ग्रन्थों को भी उद्धृत किया है। उनमें कहीं नामत: उल्लेख किया है, कहीं नहीं भी (इन सबका परिशिष्ट एक में विवरण दिया गया है)।

दशरूपक की वृत्ति होते हुए भी दशरूपावलोक का अपना निजी महत्त्व है। इसमें अनेक विवादास्पद विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है; उदाहरणार्थ नाट्य में शान्तरस की योजना, रसों का विरोध तथा अविरोध, काव्य का रस-भाव आदि के साथ सम्बन्ध इत्यादि। इस प्रकार दशरूपक के दुरुह स्थलों का भी स्पष्टीकरण करते हुए उन्हें उचित उदाहरणों द्वारा हृदयंगम कराने का प्रयास किया गया है। फिर भी यह टीका सर्वथा निर्दोष नहीं कही जा सकती। कहीं-कहीं स्पष्ट मन्तव्यों की भी विस्तृत व्याख्या कर दी गई है दूसरी ओर दुर्बोध बातों को भी 'स्पष्टम्' कहकर छोड़ दिया गया है। कतिपय स्थलों पर पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण नहीं किया गया। वहाँ उदाहरण दिखलाये गये हैं किन्तु शब्दों के स्पष्टीकरण के बिना वास्तविक अर्थ सन्दिग्ध ही रह जाता है। वस्तुत: इस प्रकार के दोष नगण्य हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह वृत्ति दशरूपक किंवा संस्कृत नाटचशास्त्र को अवलोकित करती है।

६. दशरूपक के प्रतिपाद्य विषय पर एक दृष्टि—-

दशरूपक में नाटचविषय का संक्षिप्त निरूपण किया गया है। इसमें चार प्रकाश हैं। प्रथम प्रकाश के आरम्भ में गणेश, विष्णु तथा शिव (द्र० टि० १.२) और भरतमुनि को नमस्कार करके सरस्वती की कृपा से ग्रन्थ रचना में प्रवृत्ति, रचना का उद्देश्य तथा नाट्य (एवं काव्य) का प्रयोजन बताया गया है यहाँ भामह के मन्तव्य पर उपा-

१. हिन्दी-अनुवाद में अधिकांश उद्धरणों के सन्दर्भ दिखलाये गये हैं। जहाँ सन्दर्भ ज्ञात नहीं हो सका है वहाँ प्रश्नचिह्न (?) रख दिया है। अथवा छोड़ दिया गया है।

लम्भ करते हुए मुख्यतः आनन्दानुभूति को ही नाट्य का प्रयोजन माना गया है (१६)। फिर नाट्य (=रूप=रूपक) का लक्षण करते हुए उसका नृत्त तथा नृत्य से भेद प्रकट किया गया है। साथ ही दस प्रकार के रूपकों (१. नाटक २. प्रकरण ३. भाण, ४. प्रसहन, ५. डिम ६. व्यायोग, ७. समवकार, ८. वीथी ९. अङ्क और १०. ईहामृग) का उल्लेख करके रूपकों के भेदक तीन तत्त्वों वस्तु नेता और रस का निर्देश किया गया है। यहाँ तक इस ग्रन्थ का प्रारम्भिक अंश कहा जा सकता है।

प्रथम प्रकाश का मुख्य प्रतिपाद्य विषय रूपक की वस्तु है। वस्तु दो प्रकार की होती है आधिकारिक और प्रासङ्गिक। प्रधान कथावस्तु (इतिवृत्त) को आधिकारिक कहते हैं और सहायक को प्रासङ्गिक। प्रासङ्गिक इतिवृत्त दो प्रकार का होता हैं—पताका और प्रकरी। मुख्य कथा का दूर तक साथ देने वाली प्रासङ्गिक कथा पताका कहलाती है; जैसे रामायण की कथा में सुग्रीव की कथा है। मुख्य कथा के साथ थोड़ी दूर तक चलने वाली प्रकरी होती है; जैसे रामायण की कथा में श्रवण या जटायु की कथा है (१.१३,१४)। पताका के प्रसङ्ग से धनञ्जय ने पताका-स्थान का भी निरूपण किया है। जहाँ समान विशेषणों के द्वारा या अन्योक्ति से आगे आने वाले प्रस्तुत अर्थ की सूचना दी जाती है, वह पताकास्थान या पताकास्थानक कहलाता है (१.१५)। भावप्रकाशन में इसे तीसरे प्रकार का प्रासङ्गिक इतिवृत्त ही बतलाया गया है। किन्तु धनञ्जय ने ऐसा कुछ नहीं कहा। ये पताका इत्यादि मुख्य कथा के विकास में सहायक होते हैं। किन्तु यदि कथावस्तु सरल है तो इनके बिना भी हो सकती है। अतः ये कथावस्तु के अनिवार्य अङ्ग नहीं। येआधिकापिक और प्रासङ्गिक कथाएँ भी तीन-तीन प्रकार की होती है—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्रित (१·१५)! इनमें से किसी प्रकार की कथावस्तु का आश्रय लेकर रूपक की वस्तु-योजना की जाती है।

वस्तु-योजना की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन—

इतिवृत्त नाट्य का शरीर है। कवि इतिवृत्त की सुसम्बन्द्ध तथा सुव्यवस्थित योजना करता है और क्रमिक विकास का ध्यान रखता है। इसी से कथावस्तु रोचक और ग्राह्य बनती है। नाटयशास्त्र (१९·१) के अनुसार इतिवृत्त का विभाजन ५ सन्धियों के आधार पर किया जाता है। ये ५ सन्धियाँ हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और उपसंहार। सन्धि का अर्थ है—इतिवृत्त के विभाग जो कि अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं के आधार पर किये जाते हैं। नाटक आदि में इतिवृत्त के नायक का कोई लक्ष्य होता है वही फल कहलाता है। उस फल सिद्धि के उपाय ही अर्थ-प्रकृतियाँ कहलाती हैं। ये अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य (१·१८)। फल को लक्ष्य करके किया गया जो नायक का व्यापार (=कार्य) है, उसकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ ही कार्यावस्थाएँ कहलाती हैं। भारतीय नाटयशास्त्र के अनुसार ये अवस्थाएँ पाँच हैं—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम

(१·१९ २२)। दशरूपक (एवं साहित्यदर्पण आदि) के अनुसार अर्थप्रकृतियों का कार्यावस्थाओं के साथ क्रमशः सम्बन्ध होने पर सन्धि का उद्भव होता है। किन्तु इसमें कुछ दोष प्रतीत होता है अतः धनञ्जय का सन्धि का लक्षण विचारणीय ही है (१·२४ टि०)। इन सन्धियों के ६४ अङ्ग हैं। उसका रूपक के विभिन्न प्रकारों में यथासम्भव प्रयोग किया जाता है। सभी रूपकों में समस्त सन्धियों या सन्ध्यङ्गों का प्रयोग अनिवार्य नहीं है (विशेष द्र०, १·२४ टि०)। कीथ का विचार है कि 'इन सन्ध्यङ्गों के बंटन (विभाजन) का कोई वास्तविक मूल्य नहीं है' (सं० नाटक, पृ० ३२०)। किन्तु दशरूपक के अनुसार रूपकों में इन सन्ध्यङ्गों की योजना के ६ प्रयोजन हैं (१.१५)। इनकी योजना से कथावस्तु में क्रमबद्धता, रोचकता, प्रवाह तथा रसास्वादकता की अभिवृद्धि हुआ करती है।

वर्णन की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन--

रूपकों का मुख्य उद्देश्य रसास्वादन कराना है किन्तु इतिवृत्त की सभी घटनाएँ सरस नहीं हुआ करतीं। साथ ही कतिपय घटनाएँ ऐसी भी होती हैं जिनका रङ्गमञ्च पर दिखलाना वाञ्छनीय नहीं होता। इसीलिये कथावस्तु के दो भाग किये गये हैं—सूच्य और दृश्य। जो घटनायें नीरस या अनुचित होती हैं, किन्तु कथा-प्रवाह के लिये उनका जानना आवश्यक होता है, उनकी केवल सूचना दी जाती है (विस्तृत वर्णन नहीं), वही सूच्य इतिवृत्त है। जो रोचक तथा सरस घटनायें होती हैं, उनका विशद वर्णन किया जाता है और रङ्गमञ्च पर अभिनय भी, वही दृश्य इतिवृत्त है। सूच्य इतिवृत्त की सूचना देने के लिये रूपकों में पाँच प्रकार के अर्थोपक्षेपकों (अर्थ के सूचक) का प्रयोग किया जाता है—विष्कम्भक, चूलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार और प्रवेशक (१·५८-६२)। दृश्य इतिवृत्त का रूपक में अङ्कों में विभाजन किया जाता है। अङ्कों की संख्या सभी रूपकों में समान नहीं होती (द्र० दश० ३)।

नाट्यधर्म(=नाट्योक्ति=नाटकीय संवाद) की दृष्टि से वस्तु विभाजन—

भारत के नाट्यशास्त्रियों ने पाश्चात्त्य नाट्यशास्त्र के समान संवाद को पृथक् नाटक का तत्त्व नहीं माना, अपितु वस्तु के अङ्ग के रूप में ही संवाद का विचार किया है। संवाद (कथोपकथन) की दृष्टि से वस्तु तीन प्रकार की होती है—सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य। सर्वश्राव्य को रूपकों में 'प्रकाशम्' शब्द के द्वारा प्रकट किया जाता है। नियतश्राव्य दो प्रकार का होता है जनान्तिक और अपवारित। अश्राव्य को 'स्वगत' भी कहते हैं। इनके अतिरिक्त-आकाशभाषित' नामक एक अन्य प्रकार की नाट्योक्ति भी होती है। (द्र० १·६३--६७)।

द्वितीय प्रकाश; नायक-नायिका के भेद-प्रभेद—

नायक शब्द का मुख्य अर्थ है नाटक आदि का मुख्य पात्र। किन्तु कभी कभी 'नायक' शब्द का सामान्यतः किसी भी पात्र के लिये प्रयोग कर दिया जाता है। इस प्रकाश के आरम्भ में नायक के सामान्य गुणों का वर्णन किया गया

है (२·१--२)। फिर नायक के चार प्रकार (धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत) और उनके लक्षण बतलाकर शृङ्गारी नायक की चार अवस्थाओं (दक्षिण, शठ, धृष्ट तथा अनुकूल) का निरूपण किया गया है (२.६--७)। यहाँ नायक के सहायकों का निरूपण भी है। इनमें पताका नामक इतिवृत्त का नायक 'पीठमर्द' कहलाता है जैसे रामायण की कथा में सुग्रीव है (२·८) विट और विदूषक नायक के शृङ्गारी सहायक हैं (२·९)। मन्त्री इत्यादि कार्यसिद्धि में, पुरोहित आदि धर्म में, सामन्त, सैनिक आदि दण्ड में और वर्षवर आदि अन्तःपुर में नायक के सहायक होते हैं (२·४२--४६)। यहाँ कञ्चुकी का उल्लेख नहीं किया गया। रूपक में नायक के चरित्र को निखारने के लिये प्रतिनायक की योजना की जाती है अतः उसके स्वरूप का भी निरूपण किया गया है (२·९)। तदनन्तर नायक के शोभा आदि आठ सात्त्विक गुणों का निरूपण है (१·१०--१४)।

नायिका भी सामान्यतः नायक के गुणों से युक्त होती है ; वह तीन प्रकार की होती है—स्वकीया, परकीया, तथा साधारण स्त्री (वेश्या) स्वकीया भी तीन प्रकार की होती है मुग्धा, मध्य, प्रगल्भा। नायिका की स्वाधीनपतिका आदि आठ अवस्थायें हुआ करती हैं (२·२३--२८)। नायक के समान नायिका की भी सहायिकायें होती हैं, जो प्रायः दासी, सखी; पड़ोसिन, भिक्षुणी आदि होती हैं और दूती का काम भी करती हैं (२·२९) नायिका के सन्दर्भ में युवतियों के २० सात्त्विक अलङ्कारों का भी वर्णन किया गया है। हाव, भाव, हेला इत्यादि युवतियों के शरीर की शोभा बढाते हैं, इसी हेतु इन्हें युवतियों के अलङ्कार कहा जाता है (२.३०--४२)।

इसके पश्चात् नाट्यवृत्तियों का वर्णन है। नायक आदि के मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार ही नाट्य में वृत्तियाँ कहलाती हैं। नाट्यवृत्तियाँ चार हैं—सात्त्वती, भारती, कैशिकी तथा आरभटी। इनमें भारती विशेषकर शब्दवृत्ति है और शेष तीनों अर्थवृत्तियाँ कहलाती हैं। उद्भट के अनुयायी 'अर्थवृत्ति' नाम की एक अन्य वृत्ति मानते रहे, धनञ्जय ने उनके मत का निराकरण किया है (२·६०-६१)। दशरूपक में अङ्गों सहित चारों वृत्तियों का निरूपण करते हुए यह भी दिखलाया गया है कि किस रस में कौन सी वृत्ति हुआ करती है (२·४७--६२)।

द्वितीय प्रकाश के अन्त में प्रवृत्तियों का वर्णन है। प्रवृत्ति का अभिप्राय है, देश-भेद के कारण पात्रों के भिन्न-भिन्न वेष-भूषा तथा भाषा आदि होना। यहाँ अत्यन्त संक्षेप में भाषा-प्रयोग तथा सम्बोधन के प्रकार दिखलाये गये हैं। इस विषय का नाट्यशास्त्र तथा साहित्यदर्पण आदि में विशद विवेचन है। दशरूपक का यह निरूपण उनके सामने अधूरा ही है। इस प्रकार द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका तथा उनके विविध व्यापारों का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त ना० शा०

तथा साहित्यदर्पण आदि में ३३ नाट्यालकारों तथा ३६ नाट्यलक्षणों का भी वर्णन किया गया है, जिनका पृथक् वर्णन करना धनञ्जय को अभीष्ट नहीं (४·८४)।

तृतीय प्रकाश; नशरूपकों का स्वरूप-निरूपण—

यहाँ प्रथमतः नाटक का वर्णन किया गया हैं; क्योंकि दस रूपकों में नाटक ही प्रमुख है। नाटक के रचना-विधान पर विचार करते हुए नाटक की स्थापना इत्यादि नाट्य-प्रयोग का भी निरूपण किया गया है, किन्तु पूर्वरङ्ग का वर्णन यहाँ नहीं किया गया। नान्दीपाठ का तो यहाँ उल्लेख भी नहीं है। वस्तुतः दशरूपक का उद्देश्य रूपक के रचना-विधान का विवेचन करना है, नाट्य-प्रयोग का विवेचन नहीं। तदनन्तर नाटक की स्थापना के प्रसङ्ग में भारती वृत्ति का अङ्गों सहित वर्णन किया गया हैं (३·४-२१)। फिर नाटक के नायक, वस्तु-संघटन (दर्शनीय तथा वर्जित घटनाओं का निर्देश) और रस-योजना आदि का विशद निरूपण किया गया है (३.२२,३८)। इसके उपरान्त प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम,'व्यायोग, समवकार, वीथी, उत्सृष्टिकाङ्क (अङ्क) और ईहामृग नामक रूपकों का निरूपण किया गया है। नाटक और प्रकरण का निरूपण करते हुए प्रसङ्ग से इन दोनों के सङ्कीर्ण रूप नाटिका का भी निरूपण किया गया है (३.४३, ४८)। दशरूपक के अनुसार प्रकरणिका को नाटिका से भिन्न नहीं माना जाता (३.४४--४५)।

उपर्युक्त रूपकों के अतिरिक्त परवर्ती आचार्यों ने उपरूपकों का भी विवेचन किया है; जैसे भावप्रकाशन के अनुसार २० उपरूपक हैं, साहित्यदर्पण के अनुसार १८ इत्यादि। नाट्यशास्त्र में उन भेदों का उल्लेख नहीं किया गया तथापि उनमें से कुछ का संकेत अवश्य मिल सकता है। ना० शा० (१८·५७) में जो नाटिका का वर्णन किया गया है उसकी व्याख्या में अभिनवगुप्त ने बतलाया है कि नाटिका का लक्षण करके भरतमुनि ने अन्य सङ्कीर्ण रूपकों का भी दिग्दर्शन करा दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि धनञ्जय एवं धनिक भी उपरूपकों से परिचित थे। धनिक ने शङ्का के रूप में डोम्बी इत्यादि सात अन्य रूपकों का उल्लेख किया है (१.८)। किन्तु धनञ्जय तथा धनिक डोम्बी आदि को, 'नृत्य' कहते हैं। वे इन्हें रूपकों से पृथक् मानते हैं; क्योंकि ये रसास्वादन के अनुकूल (रसाश्रय) नहीं होते (१·९)। उनके विचार में सङ्कीर्ण रूपकों में केवल नाटिका ही वाञ्छनीय है, अन्य नहीं (४.४३)।

दशरूपक में प्रतिपादित रूपकों में वस्तु, नायक, वृत्ति तथा रस आदि की दृष्टि से परस्पर भेद है; जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

१. **नाटक**—प्रख्यात (ऐतिहासिक या पौराणिक) वस्तु, पाँचों सन्धियाँ ५ से १० तक अङ्क धीरोदात्त (नृप या दिव्य) नायक, चारों (कैशिकी, आरभटी

सात्त्वती और भारती) वृत्तियाँ, अङ्गी रस वीर या शृङ्गार तथा अङ्ग अन्य सभी रस)। द्र० कारिका ३.१,३८)।

२. **प्रकरण**—कल्पित (उत्पाद्य) वस्तु, पाँचों सन्धियाँ, ५ से १० तक अङ्क, धीर प्रशान्त (अमात्य, विप्र, वाणिक्) नायक, (कुलस्त्री या गणिका या दोनों नायिका), वृत्तियाँ तथा रस नाटक के समान। (३.३९-४२)।

[**नाटिका**—कल्पित (प्रकरण के समान) वस्तु, पाँचों सन्धियाँ किन्तु अवमर्श सन्धि अत्यन्त संक्षिप्त, चार अङ्क, धीरललित (प्रख्यात नृप नाटक के समान), देवी तथा प्राप्या कुलीन नायिकाएँ, विशेष रूप से कैशिकी वृत्ति, शृङ्गार रस। (३.४३-४८)।]

३. **भाण**—धूर्तचरित विषयक-कल्पित वस्तु, मुख-निर्हंपण सन्धि, एक अङ्क। कुशल तथा बुद्धिमान् विट नायक, अधिकतर भारती वृत्ति, वीर या शृङ्गार की सूचना मात्र, आकाशभाषित के द्वारा सम्बोधन तथा कथोपकथन, लास्य के दस अङ्गों का प्रयोग। (३.४९-५३)।

४. **प्रहसन**—कल्पित वस्तु, मुख-निर्वहण सन्धि, एक अङ्क, पाखण्डी विप्र कामुक आदि पात्र, अधिकतर भारती वृत्ति, अङ्गी हास्य रस, भाण के समान लास्य के दस अङ्गों का प्रयोग। (३.५४-५६)।

५. **डिम**—प्रख्यात वस्तु, मुख-प्रतिमुख गर्भ निर्वहण चार सन्धियाँ, चार अङ्क, १६ उद्धत पात्र (पिशाच आदि), कैशिकी को छोड़कर शेष तीन वृत्तियाँ, अङ्गी रस रौद्र तथा अङ्ग रस वीर, बीभत्स, अद्भुत, करुण और भयानक। (३.५७-६०)।

६. **व्यायोग**—प्रख्यात वस्तु, मुख-प्रतिमुख-निर्वहण सन्धियाँ, एक अङ्क उद्धत प्रख्यात अधिक पुरुष पात्र, कैशिकी-भिन्न वृत्तियाँ, हास्य शृङ्गार से भिन्न ६ रस (३.६०-६२)।

७. **समवकार**—प्रख्यात वस्तु (देव तथा असुरों] से सम्बद्ध), विमर्श से भिन्न ४ सन्धियाँ, तीन अङ्क, विख्यात उदात्त प्रकृति के देव और दानव बारह नायक, कैशिकी की अल्पता के साथ चारों वृत्तियाँ, वीर रस की प्रधानता अन्य सभी रस विशेष रूप से शृङ्गार अङ्ग रूप में। (३.६२-६८)।

८. **वीथी**—कल्पित वस्तु, मुख विर्वहण दो सन्धियाँ, एक अङ्क, एक या दो पात्र, कैशिकी वृत्ति, प्रधानतः सूच्य रस शृङ्गार अन्य रसों का स्पर्शमात्र। (३.६८-७०)।

९. **अङ्क**—(**उत्सृष्टिकाङ्क**—प्रख्यात वस्तु मुख निर्वहण सन्धि, एक अङ्क, साधारण जन नायक अधिकतर भारती वृत्ति (भाणवत्), अङ्गी रस करुण। (३.७०-७२)।

ईहामृग—मिश्रित वस्तु, मुख-प्रतिमुख निर्वहण तीन सन्धियाँ, चार अङ्क, नायक धीरोद्धत प्रख्यात देव तथा नर, सभी वृत्तियाँ (?); शृङ्गार (शृङ्गाराभास-भी) रस (३.७२-७५)।

उपर्युक्त विषयों में आचार्यों का कुछ मत-भेद भी है जो भा० प्र०, ना० द० तथा सा० द० आदि से जाना जा सकता है। (विशेष द्र० Mankad, The Types of Sanskrit Drama)।

चतुर्थ प्रकाश : रस-विचार

रस के विषय में भी दशरूपक की कुछ मौलिक उद्भावनाएँ हैं, जिनका अग्रिम पृष्ठों में विशद विवेचन किया जायेगा। चतुर्थ प्रकाश में प्रथमतः यह बतलाया है कि विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों के द्वारा आस्वादन योग्य होकर स्थायी भाव ही रस कहलाता है। इसका आस्वादन सहृदय सामाजिक को होता है, अनुकार्य को नहीं (४.१, ३८-३९)। यहाँ विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों के स्वरूप तथा प्रकारों का निरूपण किया गया है (४.२-३३)। तदनन्तर स्थायी भाव का लक्षण करते हुए (अवलोक टीका में) रसों के विरोध-अविरोध का विवेचन किया गया है [४.३४]। यह विवेचन परवर्ती ग्रन्थों के विवेचन के समान स्पष्ट नहीं प्रतीत होता। दशरूपक में आठ स्थायी भाव माने गये हैं। शम नामक स्थायी भाव की पुष्टि रूपक में नहीं हो सकती, अतः, नाट्य में शान्त रस नहीं होता; इस मन्तव्य की व्याख्या अन्य मतों का निराकरण करते हुए की गई है। यह भी दिखलाया गया है कि नागानन्द का नायक जीमूतवाहन धीरोदात्त नायक है धीरप्रशान्त नहीं [४.३५-३६]। इसके उपरान्त विशेषकर वृत्ति में विस्तारपूर्वक दिखलाया गया है कि रस-भाव आदि और काव्य का व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध नहीं है, अपितु भाव्य-भावक सम्बन्ध है, रस आदि भाव्य हैं और काव्य भावक है [४.३७] यहाँ-रस प्रक्रिया भी दिखलाई गई है [४.४०–४२]। साथ ही रसों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। फलतः धनञ्जय एवं धनिक के अनुसार काव्यार्थ से होने वाली आत्मानन्द की अनुभूति ही रस है। यह आनन्द की अनुभूति सभी रसों में समान रूप से हुआ करती है। फिर भी भावक सामग्री [विभाव आदि] के भेद से इसमें चित्त की चार अवस्थाएं हो जाती हैं— विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। शृङ्गार में चित्त का विकास होता है, वीर में विस्तार बीभत्स में क्षोभ और रौद्र में विक्षेप। हास्य, अद्भुत. भयानक और करुण में भी क्रमशः विकास आदि चारों हुआ करते हैं। इनमें से एक-एक अवस्था का दो-दो रसों से सम्बन्ध है इसलिये आठ ही रस होते हैं (४.४३--४५)। प्रीति, भक्ति तथा मृगया, द्यूत आदि को भी किन्हीं आचार्यों ने भाव तथा रस के रूप में माना था। उनका दशरूपक में हर्ष, उत्साह आदि में ही अन्तर्भाव किया गया है [४.८३)। नाट्य में तो शान्त रस होता नहीं, यदि श्रव्य काव्य में शान्त रस होता भी है तो उसमें मुदिता, मैत्री, करुणा तथा उपेक्षा ये चार चित्त की अवस्थाएँ हुआ करती हैं, जिनका विकास आदि चार अवस्थाओं में ही समावेश हो जाता है [४.४५]। धनिक ने यह भी स्पष्ट बतलाया है कि सभी रस आनन्दात्मक होते हैं।

करुण आदि में भी सुखदु:खात्मक एक विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति हुआ करती है। साथ ही काव्य नाटच से भावित करुण आदि रस लौकिक शोक आदि की अपेक्षा नितान्त भिन्न होता है (४.४३-४५)। कोई स्थायी भाव आस्वादनीय = आस्वाद्य = आस्वादनयोग्य होकर ही रस कहलाता है अतः अवस्था का भेद है ही (मि० ४.४६-४७)। इसके पश्चात् शृङ्गार आदि आठ रसों के लक्षण, भेद तथा उदाहरण दिखलाते हुए चतुर्थ प्रकाश समाप्त होता है। ग्रन्थ के अन्त में धनञ्जय ने अपना अत्यन्त संक्षेप में परिचय भी दिया है।

४. रस-सिद्धान्त और दशरूपक का मन्तव्य

(१) **आचार्य भरत**---सहृदयों को रस की अनुभूति कराना ही नाटच का मुख्य प्रयोजन है। अतः रूपकों में रस का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रथमतः नाटच के प्रसङ्ग में ही रस-सिद्धान्त की उद्भावना की गई थी। आज भरत के नाटचशास्त्र में रस का सर्वप्रथम विवेचन उपलब्ध होता है। किन्तु नाटचशास्त्र में रस का स्वरूप पर्याप्त विकसित अवस्था में मिलता है। इससे सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि इससे पूर्व ही रस-सिद्धान्त की उद्भावना हो चुकी थी। भरत से पूर्व रस-सिद्धान्त का विकास किस प्रकार हुआ, यह आज विदित नहीं है। भरत के अनुसार नाटच के ११ तत्त्व हैं—

रसा भावा ह्यभिनया धर्मी, वृत्तिप्रत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः ॥६.१०॥

प्रवृत्तयः

इनमें रस ही प्रधान है। भरत ने रस स्वरूप, संख्या तथा, भाव, विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों का विस्तार से विवेचन किया है (ना० शा० अ० ६,७)। भरत का रस-सूत्र है—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः। नाटचशास्त्र में रूपकों के ८ रसों का उल्लेख किया गया है; किन्तु पाठान्तर के अनुसार वहाँ शान्त रस का भी वर्णन है। कहा जाता है कि अभिनवगुप्त ने इस पाठान्तर को प्रामाणिक माना है और उन्होंने विस्तार के साथ शान्त रस का विवेचन किया है (अभि० भा० अ० ६ का अन्त)।

(१) **अलङ्कारवादी आचार्यों का रसविषयक दृष्टिकोण**—भरत के अनन्तर साहित्याचार्यों ने रस-सिद्धान्त को इतना महत्त्व नहीं दिया। आज जो उस समय के साहित्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें रस-सिद्धान्त का स्पष्ट निरूपण नहीं किया गया। सम्भवतः उस समय के कुछ ग्रन्थों में रस-सिद्धान्त का विकसित रूप अवश्य रहा होगा किन्तु वे ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। उस समय के उपलब्ध ग्रन्थों में सबसे प्राचीन भामह का काव्यालङ्कार माना जाता है, जिसमें रस को नगण्य सा स्थान दिया गया है। इसके पश्चात् दण्डी ने यद्यपि अलङ्कार और रीति को ही अधिक महत्त्व दिया है तथापि आठों रसों का उदाहरण सहित वर्णन करते हुए काव्य में रसों के महत्त्व को स्वीकार किया है। वामन ने 'कान्ति' नामक गुण के नाम से काव्य में रस

की महत्ता स्वीकार की है (दीप्तरसत्वं कान्तिः, काव्यालङ्कारसूत्र ३·२·१४)। उद्भट की रचनाओं में रस-सिद्धान्त के प्रति कुछ अधिक आदर भाव परिलक्षित होता है। उद्भट ने समाहित नामक रसालङ्कार की नवीन उद्भावना की है तथा यह भी दिखलाया है यह कि नाटक में भी शान्त रस होता है--

श्रृङ्गारहास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः।
बीभत्साद्भुत-शान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः॥
(काव्यालङ्कारसंग्रह ४४)।

सङ्गीतरत्नाकर (व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः १·१९) से विदित होता है कि उद्भट की नाट्यशास्त्र पर कोई टीका थी। सम्भवतः उसमें उद्भट ने रस सिद्धान्त का विशद विवेचन किया होगा। भामह से उद्भट पर्यन्त के युग में रस का विशेष सम्बन्ध नाट्य से ही माना जाता रहा। नाट्य से भिन्न काव्य में रस का विचार 'अलङ्कार आदि के रूप में ही विशेषतः किया गया। फिर भी कहीं-कहीं महाकाव्य के लिये रस को आवश्यक तत्त्व बतलाया गया है; जैसे 'युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्' (भामह, काव्या० १.२१) तथा (अलङ्कृत-मसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्' (दण्डी, काव्यादर्श १·१८)।

इसके पश्चात् रुद्रट ने काव्य में रस के महत्त्व की ओर विशेष रूप से ध्यान दिलाया। उन्होंने बतलाया कि कवि को महान् प्रयास करके काव्य को रसमय बनाना चाहिये। उन्होंने शान्त रस को भी स्वीकार करते हुए प्रेयान् नामक एक अन्य रस का उल्लेख किया (काव्यालङ्कार १२·२-३)। साथ ही यह भी बतलाया कि निर्वेद आदि सभी भाव रसरूपता को प्राप्त कर सकते हैं (वही १२·४)। दशरूपक में इस मत को उद्धृत करते हुए इसका निराकरण किया गया है (दश० ४·३६)। फिर भी रुद्रट अलङ्कारवादी आचार्य माने जाते हैं उन्होंने प्रासङ्गिक रूप से ही रस का विवेचन किया है। किन्तु रुद्र भट्ट नामक एक अन्य आचार्य ने श्रृङ्गारतिलक में नव रसों का विशद विवेचन किया है। इससे प्रकट होता है कि उस समय रस के प्रति आचार्यों का आदर भाव बढ़ रहा था।

(३) ध्वनिवादी आचार्य तथा रससिद्धान्त—इसके उपरान्त ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा बतलाते हुए रस-योजना में ही कवियों को विशेष रूप से उद्यत रहने की प्रेरणा दी—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥ ध्वन्या० ४५॥

उन्होंने रस को ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप बतलाया तथा यह भी कि रस काव्य का व्यङ्ग्य ही हो सकता है। वाच्य या लक्ष्य नहीं। इस व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव के मन्तव्य को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हुए दशरूपक में इसका खण्डन किया गया

है (४.३६–३७)। इस व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भाव की अभिनवगुप्त ने विशद व्याख्या की तथा ध्वनिसिद्धान्त और रस-सिद्धान्त का सामञ्जस्य करके रससिद्धान्त का परिनिष्ठित रूप प्रस्तुत किया। धनञ्जय तथा धनिक की कृतियों में अभिनवगुप्त के मन्तव्यों का कोई संकेत नहीं मिलता, यह ऊपर कहा जा चुका है।

४ ध्वनि-विरोधी किन्तु रसवादी आचार्य—यद्यपि ध्वनिकार ने अत्यन्त दृढ़ आधारों पर ध्वनिवाद की स्थापना की थी तथापि ध्वनिवाद का अनेक आचार्यों ने विरोध किया। वे आचार्य नाट्य एवं काव्य में रस की महत्ता तो स्वीकार करते रहे; किन्तु रस आदि काव्य द्वारा व्यङ्ग्य हैं, इस मन्तव्य का उन्होंने खण्डन किया है। इन आचार्यों की एक शक्तिशाली परम्परा रही है, जिसमें प्रतिहारेन्दुराज, भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक, कुन्तक, धनञ्जय तथा व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट इत्यादि आचार्य विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रतिहारेन्दुराज भामह एवं उद्भट के अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वे मुकुल भट्ट के शिष्य थे। उनका मत है कि वस्तु, अलङ्कार तथा रस तीनों प्रकार की ध्वनियों का पर्यायोक्त, श्लेष तथा रसवद् आदि अलङ्कारों में समावेश किया जा सकता है अतः व्यङ्ग्य अर्थ को पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं। साथ ही वे रस को काव्य की आत्मा मानना उचित ही समझते हैं। (काव्यालङ्कार-संग्रह लघुवृत्ति ६.७-८, मि. भा. प्र. भूमिका पृ० २४)। वक्रोक्तिकार कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' बतलाते हुए भी रस को काव्य का अमृत माना है, जिससे काव्य में आन्तरिक चमत्कार का आधान हुआ करता है—काव्यामृतरसेनाऽन्तश्चमत्कारो वितन्यते; वक्रोक्ति० १.५। कुन्तक ने ध्वनि का वक्रोक्ति में ही समावेश किया है—उपचार-वक्रताभिः सर्वो ध्वनिप्रपञ्च स्वीकृतः; वक्रोक्ति०। महिमभट्ट ने रस को काव्य का मुख्य तत्त्व माना है, किन्तु यह स्वीकार नही किया कि रस व्यङ्ग्य है, वे ध्वनि (या व्यञ्जना) का एक विशेष प्रकार के अनुमान (काव्यानुमिति) में अन्तर्भाव करते हैं।

भट्टलोल्लट, शङ्कुक तथा भट्टनायक तीनों ध्वनि-विरोधी आचार्य रस के व्याख्याकार के रूप में विख्यात हैं। उनके रस-सम्बन्धी मन्तव्यों पर कुछ विस्तार से विचार करना वाञ्छनीय है, तभी दशरूपक के रस-सम्बन्धी मन्तव्य के साथ उनके मन्तव्य का तुलनात्मक अनुशीलन किया जा सकता है। भट्टलोल्लट आदि के ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। अभिनवभारती, ध्वन्यालोकलोचन तथा काव्यप्रकाश आदि के आधार पर ही उनके रस-सम्बन्धी मन्तव्यों का निरूपण किया जा सकता है। संक्षेप में उनके मन्तव्यों का स्वरूप इस प्रकार है—

५ भरत के रससूत्र की विविध व्याख्यायें—भरत के रससूत्र के अनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। रस-सूत्र की व्याख्या करते हुए विद्वानों ने तीन प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास किया है—

(क) रस किसमें रहता है (अर्थात् रस का आस्वादन किसे होता हैं) ? (ख) रस का स्वरूप क्या है ? और (ग) रस-प्रक्रिया क्या है ? या रस-निष्पत्ति कैसे होती है ;

(i) **भट्टलोल्लट**—इनका रस-निष्पत्ति-विषयक मत रसोत्पत्तिवाद कहलाता है। यह मत मीमांसा सिद्धान्त पर आधारित समझा जाता है। इसके अनुसार रस (=रति आदि स्थायी भाव) मुख्य रूप से ऐतिहासिक या आख्यान-प्रसिद्ध राम आदि (अनुकार्य) में रहता है। सीता आदि तथा उद्यान आदि लौकिक कारण ही आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव हैं। वे राम आदि के चित्त में रति आदि भाव के उत्पादक तथा उद्दीपन विभाव है। राम आदि के भुज फड़कना आदि अनुभाव हैं। उनके द्वारा राम आदि के चित्त में स्थित रति आदि भाव प्रतीति-योग्य हुआ करता है। निर्वेद, चिन्ता इत्यादि सहकारी कारण ही व्यभिचारी भाव कहलाते हैं, जिनकी सहायता से रति आदि स्थायी भाव पुष्ट हो जाता है। राम आदि के चित्त में पुष्ट हुआ रति आदि स्थायी भाव ही रस कहलाता है। यह मुख्य रूप से राम आदि (अनुकार्य) में रहता है। किन्तु राम आदि के समान वेश-भूषा से सुसज्जित होकर कोई अभिनेता (नट) राम का अभिनय करता है और राम-सम्बन्धी काव्य का पाठ करता है तो सामाजिक जन उस अभिनेता को राम समझ लेते हैं और उसमें भी रति आदि भाव की प्रतीति होने लगती है। यह भ्रान्ति से होने वाली प्रतीति ही सामाजिक को आनन्द प्रदान करती है। इस प्रकार विभावों से उत्पन्न तथा उद्दीप्त होकर, अनुभावों से प्रतीतियोग्य होकर तथा व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर अनुकार्य के चित्त में स्थित (लौकिक) रति आदि भाव ही रस है।

परवर्ती शङ्कुक आदि आचार्यों ने इस मत की आलोचना की है। इसके अनुसार रस का आश्रय सामाजिक नहीं हो सकता। फिर राम आदि में स्थित या नट में प्रतीत होने वाले रस में सामाजिक को आनन्द की अनुभूति कैसे हो सकती है ? किञ्च, इस प्रकार सामाजिक को होने वाली रस-प्रतीति भ्रन्तिमात्र होगी और काव्य आदि भ्रमोत्पादक होंगे अतः उपादेय न होंगे। धनञ्जय ने भी रस के अनुकार्य-गत होने का विरोध किया है; क्योंकि (i) रसानुभूति के समय अनुकार्य राम आदि तो विद्यमान नहीं होते; (ii) उनके रसास्वादन के लिये काव्य लिखे भी नहीं जाते, न ही उनके लिये नाट्य का अभिनय किया जाता है। (iii) यदि अनुकार्य राम आदि में रस माना जाये तो श्रोता या दर्शक को 'इसमें रति भाव है' इस प्रकार की प्रतीति मात्र होगी तथा लज्जा, ईर्ष्या और राग-द्वेष आदि होने लगेंगे (४.३८.३९)। लोल्लट द्वारा निरूपित विभाव आदि का स्वरूप भी दशरूपक को अभिमत नहीं कहा जा सकता। लोल्लट के मत की केवल यही बात धनञ्जय को अभिमत कही जा सकती है कि रति आदि स्थायी भाव पुष्ट होकर रस कहलाता है। किन्तु उसकी पुष्टि की प्रक्रिया में तो दोनों आचार्यों का नितान्त भिन्न मत है।

(iii) श्रीशङ्कुक—रस के दूसरे व्याख्याकार श्रीशङ्कुक हैं उनका मत रसानुमितिवाद कहलाता है। यह न्याय-सिद्धान्त पर आधारित माना जाता है। उनके अनुसार जब अभिनेता जन निपुणता के साथ राम आदि का अभिनय करते हैं और तत्सम्बन्धी काव्य का पाठ करते हैं तो सामाजिक उस अभिनेता को चित्र-तुरग न्याय से (जैसा चित्र में चित्रित अश्व को अश्व कह दिया जाता है वस्तुतः वह अश्व नहीं होता) 'यह राम है' ऐसा समझ लेते हैं तथा उस काव्यार्थ का अनुसन्धान करते हुए अभिनय द्वारा प्रदर्शित नायिका आदि (कारण), भुजाक्षेप आदि (कार्य) एवं औत्सुक्य इत्यादि (सहकारी) को कृत्रिम होते हुए भी कृत्रिम नहीं समझते। इस प्रकार के ये नायिका आदि ही काव्य-नाट्य में विभाव आदि कहलाते हैं। इन विभाव आदि के द्वारा अभिनेता में रति आदि भाव का अनुमान कर लिया जाता है। यह अनुमित रति आदि भाव कलात्मक होने के कारण अन्य अनुमित वस्तुओं से विलक्षण होता है तथा सौन्दर्यमय होने के कारण आस्वादनीय हो जाता है इसलिये सहृदय सामाजिक अपनी वासना द्वारा इसका आस्वादन कर लेते हैं। इस प्रकार अभिनेता तथा सामाजिक द्वारा आस्वाद्यमान रति आदि भाव ही रस है। विभाव आदि के संयोग अर्थात् अनुमाप्य-अनुमापक भाव सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति (अनुमिति) होती है।

इस मत के अनुसार वस्तुतः रति आदि स्थायी भाव अनुकार्य राम आदि में ही होता है किन्तु भ्रान्ति से उसका नट में अनुमान कर लिया जाता है। फिर भी (क) लौकिक कारण आदि से भिन्न विभाव आदि की कल्पना तथा (ख) सामाजिक के द्वारा अपनी वासना से रस-चर्वणा—इस मत की ये दोनों बातें सिद्धान्त मत की ओर ले जाने वाली हैं। अभिनवभारती आदि में इस मत के दोष दिखलाये गये हैं। मुख्य दोष यह है कि प्रत्यक्ष अनुभूति ही चमत्कार या आस्वादन उत्पन्न कर सकती है, केवल रति आदि भाव की अनुमिति से सामाजिक को आस्वादन नहीं हो सकता। किञ्च सहृदयों का अनुभव बतलाता है कि रस का साक्षात्कार होता है (रसं साक्षात् करोमि), अनुमान नहीं। धनञ्जय के अनुसार इस मत का निराकरण इसी कथन से हो जाता है कि रसिक में ही रस रहा करता है (४·३८–३९)। यदि नट भी काव्यार्थ की भावना से आस्वादन करता है तो वह रसिक ही है, अन्यथा उसमें रस नहीं रहता। शङ्कुक की विभाव आदि के स्वरूप की कल्पना कुछ अंश में धनञ्जय के मत की ओर ले जाने वाली अवश्य है फिर भी दोनों के विभाव आदि के स्वरूप में अन्तर प्रतीत होता है; शङ्कुक के मत में कृत्रिम कारण आदि ही विभाव आदि कहलाते हैं किन्तु धनञ्जय के मत में काव्य के अतिशयोक्ति व्यापार के द्वारा विशिष्ट हो जाने वाले कारण आदि विभाव इत्यादि कहलाते हैं। शङ्कुक के चित्र-तुरग न्याय और धनञ्जय के मिट्टी के हाथी के उदाहरण को समान नहीं कहा जा सकता। चित्र-तुरग न्याय तो यह बतलाता है कि राम का अभिनय करने वाले

नट को सामाजिक जन राम कैसे समझ लेते हैं। दूसरी ओर मिट्टी के हाथी आदि का दृष्टान्त इस प्रश्न के उत्तर में दिया गया है कि यदि काव्य में राम एवं सीता आदि केवल (उदात्त आदि अवस्था वाले) पुरुष एवं स्त्री के रूप में होते हैं तो राम तथा सीता के रूप में उनका वर्णन क्यों किया जाता है (द्र० ४.४१)।

(iii) **भट्टनायक**—रस के तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक हैं। उन्होंने भट्ट लोल्लट तथा शङ्कुक दोनों के मत के दोष दिखलाकर अपने मत की स्थापना की है। उनके मतानुसार विभाव आदि के द्वारा भोज्य-भोजक-भाव सम्बन्ध से (संयोगात्) सामाजिक को रस का भोग=आस्वादन (=निष्पत्ति) होता है। इसीलिये यह मत रसभुक्तिवाद कहलाता है। यह सांख्यसिद्धान्त पर आधारित समझा जाता है। तदनुसार काव्य-नाट्य में शब्द के अभिधा व्यापार के समान ही भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो अन्य व्यापार होते हैं। काव्यार्थ का बोध हो जाने के पश्चात् भावकत्व व्यापार द्वारा काव्य-नाटचगत नायक-नायिका आदि विभाव का, भुजाक्षेप आदि अनुभाव का तथा चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव का साधारणीकरण हो जाता है; अर्थात् सीता आदि की सामान्य नायिका के रूप में (=साधारणीकृत) प्रतीति होती है (प्रदीप) अथवा उनकी केवल श्रृंगार रस के आलम्बन विभाव आदि के रूप में प्रतीति होती है (उद्योत)। साधारणीकृत विभाव आदि के द्वारा भावित हुए रति आदि स्थायी भाव का भोजक व्यापार द्वारा सामाजिक को आस्वादन होता है। रस का आस्वादन (=रस-भोग) यही है कि सहृदय के चित्त में सत्त्व का उद्रेक होकर आनन्दमय एवं प्रकाशात्मक अनुभूति हुआ करती है।

भट्टनायक ने रसिक में ही रस माना है, रस की अलौकिक अवस्था की ओर भी संकेत किया है। साथ ही विभाव आदि के साधारणीकरण की नवीन उद्भावना की है। यह भट्टनायक की रस-सिद्धान्त को अपूर्व देन है। ध्वन्यालोकलोचन (रसश्च-व्यङ्ग्य एव, तस्य च शब्दवाच्यत्वं तेनापि नोपगतम् पृ० १२६) से यह विदित होता है कि भट्टनायक रस को वाच्य नहीं मानते। फिर क्या उन्होंने रस को व्यङ्ग्य माना है ? नहीं, वे रस को भावकत्व व्यापार का विषय मानते हैं।[1] भावकत्व व्यापार से रस भावित होता है और भोजकत्व व्यापार से रस का आस्वादन होता है—

---

1. पी० वी० काणे का यह कथन "It appears from the Locana that Nayaka accepted that Rasa was the soul of poetry or drama and that it was व्यंग्य" (H S P. 371) विचारणीय है।

किन्त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसविषयम्, भोगकृत्त्वं सहृदयविषयम् इति त्रयोंशभूता व्यापाराः (लोचन २.४)।

इस प्रकार भट्टनायक ध्वनि को नहीं स्वीकार करते। हाँ, यह अवश्य मानते हैं कि सहृदयों को रसास्वादन कराना ही काव्य का प्रयोजन है।

भट्टनायक के मत का दोष यह है कि यहाँ भावकत्व और भोजकत्व नामक दो ऐसे काव्य-व्यापारों की कल्पना की गई है, जिनमें कोई प्रमाण नहीं। किञ्च भुक्ति या भोग अनुभूति मात्र है इसका अभिव्यक्ति में ही अन्तर्भाव हो सकता है। इसके अतिरिक्त भट्टनायक ने सामाजिक के चित्त में रति आदि भाव की स्थिति का उल्लेख भी नहीं किया।

वी० पी० काणे का विचार है कि धनिक का रस-सम्बन्धी मत कुछ अंशों में भट्टनायक के मत के समान प्रतीत होता है।(H. S. P.p २४६)। वस्तुतः यह समानता आपाततः प्रतीत होती है। एक तो धनिक ने भावकत्व व्यापार की अलग से कल्पना नहीं की, इतना अवश्य कहा है 'काव्यं हि भावकम्, भाव्याः रसादयः।' किन्तु यहाँ तो काव्य तात्पर्य वृत्ति के द्वारा रस आदि का भावक होता है, भावकत्व नामक व्यापार के द्वारा नहीं। किञ्च, भट्टनायक का भावकत्व व्यापार तो साधारणीकरण के रूप में है (साधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण, का० प्र० वृत्ति ४.२८) दशरूपक में ऐसा नहीं है। इसके अतिरिक्त दोनों की रसानुभूति की प्रक्रिया में भी अन्तर है; भट्टनायक के अनुसार तो भोजकत्व नामक व्यापार के द्वारा सत्त्व का उद्रेक होकर आनन्दमय अनुभूति होती है; किन्तु धनिक के अनुसार काव्य के अर्थ के साथ सहृदय के चित्त की तन्मयता होने से आत्मानन्द की अनुभूति होती है। यह केवल शब्दों का भेद नहीं है, धारणा का भेद है।

(iv) **अभिनवगुप्त**—रस-सूत्र के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार अभिनवगुप्त हैं। उनकी व्याख्या ही यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत होती रही है। तदनुसार स्थायीभाव का विभाव आदि के साथ व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव सम्बन्ध होने से रस की अभिव्यक्ति होती है। यह मत रसाभिव्यक्ति या रसव्यक्तिवाद कहलाता है और शैवागम पर आधारित माना जाता है। इसके अनुसार रस सहृदय के चित्त में अभिव्यक्त हुआ करता है। रस-प्रक्रिया तथा रस-स्वरूप इस प्रकार है—सहृदयों के चित्त में रति आदि स्थायी भाव वासना के रूप से विद्यमान होते हैं। सहृदय जन लोक में भी ललना आदि कारणों के द्वारा रति आदि भाव का अनुमान करने में निपुण हुआ करते हैं। वे समझते हैं कि जहाँ प्रमदा इत्यादि कारण, कार्य, तथा सहकारी होते हैं वहाँ लोक में रति आदि भाव का उद्भव देखा जाता है। फिर वे काव्य पढ़ते हैं सुनते हैं या नाटक देखते हैं तो वहाँ प्रमदा आदि का विभाव आदि के रूप में अनुभव करते हैं [अर्थात् काव्य-नाटच में प्रमदा आदि रति आदि भाव के कारण के रूप में नहीं होते अपितु अपने विभावन (=रति आदि में

आस्वादयोग्यता का आविर्भाव करना) आदि व्यापार के कारण अलौकिक विभाव आदि का रूप धारण कर लिया करते हैं। काव्य-नाट्य में ये विभाव आदि साधारणीकृत रूप में भासित होते हैं अथवा कहिये कि 'ये मेरे ही हैं, शत्रु के हैं, तटस्थ के है' या 'ये मेरे नहीं हैं, शत्रु के नहीं हैं, तटस्थ के नहीं है'—इन प्रतीतियों से विलक्षण प्रतीति उन विभाव आदि के विषय में हुआ करता है, यही इनका साधारणीकरण कहलाता है। साधारणीकृत विभाव आदि के द्वारा सहृदयों के चित्त में स्थित रति आदि स्थायी भाव अभिव्यक्त हो जाता है इस अवस्था में सहृदय सामाजिक का परिमित प्रमातृभाव नहीं रहता वह अपरिमित हो जाता है तथा रति आदि भाव की सामान्य रूप से प्रतीति हुआ करती है। समस्त सहृदय जन समान रूप से उसका आस्वादन किया करते हैं। यह आस्वादन ब्रह्मानन्द के समान किसी विलक्षण आनन्द का अनुभव मात्र है, यही रस है। यह रस स्थायी भाव से विलक्षण है (स्थायिविलक्षण एव रसः) आस्वादन का विषय है या कहिये आस्वादन रूप ही है—तेन विभावादि-संयोगाद् रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य (अभि० भा० पृ० २८६)। यह रस न कार्य है, न ज्ञाप्य है; अपितु विभाव आदि के द्वारा व्यङ्ग्य है। यही मुख्य रूप से काव्य की आत्मा है। राजशेखर, मम्मट रुय्यक, शौद्धोदनि तथा विश्वनाथ कविराज इत्यादि ने भी प्रायः इसी प्रकार का रस-सिद्धान्त स्वीकार किया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, अभिनवगुप्त का मन्तव्य धनञ्जय एवं धनिक के सामने नहीं था। उन्होंने ध्वनिकार के व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव का ही विरोध किया है।

(६) दशरूपक का रस-विषयक मन्तव्य

दशरूपक का रस-सम्बन्धी मत संक्षेप में इस प्रकार है—रस की अनुभूति रसिक को ही होती है। रसिक के चित्त में रति आदि भाव पहले से ही विद्यमान होते हैं। जब काव्य के द्वारा विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावों की उपस्थिति कराई जाती है तो उनके द्वारा रसिक के चित्त में स्थित रति आदि भाव पुष्ट(=आस्वादन योग्य) हो जाता है। यही आस्वाद्यमान रति आदि भाव रस है जो विशेष प्रकार की आत्मानन्द की अनुभूति ही है। किन्तु प्रश्न यह है कि काव्य नाट्य से रस की अनुभूति कैसे होती है।

काव्य के शब्दों के वाच्य जो नायक आदि हैं उनका शब्दों के द्वारा सामान्य रूप उपस्थित होता है; अर्थात् वे राम तथा सीता आदि के रूप में नहीं प्रतीत होते अपितु सामान्यतः किसी उदात्त नायक या नायिका आदि के रूप में प्रतीत हुआ करते हैं। शब्दों द्वारा उपस्थित किया गया उनका वह रूप रसिकों के चित्त में साक्षात् सा भासित होने लगता है। इस प्रकार काव्य के अतिशयोक्ति रूप व्यापार द्वारा विशिष्ट रूप में होकर लौकिक प्रमदा आदि काव्य-नाट्य में विभाव आदि

कहलाते लगते हैं। वस्तुतः काव्य द्वारा रसिकों की बुद्धि में उपस्थित होने वाला प्रमदा आदि का रूप ही आलम्बन विभाव आदि हुआ करता है, बाह्य सीता आदि की आलम्बन आदि के रूप में अपेक्षा नहीं होती (४.२ अवलोक)। रसिक जन यह जानते हैं कि ये विशेष प्रकार के भाव तथा चेष्टाएँ रति आदि भाव के बिना नहीं हुआ करते। इसलिए विभाव आदि के बोध से लक्षणा द्वारा रति आदि स्थायी भाव की प्रतीति हो जाया करती है, रति आदि भाव व्यञ्जना का विषय नहीं है। जिस प्रकार वाक्य में पदार्थों का बोध होने के पश्चात् शब्द द्वारा उक्त या प्रकरण आदि द्वारा जानी गई क्रिया कारकों से अन्वित होकर वाक्य का अर्थ होती है; उसी प्रकार काव्य के शब्दों द्वारा बोधित विभाव आदि से अन्वित (संसृष्ट) शब्द द्वारा उक्त या लक्षणागम्य रति आदि स्थायी भाव काव्य का अर्थ ही है, जो तात्पर्य वृत्ति द्वारा जाना जाता है। विभाव आदि से संसृष्ट स्थायी भाव के साथ सहृदय के चित्त की तन्मयता (=संभेद) हो जाती है और सहृदयों को विशेष प्रकार के आत्मानन्द का आस्वादन होता है। यही आस्वादन रस है (स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः ४.४३)। काव्य रस का भावक होता है या कहिये कि काव्य के वाच्यार्थ विभाव आदि भावक होते हैं और रस आदि भाव्य होते हैं। अतः रस आदि तथा काव्य में भाव्य-भावक सम्बन्ध है।

धनिक के रस-सम्बधी मन्तव्य में रति आदि भाव की सामाजिक के चित्त में पहिले से विद्यमानता, लौकिक कारण आदि का काव्य के द्वारा विभाव आदि के रूप में हो जाना तथा काव्यार्थ=विभाव आदि से संसृष्ट रति आदि स्थायी भाव के साथ रसिक के चित्त की तन्मयता=स्वपर भाव का लुप्त हो जाना इत्यादि तथ्य अभिनवगुप्त के मत से अधिकांश में समानता रखते हैं। सम्भवतः इसीलिए कीथ जैसे विद्वानों का विचार है कि "अभिनवगुप्त के द्वारा प्रतिपादित रस-सिद्धान्त दशरूपक का भी सिद्धान्त है, यद्यपि वहाँ पर प्रतिपादन की संक्षिप्तता के कारण वह अधिक दुरूह हो गया है।" (संकृत नाटक, पृ० ३४२)। वस्तुतः दशरूपक का रस-विषयक मन्तव्य साहित्य जगत् में प्रसिद्ध अन्य सभी रस सम्बन्धी मन्तव्यों से पृथक् है। जैसा कि अभी ऊपर दिखलाया गया है, भट्ट लोल्लट, शङ्कुक तथा भट्टनायक के मत के साथ भी इसकी आंशिक रूप से समानता दृष्टिगोचर होती है, फिर भी पूर्णरूप में यह उनसे भिन्न ही है। उन तीनों के मिश्रित मन्तव्यों की अपेक्षा भी दशरूपक का रसविषयक मन्तव्य भिन्न ही है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि दशरूपक का रससम्बन्धी मत भट्टलोल्लट, शङकुक तथा भट्टनायक के मतों का संमिश्रण मात्र है। अभिनवगुप्त तथा दशरूपक के रस-सम्बन्धी मन्तव्यों में भी मौलिक भेद है। दशरूपक के अनुसार रस आदि तथा काव्य में जो भाव्य-भावक सम्बन्ध है, वह अभिनवगुप्त के अभिमत अभिव्यक्तिवाद (=व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव) से नितान्त भिन्न है। अभिनवगुप्त का अभिमत साधारणीकरण एवं प्रमाता का अपरिमित भाव इत्यादि भी दशरूपक के रस-सम्बन्धी मन्तव्य में परिलक्षित नहीं होते। मीमांसा के

आधार पर परिकल्पित दशरूपक के रस-सिद्धान्त में शैवागम की भित्ति पर स्थापित अभिनवगुप्त के रस-सिद्धान्त के साथ ऊपरी समानता ही है। दशरूपक के रस-सम्बन्धी मन्तव्य का अपना एक विशिष्ट रूप ही है।

५. संस्कृत साहित्यशास्त्र विशेषकर नाट्यशास्त्र को दशरूपक की देन

दशरूपक का लक्ष्य है रूपक के मुख्य तत्त्व—वस्तु, नायक और रस का विवेचन तथा रूपक के दस भेदों का निरूपण। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये विशेष रूप से भरत के नाट्यशास्त्र का आश्रय लिया गया है। साथ ही उस समय उपलब्ध नाट्य-विद्या के अन्य ग्रन्थों से भी सहायता ली गई है। सम्भवत: कोहल इत्यादि के मन्तव्य का भी इस पर प्रभाव पड़ा है इसके अतिरिक्त भामह उद्भट आनन्दबर्द्धन, रुद्रट आदि के साहित्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का भी स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है उस समय उपलब्ध रूपकों तथा काव्यों से यथावसर उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। तथा नाट्य सम्बन्धी विषयों के स्पष्टीकरण में भी उनसे सहायता ली गई; जैसे दूती के गुणों का निरूपण करते हुए मालतीमाधव को उद्धृत किया गया है (२.२९ वृत्ति)। यहाँ पूर्ववर्ती आचार्यों के मन्तव्यों का बुद्धिपूर्वक स्वीकरण अथवा आवश्यकतानुसार युक्ति-पूर्वक निराकरण किया गया है साथ ही नवीन मन्तव्यों की उद्भावना भी की गई है। संक्षेप में दशरूपक की विशिष्ट देन इस प्रकार है—

(i) नाट्य सम्बन्धी सामग्री का नवीन ढङ्ग से विश्लेषण करना।

(ii) मुख्य रूप से परमानन्द रूप रसास्वादन ही रूपकों का प्रयोजन है, यह स्थापना करना (१.६)। (iii) नृत्य तथा नृत्त से भेद दिखलाते हुए नाट्य का लक्षण (iv) रूपक के भेदक तत्त्वों का निर्देश। (V) विविध दृष्टियों (योजना, वर्णन, नाटयोक्ति) से वस्तु-विभाजन। (VI) नायक नायिका और उनके सहायकों का सरल-सुबोध वर्णन। (VII) भारती आदि वृत्तियों तथा देश-भेद से भिन्न-भिन्न भाषा आदि की प्रवृत्तियों का संक्षिप्त निरूपण (VIII) उद्भट के अनुयायियों के मत का निराकरण करते हुए यह स्थापना करना कि कैशिकी, सात्त्वती तथा आरभटी अर्थवृत्तियाँ है, इनसे भिन्न कोई अर्थवृत्ति नहीं है (२.६०-६१)। (IX) रस-प्रक्रिया-विषयक मौलिक मत की उद्भावना; रस आदि तथा काव्यों में व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव सम्बन्ध है, ध्वनिवादियों के इस मत का निराकरण करते हुए भाव्य-भावक सम्बन्ध दिखलाना। (X) नाट्य में शान्त रस का निषेध (४.३५.—४५)। (XI) रसास्वादन के क्रम में मानसिक प्रक्रिया के यथार्थ स्वरूप के निरूपण का प्रयास, "उसके आधार पर रसों के भेद बतलाये गये हैं। शृङ्गार, वीर, वीभत्स और रौद्र—ये चार रस मूल रस माने गये हैं। इन चारों का सम्बन्ध चार

चित्तभूमियों से है—विकास, विस्तर, क्षोभ और विक्षेप । स्पष्ट है कि इन चित्त-भूमियों तक अन्तर्दर्शन के द्वारा पहुँचा जा सकता है । इनकी यह विशेषता नाट्य-शास्त्र में वर्णित चार मुख्य (मूल) और चार गौण रसों के सिद्धान्त का अर्थ—मनोवैज्ञानिक तार्किक आधार प्रस्तुत करती है ।" (कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० ३४३) (XII) रस दस होते हैं, या इनसे भी अधिक हो सकते हैं इत्यादि रुद्रट (काव्यालङ्कार १२.३-४) के मत का निराकरण करके 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' की स्थापना (दश० ३.३५,३६), (XIII) प्रीति, भक्ति आदि अन्य भाव तथा रसों का हर्ष उत्साह आदि में अन्तर्भाव दिखलाना (४.८३)। (XIV) नाट्यालङ्कार तथा नाट्य-लक्षणों का उपमा आदि अलङ्कारों तथा हर्ष उत्साह आदि भावों में अन्तर्भाव मानना (३.८४) जब कि भरतमुनि ने इसका पृथक्शः निरूपण किया था और धनञ्जय के परवर्ती विश्वनाथ इत्यादि ने भी पृथक् निरूपण किया है । इससे यह प्रतीत होता है कि दश-रूपक की प्रवृत्ति सरलता और सुबोधता की ओर रही है । (XV) नाटक आदि के लक्षणों में भी दशरूपक की अपनी विशेषताएँ हैं । (जिनका यथावसर निर्देश किया गया है) उदाहरणार्थ 'प्रकरण का नायक धीर प्रशान्त ही होता है, यह स्थापना, ना० द० (३.११७) में इसका, विरोध किया गया है । (XVI) प्रसङ्गवश रूपकों के किसी तत्त्व की समीक्षा, जैसे नागानन्द में शान्त रस नहीं, अपितु दयावीर है उसका नायक जीमूतवाहन धीरप्रशान्त नहीं, अपित धीरोदात्त है तथा परोपकार में प्रवृत्ति भी विजिगीषा कही जा सकती है (२.४-५ तथा ४.३५)। (XVII) नामो-ल्लेख करके रूपकों तथा काव्यों के उदाहरण प्रस्तुत करना, जैसा कि कम आचार्यों ने किया है । इससे अनेक कवियों तथा ग्रन्थों के समय-निर्धारण में सहायता मिलती है । इसी प्रकार दशरूपक की अन्य देन भी खोजी जा सकती हैं ।

कतिपय परवर्ती आचार्यों ने यत्र-तत्र दशरूपक के मन्तव्यों की आलोचना अवश्य की है । किन्तु उनके ग्रन्थों के परिशीलन से विदित होता है कि वे किसी न किसी अंश में दशरूपक के ऋणी हैं । जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है, भाव-प्रकाशन में दशरूपक का पर्याप्त आधार लिया गया है; नाट्यदर्पण भी किसी रूप में दशरूपक से प्रभावित है, यद्यपि प्रतिद्वन्द्विता की भावना के कारण यहाँ धनञ्जय के लिये कठोर शब्दों का प्रयोग कर दिया गया है (द्र० ऊपर)। प्रतापरुद्र यशोभूषण में दशरूपक का बहुत प्रभाव परिलक्षित होता है तथा साहित्यदर्पण में भी । भानुदत्त की रसतरङ्गिणी भी दशरूपक की ऋणी प्रतीत होती है । सम्भवतः यहाँ लौकिक रस और अलौकिक रस का भेद दशरूपक के आधार पर किया गया है । इस प्रकार परवर्ती आचार्यों ने जाने, अनजाने में दशरूपक का महत्त्व स्वीकार करके अपनी गुणग्राहिता का परिचय दिया है । धनञ्जय एवं धनिक की यह कृति अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है । उनका दशरूपक नाट्यशास्त्र का अपूर्व ग्रन्थ है ।



अथ

श्रीधनञ्जयविरचित

दशरूपकम्

धनिककृतावलोकसहितं हिन्दीव्याख्योपेतं च

प्रथमः प्रकाशः

इह सदाचारं प्रमाणयद्भिरविघ्नेन प्रकरणस्य समाप्त्यर्थमिष्टयोः प्रकृताभिमत-देवतयोर्नमस्कारः क्रियते श्लोकद्वयेन---

(१) नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठः पुष्करायते ।
मदाभोगघनध्वानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे ।।१।।

यस्य कण्ठः पुष्करायते=मृदङ्गवदाचरति; मदाभोगेन घनध्वानः=निबिड-ध्वनिः; नीलकण्ठस्य=शिवस्य, ताण्डवे=उद्धते नृत्ते, तस्मै गणेशाय नमः । अत्र खण्डश्लेषा-क्षिप्यमाणोपमाच्छायालङ्कारः, नीलकण्ठस्य=मयूरस्य ताण्डवे यथा मेघ-ध्वनिः पुष्क-रायत इति प्रतीतेः ।

आचार्य धनञ्जय का दशरूपक नाट्य (रूपक) की विवेचना का एक प्रामा-णिक ग्रन्थ है । इसमें रूपक के विविध अङ्गों का संक्षिप्त किन्तु विशद विवेचन है । प्रतिपाद्य विषय का चार प्रकाशों में विभाजन किया गया । प्रथम प्रकाश में मङ्गल से आरम्भ करके ग्रन्थ का प्रयोजन, रूपक का लक्षण तथा रूपकों के भेदक तत्त्वों (वस्तु, नेता तथा रस) का निरूपण करते हुए 'वस्तु' तत्त्व का वर्णन किया जा रहा है ।

मङ्गलाचरण

शिष्टों के आचार को प्रमाण मानते हुए इस प्रकरण ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये (धनञ्जय ने) दो श्लोकों द्वारा अभीष्ट=प्रकृत और अभिमत (दो) देवताओं को नमस्कार किया है—

जिन गणेश जी का मद की परिपूर्णता (आभोग) से गम्भीर ध्वनि वाला कण्ठ, नीलकण्ठ (शिव) के ताण्डव (नृत्य) में मृदङ्ग का काम करता है, उन गणेश जी को नमस्कार है ।।१।। (अनुष्टुभ् वृत्त)

जिन (गणेश) का कण्ठ मृदङ्ग (=पुष्कर) के समान कार्य करता है (पुष्क-रायते=पुष्कर इव आचरति), क्योंकि यह मद के आभोग (परिपूर्णता, वृद्धि) से गम्भीर (=घन) ध्वनि वाला है, कहाँ ? नीलकण्ठ अर्थात् शिव के ताण्डव (उद्धत) नृत्य में, उन गणेश जी के लिये नमस्कार है । यहाँ खण्डश्लेष के द्वारा उपमा अलङ्कार की छाया प्रकट हो रही है, क्योंकि नीलकण्ठ अर्थात् नीले कण्ठ वाले मयूर के ताण्डव में जैसे मेघ की ध्वनि मृदङ्ग का काम करती हैं (उसी प्रकार शिव के ताण्डव नृत्य

(२) दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः ।
नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च ॥२॥

में गणेश की कण्ठध्वनि मृदङ्ग का काम करती है)—यह प्रतीति हो रही है।

टिप्पणी (१) मङ्गलाचरण करने में शिष्टाचार ही मुख्य प्रमाण है। शिष्ट जन ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण किया करते हैं। उनके आचरण को प्रमाण मानते हुए ग्रन्थकार (धनञ्जय) भी यहाँ मङ्गलाचरण कर रहे हैं। मङ्गलाचरण का फल है---ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति (विशेष द्र०, न्यायमुक्तावली, मङ्गलश्लोक दिनकरी तथा रामरुद्री टीका)। (२) प्रकरण —दशरूपक एक प्रकरण ग्रन्थ है। जिस रचना में किसी शास्त्र के एक अंश का व्यवस्थित, संक्षिप्त किन्तु विशद विवेचन होता है, वह प्रकरण ग्रन्थ कहलाता है। दशरूपक में साहित्य शास्त्र या कहिये कि नाटचशास्त्र के अंश दशरूपकों का संक्षिप्त तथा विशद विवेचन है। (३) प्रकृताभिमतदेवतयोः—इष्ट देवता को नमस्कार करना ही मङ्गलाचरण का स्वरूप है। यहाँ इष्ट देवता दो प्रकार के हैं----(क) प्रसङ्ग के अनुकूल = प्रकृत = प्रकरण-प्राप्त (ख) अभिमत = पूजनीय। प्रथम तथा द्वितीय श्लोक में अभिमत देव गणेश तथा विष्णु को साक्षात् रूप से नमस्कार किया गया है; किन्तु साथ ही दो प्रकृत देवों--- नाटच में नृत्त (एवं नृत्य) के प्रवर्तक शिव को तथा प्रयोग के प्रवर्तक भरत को भी नमस्कार किया जा रहा है (४) खण्डश्लेष----श्लेष दो प्रकार का है अखण्ड और सखण्ड (या खण्डश्लेष)। जहाँ किसी पद के खण्ड मात्र में श्लेष होता है वहाँ खण्डश्लेष कहलाता है यहाँ पर 'मदाभोगघनध्वानः' इस पद के 'घनध्वानः' इस खण्ड में ही श्लेष है अतः खण्डश्लेष है। (५) उपमाच्छाया—जहाँ उपमा शब्दों द्वारा कही जाती है वहाँ उपमा वाच्य या अभिधेय होती है तथा स्पष्ट होती है। किन्तु जहाँ उपमा केवल तात्पर्य (तात्पर्यवृत्ति) द्वारा जानी जाती है वहाँ उपमाच्छाया (=अस्पष्ट उपमा या तात्पर्य से प्रतीत होने वाली उपमा) कहलाती है। इसी प्रकार अन्य अलङ्कारों के विषय में भी कहा जा सकता है। यहाँ उपमाच्छाया का अर्थ उपमा-व्यञ्जना या उपमाध्वनि नहीं है क्योंकि धनञ्जय एवं धनिक व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार नहीं करते (द्र०, आगे ४.३७)।

उन सर्वविद् (१. सर्वज्ञ तथा २. नाटच-विद्या के पूर्ण ज्ञाता) विष्णु तथा आचार्य भरत को नमस्कार है जिनके दशरूपों (१. दश अवतारों, २. नाटक आदि दशरूपकों) के अनुसार (१. ध्यान, २. अभिनय) के द्वारा भावक जन (१. ध्यान करने वाले, २. रसिक) प्रसन्न हो जाते हैं (माद्यन्ति) ॥२॥ (अनुष्टुभ् वृत्त)

एकत्र मत्स्यकूर्मादिप्रतिमानामुद्देशेन, अन्यत्रानुकृतिरूपनाटकादिना यस्य भावकाः=ध्यातारो रसिकाश्च, माद्यन्ति=हृष्यन्ति, तस्मै विष्णवेऽभिमताय प्रकृताय भरताय च नमः।

श्रोतुः प्रवृत्तिनिमित्तं प्रदर्श्यते—

(३) कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषयं सरस्वती विदुषः।
घटयति कमपि तमन्यो व्रजति जनो येन वैदग्धीम् ॥३॥

तं कञ्चिद्विषयं=प्रकरणादिरूपं कदाचिदेव कस्यचिदेव कवेः सरस्वती योजयति येन=प्रकरणादिना विषयेणान्यो जनो विदग्धो भवति।

एक (विष्णु) पक्ष में (दशरूपानुकारेण का अर्थ है—मत्स्य, कूर्म आदि रूपों (प्रतिमा) को लक्ष्य करके, दूसरे (भरत) पक्ष में अनुकृति रूप जो नाटक आदि रूपक हैं उनके द्वारा। जिसके भावक=(१) (विष्णु-पक्ष में) ध्यान करने वाले, (२) (भरत-पक्ष में) रसिक जन। माद्यन्ति=हर्षित हो जाते हैं। उन विष्णु के लिये जो अभिमत देव हैं तथा भरत के लिये जो प्रकृत (प्रकरण के अनुकूल) हैं नमस्कार है।

टिप्पणी—(१) यहाँ श्लिष्ट विशेषणों द्वारा नाट्य शास्त्र के प्रवर्तक भरत मुनि की स्तुति की गई है, 'दशरूपानुकारेण' तथा 'भावक' दोनों पदों में श्लेष है (द्र० अनुवाद)। (२) विष्णु शब्द के प्रयोग द्वारा यहाँ ग्रन्थकार धनञ्जय ने अपने पिता को नमस्कार किया है। (द्र० भूमिका)।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रयोजन

किसी रचना के दो प्रकार के प्रयोजन होते हैं—१. पाठकों की दृष्टि से और २. लेखक की दृष्टि से। दोनों का क्रमशः निरूपण किया जा रहा है।

श्रोता (पाठक) की (इस ग्रन्थ में) प्रवृत्ति का प्रयोजन दिखलाया जाता है:—

सरस्वती कृपा करके कभी किसी विद्वान् को किसी ऐसे विषय से घटित कर देती है, जिससे अन्य जन भी पाण्डित्य को प्राप्त हो जाते हैं ॥३॥ (आर्यावृत्त)

अर्थात् उस किसी विषय को=प्रकरण आदि के विषय को, कभी ही किसी प्रतिभाशाली जन के लिये (कवेः) सरस्वती घटित करती है, जिस प्रकरण आदि से अन्य जन विद्वान् हो जाते हैं।

ग्रन्थकार (इस ग्रन्थ की रचना में) अपने प्रवृत्त होने का प्रयोजन दिखलाते हैं—

स्तप्रवृत्तिविषयं दर्शयति

(४) उद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाटचवेदं विरिञ्चि-
श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः ।
शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्म कः कर्तुमीष्टे
नाटचानां किन्तु किञ्चित्प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि ।।४।।

यं नाटचवेदं वेदेभ्यः सारमादाय ब्रह्मा कृतवान्, यत्संबद्धमभिनयं भरतश्चकार करणाङ्गहारानकरोत्, हरस्ताण्डवमुद्धतं नृत्तं कृतवान्* लास्यं सुकुमारं नृत्तं पार्वती कृतवती, तस्य सामस्त्येन लक्षणं कर्तुं कः शक्तः तदेकदेशस्य तु दशरूपस्य संक्षेपः क्रियते इत्यर्थः ।

ब्रह्मा ने समस्त वेदों का सार निकाल-निकाल कर जिस नाटचवेद की रचना की, मुनि होकर भी भरत ने जिसका प्रयोग (अभिनय) किया, शिव (नीलकण्ठ) ने जिसका ताण्डव तथा पार्वती ने जिसका लास्य किया, उस (नाटचवेद) का प्रतिपद (प्रत्येक अङ्ग का) लक्षण कौन कर सकता है ? तथापि किसी प्रकृष्ट गुण वाली अथवा सरल (प्रगुण) रचना के द्वारा मैं नाटच के कुछ लक्षणों को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहा हूँ ।।४।।

जिस = नाटच वेद को, वेदों से सार लेकर ब्रह्मा ने रचा, जिसका अभिनय = करण तथा अङ्गहार भरत ने किया, शिव ने ताण्डव = उद्धत नृत्त और पार्वती ने लास्य = सुकुमार नृत्त किया, उसका पूर्णरूप से (= सामस्त्येन = प्रतिपदम्) लक्षण कौन कर सकता है ! किन्तु यहाँ उस (नाटचवेद) के एक भाग दशरूपक का संक्षेप (में निरूपण) किया जा रहा है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ नाटचवेद की रचना के विषय में प्रचलित भारतीय परम्परा की ओर संकेत किया गया है । भरत के नाटचशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाटच की उत्पत्ति तथा अभिनय आदि के प्रवर्तन की यह कहानी कही गई है । (द्र० भं० पृ० १) (२) करण और अङ्गहार—हाथ-पैर इत्यादि को व्यवस्थित करने का क्रम ही करण कहलाता है—हस्तपादसमयोगो नृत्यस्य करणं भवेत्, (भरत) । कलात्मक ढङ्ग से अङ्गों का विक्षेप ही अङ्गहार है—अङ्गहारोऽङ्गविक्षेपः (भरत) ।

[शङ्का हो सकती है कि जब इसी विषय का नाटचवेद में विस्तृत वर्णन किया जा चुका है तो इस ग्रन्थ की रचना पिष्टपेषण (पुनरुक्ति) मात्र है] । अतः विषय की एकता के कारण होने वाली पुनरुक्ति का परिहार करते हैं:—

---

*'नृत्तं कृतवान्' क्वचिन्नास्ति

विषयैक्यप्रसक्तं पौनरुक्त्यं परिहरति—

(५) व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः ।
तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा ।।५।।

व्याकीर्णे=विक्षिप्ते विस्तीर्णे च रसशास्त्रे मन्दबुद्धीनां पुंसां मतिमोहो भवति तेन तस्य नाटचवेदस्यार्थस्तत्पदैरेव संक्षिप्य ऋजुवृत्त्या क्रियत इति ।

इदं प्रकरणं दशरूपज्ञानफलम् । दशरूपं किं फलमित्याह—

(६) आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः ।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ।।६।।

तत्र केचित्—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ।।

इत्यादिना त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिं काव्यफलत्वेनेच्छन्ति तन्निरासेन स्वसंवेद्यः परमानन्दरूपो रसास्वादो दशरूपाणां फलं न पुनरितिहासादिवत् त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिमात्रमिति दर्शितम् । नम इति सोल्लुण्ठम् ।

विस्तृत ग्रन्थ में मन्दबुद्धि वाले जनों को बुद्धि भ्रम (Confusion) हो जाता है इसलिये उस (नाट्यवेद) का विषय (अर्थ) यहाँ संक्षिप्त करके उसी के शब्दों द्वारा सरल रीति से (निरूपित) किया जा रहा है ।।५।। (अनुष्टुभ्)

व्याकीर्ण—बिखरे हुए तथा विस्तृत रसशास्त्र (नाट्यवेद) में, मन्दबुद्धि वाले जनों का मतिमोह हो जाता है इसलिये उस नाट्यवेद का अर्थ नाट्यवेद के शब्दों के ही द्वारा संक्षिप्त करके सरल रीति से (अञ्जसा=ऋजुवृत्त्या) प्रतिपादित किया जा रहा है ।

इस प्रकार इस प्रकरण ग्रन्थ का प्रयोजन है—दशरूपकों का ज्ञान । दशरूपकों का क्या प्रयोजन होता है, यह बतलाते हैं—

जो अल्पबुद्धि वाला आनन्द को प्रवाहित करने वाले रूपकों का फल भी इतिहास आदि के समान केवल व्युत्पत्ति (धर्म आदि का ज्ञान) को ही बतलाता है उस रसास्वाद से विमुख जन को नमस्कार है ।।६।। (इन्द्रवज्रा)

"सत् काव्य का सेवन (रचना तथा अनुशीलन) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (के विषय) का ज्ञान तथा कलाओं में प्रवीणता, (कवि की) कीर्ति एवं, (पाठक के हृदय में) प्रीति को उत्पन्न करता है" इस प्रकार कहते हुए कुछ आचार्यों (भामह काव्यालङ्कार १·२) ने त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) आदि के ज्ञान को ही काव्य का प्रयोजन माना है ।उसका निराकरण करके (धनञ्जय ने) यह दिखलाया है कि(सहृदयों की) अपनी अनुभूति का विषय (स्वसंवेद्य) जो परम आनन्द-रूप रसास्वादन है वह दशरूपकों का प्रयोजन है, इतिहास आदि के समान त्रिवर्ग आदि का ज्ञान ही इनका प्रयोजन नहीं है । "रसास्वाद से विमुख जन को नमस्कार है" वह कथन उपालम्भ के लिये है ।

'नाटयानां लक्षणं संक्षिपामि' इत्युक्तम्, किं पुनस्तन्नाट्यमित्याह—

(७) अवस्थानुकृतिर्नाट्यं—

काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्।

टिप्पणी— (१)प्राचीन काल से ही आचार्यों ने काव्य तथा रूपकों के प्रयोजन पर विचार किया है। इस विषय में आचार्यों के विविध दृष्टिकोण हैं यहाँ भामह (१.२) के मत का निराकरण किया गया है। धनञ्जय के मत में रूपकों का मुख्य प्रयोजन है—परम आनन्द की अनुभूति कराना, किन्तु त्रिवर्ग आदि का ज्ञान कराना काव्य या रूपक का गौण प्रयोजन है ही।'व्युत्पत्तिमात्रम्' में प्रयुक्त 'मात्र' पद से यह तथ्य स्पष्ट प्रकट हो रहा है। दूसरी ओर भामह के अनुसार धर्म आदि का ज्ञान कराना काव्य या रूपक का मुख्य प्रयोजन है साथ हि 'प्रीति' भी काव्य का प्रयोजन है ही। यदि प्रीति का अभिप्राय 'आनन्द' लिया जाता है तो भामह के अनुसार आनन्दानुभूति भी काव्य का प्रयोजन होगा। चाहे वह गौण ही क्यों न हो। तब तो धनञ्जय ने भामह को स्वादुराङ्मुख कहते हुए जो उन पर आक्षेप किया है इसका तात्पर्य यह है कि धनञ्जय के अनुसार परम आनन्द की प्राप्ति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है (२) इस प्रकार ग्रन्थकार ने अनुबन्धचतुष्टय का संक्षेप में निरूपण किया है। अनुबन्धचतुष्टय है—विषय, अधिकारी, सम्बन्ध और प्रयोजन। इस ग्रन्थ का विषय दशरूपक है। दशरूपकों के ज्ञान का इच्छुक जन इसका अधिकारी है। विषय और प्रकरणग्रन्थ का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भाव सम्बन्ध है; अर्थात् दस प्रकार के रूपक प्रतिपाद्य हैं और ग्रन्थ उनका प्रतिपादक। इस ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन है—रूपकों का स्पष्ट तथा संक्षिप्त विवेचन, जिससे मन्दबुद्धि वाले जन भी दशरूपक का ज्ञान प्राप्त कर सकें। पाठक की दृष्टि से इस ग्रन्थ का प्रयोजन है—दशरूपक का ज्ञान। किन्तु इस ज्ञान का भी कुछ फल होना चाहिये ? क्योंकि दशरूपकों से परमानन्द की प्राप्ति होती है इसलिये दशरूपकों का ज्ञान भी सप्रयोजन ही है। इस प्रकार परम आनन्द की अनुभूति ग्रन्थ के प्रयोजन का प्रयोजन है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रति श्रोता को आकृष्ट करने के लिए ही यह विवेचन किया गया है।

नाट्य या रूपक का स्वरूप

'नाट्य के लक्षणो को संक्षिप्त करता हूँ,' यह कहा गया है, अब 'वह नाट्य क्या है ?' यह बतलाते हैं:—

अवस्था का अनुकरण नाट्य कहलाता है।

काव्य में वर्णित (नायक की) धीरोदात्त आदि अवस्थाओं का अनुकरण, अर्थात् चार प्रकार के अभिनय द्वारा (अनुकार्य के साथ) एकरूपता प्राप्त कर लेना ही नाट्य है।

टिप्पणी—नाट्य (१)—नट का भाव या कर्म नाट्य कहलाता है। वह कर्म है—नायक की उदात्त आदि अवस्थाओं का अनुकरण अथवा अभिनय-कौशल के

(८)—रूपं दृश्यतयोच्यते ।

तदेव नाट्यं दृश्यमानतया रूपमित्युच्यते, नीलादिरूपवत् ।

(९) रूपकं तत्समारोपात्—

नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्रूपकं मुखचन्द्रादिवत्, इत्येकस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य 'इन्द्रः पुरन्दरः शक्रः' इतिवत्प्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शितः ।

द्वारा नट का अनुकार्य (राम आदि के साथ तादात्म्य (नट में 'यह राम है' इस प्रकार की एकरूपता) प्राप्त करना । जो काव्य अभिनय के योग्य (अभिनेय) होता है वह भी नाट्य या रूपक कहलाता है । फलतः अभिनेय काव्य = नाट्य = दृश्य = रूप = रूपक । (ii) अभिनय चार प्रकार का होता है—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक । भुजा आदि अङ्गों द्वारा अभिनय आङ्गिक है । वचन के द्वारा किया जाने वाला अभिनय वाचिक है, इसे पाठ्य भी कहते हैं । आहार्य = ग्राह्य, नाट्य के योग्य अलङ्कार आदि धारण करना' वेश रचना आदि के द्वारा जो अभिनय किया जाता है वह आहार्य कहलाता है । दूसरे के सुख-दुःख की भावना से भावित अन्तःकरण को सत्त्व कहते हैं। सत्त्व से निष्पन्न होने वाले भाव सात्त्विक कहे जाते हैं । उन स्तम्भ स्वेद आदि सात्त्विक भावों के द्वारा किया गया अभिनय सात्त्विक कहलाता है ।

दृश्य होने के कारण यह नाट्य 'रूप' भी कहलाता है ।

भाव यह है कि जिस प्रकार दृश्य (चाक्षुष ज्ञान का विषय) होने के कारण नील इत्यादि रूप कहलाते हैं उसी प्रकर दृश्य होने के कारण नाट्य भी 'रूप कहलाता है ।

आरोप किया जाने के कारण वह (तत्) नाट्य 'रूपक' कहलाता है ।

जिस प्रकार मुख में चन्द्रमा का आरोप किया जाने के कारण 'मुखचन्द्र' में रूपक (अलङ्कार) कहलाता है इसी प्रकर नट में राम आदि की अवस्था (रूप) का आरोप होने के कारण नाट्य को भी 'रूपक' कहते हैं इस प्रकार एक ही अर्थ (दृश्य काव्य) में प्रयुक्त होने वाले नाट्य, रूप और रूपक--इन तीनों शब्दों का इन्द्र पुरन्दर तथा 'शक्र' आदि के समान प्रवृत्तिनिमित्त का भेद दिखलाया गया है ।

टिप्पणी—(१) धनञ्जय के अनुसार 'रूप' शब्द की व्युत्पत्ति होगी-रूप्यते दृश्यत इति । नाट्यदर्पण के अनुसार—रूप्यन्ते अभिनीयन्त इति रूपाणि नाटकादीनि (पृष्ठ १२) । (२) **रूपक**—रूपम् एव रूपकम् (रूप + कम्) या रूपयति इति अथवा आरोपयति इति (√रुह् + णिच्) । नट में राम आदि (अनुकार्य) के रूप का आरोप करना ही रूपक शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है । (३) **प्रवृत्तिनिमित्त**—जिस निमित्त से किसी अर्थ में शब्द का प्रयोग किया जाता है वह शब्द प्रवृत्तिनिमित्त कहलाता है; जैसे गोत्व के कारण गायों में गो शब्द का प्रयोग होता है अतः 'गोत्व' गो शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है । एक ही अर्थ (वस्तु) के लिये भिन्न-भिन्न निमित्तों से

(१०)—दशधैव रसाश्रयम् ॥८॥

रसानाश्रित्य वर्तमानं दशप्रकारकम्, एवेत्यवधारणं शुद्धाभिप्रायेण । नाटिकायाः संकीर्णत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् ।

तानेव दशभेदानुद्दिशति—

(११) नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
व्यायोगसमवकारौ वीच्यङ्केहामृगा इति ॥८॥

अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता है । वहाँ उन शब्दों के अर्थ में तो भेद नहीं होता किन्तु उन शब्दों के प्रयोग का निमित्त भिन्न-भिन्न हो सकता है । जैसे एक ही व्यक्ति परम ऐश्वर्यवान् होने के कारण इन्द्र तथा पुरों को विदीर्ण करने के कारण पुरन्दर कहलाता है । इसी प्रकार अभिनेय या दृश्य काव्य में उदात्त आदि अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है अतः वे नाट्य कहलाते हैं, वे दृश्य हैं इसी से वे रूप कहलाते हैं और वहाँ नट में राम आदि के रूप का आरोप किया जाता है इसलिये वे रूपक कहलाते हैं ये तीनों शब्द एकार्थवाचक हैं किन्तु प्रवृत्तिनिमित्त का भेद है ।

नाट्य के प्रकार (भेद)

रस पर आश्रित होने वाला यह रूपक दस प्रकार का ही होता है ॥७॥

भाव यह है रूपक रसों पर आश्रित होते हैं, वे दस प्रकार के ही हैं (अधिक नहीं) । यहाँ शुद्ध रूपक की दृष्टि (अभिप्राय) से ही 'एव (=ही) शब्द द्वारा अवधारण (रूपक दस प्रकार के ही है, इस प्रकार का नियम) किया गया है क्योंकि संकीर्ण रूपक के रूप में आगे नाटिका कही जायेगी ।

टिप्पणी—भाव यह है कि प्रथमतः रूपक दो प्रकार के हो सकते हैं—१. शुद्ध और २. संकीर्ण । धनञ्जय के अनुसार वस्तु, नेता और रस के आधार पर एक-दूसरे से भिन्न स्वरूप वाले दस ही रूपक हैं । ये रूपक के शुद्ध भेद हैं । इनमें से दो या तीन के कतिपय लक्षणों का मिश्रण (संकीर्णता) जिस रूपक में पाया जाता है वह रूपक का सङ्कीर्ण भेद है जैसे नाटिका एक सङ्कीर्ण रूपक है, यह आगे (३.४३) बतलाया जायेगा । यह नाटिका भी रस पर आश्रित होती है तथापि यह रूपक का शुद्ध भेद नहीं है अपितु सङ्कीर्ण भेद है । इस प्रकार धनञ्जय का अभिप्राय यह है कि रस पर आश्रित होने वाले अभिनय रूपक कहलाते हैं । इन रूपकों के दो प्रकार हैं—शुद्ध और सङ्कीर्ण । शुद्ध रूपक १० प्रकार के ही होते हैं । इनके अतिरिक्त सङ्कीर्ण रूपक (नाटिका) आदि भी होते हैं ।

उन दस भेदों का निर्देश करते हैं:—

१. नाटक, २. प्रकरण, ३. भाण, ४. प्रहसन, ५. डिम, ६. व्यायोग, ७. समवकार, ८. वीथी, ९. अङ्क और १०. ईहामृग ।

ननु—

'डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासकाः ।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥"

इति रूपकान्तराणामपि भावादवधारणानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—

(१२) अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम्—

रसाश्रयान्नाट्याद्भावाश्रयं नृत्यमन्यदेव । तत्र भावाश्रयमिति विषयभेदान्नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेनाङ्गिकबाहुल्यात् तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशाल्लोकेऽपि च अत्र प्रेक्षणीयकम्' इति व्यवहारान्नाटकादेरन्यन्नृत्यम् । तद्भेदत्वाच्छ्रीगदितादेरवधारणोपपत्तिः

नाटकादि च रसविषयम्, रसस्य च पदार्थीभूतविभावादिसंसर्गात्मकवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थाभिनयात्मकत्वं रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम् । नाट्यमिति च 'नट अवस्पन्दने' इति नटेः किञ्चिच्चलनार्थत्वात्सात्त्विकबाहुल्यम्, अत एव तत्कारिषु नटव्यपदेशः । यथा च गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेप्यनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्यन्नृत्यं तथा

(शङ्का) डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान रासक और काव्य—ये नृत्य के सात भेद होते हैं । वे सभी भाण के समान हैं ।" इस प्रकार अन्य प्रकार के रूपक भी विद्यमान हैं अतः 'दस प्रकार के ही रूपक हैं इस प्रकार का अवधारण (नियम) नहीं बन सकता ?

इस प्रकार की शङ्का उठाकर कहते हैं—

भाव पर आश्रित होने वाला नृत्य (नाट्य से) भिन्न होता है ।

नाट्य रस पर आश्रित है किन्तु नृत्य भाव पर आश्रित है अतः नाट्य से नृत्य भिन्न ही होता है । यहाँ 'भावाश्रय' इस शब्द से विषय का भेद और 'नृत्य' इस शब्द से आङ्गिक अभिनय की प्रचुरता दिखलाई गई है, क्योंकि (नृत्य शब्द नृत् धातु से बना है) नृत् धातु का अर्थ है—गात्र-विक्षेप—अङ्गों का चलाना । साथ ही नृत्य करने वाले के लिये 'नर्तक' शब्द का प्रयोग होता है और लोक में भी 'यहाँ (नृत्य में) दर्शनीय है—यह व्यवहार होता है । अतः नृत्य नाटक आदि रूपकों से भिन्न ही है । क्योंकि श्रीगदित आदि नृत्य के भेद हैं (तद्-भेदत्वात्) (नाट्य के नहीं) इसलिये (दस ही रूपक हैं, यह) नियम ठीक बन जाता है ।

दूसरी ओर नाटक आदि (रूपक) रसपरक होते हैं । 'रसाश्रयम्' इस कथन से यह दिखला दिया गया है कि रूपक वाक्यार्थ के अभिनय रूप में हुआ करता है, क्योंकि विभाव आदि पदों के अर्थ (पदार्थ) हैं और उन पदार्थों का संसर्ग (अन्वय) वाक्यार्थ है तथा वही वाक्यार्थ रस-निष्पत्ति का (रसस्य) हेतु होता है । किञ्च; 'नाट्य' इस शब्द से प्रकट होता है कि नाट्य में सात्त्विक अभिनय की प्रचुरता हुआ करती है, क्योंकि (नाट्य शब्द की निष्पत्ति नट्धातु से होती है) 'नट् अवस्पन्दने' इस धातु का अर्थ है—कुछ चलना । (अतः नाट्य में आङ्गिक क्रिया कम है और सात्त्विक अभिनय की प्रधानता होती है) इसीलिये अभिनय (नाट्य) करने वाले के लिये नट शब्द का प्रयोग होता है (नर्तक शब्द का नहीं) और, जिस प्रकार (नृत्य तथा नृत्त में) गात्र-विक्षेप अर्थ की समानता होने पर भी नृत्त से नृत्य इसलिए भिन्न

वाक्यार्थाभिनयात्मकान्नाट्यात्पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति ।

प्रसङ्गान्नृत्तं व्युत्पादयति—

(१३) —नृत्तं ताललयाश्रयम् ।

तालश्चञ्चत्पुटादिः, लयो द्रुतादिः, तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविक्षेपोऽभिनयशून्यो नृत्तमिति । अनन्तरोक्तं द्वितयं व्याचष्टे—

(१४) आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम् ॥९॥

नृत्यं पदार्थाभिनयात्मकं मार्ग इति प्रसिद्धम्, नृत्तं च देशीति । द्विविधस्यापि द्वैविध्यं दर्शयति—

(१५) मधुरोद्धतभेदेन तद् द्वयं द्विविधं पुनः ।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥१०॥

सुकुमारं द्वयमपि लास्यम् उद्धतं द्वितयमपि ताण्डवमिति । प्रसङ्गोक्तस्योपयोगं दर्शयति—तच्च नाटकाद्युपकारकमिति, नृत्यस्य क्वचिदवान्तरपदार्थाभिनयेन नृत्तस्य च शोभाहेतुत्वेन नाटकादावुपयोग इति ।

है, क्योंकि उस (नृत्य) में अनुकरण होता है (नृत्त में नहीं), उसी प्रकार नाट्य से भी नृत्य भिन्न है, क्योंकि नाट्य में वाक्यार्थ का अभिनय होता है, किन्तु नृत्य में पदार्थ का अभिनय ।

प्रसङ्गवशनृत्त का स्वरूप बतलाते हैं—

नृत्त ताल और लय पर आश्रित होता है ।

चञ्चत्पुट (हाथ की ताली) इत्यादि ताल है । द्रुत (मध्यम, विलम्बित) इत्यादि लय है । केवल उन्हीं (ताल, लय) पर आश्रित होने वाला अङ्ग-विक्षेप (अङ्गों का संचालन) नृत्त कहलाता है उसमें अभिनय बिल्कुल नहीं होता ।

अभी कहे गये दोनों (नृत्य तथा नृत्त) की व्याख्या करते हैं—

इनमें से पहिला (नृत्य) पदार्थाभिनय है जो मार्ग कहलाता है और दूसरा (नृत्त) देशी कहलाता है ॥९॥

अर्थात्, नृत्य में पदार्थों का अभिनय होता है । वह 'मार्ग' नाम से प्रसिद्ध है और नृत्त 'देशी' नाम से ।

उन दोनों के ही दो दो प्रकार होते हैं, यह दिखलाते हैं—

वे दोनों (नृत्य और नृत्त) मधुर तथा उद्धत भेद से लास्य औन ताण्डव रूप में दो दो प्रकार के होते हैं, जो नाटक आदि (रूपकों) के उपकारक हुआ करते हैं ॥१०॥

अर्थात् दोनों (नृत्य तथा नृत्त) ही सुकुमार होने पर लास्य और उद्धत होने पर ताण्डव कहलाते हैं । प्रसङ्ग से कहे गये नृत्य और नृत्त का 'नाटकाद्युपकारकम्' इस कथन द्वारा नाट्य में उपयोग दिखाया गया गया है । भाव यह है कि कहीं कहीं नाटक आदि में अवान्तर पदार्थों से अभिनय रूप में नृत्य का और शोभा बढ़ाने के लिये नृत्त का उपयोग किया जाता है ।

टिप्पणी--१—यहाँ प्रसङ्ग से ही नाटच, नृत्य और नृत्त का निरूपण किया गया है। धनञ्जय और धनिक ने इन तीनों का स्वरूप दिखलाते हुए इनका अन्तर भी दिखलाया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है—(क) **नाटच और नृत्य** दोनों में अभिनय होता है, किन्तु (१) नाटच में अवस्था की अनुकृति होती है, नृत्य में भावों की। (२) नाटच में वाक्यार्थ का अभिनय होता है, क्योंकि इसे रसाश्रित कहा गया है और दशरूपककार के अनुसार रस-निष्पत्ति वाक्यार्थ रूप में होती है। (द्र० आगे ४·३७)। दूसरी ओर नृत्य में पदार्थों का अभिनय होता है। (३) नाटच में सात्त्विक अभिनय की बहुलता होती है किन्तु नृत्य में आङ्गिक अभिनय की। (४) 'नाटच' शब्द नट् धातु से निष्पन्न होता है। नट् धातु का अर्थ है—कुछ-कुछ चलना, फलतः नाटच में बाह्य अङ्गविक्षेप की अपेक्षा सात्त्विक अभिनय की प्रचुरता होती है, किन्तु नृत्य शब्द नृत् धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—गात्रविक्षेप। इस प्रकार नृत्य में आङ्गिक अभिनय की प्रचुरता होती है। (५) नाटच रस पर आश्रित है किन्तु नृत्य भाव पर। (६) नाटच में अभिनय के साथ-साथ पाठच (काव्य) भी होता है, जो श्रव्य होता है किन्तु नृत्य में सुनने के लिये कुछ नहीं होता इसलिये यह कहा जाता है कि नृत्य केवल दर्शनीय होता है। (७) नाटच के कलाकार को नट और नृत्यकार को नर्तक कहते हैं।

(ख) **नृत्य और नृत्त**—(१) दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति नृत् धातु से की जाती है। नृत् धातु का अर्थ है--गात्रविक्षेप। इन दोनों में ही अङ्गों का विक्षेप होता है। (२) दोनों के दो दो भेद हैं सुकुमार (लास्य) और उद्धत (ताण्डव)। (३) साथ ही ये नाटच में उपयोगी हैं, अवान्तर पदार्थों का अभिनय करके नृत्य किसी नाटच को पूर्ण करता है और नृत्त किसी अभिनय की शोभा बढ़ाता है। इन दोनों में अन्तर यह है---(१) नृत्य में शास्त्रीय पद्धति के अनुसार पदार्थ का अभिनय होता है इसी से इसे मार्ग भी कहा जाता है। किन्तु नृत्त में कोई अभिनय नहीं होता। इसमें जो अङ्ग-विक्षेप होता है वह शास्त्रीय पद्धति के अनुसार नहीं, अपितु लोकसरणि के अनुसार, इसीलिये इसे देशी कहा जाता है। (२) नृत्य भाव पर आश्रित है किन्तु नृत्त ताल, लय पर आश्रित है।

२-दशरूपक के परवर्ती ग्रन्थों में भी नाटच तथा नृत्त का विवेचन उपलब्ध होता है, जिनमें शारदातनय का भावप्रकाशन, विद्यानाथ का प्रतापरुद्रीय तथा शार्ङ्ग-देव का सङ्गीतरत्नाकर आदि उल्लेखनीय हैं। सिद्धान्तकौमुदी में भी 'नट् नृत्तौ' धातु के प्रकरण में इन तीनों शब्दों की व्याख्या मिलती है। प्रता०, सं० रत्ना० तथा सिद्धान्त-कौमुदी की व्याख्या में दशरूपक का अनुसरण किया गया है किन्तु भावप्रकाशन का एतद्विषयक विवेचन दशरूपक से नितान्त भिन्न है (विशेष द्र० The types of Sanskrit Drama पृ० १२–२२) ३–नृत्य और नृत्त का विस्तृत विवेचन सङ्गीत शास्त्र के ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

अनुकारात्मकत्वेन रूपाणामभेदात्किंकृतो भेद इत्याशङ्क्याह—

(१६) वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः—

वस्तुभेदान्नायकभेदाद् रसभेदाद् रूपाणामन्योन्यं भेद इति ।

वस्तुभेदमाह—

(१७) —वस्तु च द्विधा ।

कथमित्याह—

(१८) तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः ॥११॥

प्रधानभूतमाधिकारिकं यथा रामायणे रामसीतावृत्तान्तः, तदङ्गभूतं प्रासङ्गिकं यथा तत्रैव विभीषणसुग्रीवादिवृत्तान्त इति ।

निरुक्त्याऽधिकारिकं लक्षयति—

(१९) अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥१२॥

रूपकों के भेदक तत्त्व

सभी रूपक अनुकरणात्मक हैं अतः उनमें कोई भेद न होगा फिर उनमें भेद किस निमित्त से किया जाता है ? यह शङ्का होने पर कहते हैं—

वस्तु, नायक और रस उन (रूपकों) के भेदक तत्त्व हैं—

कथावस्तु के भेद से, नायक के भेद से और रस के भेद से रूपकों का परस्पर भेद हो जाता है ।

टिप्पणी—इन तीन भेदक तत्त्वों (वस्तु, नेता तथा रस) के विषय में यह समझा जाता है कि ये अरस्तू द्वारा प्रतिपादित पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के ६ तत्त्वों (१. कथावस्तु, २. चरित्र-चित्रण, ३. शैली, ४. विचार (संवाद) ५. अभिनेयता और ६. गीत) के समान ही हैं और इनमें उन सभी का समावेश हो जाता है। वस्तुतः दोनों में कुछ समानता होते हुए भी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं :

वस्तु (कथावस्तु) के भेद-प्रभेद—

वस्तु के भेद बतलाते हैं—वस्तु दो प्रकार की होती है ।

किस प्रकार ? यह बतलाते हैं—

उनमें मुख्य कथावस्तु को आधिकारिक और अङ्ग-रूप वस्तु को प्रासङ्गिक कहते हैं ।

प्रधान कथावस्तु आधिकारिक कहलाती है, जैसे रामायण में राम और सीता का वृत्तान्त है । उस प्रधान कथावस्तु की अङ्गरूप वस्तु प्रासङ्गिक है जैसे रामायण में ही विभीषण तथा सुग्रीव आदि का वृत्तान्त ।

टि०—मि०, नाटचशास्त्र १९.२ तथा सा० द० ६.४२ ।

व्युत्पत्ति दिखलाते हुए आधिकारिक कथावस्तु का लक्षण करते हैं—

अधिकार का अर्थ है फल का स्वामी होना । उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है । उस अधिकार के द्वारा किया हुआ या उससे सम्बद्ध काव्य में अभिव्याप्त इतिवृत्त आधिकारिक कहलाता है ॥१२॥

टि०—नाटचशास्त्र १९.३—५; सा० द० ६.४३ ।

फलेन स्वस्वामिसंबन्धोऽधिकारः फलस्वामी चाधिकारी तेनाधिकारेणाधिकारिणा वा निर्वृतम् फलपर्यन्ततां नीयमानमितिवृत्तमाधिकारिकम् ।

प्रासङ्गिकं व्याचष्टे—

(२०) प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः ।

यस्येतिवृत्तस्य परप्रयोजनस्य सतस्तत्प्रसङ्गात्स्वप्रयोजनसिद्धिस्तत्प्रासङ्गिकमितिवृत्तं प्रसङ्गनिर्वृतेः ।

प्रासङ्गिकमपि पताकाप्रकरीभेदाद् द्विविधमित्याह—

(२१) सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥१३॥

दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका सुग्रीवादिवृत्तान्तवत्, पताकेवासाधारणनायकचिह्नवत्तदुपकारित्वात् । यदल्पं सा प्रकरी श्रवणादिवृत्तान्तवत् ।

भाव यह है कि फल के साथ स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध (फल का स्वामी होना) अधिकार कहलाता है और फल का स्वामी अधिकारी । उस अधिकार या अधिकारी के द्वारा किया गया, फल-प्राप्ति तक पहुँचने वाला जो वृत्त या कथा है वही आधिकारिक वस्तु हैं ।

प्रासङ्गिक वस्तु की व्याख्या करते हैं ।

जो इतिवृत्त दूसरे (आधिकारिक कथा) के प्रयोजन की सिद्धि के लिये होता है किन्तु प्रसङ्ग से उसके अपने प्रयोजन की भी सिद्धि हो जाती है, वह प्रासङ्गिक इतिवृत्त कहलाता है; क्योंकि उसकी प्रसङ्ग से सिद्धि होती है ।

दूसरे (प्रधान प्रयोजन) की सिद्धि के लिये होने वाली जिस (कथा) का प्रसङ्ग से अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है, वह प्रासङ्गिक है ।

टि०—(१) ना० शा० १९.३—४, सा० द० ६.४३—४४, भा० प्र० २०१ पं० १–२ ।

प्रासङ्गिक—प्रसङ्गात् निर्वृतम् = प्रासङ्गिकम्; प्रसङ्ग से होने वाला । इस शब्द की व्युत्पत्ति के अनुकूल ही प्रासङ्गिक वस्तु का लक्षण किया गया है । यह कथावस्तु आधिकारिक कथा की फलसिद्धि में सहायक होती है, किन्तु प्रसङ्ग से इसका अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो जाया करता है । उदाहरणार्थ रामकथा में राम की कथा मुख्य (आधिकारिक) है उसका फल रावण-वध तथा सीता की प्राप्ति आदि है । सुग्रीव की कथा इस प्रधान फल की प्राप्ति में उपकरण है, किन्तु उस कथा का फल वालिवध और राज्य-लाभ भी प्रसङ्ग से सिद्ध हो जाता है ।

प्रासङ्गिक कथावस्तु के भेद (पताका और प्रकरी)

प्रासङ्गिक इतिवृत्त भी पताका और प्रकरी के भेद से दो प्रकार का होता है—

इनमें अनुबन्ध सहित (दूर तक चलने वाला) प्रासङ्गिक वृत्त पताका कहलाता है और एक प्रदेश में रहने वाला प्रकरी ॥१३॥

पताकाप्रसङ्गेन पताकास्थानकं व्युत्पादयति—

(२२) प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम् ।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ॥१४॥

प्राकरणिकस्य भाविनोऽर्थस्य सूचकं रूपं पताकावद्भवतीति पताकास्थानकम् । तच्च तुल्येतिवृत्ततया तुल्यविशेषणतया च द्विप्रकारम् अन्योक्तिसमासोक्तिभेदात् । यथा रत्नावल्याम्—

जो प्रासङ्गिक वृत्त (प्रधान इतिवृत्त के साथ) दूर तक चलता है वह पताका कहलाता है; जैसे सुग्रीव आदि का वृत्तान्त (जो रामकथा के साथ दूर तक चलता है) । जिस प्रकार पताका (ध्वजा) नायक का असाधारण चिह्न होती है और उसका उपकार करती है इसी प्रकार यह इतिवृत्त भी नायक (तथा तत्सम्बन्धी कथा) का उपकार करता है इसीलिये इसे पताका कहते हैं । जो प्रासङ्गिक वृत्त थोड़ी दूर तक चलता है, वह प्रकरी कहलाता है; जैसे (रामायण आदि में) श्रवण आदि का वृत्तान्त है ।

टि०—(१) ना० शा० १९·२४—२५; सा० द० ६·६७—६९; भा० प्र० पृ० २०१—२०२ ।

(२) **सानुबन्ध**=अनुबन्ध सहित; अनुबन्ध=पीछे बंधना, अनुवर्तन, दूर तक साथ चलना अथवा फल । इस प्रकार जो प्रासङ्गिक कथा प्रधान कथा का दूर तक अनुवर्तन करती है, जिसका अपना भी प्रयोजन होता है वह पताका कहलाती है । (३) पताका और प्रकरी दोनों ही प्रासङ्गिक कथावस्तु हैं, दोनों आधिकारिक कथा के प्रवाह में योग देती हैं और प्रधानफल की सिद्धि में सहायक होती हैं; फिर भी दोनों में अन्तर है—(क) पताका-नायक का कुछ अपना भी प्रयोजन होता है । वह अपने प्रयोजन की सिद्धि के साथ-साथ प्रधान नायक के कार्य की सिद्धि में सहायक होता है जैसे 'रामचरित' में सुग्रीव है जो वालि-वध या राज्यप्राप्ति के रूप में अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये राम का सहायक होता है । दूसरी ओर 'प्रकरी' का नायक अपने किसी प्रयोजन की सिद्धि की अपेक्षा न करके निरपेक्ष भाव से प्रधान नायक का सहायक होता है जैसे रामचरित में जटायु है (ख) पताका की कथा काव्य या नाट्य में बहुत दूर तक चलती है किन्तु प्रकरी की कथा एकदेशी होती है ।

पताकास्थानक

पताका के प्रसङ्ग से पताकास्थानक का निरूपण करते हैं ।

जो किसी अन्य वस्तु के कथन द्वारा आगन्तुक प्रस्तुत वस्तु का सूचक होता है वह पताकास्थानक कहलाता है, वह समान इतिवृत्त (संविधान) तथा समान विशेषण (भेद से दो प्रकार का) होता है ॥१४॥

प्राकरणिक किन्तु आगे आने वाले अर्थ का सूचक इतिवृत्त जो पताका के समान होता है, पताकास्थानक कहलाता है । वह अन्योक्ति तथा समासोक्ति के भेद से दो प्रकार का है; अर्थात् १. समान इतिवृत्त के द्वारा (प्रस्तुत आगन्तुक अर्थ का सूचक) २. सम विशेषणों के द्वारा । (समान इतिवृत्त द्वारा) जैसे रत्नावली (३.६) में—

'यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया ।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥१॥

यथा च तुल्यविशेषणतया—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥२॥

"हे कमलनयने; मेरे जाने का समय है, मैं जा रहा हूँ । सोती हुई तुमको प्रातः मुझे ही जगाना है, इस प्रकार अस्ताचल के मस्तक पर अपनी किरणों को निविष्ट करने वाला यह सूर्य मानों कमलिनी को आश्वासन (प्रत्यायना) दे रहा है ।

टिप्पणी—(१) यह राजा उदयन की विदूषक के प्रति उक्ति है । इसमें सूर्य और कमलिनी के वृत्तान्त द्वारा राजा उदयन और रत्नावली के भावी मिलन की सूचना दी गई है । सूर्य और कमलिनी का पुनर्मिलन तथा उदयन और रत्नावली का मिलन समान घटनाएँ हैं । यहाँ उदयन तथा रत्नावली की कथा प्रस्तुत है, उसकी दृष्टि से सूर्य और कमलिनी का वृत्तान्त अन्य (अप्रस्तुत) ही है । इसलिये यह अन्योक्ति के आधार पर पताकास्थानक का उदाहरण है ।

(२) यहाँ अन्योक्ति का अर्थ है—समान इतिवृत्त द्वारा प्रस्तुत अर्थ का कथन । इसी प्रकार समान विशेषण द्वारा प्रस्तुत अर्थ की सूचना यहाँ समासोक्ति कही गई है । अन्योक्ति और समासोक्ति अलङ्कारों के लक्षण इन पर घटित करना वाञ्छनीय नहीं प्रतीत होता; क्योंकि इन दोनों उदाहरणों में क्रमशः अन्योक्ति और समासोक्ति अलङ्कार हैं, यह निश्चित नहीं ।

समान विशेषणों के द्वारा (प्रस्तुत अर्थ की सूचना) जैसे—रत्नावली २.४)—चटखती कलियों वाली (नायिका पक्ष में—उत्कट अभिलाषा वाली), (पुष्पों से या विरह से) पाण्डुर वर्ण वाली, अभी-अभी खिलती हुई (जम्भाई लेती हुई), निरन्तर वायु के सञ्चार से अपना विस्तार (आयास) करती हुई [—निरन्तर विश्वासों के निकलने से अपनी पीडा (आयास) को प्रकट करती हुई], मदननामक वृक्ष के आश्रित (—कामभावना ये युक्त) दूसरी नारी जैसी इस उद्यानलता को देखता हुआ मैं आज अवश्य ही देवी (वासवदत्ता) के मुख को कोप से आरक्त कान्ति वाला कर दूँगा ।

टिप्पणी—(१) यह राजा उदयन की विदूषक के प्रति उक्ति है । इनमें तुल्य विशेषणों द्वारा रत्नावली-सम्बन्धी भावी वृत्त की सूचना दी गई है । आगे चलकर जो रत्नावली (सागरिका) और राजा के मिलन के निमित्त से देवी वासवदत्ता के क्रोध का वर्णन किया जायेगा; उसी की ओर यहाँ संकेत किया गया है । इस प्रकार यह तुल्य विशेषणों के द्वारा भावी प्रस्तुत अर्थ का सूचक द्वितीय पताकास्थानक है ।

एवमाधिकारिकद्विविधप्रासङ्गिकभेदात्त्रिविधस्यापि त्रैविध्यमाह—

(२३) प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा ।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ॥१५॥
मिश्रं च सङ्करात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः ।

इति निगदव्याख्यातम् ।

---

(२) यहाँ धनिक ने जो अन्योक्ति तथा समासोक्ति शब्दों का प्रयोग किया है वह भ्रामक है। न तो धनिक से पूर्व ना० शा० में ही इन शब्दों का प्रयोग है, न ही अर्वाचीन ग्रन्थों नाटयदर्पण या साहित्यदर्पण आदि में ही; हाँ भा० प्र० (२०२–१६) में इन शब्दों का प्रयोग अवश्य किया गया है। (३) पताका और पताकास्थानक—इन दोनों में ही नामसाम्य ही नहीं है अपितु पताका के समान ही पताकास्थानक भी प्रधानफल में उपकारक इतिवृत्त ही होता है (नाटयदर्पण १·३०)। भा० प्र० (२०१·११) के अनुसार तो प्रासङ्गिक इतिवृत्त ३ प्रकार का है। पताका, प्रकरी और पताकास्थानक। इसीलिये यहाँ पताका के प्रसङ्ग से पताकास्थानक का वर्णन किया गया है। इसमें पताका से अन्तर यह है:—(क) यह पताका के समान दूर तक चलने वाला इतिवृत्त नहीं होता। (ख) अन्य के वर्णन द्वारा प्रधान इतिवृत्त सम्बन्धी किसी भावी घटना की सूचना देता है, उसका शब्दों से वर्णन नहीं करता (ग) पताका के समान क्रमबद्ध इतिवृत्त नहीं होता अपितु कहीं बीच-बीच में इसका एक बार या अनेक बार निबन्धन किया जाता है। यह नाटय और काव्य का अलङ्करण माना जाता है (द्र०, ना० द० १.३०)। (४) धनञ्जय और धनिक ने केवल दो प्रकार का पताकास्थानक बतलाया है किन्तु नाटयशास्त्र (१९·३१—३४) में चार प्रकार का पताकास्थानक बतलाया गया था। बाद में नाटयदर्पण (१·३१) तथा साहित्यदर्पण (६·४४–४९) में भी चार प्रकार के पताकास्थानक का उदाहरण सहित निरूपण किया गया है। दशरूपक का जो (उद्दामोत्कलिकाम्) द्वितीय पताकास्थानक है विश्वनाथ ने उसे चतुर्थ पताकास्थानक माना है। किन्तु अभिनवगुप्त के अनुसार यह पताकास्थानक का उदाहरण ही नहीं है (अभि० १९·३४)। इसके अतिरिक्त दशरूपक के प्रथम उदाहरण को साहित्यदर्पण आदि ने लिया ही नहीं है। इसका अन्तर्भाव साहित्यदर्पण के किस पताकास्थानक में हो सकेगा, यह कहना कठिन ही है। यह भी चिन्तनीय है कि धनञ्जय ने भरत द्वारा कथित चारों प्रकारों का विवेचन क्यों नहीं किया।

इस प्रकार एक प्रकार का आधिकारिक और दो प्रकार के प्रासङ्गिक (कुल मिला कर) इस तीन प्रकार के इतिवृत्त के फिर तीन-तीन प्रकार बतलाते हैं—

वह तीन प्रकार का (इतिवृत्त) भी फिर १. प्रख्यात, २. उत्पाद्य और ३. मिश्र भेद से तीन-तीन प्रकार का होता है। इतिहास आदि से लिया गया इतिवृत्त प्रख्यात, कवि द्वारा (स्वयं) कल्पित उत्पाद्य तथा इन दोनों के मिश्रण से मिश्र कहलाता है। ये सभी इतिवृत्त 'दिव्य, मर्त्य, (अदिव्य) आदि भेद से भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

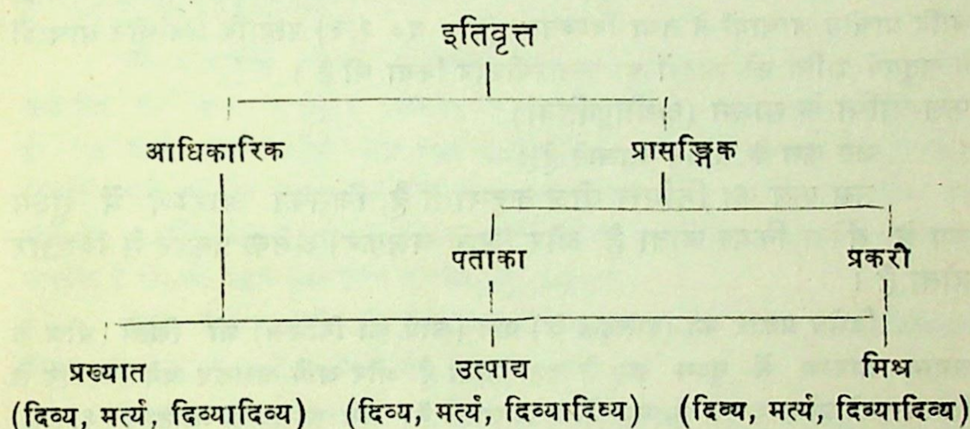
इस [कारिका] की ग्रन्थ में ही व्याख्या हो गई है।

तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह—

(२४) कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ॥१६॥

धर्मार्थकामाः फलं तच्च शुद्धमेकैकमेकानुबन्धं द्वित्र्यनुबन्धं वा ।

टिप्पणी—(१) दिव्यमर्त्यादिभेदतः—यहाँ आदि शब्द से दिव्यादिव्य का ग्रहण होता है । जैसा कि साहित्यदर्पण (६·९) में बतलाया गया है, श्रीकृष्ण आदि का वृत्त दिव्य का उदाहरण है । जो दिव्य होकर भी अपने आपको मानव समझते हैं वे श्री रामचन्द्र आदि दिव्यादिव्य के उदाहरण हैं । मर्त्य कथावस्तु का उदाहरण मृच्छकटिक इत्यादि हैं । प्रख्यात आदि इतिवृत्त के उदाहरण आगे यथावसर दिखलाये जायेंगे । इस प्रकार इतिवृत्त के अनेक भेद हो जाते हैं; जैसे—



(दिव्य, मर्त्य, दिव्यादिव्य) (दिव्य, मर्त्य, दिव्यादिव्य) (दिव्य, मर्त्य, दिव्यादिव्य)

इतिवृत्त का फल

उस इतिवृत्त का क्या फल होता है, यह बतलाते हैं—

उसका फल त्रिवर्ग होता है । यह कभी तो शुद्ध (त्रिवर्ग में से कोई एक ही) और कभी (अन्य) एक से अनुगत तथा कभी अनेक (दो) से अनुगत होता है ॥२६॥

धर्म, अर्थ और काम (मुख्य) इतिवृत्त का फल होता है । वह फल कभी तो केवल शुद्ध अर्थात् तीनों में से कोई एक; कभी एक से अन्वित एक (जैसे अर्थ से अनुगत धर्म आदि) कभी दो से अन्वित एक (जैसे अर्थ, और काम से अन्वित धर्म आदि) और कभी तीन से अन्वित एक (जैसे अर्थ, काम और मोक्ष से अन्वित धर्म आदि) होता है ।

टिप्पणी—पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । किन्तु केवल मोक्ष कभी भी रूपक के इतिवृत्त का फल नहीं हो सकता । इसी हेतु शान्त रस को रूपक में स्वीकार नहीं किया गया है । और इसी से त्रिवर्ग को इतिवृत्त का फल माना

तत्साधनं व्युत्पादयति—

(२५) स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।

स्तोकोद्दिष्टः कार्यसाधकः पुरस्तादनेकप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद्बीजं यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलदैवो यौगन्धरायणव्यापारो विष्कम्भके न्यस्तः। यौगन्धरायणः—कः सन्देहः ('द्वीपादन्यस्मात्—इति पठति), इत्यादिना 'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ' इत्यन्तेन ।

यथा च वेणीसंहारे द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमक्रोधोपचितयुधिष्ठरोत्साहो बीजमिति । तच्च महाकार्यावान्तरकार्यभेदादनेकप्रकारमिति ।

गया है, मोक्ष को नहीं । फिर भी मोक्ष से अनुगत धर्म आदि तो रूपक के इतिवृत्त का फल हो ही सकता है । धनिक की व्याख्या का यही स्वारस्य प्रतीत होता है । भामह आदि प्राचीन आचार्यों ने तथा विश्वनाथ (सा० द० १.३) इत्यादि अर्वाचीन आचार्यों ने चतुवर्ग प्राप्ति को काव्यों का फल स्वीकार किया भी है ।

फल-प्राप्ति के साधन (अर्थप्रकृतियाँ)

उस फल के साधन बतलाते हैं :—

उस फल का निमित्त बीज कहलाता है, जिसका आरम्भ में सूक्ष्म रूप से संकेत किया जाता है और (आगे चलकर) अनेक प्रकार से विस्तार होता है ।

विशेष प्रकार का (इतिवृत्त के) फल (कार्य का निमित्त) जो किसी बीज के समान आरम्भ में सूक्ष्म रूप से कहा जाता है और आगे चलकर अनेक प्रकार से बिस्तार को प्राप्त करता है, वह बीज कहलाता है; जैसे रत्नावली नाटिका (१.६.७) में वत्सराज को रत्नावली की प्राप्ति फल है, उसका हेतु है—दैव की अनुकूलता से युक्त यौगन्धरायण का उद्योग; उसे विष्कम्भक में (बीज रूप से) रक्खा गया है—यौगन्धरायण कहता है 'इसमें क्या सन्देह है ? (द्वीपा० १.६), 'अनुकूल दैव दूसरे द्वीप से भी, सागर के मध्य से भी, दिशाओं के छोर से भी अभीष्ट वस्तु को लाकर शीघ्र मिला देता है' । इस उक्ति से लेकर (प्रारम्भे १.७) 'स्वामी के अभ्युदय के लिये प्रारम्भ किये गये इस कार्य में दैव ने भी इस प्रकार हाथ का सहारा दे दिया । अतः सचमुच ही इसकी सिद्धि में सन्देह नहीं है । फिर भी अपनी इच्छा से ही सब कुछ करने वाला मैं स्वामी से डर रहा हूँ ।' इस कथन तक बीज का निर्देश किया गया है ।

इसी प्रकार वेणीसंहार (अङ्क १) में द्रौपदी का केश-संयमन फल है । उसका हेतु है—भीम के क्रोध से परिपुष्ट युधिष्ठिर का उत्साह, वही बीज है (जिसको 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' १.८ से लेकर 'मन्थायस्त०' १–२२ तक सूचित किया गया है) ।

यह बीज महाकार्य तथा अवान्तर कार्य का हेतु होने से अनेक प्रकार का होता है ।

अवान्तर बीज का दूसरा नाम बतलाते हैं—

अवान्तरबीजस्य संज्ञान्तरमाह—

(२६) अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ॥१७॥

यथा रत्नावल्यामवान्तरप्रयोजनानङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सत्यनन्तरकार्यहेतुः—उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते । सागरिका—(श्रुत्वा) कहं ऐसो सो उदयणणरिन्दो जस्स अहं तादेण दिण्णा ।' (कथमेष स उदयननरेन्द्रो यस्याहं तातेन दत्ता) इत्यादि । बिन्दुः—जले तैलबिन्दुवत्प्रसारित्वात् ।

अवान्तर प्रयोजन की समाप्ति से कथावस्तु के (मुख्य) प्रयोजन में विच्छेद प्राप्त हो जाने पर जो उसके अविच्छेद (सातत्य) का कारण होता है, वह बिन्दु कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (१.२३) में कामदेव की पूजा एक अवान्तर कार्य है । उसकी समाप्ति पर कथा के (मुख्य) प्रयोजन (रत्नावली-समागम) का विच्छेद होने लगता है । तब उसके अनन्तर होने वाले कार्य का हेतु है—मागधों की 'उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते' (जन-समुदाय चन्द्रमा की किरणों के समान उदयन के चरणों की प्रतीक्षा कर रहा है) इत्यादि उक्ति । इसको सुनकर सागरिका कह उठती है—'क्या यही वह राजा उदयन है जिसके लिये मुझे पिता ने दिया है' इत्यादि ।

जिस प्रकार जल में तैल बिन्दु फैल जाता है उसी प्रकार यह (फलोपाय) नाट्य में फैला होता है इसलिये यह बिन्दु कहलाता है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१९.२२), भा० प्र० (पृ० २०४), ना० द० (१.३२), प्रता० (३.७) तथा सा० द० (६.६६) आदि ग्रन्थों में भी बिन्दु का स्वरूप विवेचन किया गया है । भावप्रकाशन का लक्षण यह है—

फले प्रधाने विच्छिन्ने बीजस्यावान्तरैः फलैः ।
तस्याविच्छेदको हेतुः बिन्दुरित्याह कोहलः ॥

ना० द० में प्रायः नाट्यशास्त्र (अभि०) का अनुसरण किया गया है । इन सभी की व्याख्या में कुछ अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं तथापि ना० द० में इसका विशद वर्णन मिलता है । (२) बिन्दु का स्वरूप है—रूपक की कथावस्तु का एक प्रधान फल होता है जो महाकार्य कहलाता है । इसके हेतु का संक्षेप में निर्देश किया जाता है । वह बीज कहलाता है । किन्तु बीच-बीच में कथांशों के अनेक प्रयोजन हुआ करते हैं जो अवान्तर कार्य कहलाते हैं । जैसे रत्नावली नाटिका में महाकार्य है—रत्नावली-समागम तथा चक्रवर्तित्व प्राप्ति (काम तथा धर्म की सिद्धि) । किन्तु इसकी कथावस्तु में अन्य अनेक अवान्तर प्रयोजन हैं जैसे अनङ्गपूजा की घटना का प्रयोजन है—सागरिका के हृदय में विस्मय उत्पन्न करना इत्यादि । इस प्रकार के अवान्तर प्रयोजन की समाप्ति हो जाने पर मुख्य प्रयोजन के विच्छिन्न होने का अवसर उपस्थित हो जाता है किन्तु 'उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते, इत्यादि कथन के द्वारा अग्रिम प्रयोजन

इदानीं पताकाद्यं प्रसङ्गाद्व्युत्क्रमोक्तं क्रमार्थमुपसंहरन्नाह—

(२७) बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणः ।

अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः ।।१८।।

अर्थप्रकृतयः=प्रयोजनसिद्धिहेतवः ।

की सिद्धि का निमित्त प्रस्तुत कर दिया जाता है। वह है—सागरिका के मन में 'औत्सुक्य' उत्पन्न करना। इस प्रकार दशरूपक की दृष्टि से सागरिका के हृदय में औत्सुक्य या अनुराग आदि की उत्पत्ति ही अवान्तर बीज (बिन्दु) है। इसके द्वारा आगे कथा-तन्तु अविच्छिन्न रूप में चलता रहता है। अभि० तथा ना० द० में बिन्दु का स्वरूप अधिक स्पष्ट किया गया है। तदनुसार अवान्तर कार्यों से मुख्यफल के विच्छिन्न होने लगने पर जो मुख्यफल का नायक आदि के द्वारा अनुसंधान किया जाता है, वही बिन्दु कहलाता है। यह भी बीज के समान समस्त नाटक आदि में अन्त तक विद्यमान रहा करता है (ना० द० १.३२)। तैल बिन्दु के समान इतिवृत्त में फैल जाने के कारण से ही इसे बिन्दु कहते हैं (यह शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त बतलाया गया है)। यह बिन्दु फल-प्राप्ति के कारणों का अनुग्राहक है तथा स्वयं भी परम कारण है। इसका दूसरा नाम अवान्तर बीज भी है। नायक अथवा उसके सहायकों के द्वारा अनेकशः फल का अनुसन्धान किया जा सकता है। अतः किसी नाटक आदि में अनेक बार बिन्दु का प्रयोग हुआ करता है। (३) **बीज और बिन्दु**—समानता (क) दोनों फल-प्राप्ति के उपाय (अर्थप्रकृति) हैं। (ख) फल की प्राप्ति तक दोनों विद्यमान रहते हैं। अन्तर यह है—(क) संक्षेप में निर्दिष्ट मुख्यफल का हेतु बीज कहलाता है जैसे रत्नावली की प्राप्ति का हेतु है—दैव की अनुकूलता से युक्त यौगन्धरायण का व्यापार दूसरी ओर मुख्य फल का अनुसन्धान करना बिन्दु है जैसे सागरिका का यह अनुसन्धान कि यही राजा उदयन है जिसके लिये मुझे पिता ने दिया है। (ख) बीज का तो मुखसन्धि के आरम्भ में निर्देश कर दिया जाता है किन्तु बिन्दु का निर्देश बाद में होता है।

ऊपर प्रसङ्गवश बिना क्रम के ही पताका इत्यादि को बतला दिया गया है, अब क्रमशः दिखलाने के लिये उपसंहार करते हुए कहते हैं—

बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य नामक ये पाँच अर्थप्रकृतियाँ कही गई हैं ।।१८।।

अर्थप्रकृति का अभिप्राय है, फल की सिद्धि के उपाय।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१९, २०–२१), ना० द० (१.२८) भा० प्र० (पृ०, २०४.२०५) सा० द० (६.६४—६५)। (२) **अर्थप्रकृति**—यहाँ 'अर्थ' शब्द फल या प्रयोजन का वाचक है। प्रकृति शब्द का अर्थ है—हेतु या कारण। इस प्रकार फल की सिद्धि के उपाय ही अर्थप्रकृतियाँ कहलाती हैं (अर्थः फलं तस्य प्रकृतय उपायाः

अन्यदवस्थापञ्चकमाह—

(२८) अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमः ॥१९॥

यथोद्देशं लक्षणमाह—

(२९) औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे ।

इदमहं संपादयामीत्यध्यवसायमात्रमारम्भ इत्युच्यते, यथा रत्नावल्याम्—'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे ।' इत्यादिना सचिवायत्तसिद्धेर्वत्सराजस्य कार्यारम्भो यौगन्धरायणमुखेन दर्शितः ।

फलहेतव इत्यर्थः अभिनवभारती (१९, २०)। नाट्यदर्पण में भी अर्थप्रकृतियों को 'उपाय' कहा गया है (१.२८)। अभिनवभारती और नाट्यदर्पण के अनुसार इन पाँच उपायों में से बीज और कार्य दोनों जड़ (अचेतन) हैं। तीन; बिन्दु, पताका और प्रकरी चेतन हैं। किन्तु यह चेतन और अचेतन का विभाग युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः इसी हेतु सा० द० (६.६४—६५) आदि में इसे छोड़ दिया गया है। (३) बीज, बिन्दु और कार्य, ये तीन आवश्यक अर्थप्रकृतियाँ मानी गई हैं, पताका और प्रकरी का सभी रूपकों में होना अनिवार्य नहीं है। जहाँ प्रधान नायक को सहायक की आवश्यकता नहीं होती, वहाँ पताका और प्रकरी भी नहीं होते (मि० ना० द० १.३५)। (४) यहाँ 'कार्य' शब्द का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। कारिका १६ में 'कार्य' शब्द का अर्थ इतिवृत्त का फल या प्रयोजन है जो त्रिवर्ग प्राप्ति के रूप में है। किन्तु अर्थप्रकृतियों में जिस 'कार्य' का समावेश है वह फल नहीं है, अपितु फल-प्राप्ति का उपाय है। इस प्रकार फल के अधिकारी व्यक्ति का व्यापार ही कार्य नामक अर्थ-प्रकृति है। यह कार्य (नायक-व्यापार) आरम्भ से लेकर फल-प्राप्ति तक चलता रहता है इसी हेतु कार्य शब्द का फल के अर्थ में भी प्रयोग कर दिया गया है।

कार्य की पाँच अवस्थाएँ

और भी पाँच अवस्थाओं को बतलाते हैं:—

फल की इच्छा वाले व्यक्ति के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—१ आरम्भ, २ यत्न, ३ प्राप्त्याशा, ४ नियताप्ति और ५ फलागम ॥१९॥

नामनिर्देश के क्रम से इनका लक्षण बतलाते हैं:—

१ प्रचुर फल की प्राप्ति के लिये उत्सुकता मात्र होना ही आरम्भ कहलाता है।

भाव यह कि "इस कार्य को मैं करूँगा" इस प्रकार निश्चय करना ही आरम्भ कहलाता है, जैसे रत्नावली नाटिका (१.७) में 'स्वामी के अभ्युदय के लिये किये गये तथा दैव के द्वारा हाथ का सहारा दिये गये इस कार्य में" आदि कथन के द्वारा वत्सराज उदयन के कार्य का आरम्भ यौगन्धरायण मन्त्री के मुख से दिखलाया गया है, क्योंकि उस (वत्सराज) की कार्यसिद्धि मन्त्री पर आश्रित है।

अथ प्रयत्नः—

(३०) प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ॥२२॥

तस्य फलस्याप्राप्तावुपाययोजनादिरूपचेष्टाविशेषः प्रयत्नः । यथा रत्नावल्या-मालेख्याभिलेखनादिर्वत्सराजसमागमोपायः—'तहाँवि णत्थि अण्णो दसणुवाओ त्ति जहा-तहा आलिहिअ जधासमीहिअं करिस्सम्' (तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा-तथालिख्य यथासमीहितं करिष्यामि ।) इत्यादिना प्रतिपादितः ।

प्राप्त्याशामाह—

(३१) उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः ।

उपायस्यापायशङ्कायाश्च भावादनिर्धारितैकान्ता फलप्राप्तिः प्राप्त्याशा । यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्ताभिसरणादौ समागमोपाये सति वासवदत्तालक्षणापा-यशङ्कायाः—'एवं जदि अआलवादाली विअ आअच्छिअ अण्णदो ण णइस्सदि वासव-दत्ता । ('एवं यद्यकालवातालीवागत्यान्यतो न नेष्यति वासवदत्ता ।) इत्यादिना दर्शित-त्वादनिर्धारितैकान्ता समागमप्राप्तिरुक्ता ।

नियताप्तिमाह—

(३२) अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ॥२१॥

---

१. प्रयत्न यह है:—

फल के प्राप्त न होने पर (उसके लिये) अत्यन्त वेगपूर्वक उद्योग करना ही प्रयत्न कहलाता है ॥२०॥

जब फल प्राप्त नहीं होता और उसके लिये अनेक साधनों को जुटाना इत्यादि विशेष प्रकार की चेष्टा की जाती है तो वही प्रयत्न कहलाता है । जैसे रत्नावली नाटिका (अङ्क २) में (सागरिका द्वारा) चित्र बनाना इत्यादि वत्सराज उदयन से मिलने के उपाय हैं—'तथापि (वत्सराज) के दर्शन का दूसरा उपाय नहीं है इसलिये किसी प्रकार चित्र बनाकर मनचाही करूँगी ।

३. प्राप्त्याशा को बतलाते हैं—

उपाय के होने तथा विघ्न की शङ्का होने से जो फलप्राप्ति की सम्भावना (मात्र) होती है, वह प्राप्त्याशा कहलाती है ।

उपाय होने पर भी विघ्न की शङ्का होने के कारण जब फलप्राप्ति का एका न्ततः निश्चय नहीं होता, वही अवस्था प्राप्त्याशा कहलाती है जैसे रत्नावली नाटिका के तृतीय अङ्क में (सागरिका द्वारा) वेष-परिवर्तन और अभिसरण आदि मिलन के उपाय होने पर वासवदत्ता रूपी विघ्न की शङ्का इस प्रकार (विदूषक के कथन द्वारा) दिखलाई गई है—'ऐसा ही है, यदि अकाल की वायु के समान आकर वासवदत्ता इसे बदल न दे' । इस प्रकार यहाँ एकान्ततः निश्चित न की हुई (रत्नावली से) मिलने की प्राप्ति बतलाई गई है ।

४. नियताप्ति को बतलाते हैं—

विघ्नों के अभाव से फल की निश्चित रूप से प्राप्ति ही नियताप्ति कहलाती है ॥२१॥

अपायाभावादवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति । यथा रत्नावल्याम्—विदूषकः—सागरिका दुक्करं जीविस्सदि' (सागरिका दुष्करं जीविष्यति) इत्युपक्रम्य 'किं ण उपायं चिन्तेसि' ('किं नोपायं चिन्तयसि ?) इत्यनन्तरम्, 'राजा—वयस्य ! देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि ।' इत्यनन्तराङ्कार्थबिन्दुनानेन देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियता फलप्राप्तिः सूचिता ।

फलयोगमाह—

(३३) समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः ।

यथा रत्नावल्यां रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिरिति ।

विघ्नों के हट जाने पर फल-प्राप्ति का नितान्त निश्चय ही नियताप्ति है । जैसे रत्नावली नाटिका (३·१५--१६) में (वासवदत्ता द्वारा सागरिका को बन्दी बना लिये जाने पर) 'सागरिका कठिनाई से जीवित रहेगी' इस प्रकार आरम्भ करके विदूषक (राजा से) कहता है—'उपाय क्यों नहीं सोचते' । इसके पश्चात् राजा उदयन कहते हैं—मित्र, देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अतिरिक्त मुझे कोई उपाय दिखलाई नहीं देता' । यहाँ अग्रिम (चतुर्थ) अङ्क की कथा का बिन्दु जो देवी-प्रसादन है, उसके द्वारा देवीरूपी विघ्न का निवारण हो जाने से निश्चित फलप्राप्ति की सूचना दी गई है ।

५. फलागम को बतलाते हैं—

पूर्णरूप से फल की प्राप्ति ही फलागम है, जैसा कि पहले कहा गया है ।

जैसे रत्नावली नाटिका में (उदयन को) रत्नावली की प्राप्ति और चक्रवर्ती पद की प्राप्ति-(फलागम अवस्था) है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१९·८ –१४), भा० प्र० (पृ० २०६), ना० द० (१·३७—४२), सा० द० (६·७०----७३), इत्यादि । (२) **यथोदितः**—जैसा कहा गया है । यद्यपि फलागम का स्वरूप ऊपर नहीं कहा गया तथापि 'कार्यं त्रिवर्गः' (का० १·१६) इत्यादि में यह बतलाया गया है कि कहीं तो फल धर्म, अर्थ, काम में से कोई एक (शुद्ध) होता है और कहीं एक साथ अन्य किसी एक का अथवा दो का अन्वय भी होता है । जिस रूपक का जो फल होता है शुद्ध या अन्य से अन्वित (अनुबद्ध) उसकी पूर्णतः प्राप्ति ही फलागम है । रत्नावली नाटिका में काम-सिद्धि का हेतु रत्नावली-समागम रूप फल है जो अर्थ-सिद्धि के हेतु चक्रवर्तित्व-प्राप्ति से समन्वित है । अतः दोनों के प्राप्त होने पर ही फल की पूर्णतः सिद्धि अर्थात् फलागम कहलाता है ।

(३) **अर्थप्रकृतियाँ और कार्यावस्थाएँ**—इन दोनों के स्वरूप-विवेचन से यह स्पष्ट है कि बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य—ये पाँच अर्थप्रकृतियाँ फल-सिद्धि के उपाय हैं । यहाँ कार्य =नायक का व्यापार । फल को लक्ष्य करके किये गये कार्य (अर्थात् नायक-व्यापार) की पाँच अवस्थाएँ ही कार्यावस्थाएँ हैं । यद्यपि नाटचशास्त्र आदि में इतिवृत्त के सन्दर्भ में ही अर्थप्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं का उल्लेख

सन्धिलक्षणमाह—

(३४) अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ॥२२॥
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः ।

अर्थप्रकृतीनां पञ्चानां यथासंख्येनावस्थाभिः पञ्चभिर्योगात् यथासङ्ख्येनैव वक्ष्यमाणा मुखाद्याः पञ्च सन्धयो जायन्ते ।

सन्धिसामान्यलक्षणमाह—

(३५) अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ॥२२॥

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसंबन्धः सन्धिः ।

के पुनस्ते सन्धयः—

(३६) मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः ।

किया गया है तथापि अर्थप्रकृतियों का साक्षात् सम्बन्ध इतिवृत्त के फल के साथ है, ये उसी फल की सिद्धि के उपाय होते हैं। कार्यावस्थाओं का साक्षात् सम्बन्ध नायक के व्यापार (कार्य) के साथ है। इन दोनों का इतिवृत्त के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं, किन्तु परम्परया सम्बन्ध तो है ही। इसीलिये भारतीय नाट्यशास्त्र में इन दोनों के आधार पर इतिवृत्त का पाँच भागों में विभाजन किया जाता है जिसे पञ्चसन्धि के नाम से कहा जाता है। भरत मुनि ने बतलाया है—"इतिवृत्त नाट्य का शरीर है, उसका विभाग ५ सन्धियों द्वारा किया जाता है (ना॰ शा॰ १९·१)। इस प्रकार अर्थप्रकृति, कार्यावस्था तथा सन्धि का भेद स्पष्ट ही है। अर्थप्रकृति फल-सिद्धि के उपाय। कार्यावस्था फल को लक्ष्य कर किये गये व्यापार की अवस्थाएँ। सन्धि = अर्थप्रकृति और कार्यावस्थाओं के आधार पर किये गये इतिवृत्त के विभाग।

पाँच सन्धियाँ

सन्धि शब्द का अर्थ है—सन्धान, मिश्रण, ठीक ढंग से मिलाना। यहाँ पर किसी रूपक की कथावस्तु की सुव्यवस्थित योजना का नाम ही सन्धि है, अर्थात् कथा-वस्तु को विभक्त करके ठीक रूप से संगठित करना। सन्धि के स्वरूप, सामान्य लक्षण, प्रकार तथा अङ्गों का आगे निरूपण किया जा रहा है।

सन्धि का लक्षण बतलाते हैं—

पाँच अवस्थाओं से समन्वित होकर पाँच अर्थप्रकृतियाँ ही क्रम से मुख इत्यादि पाँच सन्धियाँ बन जाती हैं ॥२३॥

(बीज, बिन्दु, पताका प्रकरी और कार्य इन) पाँच अर्थप्रकृतियों का क्रमशः आरम्भ आदि पाँच अवस्थाओं के साथ योग होने से क्रमशः आगे कही जाने वाली मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहृति—ये पाँच सन्धियाँ बन जाती हैं।

सन्धि का सामान्य-लक्षण बतलाया है—

एक प्रयोजन से अन्वित होने पर किसी एक अवान्तर प्रयोजन के साथ सम्बन्ध होना ही सन्धि कहलाता है ॥२३॥

किसी एक (मुख्य) प्रयोजन से सम्बन्ध रखने वाले कथाभागों का दूसरे एक अवान्तर प्रयोजन के साथ सम्बन्ध होना ही सन्धि है।

ये सन्धियाँ कौनसी हैं ?

मुख, प्रतिमुख, गर्भ, सावमर्श और उपसंहृति।

टिप्पणी—(१) ना० शा० १९·१, ३७; भा० प्र० पृ०--२०८; ना० द० १·३७; सा० द० ६·७४-८१।

(२) धनञ्जय के अनुसार सन्धि का लक्षण है—किसी रूपक में कई कथांश होते हैं उनके अपने प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु वे इतिवृत्त के प्रधान प्रयोजन से समन्वित होते हैं और किसी अवान्तर प्रयोजन के साथ भी उन सब का सम्बन्ध हुआ करता है। यही सम्बन्ध सन्धि कहलाता है अर्थात् मुख्य प्रयोजन से अन्वित कथांशों का किसी एक अवान्तर प्रयोजन से सम्बन्ध। सन्धियों का रचनात्मक स्वरूप है—

१. बीज + प्रारम्भ = मुखसन्धि, २. बिन्दु + प्रयत्न = प्रतिमुख सन्धि, ३. पताका + प्राप्त्याशा = गर्भ सन्धि, ४. प्रकरी + नियताप्ति = अवमर्श, ५. कार्य + फलागम = उपसंहृति।

किन्तु यदि अर्थप्रकृतियों का अवस्थाओं के साथ क्रमशः सम्बन्ध होने पर सन्धि का अविर्भाव होता है तो कठिनाई यह है कि अर्थप्रकृतियों में पताका के पश्चात् प्रकरी आती है, रामकथा में पताका का उदाहरण सुग्रीव कथा है और प्रकरी का उदाहरण शबरी जटायु की कथा; किन्तु सुग्रीव-कथा का जटायु की कथा के बाद में वर्णन किया गया है अतः सन्धि में अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं का क्रमशः सम्बन्ध कैसे सम्भव है ? इसके अतिरिक्त ये सन्धियाँ पताका में भी होती हैं जिन्हें अनुसन्धि कहा जाता है (ना० शा० १·२८); फिर अर्थप्रकृति तथा अवस्थाओं के योग से सन्धि का आविर्भाव कैसे माना जा सकता है ? तथ्य यह है कि सन्धियाँ कार्यावस्थाओं का अनुगमन करती हैं (ना० शा० १९·३७—४३ तथा ना० द० १·३७)। इस प्रकार प्रारम्भ आदि अवस्थाओं के अनुसार क्रमशः मुख आदि पाँच सन्धियाँ होती हैं। विभिन्न सन्धियों में कथावस्तु का क्रमिक विकास निहित है और नायक का फल-प्राप्ति की ओर अग्रसर होना भी। अर्थप्रकृतियों के साथ सन्धियों का क्रमिक सम्बन्ध नहीं बन सकता। हाँ, बीज बिन्दु और कार्य जो किसी भी रूपक के लिये अनिवार्य अर्थप्रकृतियाँ हैं और जो इतिवृत्त में व्याप्त सी रहती हैं, उनकी विविध अवस्थाओं का पञ्च सन्धियों से योग अवश्य रहता है विशेषकर बीज तथा कार्य की अवस्थाओं का। इस प्रकार दशरूपक (तथा साहित्यदर्पण) का सन्धि का स्वरूप-विवेचन युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। किन्तु इससे अर्थप्रकृतियों का विभाजन व्यर्थ नहीं हो जाता जैसा कि कीथ आदि विद्वानों ने कहा है (संस्कृत नाटक)। अर्थप्रकृतियाँ तो कार्य-सिद्धि के उपाय हैं। कथावस्तु के संघटन तथा विकास में उनका अपना महत्त्व है। (३) प्रश्न यह है कि क्या ये पाँचों सन्धियाँ सभी प्रकार के रूपकों में अनिवार्य हैं ? ना० शा० (१९.१७,४४) के अनुसार नाटक तथा प्रकरण में पाचों सन्धियाँ अनिवार्य है किन्तु अन्य रूपकों में इनमें से कुछ को छोड़ दिया जाता है। अभिनव भारती (१९·१७) में उद्धृत उपाध्याय-मत के अनुसार तो प्रत्येक इतिवृत्त पञ्चसन्धि-समन्वित ही होता है।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

(३७) मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।
अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ॥२४॥

बीजानामुत्पत्तिरनेकप्रकारप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुर्मुखसन्धिरिति व्याख्येयं तेनात्रिवर्गफले प्रहसनादौ रसोत्पत्तिहेतोरेव बीजत्वमिति ।

नाम-निर्देश के क्रम से (सन्धियों का) लक्षण बतलाते हैं—

जहाँ अनेक प्रकार के प्रयोजन और रस को निष्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति होती है, वह मुखसन्धि है। बीज और आरम्भ के समन्वय से इसके बारह अङ्ग हो जाते हैं ॥२४॥

जहाँ बीजों की उत्पत्ति होती है और जो अनेक प्रकार के प्रयोजन तथा रस की निष्पत्ति का निमित्त होती है वह मुख सन्धि है—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये। इस प्रकार जिनका त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) फल नहीं है ऐसे प्रहसन इत्यादि (रूपकों) में भी रसोत्पत्ति का हेतु ही बीज होता है।

टिप्पणी—नानार्थसम्भवा—यहाँ 'अर्थ' शब्द का अभिप्राय यदि त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) लिया जाये तो दोष यह आता है कि प्रहसन आदि जो रूपक हैं वे तो केवल रसनिष्पत्ति के हेतु हैं, उनसे धर्म, अर्थ, काम इत्यादि की सिद्धि नहीं मानी जाती, फिर उनमें मुखसन्धि का लक्षण कैसे घटित हो सकेगा ? इस दोष को दूर करने के लिये यहाँ अर्थ शब्द का तात्पर्य प्रयोजन माना गया है, त्रिवर्ग नहीं। फिर भी इस समस्त पद का विग्रह दो प्रकार से हो सकता है (i) नानाऽर्थानां प्रयोजनानां रसानां च सम्भवो यस्याः बीजसमुत्पत्तेः—जो बीजोत्पत्ति अनेक प्रकार के प्रयोजनों तथा रसों की हेतु होती है। (ii) नानार्थस्य=अनेकप्रकारप्रयोजनस्य रसस्य सम्भवो यस्याः=जिससे अनेक प्रकार के प्रयोजन वाले रस की निष्पत्ति होती है; यहाँ 'नानार्थ' शब्द रस का विशेषण है (द्र० प्रता० टीका ३·८)। धनिक की व्याख्या से ये दोनों अर्थ निकल सकते हैं। (i) भाव यह है कि जहाँ बीज की उत्पत्ति अनेक प्रकार के प्रयोजन तथा रस-निष्पत्ति का हेतु होती है, वह मुख सन्धि है। (ii) अथवा रस-निष्पत्ति के भी अनेक प्रयोजन हो सकते हैं जैसे आनन्दानुभूति तथा सुखपूर्वक त्रिवर्ग की व्युत्पत्ति आदि। प्रहसन आदि में भी आनन्दानुभूति होती है। यद्यपि वहाँ त्रिवर्ग की व्युत्पत्ति नहीं होती तथापि अनेक प्रकार के प्रयोजन वाले रस की निष्पत्ति बन ही जाती है अतः कोई दोष नहीं। फिर भी यहाँ धनञ्जय का क्या आशय है, यह विचारणीय ही है। भावप्रकाश (पृ० २०७--२०८) के अनुसार तो शृङ्गार आदि रस भी त्रिवर्ग प्राप्ति में उपयोगी हैं अतः यहाँ अर्थ शब्द का अभिप्राय 'त्रिवर्ग' माना जाये तो भी कठिनाई नहीं।

अस्य च बीजारम्भार्थयुक्तानि द्वादशाङ्गानि भवन्ति तान्याह—

(३८) उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ॥२५॥
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।
उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम् ॥२५॥

एतेषां स्वसंज्ञाव्याख्यातानामपि सुखार्थं लक्षणं क्रियते—

(४०) बीजन्यास उपक्षेपः—

यथा रत्नावल्याम् (नेपथ्ये)

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥२॥

इत्यादिना यौगन्धरायणो वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुभूतमनुकूलदैवं स्वव्यापारं बीजत्वेनोपक्षिप्तवानित्युपक्षेपः ।

परिकरमाह—

(४०)—तद्बाहुल्यं परिक्रिया

इस (मुखसन्धि) के बीज, आरम्भ तथा प्रयोजन से समन्वित बारह अङ्ग होते हैं । उनको बतलाते हैं—

१ उपक्षेप, २ परिकर, ३. परिन्यास, ४ विलोभन, ५ युक्ति, ६ प्राप्ति, ७ समाधान, ८ विधान, ९ परिभावना, १० उद्भेद, ११ भेद और १२ करण ये अन्वर्थ नाम हैं । इनके लक्षण हैं ॥२५, २६॥

यद्यपि इनके नाम से ही इनकी व्याख्या हो गई है तथापि सुगमता के लिये इनका लक्षण किया जाता है ।

१. उपक्षेप

बीज का (शब्दों में) रखना ही उपक्षेप है ।

जैसे रत्नावली नाटिका में (नेपथ्य में) द्वीपाद् इत्यादि १·६ (अनुकूल दैव दूसरे दीप से भी सागर के मध्य से भी, दिशाओं के छोर से भी अभीष्ट वस्तु को लाकर शीघ्र मिला देता है) में यौगन्धरायण ने वत्सराज को रत्नावली की प्राप्ति का हेतु जो दैव की अनुकूलता सहित अपना (यौगन्धरायण का) उद्योग है, उसको बीज रूप में रख दिया है अतः यह उपक्षेप है ।

२. परिकर को बतलाते हैं—

उस (बीज) की वृद्धि ही परिकर है ।

जैसे वहीं (रत्नावली १.५--७)—'यदि ऐसा (दैव की अनुकूलता) न होता तो सिद्धों के कथन पर विश्वास करके (वत्सराज के लिये) माँगी हुई सिंहलेश्वर

यथा तत्रैव अन्यथा क्व सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थितायाः सिंहलेश्वरदुहितुः समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थितायाः फलकासादनम् ।' इत्यादिना 'सर्वथा स्पृशन्ति स्वामिनमभ्युदयाः ।' इत्यन्तेन बीजोत्पत्तेरेव बहूकरणात्परिकरः ।

परिन्यासमाह—

यथा तत्रैव—

(४१) तन्निष्पत्तिः परिन्यासः—

प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे ।
सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि स्वेच्छाकारी भीत एवास्मि भर्त्तुः ॥४॥

इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वव्यापारदैवयोर्निष्पत्तिमुक्तवानिति परिन्यासः ।

विलोभनमाह—

(४२)—गुणाख्यानं विलोभनम् ॥२७॥

यथा रत्नावल्याम्—

अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा-
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायंतने संपतन् ।

की पुत्री जलयान के टूट जाने पर डूबती हुई उठकर तख्ते को कैसे प्राप्त कर लेती ?—यहाँ से लेकर 'स्वामी (वत्सराज) को सब प्रकार से अभ्युदय प्राप्त हो रहे हैं ।' यहाँ तक बीज की उत्पत्ति का ही बाहुल्य दिखलाया गया है अतः यह परिकर है ।

३. परिन्यास को बतलाते हैं—

उस (बीज) को निष्पत्ति (सिद्धि) परिन्यास कहलाता है ।

जैसे वहीं (रत्नावली १·७ में ही)—'स्वामी के अभ्युदय के लिये आरम्भ किये गये इस कार्य में दैव ने भी इस प्रकार हाथ का सहारा दे दिया है अतः सचमुच ही इसकी सिद्धि में सन्देह नहीं है । फिर भी अपनी इच्छा से कार्य करने वाला मैं स्वामी से डर रहा हूँ ।' इसके द्वारा यौगन्धरायण ने अपने उद्योग और दैव की सिद्धि बतलाई है अतः यह परिन्यास है ।

टिप्पणी—(१) जिस प्रकार खेत में डाला गया बीज फूलकर अङ्कुरोत्पादन के लिये समर्थ हो जाता है उसी प्रकार नाटच का बीज भी उपक्षिप्त होकर तथा पुष्ट होकर फल की सिद्धि में समर्थ हो जाता है, यही बीजनिष्पत्ति है जिसे परिन्यास कहते हैं । (२) ना० द० (१·५२) के अनुसार विनिश्चयः परिन्यासः' यह लक्षण है किन्तु तात्पर्य यही है ।

४. विलोभन को बतलाते हैं—

गुणों का वर्णन विलोभन कहलाता है ॥२७॥

जैसे रत्नावली (१·२३) में—"समस्त किरणों को अस्ताचल पर डाल चुकने वाले सूर्य के आकाश के पार चले जाने पर सायंकाल नृप-समुदाय एक साथ सभा भवन की ओर जा रहा है—और इस समय वह चन्द्रमा की किरणों के समान कमल

संप्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेवितुं
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते ॥५॥

इति वैतालिकमुखेन चन्द्रतुल्यवत्सराजगुणवर्णनया सागरिकायाः समागमहेत्वनुराग-बीजानुगुण्येनैव विलोभनाद्विलोभनमिति ।

यथा च वेणीसंहारे—

मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतकुहरवलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥६॥

इत्यादिना 'यशोदुन्दुभिः' इत्यन्तेन द्रौपद्या विलोभनाद्विलोभनमिति ।

अथ युक्तिः—

(४३) संप्रधारणमर्थानां युक्तिः—

यथा रत्नावल्याम् 'मयापि चैनां देवीहस्ते सबहुमानं निक्षिपता युक्तमेवानुष्ठितम् । कथितं च मया यथा बाभ्रव्यः कञ्चुकी सिंहलेश्वरामात्येन वसुभूतिना

की कान्ति को हरने वाले एवं आनन्द का अतिशय उत्पन्न करने वाले तुझ उदयन के चरणों की सेवा करने की प्रतीक्षा कर रहा है ।"

यहाँ वैतालिक के मुख से चन्द्रमा सदृश वत्सराज के गुणों के वर्णन द्वारा सागरिका का विलोभन किया गया है जो (उदयन और रत्नावली के) समागम के हेतु अनुराग रूपी बीज का जनक है' अतः यहाँ विलोभन (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—आनुगुण्य = अनुकूलता = जनकता । रत्नावली-समागम का अवान्तर बीज है—अनुराग । वत्सराज के गुणों का श्रवण करके सागरिका (रत्नावली) के हृदय में यह अनुरागरूपी बीज उत्पन्न होता है ।

और, जैसे वेणीसंहार (१. २२) में—'मन्थन से क्षुब्ध सागर के जल से भरी हुई गुफा वाले, घूमते हुए, मन्दराचल की ध्वनि के समान गम्भीर, वादन दण्ड के ताडन के समय (कोणाघातेषु) गरजती हुई प्रलय-काल की घन-घटाओं के परस्पर टकराने के समान प्रचण्ड, द्रौपदी के क्रोध का अग्रदूत, कुरुवंश के विनाश के सूचक प्रचण्ड वायु के समान, हमारे सिंहनाद की प्रतिध्वनि का मित्र यह नगाड़ा किसने पीटा है ?'

यहाँ से आरम्भ करके यशोदुन्दुभिः (१·२५) तक (का अंश) द्रौपदी का विलोभन करने के कारण विलोभन (नामक मुखसन्धि का अङ्ग) है ।

५. युक्ति

प्रयोजनों का निर्णय करना ही युक्ति है ।

जैसे रत्नावली (१.६, ७) में यौगन्धरायण कहता है—'मैंने भी इस (सागरिका) को आदरपूर्वक देवी (वासवदत्ता) के हाथ में सौंपकर उचित ही किया है। मैंने यह भी

सह कथंकथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतस्य रुमण्वतो घटितः ।' इत्यनेन सागरिकाया अन्तःपुरस्थाया वत्सराजस्य सुखेन दर्शनादिप्रयोजनावधारणाद् बाभ्रव्य-सिंहलेश्वरामात्ययोः स्वनायकसमागमहेतुप्रयोजनत्वेनावधारणाद्युक्तिरिति ।
अथ प्राप्तिः—

(४४)—प्राप्तिः सुखागमः ।

यथा वेणीसंहारे—'चेटी—भट्टिणि, परिकुविदो विअ कुमारो लक्खीअदि ।' [भर्त्रि, परिकुपित इव कुमारो लक्ष्यते ।) इत्युपक्रमे भीमः—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ।।७।।

द्रौपदी—[श्रुत्वा सहर्षम्] णाध, अस्सुदपुव्वं खुएदं वअणं ता पुणो पुणो भण ।' (नाथ, अश्रुतपूर्वं खल्वेतद्वचनं तत्पुनः पुनर्भण) इत्यनेन भीमक्रोधबीजान्वयेनैव सुखप्राप्त्या द्रौपद्याः प्राप्तिरिति ।

यथा च रत्नावल्याम्—'सागरिका—[श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य सस्पृहं पश्यन्ती] कधं अअं सो राजा उदयणो जस्स अहं तादेण दिण्णा ता परप्पेसणदूसिदं मे जीविदं

कह दिया है कि बाभ्रव्य नाम का कञ्चुकी सिंहलराज के वसुभूति नामक अमात्य के साथ किसी प्रकार सागर से पार होकर कोशल के विनाश के लिये गये हुए रुमण्वान् से मिल गया है ।'

इस कथन के द्वारा अन्तःपुर में स्थित सागरिका का सुगमतापूर्वक वत्सराज की दृष्टि में आ जाना इत्यादि प्रयोजन का निश्चय किया गया है तथा बाभ्रव्य और सिंहलेश्वर के अमात्य (वसुभूति) इन दोनों का अपने नायक (उदयन) के समागम (रत्नावली मिलन) में हेतु होना आदि को प्रयोजन रूप में निश्चित किया गया है । अतः यहाँ युक्ति (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

६. प्राप्ति

(बीज के सम्बन्ध से) सुख का प्राप्त होना ही प्राप्ति है ।

जैसे वेणीसंहार (१.१५) में चेटी (द्रौपदी से) कहती है—हे स्वामिनि, कुमार (भीमसेन) क्रुद्ध से दिखाई दे रहे हैं ।' इस सन्दर्भ में भीम कहता है—'क्या मैं क्रोध से सौ कौरवों को युद्ध में न मारूँ ? दुःशासन के वक्षःस्थल से रक्त न पीऊँ ? दुर्योधन की जंघाओं को गदा से चूर्ण न करूँ ? आप (सहदेव आदि) का राजा भले ही शर्त (पण) पर सन्धि कर ले ।''

तब द्रौपदी (सुनकर हर्ष के साथ) कहती है—'स्वामी, वह वचन पहले कभी नहीं सुना था, फिर से कहिये ।'

यहाँ भीम के क्रोध-रूपी बीज के सम्बन्ध से द्रौपदी को सुख की प्राप्ति होती है अतः यह प्राप्ति (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

और जैसे रत्नावली (१.२३--२४) में सागरिका (वैतालिकों का कथन सुनकर

एतस्स दंसणेण बहुमदं संजादम् । [कथमयं स राजोदयनो यस्याहं तातेन दत्ता तत्परप्रेषणदूषितं मे जीवितमेतस्य दर्शनेन बहुमतं संजातम्] इति सागरिकायाः सुखागमात्प्राप्तिरिति ।

(४५) बीजागमः समाधानम्—

यथा–रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—तेण हि उअणेहि मे उवअरणाइं । [तेन ह्युपनय म उपकरणानि ।'] सागरिका—भट्टिणि, एदं सव्वं सज्जम् । ['भर्त्रि, एतत्सर्वं सज्जम् ।'] वासवदत्ता—[निरूप्यात्मगतम्] अह्रो पमादो परिअणस्स जस्स एव्व दंसणपहादो पअत्तेण रक्खीअदि तस्स ज्जेव कहं दिट्ठीगोअरं आअदा, भोदु एव्वं दाव । [प्रकाशम्] हञ्जे सागरिए कीस तुमं अज्ज पराहीणे परिअणे मअणूसवे सारिअं मोत्तूण इहागदा । ता तहिं ज्जेव गच्छ ।' ['अहो प्रमादः परिजनस्य यस्यैव दर्शनपथात्प्रयत्नेन रक्ष्यते तस्यैव कथं दृष्टिगोचरमागता, भवतु एवं तावत् । चेटि सागरिके, कथं त्वमद्य पराधीने परिजने मदनोत्सवे सारिकां मुक्त्वेहागता तस्मात्तत्रैव गच्छ ।'] इत्युपक्रमे 'सागरिका—(स्वगतम्) सारिआ दाव मए सुसङ्गदाए हत्थे समप्पिदा पेक्खिदुं च मे कुतूहलं; ता अलक्खिआ पेक्खिस्सम् ।' (सारिका तावन्मया सुसङ्गताया हस्ते समर्पिता प्रेक्षितुं च मे कुतूहलं तदलक्षिता प्रेक्षिष्ये ।') इत्यनेन ।

हर्ष के साथ घूमकर स्पृहापूर्वक देखती हुई) कहती है—'क्या यही वह राजा उदयन है, जिसके लिये पिताजी ने मुझे दिया है, तब तो दूसरे की चाकरी से दूषित हुआ भी मेरा जीवन इसके दर्शन से आदर-योग्य हो गया ।'

यहाँ सागरिका को (औत्सुक्य रूपी बीज के सम्बन्ध से) सुख की प्राप्ति होती है अतः यह प्राप्ति (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

७. समाधान—

बीज का आगमन समाधान है ।

जैसे रत्नावली (१.१८-१९) में । वासवदत्ता—तब तो मेरी पूजा की सामग्री लाओ ।

सागरिका—स्वामिनी यह सब तैयार है ।

वासवदत्ता—(देखकर मन ही मन) 'ओह, दासियों का प्रमाद । जिस (राजा उदयन) के दृष्टिपथ से प्रयत्नपूर्वक बचाई जा रही है उसी की दृष्टि में पड़ जायेगी । अच्छा, तब मैं इस प्रकार कहूँ (प्रकट रूप से) अरी, सागरिका, आज सेवकों के मदन-महोत्सव में व्यस्त होने पर तुम सारिका को छोड़कर यहाँ कैसे आ गईं ? इसलिये शीघ्र वहीं जाओ ।'

इस सन्दर्भ में सागरिका (मन ही मन) कहती है—'सारिका तो मैंने सुसङ्गता के हाथ में सौंप दी है और मुझे देखने की उत्सुकता है । इसलिये छिपकर देखूँगी ।'

वासवदत्ताया रत्नावलीवत्सराजयोर्दर्शनप्रतीकारात्सारिकाया: सुसङ्गतार्पणेनालक्षित-प्रेक्षणेन च वत्सराजसमागमहेतोर्बीजस्योपादानात्समाधानमिति ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः–भवतु पाञ्चालराजतनये श्रूयतामचिरेणैव कालेन

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।

स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥८॥

इत्यनेन वेणीसंहारहेतोः क्रोधबीजस्य पुनरुपादानात् समाधानम् ।

इस (कथन) के द्वारा (समाधान दिखलाया गया है)। यहाँ वासवदत्ता के द्वारा रत्नावली और वत्सराज के परस्पर दर्शन को रोका जाता है इसलिये सागरिका सारिका को सुसङ्गता के हाथों में सौंपकर, छिपकर, (राजा) के दर्शन करती है। इससे वत्सराज के समागम के हेतु-रूप बीज का ग्रहण किया गया है, अतः यह समाधान (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—यहाँ 'सारिकायाः सुसङ्गतार्पणेन + अलक्षितप्रेक्षणेन च बीजस्य उपादानात्'–यह अन्वय है। सारिका के सुसङ्गता के हाथों सौंपने और छिपकर देखने; इस सागरिका की चेष्टा द्वारा बीज का पुनः ग्रहण किया गया है। इस प्रकार यही चेष्टा वत्सराज से समागम का हेतु है तथा यही बीज है। इस चेष्टा से सागरिका का औत्सुक्य प्रकट होता है। इसलिये कहीं-कहीं 'औत्सुक्य' को बीज कह दिया गया है।

और जैसे वेणीसंहार (१·२१) में भीम कहता है—अच्छा पाञ्चाल की राजकुमारी, सुनिये। थोड़े ही समय में—

हे देवी, फड़कती हुई भुजाओं द्वारा घुमाई गई भीषण गदा के प्रहार से चूर चूर हुई जंघाओं वाले दुर्योधन के चिकने (स्त्यान), अच्छी तरह लगे हुए (अनबद्ध) गाढ़े रक्त से लाल हाथों वाला भीम तेरे केशों को अलङ्कृत करेगा।

इस (कथन) के द्वारा वेणी को सँवारने का हेतु जो (भीम का) क्रोध रूपी बीज है उसका फिर ग्रहण किया गया है अतः यह समाधान (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—ना० शा० (१९·७२) में 'बीजार्थस्योपगमनं समाधानम्' यह लक्षण है। सा० द० (६·८५) में दशरूपक के समान ही लक्षण है। ना० द० (१·५३) में पुनर्न्यासः समाहितिः अर्थात् संक्षेप में उपक्षिप्त बीज का फिर स्पष्ट रूप से आधान ही समाधान है। यहाँ यह लक्षण अधिक स्पष्ट हो गया है। प्रता० (३·१०) में भी यही भाव है (बीजसन्निधानं समाधानम्)। ना० द० और सा० द० में दिये गये उदाहरण में दशरूपक से अन्तर है।

अथ विधानम्—

(४६)—विधानं सुखदुःखकृत् ॥२८॥

यथा मालतीमाधवे प्रथमेऽङ्के—माधवः—

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं तदावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण पक्ष्मलाक्ष्या गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥९॥

यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभाव—
मानन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत्।
तत्सन्निधौ तदधुना हृदयं मदीय—
मङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥१०॥

इत्यनेन मालत्यवलोकनस्यानुरागस्य समागमहेतोर्बीजानुगुण्येनैव माधवस्य सुखदुःखकारित्वाद्विधानमिति।

यथा च वेणीसंहारे—द्रौपदी—णाध पुणोवि तुम्मेहिं अहं आअच्छिअ समासासिदव्वा। ('नाथ पुनरपि त्वयाहमागत्य समाश्वासयितव्या।' भीमः—ननु पाञ्चालराजतनये किमद्याप्यलीकाश्वासनया।

भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम्।
अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥११॥

इति सङ्ग्रामस्य सुखदुःखहेतुत्वाद्विधानमिति।

---

८. विधान

सुख और दुःख (दोनों) को उत्पन्न करने वाला विधान कहलाता है।

जैसे मालतीमाधव के प्रथम अङ्क (१.३०) में माधव कहता है—'झुके वृन्त वाले कमल के सदृश बार-बार वक्रित ग्रीवा वाले मुख को धारण करती हुई, रोमयुक्त नेत्रों वाली जाती हुई मालती ने अमृत और विष में बुझा हुआ कटाक्ष (रूपी बाण) मानों मेरे हृदय में गहरा गाड़ दिया है।

माधव (मन ही मन) कहता है—(१.२०) जो मेरा हृदय मालती के समीप होने पर आश्चर्य से निश्चल था, जिसमें अन्य भावों का अस्त हो गया था, जो मानों अमृत में स्नान करने के कारण आनन्द से स्तब्ध हो गया था, वही मेरा हृदय अब अङ्गारों से छुआ गया सा पीडायुक्त हो रहा है।'

यहाँ पर मालती का अवलोकन और (माधव का उसके प्रति) अनुराग (मालती तथा माधव के) समागम का हेतु है वह बीज के अनुकूल होकर ही सुख तथा दुःख करने वाला है अतः विधान (नामक मुखसन्धि का अङ्ग) है।

और, जैसे वेणीसंहार (१.२५-२६) में द्रौपदी कहती है—'नाथ फिर भी आप आकर मुझे सान्त्वना दीजियेगा।' इस पर भीम कहता है—'पाञ्चाल की राजकुमारी अब झूठे आश्वासन से क्या लाभ?'

अब फिर तुम भीम को कौरवों का नाश किये बिना तिरस्कार के कारण ग्लानि और लज्जा से दीन मुख वाला न देखोगी।

अथ परिभावना—

(४७) परिभावोऽद्भुतावेशः—

यथा रत्नावल्याम्—'सागरिका—(दृष्ट्वा सविस्मयम्) कधं पच्चक्खो ज्जेव अणङ्गो पूअं पडिच्छेदि । ता अहंपि इध ट्ठिदा ज्जेव णं पुजइस्सम् । ('कथं प्रत्यक्ष एवानङ्गः पूजां प्रतीक्षते । तद् अहमपीह स्थितैवैनं पूजयिष्यामि' ।) इत्यनेन वत्सराजस्यानङ्गरूपतयापह्नवादनङ्गस्य च प्रत्यक्षस्य पूजाग्रहणस्य लोकोत्तरत्वादद्भुतरसावेशः परिभावना ।

यथा च वेणीसंहारे—द्रौपदी—किं दाणिं एसो पलअजलधरत्थणिदमंसलो खणे खणे समरदुन्दुभी ताडीअदि ।' ['किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमांसलः क्षणे क्षणे समरदुन्दुभिस्ताडयते'।] इति लोकोत्तरसमरदुन्दुभिध्वनेर्विस्मयरसावेशाद् द्रौपद्याः परिभावना ।

यहाँ संग्राम सुख और दुःख का हेतु है अतः विधान (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

९. परिभावना

अद्भुत (भाव) का समावेश होना ही परिभावना है ।

जैसे रत्नावली (१·२२--२३) में 'सागरिका (कामदेव पूजा में उदयन को देखकर, आश्चर्य के साथ) 'क्या ! कामदेव प्रत्यक्ष होकर पूजा को ग्रहण कर रहा है । तो मैं भी यहाँ खड़ी होकर ही इसकी पूजा करूँगी ।

इसके द्वारा कामदेव के रूप में समझने के कारण वत्सराज (के अपने रूप) को छिपाया गया है तथा कामदेव का प्रत्यक्ष होकर पूजा ग्रहण करना लोकोत्तर कार्य है अतः यहाँ अद्भुत रस का समावेश है और परिभावना (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसंहार (१·२४-२५) में द्रौपदी कहती है--'इस समय यह प्रलयकालीन मेघध्वनि के समान गम्भीर रणभेरी क्षण-क्षण में क्यों पीटी जा रही है ।'

यहाँ समर-दुन्दुभि की ध्वनि लोकोत्तर है उससे द्रौपदी (के हृदय) में अद्भुत रस (विस्मय) का आवेश वर्णित किया गया है, अतः परिभावना (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी--ना० शा० (१९.७३) में 'कुतूहलोत्तरावेगो विज्ञेया परिभावना' अर्थात् जिसके पश्चात् कुतूहल उत्पन्न हो जाता है, ऐसे आवेग को परिभावना कहा जाता है । ना० द० (१.४५) में भी 'विस्मयः परिभावना' कहकर यही भाव प्रकट किया गया है । दशरूपक के लक्षण का भी यही भाव है तथा प्रता० (३.१०) में भी यही भाव है । सा० द० (६.८६) में यह भाव अधिक स्पष्ट हो गया है--'कुतूहलोत्तरा वाचः प्रोक्ता तु परिभावना' अर्थात् कुतूहलसहित वचन ही परिभावना कहलाती है ।

अथोद्भेदः--

(४८)--उद्भेदो गूढभेदनम् ।

यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य कुसुमायुधव्यपदेशगूढस्य वैतालिकवचसा 'अस्तापास्त' इत्यादिना 'उदयनस्य' इत्यन्तेन बीजानुगुण्येनैवोद्भेदनादुद्भेदः । यथा च वेणीसंहारे--'आर्य, किमिदानीमध्यवस्यति गुरुः । इत्युपक्रमे [नेपथ्ये]

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता ॥
तद्द्यूतारणिसंभृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः
क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते ॥१२॥

भीमः--(सहर्षम्) जृम्भतां जृम्भतां संप्रत्यप्रतिहतमार्यस्य क्रोधज्योतिः ।' इत्यनेन छन्नस्य द्रौपदीकेशसंयमनहेतोर्युधिष्ठिरक्रोधयोद्भेदनादुद्भेदः ।

---

१०. उद्भेद

(बीज के अनुकूल) किसी गूढ बात को प्रकट करना ही उद्भेद कहलाता है ।

जैसे रत्नावली नाटिका में वत्सराज कामदेव के नाम से छिपे थे । वैतालिक ने अस्तापास्त (१.२३) इत्यादि से आरम्भ करके 'उदयनस्य इन्दोरिवोद्वीक्षते' (१.२३) यहाँ तक के कथन द्वारा (अनुराग रूपी) बीज के अनुकूल रूप में (उदयन को) प्रकट कर दिया । अतः यहाँ उद्भेद (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसंहार नाटक (१.२४) में (भीमसेन के कञ्चुकी से) यह कहने पर "आर्य, अब ज्येष्ठ भ्राता (युधिष्ठिर) ने क्या निश्चय किया है ?" नेपथ्य में कहा जाता है--

'द्रौपदी (नृपवधू) के केश और वस्त्रों को खींचने से द्यूतरूपी अरणि से उत्पन्न, युधिष्ठिर की वह भारी क्रोधाग्नि, जिसे सत्य-व्रत के भङ्ग से डरने वाले युधिष्ठिर ने यत्नपूर्वक शान्त कर रक्खा था और जिसे शान्तियुक्त तथा कुल की शान्ति के इच्छुक युधिष्ठिर ने भुलाना चाहा था, अब कुरुकुल रूपी वन में प्रदीप्त हो रही है ।'

भीमसेन--आर्य के क्रोध की ज्वाला प्रदीप्त हो, ऐसी प्रदीप्त हो कि उसकी गति कहीं भी न रुके ।

द्रौपदी के केशसंयमन का हेतु जो युधिष्ठिर का क्रोध है, वह पहले गूढ़ है, उसका प्रकटन यहाँ हो रहा है अतः उद्भेद (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी--(i) ना० शा० (१९.७४) में यह लक्षण है--'बीजार्थस्य प्ररोहो यः उद्भेदः स तु कीर्तितः' (म० मो० सं० २१.७४) । यही लक्षण सा० द० (६.८९) में

अथ करणम्—

(४६) करणं प्रकृतारम्भः—

यथा रत्नावल्याम्—'णमो दे कुसुमाउह ता अमोहदंसणो मे भविस्ससि त्ति। दिठ्ठं पेक्खिदव्वं ता जाव ण कोवि मं पेक्खइ ता गमिस्ससम्।' (नमस्ते कुसुमायुध, तदमोघदर्शनो में भविष्यसीति। दृष्टं यत्प्रेक्षितव्यं तद्यावन्न कोऽपि मां प्रेक्षते तद्गमिष्यामि)। इत्यनेनान्तराङ्कप्रकृतिनिर्विघ्नदर्शनारम्भणात्करणम्।

यथा च वेणीसंहारे—'तत्पाञ्चालि गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय, सहदेवः—आर्य, गच्छाम इदानीं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुम्। इत्यनेनानन्तराङ्कप्रस्तूयमानसङ्ग्रामारम्भणात्करणमिति। सर्वत्र चेहोद्देशप्रतिनिर्देशवैषम्यं क्रियाक्रमस्याविवक्षितत्वादिति।

अथ भेदः—

(५०) —भेद प्रोत्साहना मता ॥२६॥

यथा वेणीसंहारे—'णाध' मा क्खु जण्णसेणीपरिभवुद्दीविदकोवा अणपेक्खिद—

है। ना० द० (१·५४) में 'स्वल्प-प्ररोह उद्भेदः', यह लक्षण देकर अधिक स्पष्ट किया गया है, अर्थात् बीज का थोड़ा सा विस्तार जो भूमि में बोये गये बीज के फूलने के समान है, उद्भेद कहलाता है। स्पष्ट ही है कि दशरूपक का उद्भेद-लक्षण उपर्युक्त लक्षणों से भिन्न है। यहाँ तो छिपे हुए बीज का प्रकट करना हो उद्भेद कहा गया है। प्रता० (३·१०) में इसी का अनुसरण किया गया है। (ii) यहाँ जो उद्भेद का उदाहरण दिया गया है ना० द० तथा सा० द० में वह समाधान के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

११. करण

प्रस्तुत कार्य का आरम्भ करना करण कहलाता है।

जैसे रत्नावली (१·२१-२३) में सागरिका कहती है-हे कामदेव तुम्हें नमस्कार है तुम्हारा दर्शन मेरे लिये सफल हो, जो देखना था मैंने देख लिया। इसलिये जब तक कोई मुझे नहीं देखता तब तक चली जाऊँ। इस (कथन) के द्वारा अग्रिम अङ्क में वर्णनीय जो (सागरिका और वत्सराज का परस्पर) निर्विघ्न दर्शन है उसका आरम्भ किया गया है अतः करण (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है।

और, जैसे वेणीसंहार (१·२५-२६) में भीमसेन कहता है—अतः पाञ्चाली अब हम कौरवों के नाश के लिये जाते हैं।' सहदेव—'अब गुरुजनों की अनुमति पाये हुए हम भी पराक्रम के योग्य कार्य करने के लिये जाते हैं।' इस (कथन) के द्वारा अग्रिम (द्वितीय) अङ्क में वर्णनीय जो संग्राम है उसका आरम्भ किया गया है। अतः करण (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है।

यहाँ सब जगह क्रिया का क्रम विवक्षित नहीं है इसलिये उद्देश और प्रति-निर्देश (विधेय) का क्रम-परिवर्तन (वैषम्य) हो गया है।

सरीरा परिक्कमिस्सध जदो अप्पमत्तसंचरणीयाइं सुणीयन्ति रिउबलाइं। [नाथ, मा खलु याज्ञसेनीपरिभवोद्दीपितकोपा अनपेक्षितशरीराः परिक्रमिष्यथ यतोऽप्रमत्तसञ्चरणीयानि श्रूयन्ते रिपुबलानि।'] भीमः—अयि सुक्षत्रिये,

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरि कृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
सङ्ग्रामैकार्णवान्तः पयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः ॥१३॥

इत्यनेन विषण्णाया द्रौपद्याःक्रोधोत्साहबीजानुगुण्येनैव प्रोत्साहनाद् भेद इति।

एतानि च द्वादशमुखाङ्गानि बीजारम्भद्योतकानि साक्षात्पारम्पर्येण वा विधेयानि। एतेषामुपक्षेपपरिकरपरिन्यासयुक्त्युद्भेदसमाधानानामवश्यंभावितेति।

टिप्पणी—सर्वत्र—'गच्छामो वयम् इदानीं कुरुकुलक्षयाय' यहाँ वयम् इत्यादि उद्देश है और 'गच्छामः' विधेय है, और सामान्य नियम यह है कि वाक्य में उद्देश को पहले रखना चाहिये तथा विधेय को बाद में। अतः 'इदानीं वयं कुरुकुलक्षयाय गच्छामः। इस प्रकार की वाक्ययोजना होनी चाहिये। इस शङ्का का समाधान करने के लिये धनिक ने कहा है कि यहाँ क्रिया का क्रम विवक्षित नहीं है अथवा यह कहा जा सकता है कि यहाँ क्रिया की प्रधानता नहीं मानी गई अपितु 'कुरुकुलक्षय' को ही प्रधान माना गया है और उस पर बल देने के लिये उसका बाद में प्रयोग किया गया है।

१२. भेद

प्रोत्साहन को भेद माना गया है ॥२९॥

जैसे वेणीसंहार (१·२६–२७) में 'नाथ, नहीं, याज्ञसेनी के अपमान से उद्दीप्त है क्रोधाग्नि जिनकी ऐसे आप अपने शरीर की ओर असावधान होकर पराक्रम न दिखलाइयेगा, क्योंकि सुना जाता है कि शत्रु की सेना में सावधान होकर जाना चाहिये।'

भीम—'अयि श्रेष्ठ क्षत्राणी, जहाँ परस्पर टकराने से विदीर्ण हाथियों के रुधिर, चर्बी, मांस और मस्तिष्क से (उत्पन्न) कीचड़ में धँसे हुए रथों के ऊपर पैर रखकर पैदल योद्धा पराक्रम दिखलाते हैं और जहाँ प्रचुर रुधिर की पान-गोष्ठी में शब्द करती हुई अमङ्गलकारी शृगाली रूपी तुरही पर कबन्ध (धड़) नृत्य कर रहे हैं उस समर रूपी अद्वितीय सागर के मध्य-जल में विचरण करने में पाण्डु के पुत्र कुशल हैं।

इस (कथन) के द्वारा क्रोध और उत्साह रूपी बीज के अनुरूप ही विषाद-युक्त द्रौपदी को प्रोत्साहित किया गया है अतः यह भेद (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—ना० शा० के अनुसार 'संघातभेदनार्थो यः सः भेदः' पात्रों का अपने-अपने कार्य के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानों में जाने का जो अभिप्राय होता है

अथ साङ्गं प्रतिमुखसन्धिमाह—

(५१) लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ॥३०॥

वह अभिनेता (नटों) के रङ्गभूमि से निकलने का भी निमित्त हुआ करता है । पात्र-संघात में भेद (पृथक्ता) का निमित्त होने के कारण वही भेद कहलाता है । ना० द० (१.४४) की वृत्ति में इसे भेद (भेदन) का दूसरा प्रकार कहा गया है । ना० द० के अनुसार भेद का प्रथम अभिप्राय है—पात्रों का रङ्गस्थल से बाहर जाना (भेदनं पात्रनिर्गमः) । दशरूपक के भेद-लक्षण को ना० द० में तृतीय मत के रूप में उद्धृत किया गया है । सा० द० में भी केचित्तु कहकर इस मत का उल्लेख किया गया है । प्रता० (३.१०;) ने दशरूपक का ही अनुसरण किया है । सा० द० (६-८७) के अनुसार 'भेदः संहतभेदनम्, 'मिले हुओं को पृथक् करना ही भेद कहलाता है' । इस मत का उल्लेख ना० द० में (चतुर्थ मत के रूप में) किया गया है ।

मुख सन्धि के ये १२ अङ्ग बीज (नामक अर्थप्रकृति) और आरम्भ (नामक कार्यावस्था) के सूचक होते हैं । इनका (रूपक में) साक्षात् रूप से या परम्परा से विधान किया जाता है । इनमें से उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, उद्भेद और समाधान का होना (प्रत्येक-रूपक में) आवश्यक है ।

टिप्पणी—(१) संक्षेप में रूपक के जितने कथांश में फल-प्राप्ति के मुख्य उपाय बीज की सम्यक् उत्पत्ति हो जाती है तथा प्रारम्भ नाम की कार्यावस्था पूर्ण हो जाती है वह मुखसन्धि है । यह प्रसङ्ग के अनुसार रस-निष्पत्ति का भी हेतु हुआ करती है । जैसे रत्नावली नाटिका का प्रथम अङ्क है । यहाँ दैव की अनुकूलता से युक्त यौगन्धरायण का उद्योग ही बीज है । प्रथमतः उस उद्योग का विषय है—सागरिका द्वारा राजा का दर्शन किया जाना । इसी अंश में इतिवृत्त की आरम्भावस्था समाप्त हो जाती है । यहाँ बीजन्यास से लेकर भेद पर्यन्त १२ अवस्थाओं में जाते हुए बीज की उत्पत्ति दिखलाई गई है, जैसा कि १२ अङ्गों के उदाहरण से स्पष्ट है । साथ ही यह अङ्क नाना रसों की निष्पत्ति का भी हेतु होता है जैसे यौगन्धरायण के उत्साह वर्णन में वीर रस, उदयन के वसन्त रूप विभाव के वर्णन में शृङ्गार तथा पुरवासियों के प्रमोद के अवलोकन में अद्भुत रस की निष्पत्ति होती है । (२) मुखसन्धि के उपर्युक्त १२ अङ्गों का ही ना० शा० (१९.५७), प्रता० (३.९—१०), सा० द० (६.८१-८२) में भी निरूपण किया गया है किन्तु क्रम में कुछ अन्तर है तथा किन्हीं अङ्गों के लक्षण में भी, जिसका यथावसर उल्लेख कर दिया गया है । ना० द० (१.४१-४२) में भी इन्हीं अङ्गों का वर्णन है किन्तु नाम तथा क्रम में कुछ अधिक अन्तर है । साथ ही कुछ विशद व्याख्या भी वहाँ है ।

प्रतिमुख सन्धि

अब प्रतिमुख सन्धि का अङ्गों सहित वर्णन करते हैं—

जहाँ उस बीज का कुछ लक्ष्य रूप में और कुछ अलक्ष्य रूप में उद्भेद होता है वह प्रतिमुख सन्धि कहलाती है । बिन्दु (नामक अर्थप्रकृति) और प्रयत्न (नामक कार्यावस्था) के योग से इसके तेरह अङ्ग होते हैं ॥३०॥

तस्य बीजस्य, किञ्चिल्लक्ष्यः किञ्चिदलक्ष्य इवोद्भेदः—प्रकाशनं तत्प्रतिमुखम् । यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसङ्गताविदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किञ्चिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया च चित्रफलकवृतान्तेन किञ्चिदुन्नीयमानस्य दृश्यादृश्यरूपतयोद्भेदः प्रतिमुखसन्धिरिति ।

वेणीसंहारेऽपि द्वितीयेऽङ्के भीष्मादिवधेन किञ्चिल्लक्ष्यस्य कर्णाद्यवधाच्चालक्ष्यस्य क्रोधबीजस्योद्भेदः ।

सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥१५॥

इत्यादिभिः—

दुःशासनस्य हृदयक्षतजाम्बुपाने
दुर्योधनस्य च यथा गदयोरुभङ्गे ।
तेजस्विनां समरमूर्धनि पाण्डवानां
ज्ञेया जयद्रथवधेऽपि तथा प्रतिज्ञा ॥१५॥

इत्येवमादिभिश्चोद्भेदः प्रतिमुखसन्धिरिति ।

उस (तस्य) मुख सन्धि में निर्दिष्ट बीज का कुछ लक्ष्य रूप में और कुछ अलक्ष्य रूप में उद्भेद अर्थात् प्रकट होना ही प्रतिमुख सन्धि है, जैसे रत्नावली नाटिका के द्वितीय अङ्क में—जो वत्सराज और सागरिका के मिलन (फल) का हेतु अनुराग रूपी बीज है, उसका प्रथम अङ्क में उपक्षेप किया गया है । द्वितीय अङ्क में सुसङ्गता और विदूषक के द्वारा वह जान लिया गया है । अतः कुछ-कुछ लक्ष्य है और वासवदत्ता के द्वारा चित्रफलक की घटना द्वारा वह कुछ-कुछ समझा भर गया है (अतः अलक्ष्य है) । इस प्रकार यहाँ (अनुराग रूपी) बीज कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रूप में प्रकट होता है तथा प्रतिमुख सन्धि है ।

वेणीसंहार के द्वितीय अङ्क में भी (प्रतिमुख सन्धि है) । यहाँ क्रोध रूपी बीज का भीष्म आदि के वध द्वारा कुछ-कुछ लक्ष्य तथा कर्ण आदि का वध न होने के कारण कुछ अलक्ष्य रूप में प्रकट होना ही प्रतिमुख सन्धि है, जैसे कि (२·५) राजा दुर्योधन कञ्चुकी से कहते हैं शीघ्र ही पाण्डु का पुत्र अपने बल से समर में भृत्यवर्ग, बन्धुगण, मित्र, पुत्र तथा अनुजों सहित दुर्योधन को मार देगा ।

इत्यादि (कथन) के द्वारा तथा (दुर्योधन के भानुमती के प्रति २.२७) 'दुःशासन के हृदय से रुधिर रूपी जल को पीने और गदा से दुर्योधन की जङ्घा को तोड़ देने के विषय में तेजस्वी पाण्डवों की जैसी प्रतिज्ञा थी वैसी समर-भूमि में जयद्रथ-वध के विषय में भी समझनी चाहिये ।' इत्यादि कथन के द्वारा भी जो बीज का प्रकटन होता है, वह प्रतिमुख सन्धि है ।

अस्य च पूर्वाङ्कोपक्षिप्तबिन्दुरूपबीजप्रयत्नार्थानुगतानि त्रयोदशाङ्गानि भवन्ति, तान्याह—

(५२) विलासः परिसर्पश्च विधूतं शमनर्मणी ।
नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पर्युपासनम् ॥३१॥
वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।

यथोद्देशं लक्षणमाह

(५३) रत्यर्थेहा विलासः स्याद्—

यथा रत्नावल्याम्, 'सागरिका—हिअअपसीद पसीद किं इमिणा आआसमेत्तफलेण दुल्लहजणप्पत्थणाणुबन्धेण । ('हृदय, प्रसीद प्रसीद किमनेनायासमात्रफलेन दुर्लभजनप्रार्थनानुबन्धेन ।') इत्युपक्रमे 'तहावि आलेखग्गदं तं जणं कदुअ जधासमीहिदं करिस्सम्, तहावि तस्स णत्थि अण्णो दंसणोवाउत्ति ।" (तथाप्यालेखगतं तं जनं कृत्वा यथासमीहितं करिष्यामि । तथापि तस्य नास्त्यन्यो दर्शनोपायः) । इत्येतैर्वत्सराजसमागमरतिं चित्रादिजन्यामप्युद्दिश्य सागरिकायाश्चेष्टाप्रयत्नोऽनुरागबीजानुगतो विलास इति ।

जो प्रथम अङ्क में रखा गया है तथा अग्रिम अङ्क में बिन्दु रूप में आया है उस बीज तथा प्रयत्न (नामक कार्यावस्था) के आधार पर इस (प्रतिमुख सन्धि) के तेरह अङ्ग होते हैं । उन्हें बतलाते हैं—

विलास, परिसर्प, विधूत, शम, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पयुपासन, वज्र, पुष्प, उपन्यास तथा वर्णसंहार (ये १३ प्रतिमुख सन्धि के अङ्ग हैं) ।।३१।।

नाम के क्रम से उनका लक्षण बतलाते हैं—

१. विलास

रति के लिये जो इच्छा होती है वह विलास कहलाता है ।

जैसे रत्नावली नाटिका (अङ्क १ प्रवेशक के बाद) सागरिका कहती है हृदय प्रसन्न हो, प्रसन्न हो, इस दुलभ जन (वत्सराज) की अभिलाषा के आग्रह से, जिसका केवल मात्र दुःख ही फल है, क्या लाभ ?' इससे आरम्भ करके 'तथापि उस व्यक्ति को चित्रित करके मन चाही करूँगी । उसको देखने का अन्य उपाय नहीं है ।'

इन (कथनों) के द्वारा वत्सराज के समागम की रति के लिये (उद्दिश्य) सागरिका का चेष्टा रूपी प्रयत्न प्रकट हो रहा है, यद्यपि वह रति चित्र आदि के द्वारा ही उत्पन्न हुई है । यह प्रयत्न अनुराग रूपी बीज (जो द्वितीय अङ्क में बिन्दु के रूप में है) से भी अनुगत है अतः विलास (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—यहाँ 'रति' स्थायी भाव का उपलक्षण है । ईहा (=चेष्टा) रति आदि भाव के लिये नहीं अपितु तु रति आदि भाव के विषय के प्रति होती है । इस प्रकार रति आदि भाव के विषय के लिये जो चेष्टा है, वही विलास है । शृङ्गार-

अथ परिसर्पः—

(५४) —दृष्टनष्टानुसर्पणम् ॥३२॥

परिसर्पः—

यथा वेणीसंहारे कञ्चुकी–योऽयममुद्यतेषु बलवत्सु, अथवा किं बलवत्सु वासुदेव-सहायेष्वरिष्वद्याप्यन्तः पुरसुखमनुभवति, इदमपरमयथातथं स्वामिनः—

आशस्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने—

स्तापायास्य न पाण्डुसूनुभिरयं भीष्मः शरैः शायितः ।

प्रौढानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो

बालस्यायमरातिलूनधनुषः प्रीतोऽभिमन्योर्वधात् ॥१६॥

इत्यनेन भीष्मादिवधे दृष्टस्याभिमन्युवधान्नष्टस्य बलवतां पाण्डवानां वासुदेव-सहायानां सङ्ग्रामलक्षणबिन्दुबीजप्रयत्नान्वयेन कञ्चुकिमुखेन बीजानुसर्पणं परिसर्प इति ।

यथा च रत्नावल्यां सारिकावचनचित्रदर्शनाभ्यां सागरिकानुरागबीजस्य दृष्ट-नष्टस्य 'क्वासौ' इत्यादिना वत्सराजेनानुसरणात्परिसर्प इति ।

रस-प्रधान रूपकों में रति के विषय (प्रमदा या पुरुष) के लिये ईहा होती है किन्तु जहाँ वीर आदि रस-प्रधान है वहाँ उत्साह आदि के विषय के प्रति ईहा होती है (द्र० ना० द० १·६३)। उपर्युक्त उदाहरण में सागरिका के प्रेम का विषय जो वत्सराज है, जो कि यहाँ चित्रगत ही है, उसके प्रति सागरिका को ईहा का वर्णन है। यह ईहा ही यहाँ प्रयत्न नामक कार्यावस्था है जो अनुराग रूपी अवान्तर बीज (=बिन्दु) से अनुगत है। अतः यहाँ प्रतिमुख सन्धि का प्रथम अङ्ग विलास है।

२. परिसर्प

पहले देखे गये और फिर नष्ट हुए बीज का अन्वेषण परिसर्प कहलाता है।

जैसे वेणीसंहार (अङ्क २) में (आकाशभाषित में दुर्योधन को—लक्ष्य करके) कञ्चुकी कहता है—[धन्य हैं पतिव्रता भानुमती आप धन्य हैं, स्त्री होकर भी आप) अच्छी हैं किन्तु महाराज (अच्छे) नहीं] जो यह अब भी अन्तःपुर में सुख का भोग कर रहे हैं जबकि बलवान् शत्रु पाण्डु के पुत्र, अथवा चाहे बलवान् न भी हों किन्तु जिनके सहायक वासुदेव हैं, युद्ध के लिये तत्पर हैं। वह स्वामी का दूसरा अनुचित कार्य है—(वेणीसंहार २·२)।

'शस्त्र-ग्रहण के आरम्भ से लेकर कभी जिसका परशु कुण्ठित नहीं हुआ उस प्रसिद्ध मुनि (परशुराम) को जीतने वाला यह भीष्म पाण्डु-पुत्रों द्वारा बाणों से गिरा दिया गया और इससे यह (दुर्योधन) दुःखी न हुआ। साथ ही जो बड़े-बड़े धनुर्धारी शत्रुओं की विजय से थका था, शत्रुओं द्वारा जिसका धनुष काट दिया गया था ऐसे अकेले; बालक अभिमन्यु के वध से यह प्रसन्न हो रहा है।'

अथ विधूतम्—

(५५) विधूतं स्यादरतिः—

यथा रत्नावल्याम्, 'सागरिका-सहि अहिअं मे संतावो बाधेदि। ('सखि अधिकं मे संतापो बाधते।') (सुसङ्गता दीर्घिकातो नलिनीदलानि मृणालिकाश्चानीयास्या अङ्के ददाति) सागरिका (तानि क्षिपन्ती)—सहि अवणेहि एदाइं किं अआरणं अत्ताणं आयासेसि णं भणामि—(सखि, अपनयैतानि किमकारणं आत्मानमायासयसि। ननु भणामि—)

दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परव्वसो अप्पा।
पिअसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवरं एक्कम्॥
(दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि, विषमं प्रेम मरणं, शरणं, केवलमेकम्॥१७॥)

इत्यनेन सागरिकाया बीजान्वयेन शीतोपचारविधूननाद्विधूतम्॥

यथा च वेणीसंहारे भानुमत्या दुःस्वप्नदर्शनेन दुर्योधनस्यानिष्टशङ्कया पाण्डव-विजयशङ्कया वा रतेर्विधूननमिति।

इस (कथन) के द्वारा भीष्म आदि के वध से दिखलाई पड़ने वाले तथा अभिमन्यु के वध से नष्ट हो जाने वाले बीज का कृष्ण की सहायता से युक्त बलवान् पाण्डवों के संग्राम रूपी बिन्दु नामक बीज (अवान्तर बीज) और प्रयत्न के अन्वय से कञ्चुकी के द्वारा अन्वेषण किया गया है, अतः परिसर्प (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है।

और, जैसे रत्नावली (अङ्क २) में सारिका के वचन और (चित्र-दर्शन के द्वारा सागरिका का अनुराग रूपी बीज प्रकट होकर नष्ट हो गया है उसका 'वह कहाँ है ? वह कहाँ है ?' इत्यादि (कथन) से वत्सराज के द्वारा अन्वेषण किया जाता है; अतः यहाँ परिसर्प (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है।

३. विधूत

(सुखप्रद पदार्थों के प्रति) अरुचि (अनादर) ही विधूत कहलाता है।

जैसे रत्नावली नाटिका (२.६) में सागरिका कहती है—सखी, मेरा संताप अधिक बढ़ रहा है*। (सुसंगता बावड़ी से कमलिनी के पत्ते और मृणालों को लाकर इसके अङ्गों पर रखती है)। सागरिका–(उन्हें फेंकती हुई) सखी, इन्हें हटा लो, क्यों व्यर्थ ही अपने को कष्ट दे रही हो ? मैं ठीक कहती हूँ—'दुर्लभ जन के प्रति प्रेम है, अत्यधिक लज्जा है शरीर दूसरे के अधीन है। प्रिय सखी, इस प्रकार प्रेम विषम है। अब तो केवल मृत्यु ही मेरी शरण है।'

यहाँ सागरिका (अनुराग रूपी) बीज के सम्बन्ध से शीतोपचार का अनादर करती है अतः विधूत (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है।

और, जैसे वेणीसंहार (अङ्क २) में बुरा स्वप्न देखने के कारण दुर्योधन

*मंऽधिकतरं संतापो वर्धते इति रत्नावल्यां पाठः।

अथ शमः—

(५६)—तच्छमः शमः ।

तस्या अरतेरुपशमः शमो यथा रत्नावल्याम्—'राजा—वयस्य, अनया लिखितोऽहमिति यत्सत्यमात्मन्यपि मे बहुमानस्तत्कथं न पश्यामि ।' इति प्रक्रमे 'सागरिका—(आत्मगतम्) हिअअ, समस्सस । मणोरहोवि दे एत्तिअं भूमिं ण गदो ।' (हृदय समाश्वसिहि । मनोरथोऽपि त एतावतीं भूमिं न गतः) इति किञ्चिदरत्युपशमाच्छम इति ।

अथ नर्म—

(५७) परिहासवचो नर्म—

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—सहि, जस्स कए तुमं आअदा सो अअं पुरदो चिट्ठदि ।' ('सखि, यस्य कृते त्वमागता सोऽयं पुरतस्तिष्ठति') सागरिका—(सासूयम्) सुसङ्गदे, कस्स कए अहं आअदा । ('सुसङ्गते, कस्य कृतेऽहमागता)। सुसङ्गता—अइ अप्पसंकिदे, णं चित्तफलअस्स ता गेण्ह--एदम् । ('अयि आत्मशङ्किते ननु चित्रफलकस्य तद्गृहाणैतत् ।') इत्यनेन बीजान्वितं परिहासवचनं नर्म ।

के अनिष्ट की आशङ्का से अथवा पाण्डवों की विजय की शङ्का से भानुमती ने रति का विधूनन कर दिया है । अतः वहाँ भी विधूत नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है)।

४. शम

उस (अरति) की शान्ति शम कहलाती है ।

उस अरति का शान्त हो जाना शम है । जैसे रत्नावली (अङ्क २.११–१२) में राजा विदूषक से कहता है—'मित्र' इसने मेरा चित्र बनाया है, इससे सचमुच मुझे अपने आप पर भी बहुत गर्व हो गया है तो कैसे न देखूँ ? इस सन्दर्भ में सागरिका (मन ही मन) कहती है—'हृदय धीरज धर, तेरा तो मनोरथ भी यहाँ तक नहीं पहुँच पाया था ।'

यहाँ (अपने प्रति राजा का प्रेम जानकर सागरिका की) अरति कुछ शान्त हो जाती है, इसलिये शम (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

५. नर्म—

परिहास युक्त वचन ही नर्म कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (अङ्क २. १५–१६) में सुससंगता सागरिका से कहती है—सखी, जिसके लिये तुम आई हो, वह यह सामने स्थित है ।' सागरिका (चिढ़कर) 'सुससंगता, मैं किसके लिये आई हूँ ? सुसंगता—अरी, अपने पर शङ्का करने वाली चित्रफलक के लिये ही तो तुम आई हो, उसे ले लो ।

यथा च वेणीसंहारे—(दुर्योधनश्चेटीहस्तादर्घपात्रमादाय देव्याः समर्पयति, पुनः) भानुमती—(अर्घं दत्वा) हला, उवणेहि मे कुसुमाइं जाव अवराणं पि देवाणं सवरिअं णिवत्तेमि। (हला उपनय मे, कुसुमानि यावदपरेषामपि देवानां सपर्यां निवर्तयामि।') (हस्तौ प्रसारयति, दुर्योधनः पुष्पाण्युपनयति—भानुमत्यास्तत्स्पर्शजातकम्पाया हस्तात्पुष्पाणि पतन्ति') इत्यनेन नर्मणा दुःस्वप्नदर्शनोपशमार्थं देवतापूजाविघ्नकारिणा बीजोद्घाटनात्परिहासस्य प्रतिमुखाङ्गत्वं युक्तमिति।

(५८)—धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता ॥३३॥

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—सहि अदिणिठ्ठुरा दाणिं सि तुमम्। जा एवं पि भट्टिणा हत्थावलम्बिदा कोवं ण मुञ्चसि। (सहि, अतिनिष्ठुरेदानीमसि त्वं यैवमपि भर्त्रा हस्तावलम्बिता कोपं न मुञ्चसि।) सागरिका—(सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य) सुसङ्गते, दाणिं पि ण विरमसि।' (सुसङ्गते, इदानीमपि न विरमसि।') इत्यनेनानुरागबीजोद्घाटनान्वयेन धृतिर्नर्मजा द्युतिरिति दर्शितमिति।

इसके द्वारा जो (अनुराग रूपी) बीज से सम्बन्ध परिहास वचन कहा गया है वह नर्म (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है।

और, जैसे वेणीसंहार (अङ्क २. १४–१५) में दुर्योधन (चेटी के हाथ से, अर्घपात्र लेकर देवी भानुमती को देता है तब) भानुमती (अर्घ्य देकर) 'सखी' मुझे पुष्प दो जिससे दूसरे देवताओं का भी पूजन कर लूँ। (हाथ फैलाती है, दुर्योधन पुष्प देता है, दुर्योधन के स्पर्श से कम्पित भानुमती के हाथ से पुष्प गिर जाते हैं।)

यहाँ दुस्वप्न-दर्शन की शान्ति के लिये जो देव-पूजा की जा रही है उसमें विघ्न करने वाले परिहास के द्वारा बीज का उद्घाटन हो जाता है अतः यहाँ परिहास को प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग मानना युक्त ही है।

६. नर्मद्युति

उस (नर्म) से उत्पन्न धृति ही नर्मद्युति मानी गई है।

जैसे रत्नावली (२. १८—१९) सुसंगता सागरिका से कहती है—'सखी तू अब बड़ी कठोर हो गई है जो इस प्रकार स्वामी द्वारा हाथ पकड़े जाने पर भी कोप नहीं छोड़ती।' सागरिका (भ्रूभङ्ग के साथ कुछ मुस्करा कर) 'सुसंगता तू अब भी नहीं मानती।'

इसके द्वारा (सागरिका के) अनुराग रूपी-बीज के उद्घाटन के सम्बन्ध से (सागरिका की) परिहास से उत्पन्न धृति का वर्णन है अतः नर्मद्युति (नामक मुख-सन्धि का अङ्ग) दिखलाई गई है।

टिप्पणी—कुछ आचार्यों के अनुसार दोष को आच्छादित करने वाला परिहास नर्मद्युति कहलाता है (द्र० नाटचशास्त्र तथा नाटचदर्पण)।

अथ प्रगमनम्—

(५६) उतरा वाक्प्रगमनम्—

यथा रत्नावल्याम्—"विदूषकः—भो वअस्स, दिठ्ठआ वढ्ढसे। ('भो वयस्य, दिष्टया वर्धसे।') राजा—(सकौतुकम्) वयस्य, किमेतत्। विदूषकः—भो, एदं क्खु तं जं मए भणिदं तुमं एव्व आलिहिदो को अण्णो कुसुमाउहव्ववदेसेण णिह्णवीअदि। ('भोः, एतत्खलु तद्यन्मया भणितं त्वमेवालिखितः कोऽन्यः कुसुमायुधव्यपदेशेन निह्नूयते।') इत्यादिना।

परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात्किं शोषमायासि मृणालहार,
न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य तत्रावकाशो भवतः किमु स्यात् ॥१८॥

इत्यनेन राजविदूषकसागरिकासुसङ्गतानामन्योन्यवचनेनोत्तरानुरागबीजोद्घाटनात् प्रगमनमिति।

अथ निरोधः--

(६०)—हितरोधो निरोधनम्।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—धिङ्मूर्ख!
प्राप्ता कथमपि दैवात्कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा।
रत्नावलीव कान्ता मम हस्ताद् भ्रंशिता भवता ॥१९॥

---

७. प्रगमन

(बीज के सम्बन्ध में) उत्तरोत्तर वचन ही प्रगमन है।

जैसे रत्नावली (२.८-९) में विदूषक राजा से कहता है—'हे मित्र, भाग्य से बढ़ रहे हो।' राजा—(कुतूहल से) 'मित्र, यह क्या है? विदूषक—भाई, यह वही है जो मैंने कहा था कि इसमें तेरा ही चित्र बनाया गया है कामदेव (पुष्प के धनुष वाले) के बहाने से और किसको छिपाया जा सकता है? यहाँ से आरम्भ करके (२.१५) "हे मृणालहार, उसके स्तनरूपी कलशों के मध्य से गिरा हुआ तू क्यों सूख रहा है? जहाँ तेरे सूक्ष्म तन्तु के लिये भी जगह नहीं है, वहाँ तेरे लिये कैसे हो सकती है?"

यहाँ तक राजा, विदूषक, सागरिका और सुसङ्गता के परस्पर वचनों के द्वारा अनुराग बीज का उत्तरोत्तर उद्घाटन हो रहा है अतः प्रगमन (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—नाट्यशास्त्र में 'प्रगमन' के स्थान पर 'प्रगयण' नाम रक्खा गया है तथा नाट्य-दर्पण में 'प्रतिवाक् श्रेणी'।

८. निरोधन

हित का रुक जाना निरोधन कहलाता है।

जैसे रत्नावली (२.१९) में राजा विदूषक से कहता है—"मूर्ख, धिक्कार है! किसी प्रकार संयोग से प्राप्त हुई, अनुराग को प्रकट करने वाली यह कान्ता"

इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागमरूपहितस्य वासवदत्ताप्रवेशसूचकेन विदूषकवचसा निरोधान्निरोधनमिति ।

अथ पर्युपासनम्--

(६१) पर्युपास्तिरनुनयः—

यथा रत्नावल्याम्—राजा--

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः ।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे ॥२०॥

इत्यनेन चित्रगतयोर्नायकयोर्दर्शनात्कुपिताया वासवदत्ताया अनुनयनं नायकयोरनुरागोद्घाटनान्वयेन पर्युपासनमिति ।

अथ पुष्पम्--

(६२)—पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥३४॥

यथा रत्नावल्याम्—'(राजा सागरिकां गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति) विदूषकः-- भो, एषा अपुव्वा सिरी तए समासादिदा । (भोः एषाऽपूर्वा श्रीस्त्वया समासा-

---

स्फुट कान्ति वाली रत्नावली के समान, कण्ठ से न लगाई गई ही, आपने मेरे हाथ से गिरा दी ।

यहाँ वत्सराज का सागरिका-समागम रूपी हित है जिसे वासवदत्ता प्रवेश की सूचना देने वाले विदूषक के वचन ने रोक दिया है अतः निरोधन [नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग] है ।

९. पर्युपासन

(क्रुद्ध व्यक्ति को) मनाना ही पर्युपासन कहलाता है ।

जैसे रत्नावली [२·२०] में राजा (वासवदत्ता) से कहता है—"हे देवी, यदि मैं यह कहूँ 'प्रसन्न हो जाओ' तो यह कोप न होने पर संगत नहीं । यदि कहूँ कि 'फिर ऐसा न करूँगा' तो (अपने अपराध की) स्वीकृति हो जायेगी । यदि 'मेरा दोष नहीं है' यह कहूँ तो तुम इसे झूठ-मानोगी । प्रियतमे, इस दशा में क्या कहना उचित है, यह मैं नहीं जानता ।

यहाँ पर चित्र में (एक साथ) नायक (वत्सराज) तथा नायिका (सागरिका) को देखने से कुपित होने वाली वासवदत्ता का अनुनय किया गया है, जिसका नायक और नायिका के अनुराग (रूपी बीज) के उद्घाटन से सम्बन्ध है अतः यहाँ पर्युपासन (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।

१०. पुष्प

(बीजोद्घाटन के सम्बन्ध में) विशेषतायुक्त कथन को पुष्प कहा जाता है ।

जैसे रत्नावली (अङ्क २.१८) में (राजा सागरिका को हाथ से पकड़कर स्पर्श

दिता । राजा—वयस्य सत्यम्—

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः ।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥२१॥

इत्यनेन नायकयोः साक्षादन्योन्यदर्शनादिना सविशेषानुरागोद्घाटनात्पुष्पम् । अथोपन्यासः—

(६३) उपन्यासस्तु सोपायम्—

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—भट्टा, अलं सङ्काए । मए वि भट्टिणो पसाएण कीलिदं एव्व ता । किं कण्णाभरणेण अदो वि मे गरुओ पसाओ जं कीस तए अहं एत्थ आलिहिअ त्ति कुविआ मे पिअसही साअरिआ ता पसादीअदु ।' ("भर्तः, अलं शङ्कया मयापि भर्तुः प्रसादेन क्रीडितमेव तत्किं कर्णाभरणेन, अतोऽपि मे गुरुः प्रसादो यत्कथं त्वयाहमत्रालिखितेति कुपिता मे प्रियसखी सागरिका तत्प्रसाद्यताम् ।') इत्यनेन सुसङ्गतावचसा सागरिका मया लिखिता सागरिकया च त्वमिति सूचयता प्रसादोपन्यासेन बीजोद्भेदादुपन्यास इति ।

का अभिनय करता है) । विदूषक—भाई, तुमने सचमुच ही यह अपूर्व लक्ष्मी प्राप्त कर ली है ।' राजा—मित्र, ठीक है, यह लक्ष्मी है, इसका हाथ पारिजात का पल्लव है, नहीं तो स्वेद के व्याज से यह अमृत रस को कहाँ से बहाता ?'

इस कथन के द्वारा नायक और नायिका के परस्पर दर्शन आदि के द्वारा विशिष्ट अनुराग प्रकट होता है अतः पुष्प (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

११. उपन्यास

उपायसहित (=हेतुप्रदर्शक) कथन ही उपन्यास कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (२.१५--१६) में सुसङ्गता का कथन है—'स्वामी, शङ्का न करें । मैंने भी 'स्वामी के प्रसाद से खेल ही किया है । इसलिये कर्णाभूषण की क्या बात है ? इससे भी बड़ा मुझ पर वह प्रसाद होगा कि 'तूने इसमें मेरा चित्र क्यों बनाया' ? यह कहती हुई मेरी प्रिय सखी सागरिका कुपित हो गई है, तो उसे आप प्रसन्न कर दीजिये ।'

'यहाँ ('चित्रफलक में) सागरिका का चित्र मैंने बनाया है और तुम्हारा चित्र सागरिका ने' यह सूचित करते हुए सुसङ्गता के वचन से (राजा के) प्रसाद का कथन करके (अनुराग रूपी) बीज का प्रकटन किया गया है अतः उपन्यास (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—बीज के उद्भेदन से सम्बन्ध रखने वाला हेतुप्रदर्शनपूर्वक या युक्ति-सहित कथन ही उपन्यास है । यहाँ सागरिका को प्रसन्न करने के लिये जो निवेदन किया गया है उसमें हेतु यह है कि सुसङ्गता ने चित्रफलक पर राजा के चित्र के साथ सागरिका का चित्र बना दिया है, इसलिये वह कुपित है । इससे सागरिका का अनुराग भी प्रकट होता है ।

(६४)—वज्रं प्रत्यक्षनिष्ठुरम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—(फलकं निर्दिश्य) अज्जउत्त, एसावि जा तुह समीवे एदं किं वसन्तअस्स विण्णाणम् ।' (आर्यपुत्र, एषापि या तव समीपे एतत्किं वसन्तकस्य विज्ञानम् ।) पुनः 'अज्जउत्त, ममावि एवं चित्तकम्म पेक्खन्तीए सीसवेअणा ।' (आर्यपुत्र, ममाप्येतच्चित्रकर्म पश्यन्त्याः शीर्षवेदना समुत्पन्ना ।) इत्यनेन वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकानुरागोद्भेदनात्प्रत्यक्षनिष्ठुराभिधानं वज्रमिति

अथ वर्णसंहारः—

(६५) चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते ॥३५॥

यथा वीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

परिषदियमृषीणामेष वृद्धो युधाजित्
सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्धः ।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः
प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकस्ते ॥२२॥

इत्यनेन ऋषिक्षत्रियामात्यादीनां सङ्गतानां वर्णानां वचसा रामविजयाशंसिनः परशुरामदुर्णयस्याद्रोहयाञ्चाद्वारेणोद्भेदनाद्वर्णसंहार इति ।

---

१२. वज्र

प्रत्यक्ष रूप में निष्ठुर (कथन) ही वज्र कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (२.१९--२०) में वासवदत्ता (चित्रफलक की ओर निर्देश करके) आर्यपुत्र, यह भी जो तुम्हारे समीप है, यह क्या आर्यवसन्तक की कला है ? फिर कहती है—'आर्य, इस चित्रकार्य को देखते हुए मेरे सिर में पीड़ा हो गई है ।

इस (कथन) के द्वारा वासवदत्ता ने वत्सराज के सागरिका के प्रति अनुराग को प्रकट किया है जो प्रत्यक्ष रूप से निष्ठुर कथन है अतः यहाँ वज्र (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

१३. वर्णसंहार

[ब्राह्मण आदि] चारों वर्णों का एकत्रित होना ही वर्णसंहार कहलाता है ।

जैसे महावीरचरित के तृतीय अङ्क (३.५) में 'यह ऋषियों की सभा है यह वृद्ध युधाजित् है, और अमात्यों के साथ ये वृद्ध नृपति लोमपाद हैं तथा यह निरन्तर यज्ञ करने वाला, पुराना (प्रसिद्ध, प्राचीन) ब्रह्मवादी, जनकों (नामक जनपदों) का राजा, ये सब आपसे क्रोधशान्ति (अद्रुहः=द्रोहाभावस्य) की याचना करते हैं ।

यहाँ पर एकत्रित हुए ऋषि, क्षत्रिय और अमात्य आदि का कथन करके क्रोधशान्ति की प्रार्थना के द्वारा राम की विजय को सूचित करने वाले परशुराम के

एतानि च त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गानि मुखसन्ध्युपक्षिप्तबिन्दुलक्षणावान्तरबीज-महाबीजप्रयत्नानुगतानि विधेयानि । एतेषां च मध्ये परिसर्पप्रशमवज्रोपन्यासपुष्पाणां प्राधान्यम् । इतरेषां यथासम्भवं प्रयोग इति ।

दुर्णय (दुर्व्यवहार, अन्याय) का प्रकटन किया है अतः वर्णसंहार (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—ना० शा० (१९·८२), सा० द० (६·९४) में यही लक्षण है। प्रता० (३, १३) में तथा भा० प्र० (पृ० २०९) में भी इसी प्रकार का लक्षण है। अभिनवगुप्त ने बताया है कि ब्राह्मण आदि वर्णचतुष्टय के एकीकरण को वर्णसंहार मानना उचित नहीं अपितु यहाँ वर्ण का अर्थ नाटकीय पात्र (नायक, प्रतिनायक, नायिका इत्यादि) हैं। किसी कार्य के लिये उनके एक साथ मिलने का वर्णन ही वर्णसंहार है। ना० द० (१·६७) में यही लक्षण माना गया है तथा इसका विशद विवेचन किया गया है। वहाँ दशरूपक के मत की समीक्षा भी की गई है तथा वर्णसंहार की एक तीसरी व्याख्या का भी उल्लेख है—एके तु 'वर्णितार्थतिरस्कारं वर्णसंहारमामनन्ति ।

प्रतिमुख सन्धि के ये तेरह अङ्ग हैं। मुख सन्धि में उपक्षिप्त बिन्दु नामक अवान्तर बीज एवं महाबीज (अर्थप्रकृति) और प्रयत्न (नामक कार्यावस्था) से अन्वित इन अङ्गों का निर्वाह करना चाहिये। इनमें परिसर्प, प्रशम, वज्र, उपन्यास और पुष्प ये अङ्ग प्रधान हैं (रूपकों में इनको स्थान देना आवश्यक है)। अन्यों का यथासम्भव प्रयोग किया जाता है।

टिप्पणी—(१) इस प्रकार प्रधानवृत्त का द्वितीय भाग प्रतिमुख सन्धि है। इसमें मुखसन्धि में न्यस्त बीज की किञ्चिद् लक्ष्य और यत्किञ्चिद् अलक्ष्य रूप से अभिव्यक्ति हुआ करती है। साथ ही नायक-व्यापार की प्रयत्नावस्था का वर्णन होता है। फलतः अवान्तर बीज अर्थात् बिन्दु या महाबीज की अभिव्यक्ति के साथ प्रयत्न अवस्था की अन्विति का नाम प्रतिमुख सन्धि है। इसके तेरह अङ्गों में किसी न किसी रूप में इस अन्विति के दर्शन होते हैं। उदाहरणार्थ विलास नामक प्रथम अङ्ग में जो रति के लिये ईहा (चेष्टा) होती है वह अनुराग इत्यादि अवान्तर बीज की अभिव्यक्ति से अन्वित होती है। इसी प्रकार अन्य अङ्गों में वर्णित प्रयत्न भी बिन्दु या बीज की व्यक्ति (उद्भेदन) से अन्वित हुआ करते हैं। (२) प्रायः सभी नाट्याचार्यों के अनुसार प्रतिमुख सन्धि के उपर्युक्त १३ ही अङ्ग हैं। नामों में भी कोई विशेष भेद नहीं है, केवल दशरूपक के 'शम' और प्रगमन के स्थान पर ना० शा० (१९·५९), में 'तापन' तथा 'प्रगयण' दो अङ्ग माने गये हैं। सा० द० (६·८७) में 'निरोध' के स्थान पर विरोध माना गया है। ना० द० (१·६२) के नामों में भी यत्किञ्चित् अन्तर है तथा इन अङ्गों के स्वरूप में भी कुछ नवीनता है।

अथ गर्भसन्धिमाह—

(६६) गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसम्भवः ॥३६॥

प्रतिमुखसन्धौ लक्ष्यालक्ष्यरूपतया स्तोकोद्भिन्नस्य बीजस्य सविशेषोद्भेदपूर्वकः सान्तरायो लाभः पुनर्विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनश्च तस्यैवान्वेषणं वारं-वारं सोऽनिर्धारितैकान्तफलप्राप्त्याशात्मको गर्भसन्धिरिति । तत्र चौत्सर्गिकत्वेन प्राप्तायाः पताकाया अनियमं दर्शयति—"पताका स्यान्न वा' इत्यनेन । प्राप्तिसम्भवस्तु स्यादेवेति दर्शयति—"स्यात्" इति । यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वत्सराजस्य वासवदत्तालक्षणापायेन तद्वेषपरिग्रहसागरिकाभिसरणोपायेन च विदूषकवचसा सागरिकाप्राप्त्याशा प्रथमं पुनर्वासवदत्तया विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनरपायनिवारणोपायान्वेषणम् 'नास्ति देवीप्रसादनं मुक्त्वान्य उपाय' इत्यनेन दर्शितमिति ।

गर्भसन्धि और उसके अङ्ग

जहाँ दिखलाई देकर खोये गये बीज का वार वार अन्वेषण किया जाता है, वह गर्भसन्धि है । इसमें पताका (नामक अर्थप्रकृति) कहीं होती है कहीं नहीं भी होती, किन्तु प्राप्त्याशा (नाम को कार्यावस्था) होती ही है । इसके बारह अङ्ग होते हैं ।

प्रतिमुख सन्धि में जो बीज कुछ लक्ष्य रूप में तथा कुछ अलक्ष्य रूप में प्रकट होता है, उसका विशेष प्रकार से प्रकट होना—विघ्नों के साथ प्रकट होना, फिर नष्ट हो जाना, फिर प्राप्त होना तथा फिर नष्ट हो जाना और फिर उसका ही वार वार अन्वेषण किया जाना; यही गर्भसन्धि कहलाती है इसमें फलप्राप्ति की आशा का एकान्ततः निश्चय नहीं होता ।

(क्रमशः अर्थप्रकृति और कार्यावस्था के अन्वय से सन्धि की उत्पत्ति होती है—इस) सामान्य नियम के अनुसार उस (गर्भ सन्धि) में पताका अवश्य होनी चाहिये किन्तु 'पताका स्यात् न वा' (पताका हो या न हो) इस कथन के द्वारा यहाँ यह दिखलाया है कि पताका का होना अनिवार्य नहीं है । इसी प्रकार 'स्यात् प्राप्तिसम्भवः' (प्राप्त्याशा होनी ही चाहिये), इस कथन से यह दिखलाया है कि (गर्भसन्धि में) प्राप्त्याशा अवश्य होती है ।

(गर्भसन्धि का उदाहरण है) जैसे रत्नावली के तृतीय अङ्क में पहिले तो विदूषक के उस वचन द्वारा सागरिका की प्राप्ति की आशा होती है जिसमें वासवदत्ता के रूप में विघ्न कहा गया है और वासवदत्ता का वेष धारण करके सागरिका के अभिसरण को (समागम का) उपाय कहा गया है फिर वासवदत्ता की उपस्थिति से आशा-भंग (विच्छेद) हो जाता है । इसी प्रकार फिर प्राप्ति और फिर विघ्न होता है और तब (विघ्न को दूर करने का) उपाय खोजा जाता है जो कि (३. १५-१६) 'देवी (वासवदत्ता) को प्रसन्न करने के अतिरिक्त (सागरिका से मिलन) का कोई और उपाय नहीं है'—इस कथन के द्वारा दिखलाया गया है ।

उस (गर्भसन्धि) के बारह अङ्ग होते हैं, उनके नाम ये हैं—

स च द्वादशाङ्गो भवति । तान्युद्दिशति—

(३) अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ।
संग्रहश्चानुमानं च तोटकाधिबले तथा ॥३७॥
उद्वेगसंभ्रमाक्षेपा लक्षणं च प्रणीयते ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

(६६) अभूताहरणं छद्म—

यथा रत्नावल्याम्—'साधु रे अमच्च वसन्तअ साधु अदिसइदो तए अमच्चो जोगन्धराअणो इमाए सन्धिविग्गहचिन्ताए । ('साधु रे अमात्य वसन्तक साधु अतिशयितस्त्वयामात्यो यौगन्धरायणोऽनया सन्धिविग्रहचिन्तया ।') इत्यादिना प्रवेशकेन गृहीतबासवदत्तावेषायाः सागरिकाया वत्सराजाभिसरणं छद्म विदूषकसुसङ्गताक्लृप्त-काञ्चनमालानुवादद्वारेण दर्शितमित्यभूताहरणम् ।

अथ मार्गः—

(६९)—मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम् ॥३८॥

यथा रत्नावल्याम् 'विदूषकः—दिट्ठिआ वड्ढसि समीहिदब्भाधिकाए कज्जसिद्धीए । ('दिष्टया वर्धसे समीहिताभ्यधिकया कार्यसिद्ध्या ।') राजा—वयस्य कुशलं प्रियायाः ? विदूषकः—अइरेण सअज्जेव्व पेक्खिअ जाणिहिसि । (अचिरेण स्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि ।') राजा—दर्शनमपि भविष्यति ? विदूषकः—(सगर्वम्) कीस ण भविस्सदि जस्स दे उवहसिदबिहप्फदिबुद्धिविहवो अहं अमच्चो । ('कथं न भविष्यति यस्य स उपहसित-बृहस्पतिबुद्धिविभवोऽहममात्यः ।') राजा–तथापि कथमिति श्रोतुमिच्छामि । विदूषकः–(कर्णे कथयति) एव्वम् । ('एवम्') । इत्यनेन यथा विदूषकेण सागरिकासमागमः सूचितः' तथैव निश्चितरूपो राज्ञे निवेदित इति तत्त्वार्थकथनान्मार्ग इति ।

---

१. अभूताहरण, २. मार्ग, ३. रूप, ४. उदाहरण, ५. क्रम, ६. संग्रह, ७. अनुमान, ८. तोटक, ९. अधिबल, १०. उद्वेग, ११. संभ्रम और १२. आक्षेप इनके लक्षण आगे किये जा रहे हैं । ३७, ३८ ।

नाम-निर्देश के क्रम से लक्षण बतलाते हैं—

१. अभूताहरण—

(प्रकृत विषय से सम्बद्ध) छलपूर्ण कार्य ही अभूताहरण कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (अङ्क ३ प्रवेशक) में काञ्चनमाला (विदूषक को लक्ष्य करके) कहती है धन्य है रे अमात्य वसन्तक धन्य है । इस सन्धि विग्रह के विचार में तूने अमात्य यौगन्धरायण को भी मात कर दिया है ।

यहाँ पर वासवदत्ता का वेष धारण करके सागरिका का वत्सराज के प्रति अभिसरण करना ही छद्म है, जिसको विदूषक और सुसङ्गता के निश्चय का काञ्चनमाला द्वारा कथन कराके प्रवेशक में दिखलाया गया है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९.८२), सा० द० (६.९६) ना० द० (असत्याहरणं १.८८) ।

२. मार्ग

(प्रकृत विषय के सम्बन्ध में) यथार्थ बात का कथन ही मार्ग कहलाता है ।

अथ रूपम्—

(७०) रूपं वितर्कवद्वाक्यम्—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा अहो किमपि कामिजनस्य स्वगृहिणीसमागमपरिभाविनोऽभिनवं जनं प्रति पक्षपातस्तथाहि—

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहौ
रमयतितरां सङ्केतस्था तथापि हि कामिनी ॥२३॥

कथं चिरयति वसन्तकः ? किं न खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्याः ।' इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्याशानुगुण्येनैव देवीशङ्कायाश्च वितर्काद्रूपमिति ।

जैसे रत्नावली (३.४–५) में—'विदूषक सौभाग्य से आप चाहे हुए से भी अधिक कार्य की सिद्धि के कारण वृद्धि को प्राप्त कर रहे हैं । राजा—मित्र, प्रिया का कुशल तो है ? विदूषक-शीघ्र ही आप स्वयं देखकर जान लेंगे । राजा—क्या प्रिया का दर्शन भी हो जायेगा ? विदूषक—(गर्वपूर्वक) क्यों न होगा ? जिस (आप) का बुद्धि-वैभव में बृहस्पति को तिरस्कृत करने वाला मैं अमात्य हूँ । राजा—तो भी कैसे ? यह सुनना चाहता हूँ । विदूषक—(कान में कहता है) इस प्रकार' ।

यहाँ पर सागरिका के समागम की जैसी सूचना मिली थी विदूषक ने निश्चय करके वैसा ही राजा से निवेदन कर दिया । इस प्रकार यहाँ यथार्थ बात का कथन है अतः मार्ग (नामक गर्भसन्धि का अंग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९ ८३), सा० द० (६.९४), ना० द० । (१.८७) ।

३. रूप

(प्राप्ति की आशा में) वितर्क से युक्त कथन को रूप कहते हैं ।

जैसे रत्नावली (अङ्क ३·९) में राजा अहो ! अपनी पत्नी के मिलने की उपेक्षा करने वाले कामुक जनों का नये व्यक्ति के प्रति अनोखा झुकाव होता है ।

'क्योंकि यद्यपि संकेत स्थल में स्थित कामिनी अशङ्कित होने के कारण प्रेम से निर्मल हुई दृष्टि को (नायक के) मुख पर नहीं डालती, कण्ठालिङ्गन में प्रीति के साथ स्तनों को दृढ़तापूर्वक नहीं लगाती, प्रयत्नपूर्वक रोके जाने पर भी बार-बार यही कहती है मैं जाती हूँ तथापि आश्चर्य है कि वह अधिक आनन्वित करती है ।'

वसन्तक (विदूषक) कैसे देर कर रहा है ? तो क्या वृत्तान्त देवी (वासवदत्ता) ने जान लिया है ?

इत्यादि के द्वारा रत्नावली-समागम की प्राप्ति की आशा के सम्बन्ध में ही वासवदत्ता-सम्बन्धी शङ्का वितर्क किया गया है अतः यहाँ रूप (नामक गर्भसन्धि अङ्ग) है ।

अथोदाहरण—

(७१)—सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः ।

यथा रत्नावल्याम्— विदूषकः—(सहर्षम्) ही ही भोः कोसम्बीरज्जलाहेणावि ण तादिसो वअस्सस्स परितोसो असि यादिसो मम सआसादो दिअवअणं सुणिअ भविस्सदि त्ति तक्केमि ।' ('ही ही भोः कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशो वयस्यस्य परितोष आसीत् यादृशो मम सकाशात्प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि ।') इत्यनेन रत्नावलीप्राप्तिवार्तापि कौशाम्बीराज्यलाभादतिरिच्यत इत्युत्कर्षाभिधानादुदाहृतिरिति ।

अथ क्रमः—

(७२) क्रमः संचिन्त्यमानाप्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—उपनतप्रियासमागमोत्सवस्यापि मे किमिदमत्यर्थमुत्ताम्यति चेतः, अथवा—

टिप्पणी—ना० शा० (चित्रार्थसमवाये तु वितर्को रूपम् १९.८३), सा० द० (६.९६) । ना० द० (रूपं नानार्थसंशयः १.७८) के अनुसार 'अनेक प्रकार की बातों का संशय ही रूप है । वहाँ दशरूपक के मत तथा अन्य एक मत का भी वृत्ति में उल्लेख किया गया है ।

४. उदाहरण (उदाहृति)

(प्राप्त्याशा से सम्बद्ध) उत्कर्षयुक्त कथन उदाहृति कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (३.४५ में विदूषक (हर्षपूर्वक)—आ हा हा ? मैं समझता हूँ कि मेरे मित्र को कौशम्बी का राज्य पाने से भी इतना सुख न होगा जितना कि आज मुझसे प्रिय वचन सुनकर होगा ।

इत्यादि के द्वारा 'रत्नावली' की प्राप्ति की बात भी कौशम्बी-राज्य की प्राप्ति ले बढ़कर है" इस उत्कर्ष का कथन किया गया है अतः उदाहृति (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है ।

टि०—ना० शा० (१९.८४), सा० द० (६.९७) ना० द० । (उदाहृतिः समुत्कर्षः १.८१)

७. क्रम—

सोची हुई वस्तु की प्राप्ति क्रम कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (३.१०) में 'राजा—प्रिय का मिलन उपस्थित होने पर भी मेरा हृदय अत्यधिक उत्कण्ठित क्यों हो रहा है । अथवा

तीव्रः स्मरसंतापो न तथादौ बाधते यथासन्ने ।
तपति प्रावृषि सुतरामभ्यर्णजलागमो दिवसः ।।२४।।

विदूषकः—(आकर्ण्य) भोदि सागरिए, एसो पिअवअस्सो तुमं ज्जेव उद्दिसिअ उक्कण्ठाणिब्भरं मन्तेदि । ता निवेदेमि से तुहागमणम् ।' (भवति सागरिके, एष प्रियवयस्यस्त्वामेवोद्दिश्योत्कण्ठानिर्भरं मन्त्रयति तन्निवेदयामि तस्मै तवागमनम्') इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागममभिलषत एव भ्रान्तसागरिकाप्राप्तिरिति क्रमः ।

अथ क्रमान्तरं मतभेदेन—

(७३)—भावज्ञानमथापरे ।।३६।।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा (उपसृत्य) प्रिये सागरिके,

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ
रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्निशङ्कमालिङ्गय मा—
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ।।२५।।

इत्यादिना 'इह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे' इत्यन्तेन वासवदत्तया वत्सराजभावस्य ज्ञातत्वात्क्रमान्तरमिति ।

टिप्पणी—यहाँ क्रम के स्वरूप के विषय में जो दो मत दिखलाये गये हैं उनमें से धनञ्जय को प्रथम अभीष्ट है किन्तु दूसरा मत किसका है, यह कहना कठिन है ।

काम का तीव्र संताप प्रारम्भ में उतना नहीं सताता, जितना (प्रिया के मिलन के) निकट होने पर सताता है । वस्तुतः वर्षा ऋतु में वह दिवस अधिक तपता है जिसमें जल का आगमन निकट होता है ।

विदूषक—(सुनकर) आदरणीय सागरिका, यह मेरे प्रिय मित्र तुम को लक्ष्य करके ही अत्यधिक उत्कण्ठापूर्वक कुछ कह रहे हैं, तो मैं तुम्हारे आने की बात इनसे करता हूँ ।'

इत्यादि द्वारा सागरिका के समागम की कामना करते हुए ही वत्सराज की भ्रान्ति से (वासवदत्ता में) सागरिका की प्राप्ति होती है, अतः यह क्रम (नामक गर्भ-सन्धि का अङ्ग है) ।

मतभेद से क्रम का दूसरा रूप (क्रमान्तर दूसरा क्रम) यह है—

दूसरे आचार्य भाव-ज्ञान को क्रम कहते हैं ।।३६।।

जैसे रत्नावली (३.११) में राजा—(समीप जाकर) प्रिय सागरिका तेरा मुख चन्द्रमा है, नेत्र नील कमल हैं, हाथ (लाल) कमल के समान हैं, उरु-युगल कदली के अन्तर्भाग के सदृश हैं, भुजाएँ कमल-नाल के तुल्य है । इस प्रकार हे आह्लादित करने वाले समस्त अङ्गों वाली तुम आओ निशङ्क होकर बलपूर्वक मेरा आलिङ्गन करके काम के सन्ताप से व्याकुल मेरे अङ्गों को शान्त कर दो ।

इत्यादि से आरम्भ करके 'वह अमृत भी तुम्हारे बिम्बाधर में विद्यमान है'' (३.१३) यहाँ तक वासवदत्ता के द्वारा वत्सराज के भाव को जाना गया है अतः यह दूसरे प्रकार का क्रम है ।

अथ संग्रहः—

(७४) संग्रहः सामदानोक्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'साधु वयस्य, साधु इदं ते पारितोषिकं कटकं ददामि ।' इत्याभ्यां सामदानाभ्यां विदूषकस्य सागरिकासमागमकारिणः संग्रहात्संग्रह इति ।

अथानुमानम्—

(७५)—अभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा ।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा–धिङ् मूर्ख, त्वत्कृत एवायमापतितोऽस्माकमनर्थः । कुतः—

समारूढा प्रीतिः प्रणयबहुमानात्प्रतिदिनं
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया ।
प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति ।।२६।।

विदूषकः—भो वअस्स, वासवदत्ता किं करइस्सदि त्ति ण जाणामि सागरिआ उण दुक्करं जीविस्सदि त्ति तक्केमि' । ('भो वयस्य, वासवदत्ता किं करिष्यतीति न जानामि सागरिका पुनर्दुष्करं जीविष्यतीति तर्कयामि ।) इत्यत्र प्रकृष्टप्रेमस्खलनेन सागरिकानुरागजन्येन वासवदत्ताया मरणाभ्यूहनमनुमानमिति ।

ऐसा प्रतीत होता है कि नाटचशास्त्र (१९.८४) में जो क्रम का लक्षण दिया गया था—'भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रमः' उसकी दो प्रकार की व्याखयायें धनञ्जय से पूर्व प्रचलित रही होंगी, उन्हीं का यहाँ उल्लेख किया गया है । आगे चलकर भी क्रम की दो व्याख्या प्रचलित रहीं, नाटचदर्पण (१.८२) में 'क्रमो भावस्य निर्णयः' यह लक्षण देकर दो प्रकार की व्याख्या की गई है । साहित्यदर्पणकार ने यहाँ दशरूपक का अनुसरण नहीं किया अपितु नाटचशास्त्र के शब्दों में ही क्रम का लक्षण प्रस्तुत किया है किन्तु उसकी व्याख्या नहीं की ।

६. संग्रह—

(प्राप्त्याशा से सम्बद्ध) साम और दान से युक्त कथन ही संग्रह कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (३.४—५) में राजा विदूषक से कहता है—'धन्य हो, मित्र धन्य हो । यह तुम्हें पारितोषिक रूप में कटक देता हूँ ।'

इत्यादि के द्वारा सागरिका से मिलन कराने वाले विदूषक का साम (प्रशंसात्मक वचन) तथा दान (कटक प्रदान) के द्वारा संग्रह किया गया है । अतः (संग्रह नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है ।'

७. अनुमान—

किसी चिह्न से किसी बात का निश्चय करना (अभ्यूह) अनुमान कहलाता है ।

अथाधिबलम्—

(७६) अधिबलमभिसन्धिः—

यथा रत्नावल्याम्—'काञ्चनमाला—भट्टिणि, इअं सा चित्तसालिआ। ता वसन्तअस्स सण्णं करोमि (भर्त्रि, इयं सा चित्रशालिका तद्वसन्तकस्य संज्ञां करोमि।') (छोटिकां ददाति), इत्यादिना वासवदत्ताकाञ्चनमालाभ्यां सागरिकासुसङ्गतावेषाभ्यां राजविदूषकयोरभिसन्धीयमानत्वादधिबलमिति।

जैसे रत्नावली (३.१५) में राजा-मूर्ख, धिक्कार है, तेरे द्वारा किया गया ही हम पर यह अनर्थ आ पड़ा है। क्योंकि—'प्रेम का अत्यधिक आदर करने के कारण प्रेम दिन प्रतिदिन बढ़ रहा था। पहले न किये गये इस अपराध को मेरे द्वारा किया गया देखकर असहनशील प्रिया (वासवदत्ता) आज आवश्य ही प्राणों को त्याग देगी, क्योंकि उत्कट प्रेम का स्खलन असह्य होता है,

विदूषक– हे मित्र वासवदत्ता क्या करेगी? यह तो मैं नहीं जानता। किन्तु सागरिका का जीवन दूभर हो जायेगा, ऐसा मैं सोचता हूँ।'

यहाँ पर सागरिका के प्रति (राजा के) अनुराग से उत्पन्न होने वाले प्रकृष्ट प्रेम के स्खलन से वासवदत्ता के मरण का अनुमान किया जाता है अतः अनुमान (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—सागरिका से प्रेम करने के कारण राजा का वासवदत्ता के प्रति जो प्रकृष्ट प्रेम था वह स्खलित हो गया है जो वासवदत्ता के लिये असह्य है इसलिये इस प्रेम-स्खलन (लिङ्ग) द्वारा वासवदत्ता के मरण का अनुमान किया जाता है।

८. अधिबल—

वञ्चना (=अभिसन्धि) अधिबल कहलाता है।

जैसे रत्नावली (३.९-१०) में काञ्चनमाला (वासवदत्ता से कहती है)— 'स्वामिनी' वह यह चित्रशाला है अतः वसन्तक (विदूषक) को संकेत करती हूँ।'

इत्यादि के द्वारा क्रमशः सागरिका तथा सुसङ्गता का वेष धारण करने वाली वासवदत्ता और काञ्चनमाला के द्वारा राजा और विदूषक की वञ्चना की गई है, अतः यहाँ अधिबल (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है)

टिप्पणी—अधिबल के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्यों का मतभेद है। नाट्यशास्त्र (१९.८७) के अनुसार कपट से किसी को वञ्चित करना ही अधिबल है। नाट्यदर्पण (१.८६) में "अधिबलं बलाधिक्यम्" यह लक्षण किया गया है किन्तु वहाँ अन्य भी कोई मत प्रस्तुत किया गया है। एक मत के अनुसार वञ्चना का विफल होना ही अधिबल है जैसे रत्ना० ३ १४ में। दूसरे मत के अनुसार सोपालम्भ वाक्य को अधिबल कहते हैं जैसे वेणीसंहार ५.२९ में। प्रतापरुद्रीय के अनुसार इष्ट जन को वञ्चित करना ही अधिबल हैं (३.१५)। साहित्यदर्पण (६.९९) में नाट्यशास्त्र का लक्षण ही अपनाया गया है।

अथ तोटकम्—

(७)—संरब्धं तोटकं वचः ।।

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—(उपसृत्य) अज्जउत्त, जुत्तमिणं सरिसमिणम् ।' (पुनः सरोषम्) अज्जउत्त उट्ठेहि किं अज्जवि आहिजाईए सेवादुक्खमणुभवीअदि, कंचणमाले, एदेण ज्जेव पासेण बंधिअ आणेहि एणं दुट्ठब्बम्हणं । एदं पि दुट्ठकण्णअं अग्गदो करेहि ।" (आर्यपुत्र, युक्तमिदं सदृशमिदम् । आर्यपुत्र, उत्तिष्ठ किमद्याप्याभिजात्यात् सेवादुःखमनुभूयते, काञ्चनमाले, एतेनैव पाशेन बध्वानयैनं दुष्टब्राह्मणम् एतामपि दुष्टकन्यकामग्रतः कुरु ।) इत्यनेन वासवदत्तासंरब्धवचसा सागरिका समागमान्तरायभूतेनाऽनियतप्राप्तिकारणं तोटकमुक्तम् ।

यथा च वेणीसंहारे—

'प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशाम्' ।।२७।।

इत्यादिना

'धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः ।।२८।।

इत्यन्तेनान्योन्यं कर्णाश्वत्थाम्नोः संरब्धवचसा सेनाभेदकारिणा पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वितं तोटकमिति ।

---

९. तोटक—

आवेगपूर्ण वचन ही तोटक कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (३·१८·१९) में 'वासवदत्ता—(निकट जाकर) आर्यपुत्र, यह उचित है, यह योग्य है ? (फिर कोपपूर्वक) आर्यपुत्र, उठो उठो, अब भी कुलीनता की दृष्टि से सेवा के दुःख का क्यों अनुभव करते हो ? (क्रोधपूर्वक) काञ्चनमाला, इसी पाश में बाँधकर इस दुष्ट ब्राह्मण को ले चलो । इस दुष्ट कन्या को भी आगे कर लो ।'

इत्यादि के द्वारा सागरिका-समागम में विघ्न करने वाले वासवदत्ता के आवेगपूर्ण वचन से अनियत प्राप्ति का कारण दिखलाया गया है जो तोटक (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसंहार (अङ्क ३) में अश्वत्थामा दुर्योधन से कहता है—'आज रात्रि में ऐसे सोओगे कि (प्रातः) मङ्गलस्तुतियों से प्रयत्नपूर्वक जागोगे' (३·३४) इससे आरम्भ करके 'जब तक मैंने आयुध धारण किये हैं तब तक अन्य आयुधों से क्या प्रयोजन ?' यहाँ तक कर्ण और अश्वत्थामा के सेना में भेद डालने वाले परस्पर आवेगपूर्ण वचन से पाण्डवों की विजय-प्राप्ति की आशा से युक्त तोटक है ।

टिप्पणी—संरब्ध का अर्थ है—संरम्भयुक्त । संरम्भ = आवेग । नाट्यशास्त्र (१९·८७) में 'संरम्भवचनं तोटकं' यह लक्षण किया गया है जिसका अभिनवभारती के अनुसार भाव यह है कि आवेगपूर्ण वचन ही तोटक है । यह आवेग हर्ष से, क्रोध से

ग्रन्थान्तरे तु--

तोटकस्यान्यथाभावं ब्रुवतेऽधिबलं बुधाः ।

यथा रत्नावल्याम्—"राजा—देवि एवमपि प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः किं विज्ञापयामि—

आताम्रतामपनयामि विलक्ष एव
लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना ।
कोपोपरागजनितां तु मुखेन्दुबिम्बे
हर्तुं क्षमो यदि परं करुणा मयि स्यात् ॥२६॥

संरब्धवचनं यत्तु तोटकं तदुदाहृतम् ॥४१॥

यथा रत्नावल्याम्—राजा—प्रिये वासवदत्ते, प्रसीद प्रसीद । वासवदत्ता—(अश्रूणि धारयन्ती) अज्जउत्त, मा एवं भण अण्णसङ्कन्ताइं खु एदाइं अक्खराइं त्ति ।' (आर्यपुत्र, मैवं भण । अन्यसंक्रान्तानि खल्वेतान्यक्षराणीति ।')

यथा च वेणीसंहारे—राजा, अये-अये सुन्दरक, कच्चित्कुशलमङ्गराजस्य ? पुरुषः—कुसलं सरीरमेत्तकेण ('कुशलं शरीरमात्रकेण ।') राजा—किं तस्य किरीटिना हता धौरेयाः, क्षतः सारथिः, भग्नो वा रथः । पुरुषः—देव, ण भग्गो रहो भग्गोसे मणोरहो ('देव न भग्नो रथः । भग्नोऽस्य मनोरथः') राजा—(ससंभ्रमम्) 'कथम्' इत्येवमादिना संरब्धवचसा तोटकमिति ।

या अन्य किसी निमित्त से हुआ करता है । क्योंकि हृदय को तोड़ने वाला वचन होता है, अतः इसे तोटक कहा जाता है (भिनत्ति यतो हृदयं ततस् तोटकम्-अभि० भा०) । नाट्यदर्पण (१.८६) के 'तोटकं गर्भितं वचः' का भी यही तात्पर्य है । प्रता० (१.१५) के अनुसार 'रोषसंरब्धवचनं तोटकम्' यह लक्षण है जिसमें आवेग के निमित्त रोष मात्र का उल्लेख किया गया है । साहित्यदर्पण (६.९८) में दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है, (तोटकं पुनः संरब्धवाक्) । कुछ व्याख्याकारों ने संरब्ध का अर्थ क्रोधयुक्त किया है, किन्तु उपर्युक्त अर्थ ही प्रामाणिक प्रतीत होता है । इन सभी लक्षणों में प्रायः समानता है । आगे 'ग्रन्थान्तरे तु' इत्यादि के द्वारा जो तोटक का लक्षण उद्धृत किया जा रहा है उसमें भी कोई अन्तर नहीं है । हाँ उदाहरण में अन्तर है । साथ ही 'अधिबल' के लक्षण में विशेष मतभेद है ।

अन्य ग्रन्थ में तो—

विद्वान् लोग तोटक के विपरीत भाव को अधिबल कहते हैं ।

जैसे रत्नावली (३.१४) में 'राजा–देवी, इस प्रकार जिसका अपराध प्रत्यक्ष देख लिया गया है ऐसा मैं क्या कहूँ ? 'देवी, इस प्रकार लज्जित हुआ मैं तुम्हारे चरणों की महावर से उत्पन्न लाली को अपने सिर से पोंछता हूँ । किन्तु तुम्हारे मुख रूपी चन्द्रबिम्ब पर क्रोध (रूपी राहु) के ग्रहण से उत्पन्न लाली को तो मैं तभी दूर कर सकता हूँ यदि मुझ पर तुम्हारी कृपा हो ।

जो संरब्ध वचन है वह तो तोटक कहा गया है ॥४१॥

जैसे रत्नावली (३.१३–१४) में 'राजा—प्रिय वासवदत्ता, प्रसन्न हो जाओ प्रसन्न हो जाओ । वासवदत्ता—(आँसू भरती हुई) आर्यपुत्र, ऐसा मत कहो, ये अक्षर-(अब) दूसरी के लिये हो गये हैं ।'

अथोद्वेगः—

(७८) उद्वेगोऽरिकृता भीतिः—

यथा रत्नावल्याम् सागरिका—(आत्मगतम्) कहं अकिदपुण्णेहि अत्तणो इच्छाए मरिउं पि ण पारीअदि। (कथमकृतपुण्यैरात्मन इच्छया मर्तुमपि न पार्यते।') इत्यनेन वासवदत्तातः सागरिकाया भयमित्युद्वेगः। यो हि यस्यापकारी स तस्यारिः।

और, जैसे वेणीसंहार (४.९–१०) में 'राजा—अरे सुन्दरक, अङ्गराज (कर्ण) कुशल से हैं ? पुरुष—केवल शरीर मात्र से कुशल हैं। राजा क्या अर्जुन ने उसके घोड़े मार दिये, सारथि घायल कर दिया या रथ तोड़ दिया ? पुरुष—देव न, केवल रथ ही तोड़ दिया, अपितु मनोरथ भी। राजा—(घबराहट के साथ) कैसे ?

इत्यादि आवेगपूर्ण वचन के द्वारा तोटक होता है।

टिप्पणी—हॉल तथा हॉस का विचार है कि 'तोटकस्य···तदुहाहृतम्' ॥४१॥ यह श्लोक अवलोक टीका में उद्धृत किया गया है। यह मूल ग्रन्थ का अंश नहीं। (२) सुदर्शनाचार्य ने प्रभानामक संस्कृत टीका में सूत्र ७७ में स्थित संरब्ध' शब्द का अर्थ क्रोधयुक्त' किया है और प्रस्तुत श्लोक में स्थित 'संरब्धवचन' का अर्थ 'उद्विग्न वचन' किया है। किन्तु यहाँ संरब्ध के विपरीत (अन्यथाभाव) का अर्थ विनय वचन किया है और मतान्तर के अनुसार विनययुक्त वचन को ही अधिबल बताया है। तथ्य यह ततीत होता है कि संरब्धवचन सभी के अनुसार तोटक या त्रोटक है। संरब्ध वचन का बहुसम्मत अर्थ है-आवेगपूर्ण वचन। आवेग का निमित्त क्रोध भी है। इसीलिये प्रता० आदि में केवल कोध से उत्पन्न संरब्धवचन को तोटक मान लिया गया है। फिर भी तोटक के स्वरूप के विषय में मतभेद नहीं है। हाँ, मतभेद है—अधिबल के स्वरूप के विषय में। कुछ विद्वानों का मत है कि आवेगपूर्ण वचन जो तोटक है उसका उल्टा ही अधिबल है, अर्थात् ऐसा वचन जिसमें आवेग=उत्तेजना या क्षोभ न हो। जैसा कि ऊपर कहा गया है, आवेग नामक भाव क्रोध, हर्ष, शोक आदि से उत्पन्न होता है। यहाँ तोटक के दोनों उदाहरणों में पीड़ा या शोक से उत्पन्न आवेग से युक्त वचन है और अधिबल के उदाहरण में आवेगरहित (प्रकृतिस्थ अवस्था का) कथन है। धनञ्जय के मत में वञ्चना ही अधिबल है। (सूत्र ७६)

१०. उद्वेग—

शत्रु से उत्पन्न भय उद्वेग कहलाता है।

जैसे रत्नावली (२.१८-१९) में 'सागरिका (मन ही मन)—क्या पुण्य न करने वाले अपनी इच्छा से मर भी नहीं सकते'। इत्यादि के द्वारा वासवदत्ता से उत्पन्न सागरिका का भय दिखलाया गया है अतः उद्वेग (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है। (यदि शङ्का हो कि वासवदत्ता तो सागरिका की शत्रु नहीं हैं फिर भय शत्रु से उत्पन्न कहाँ रहा ? तो उत्तर है) जो जिसका अपकारी होता है वह उसका शत्रु ही है (वासवदत्ता भी सागरिका के वत्सराज से मिलने में बाधक है अतः शत्रु ही है)।

यथा च वेणीसंहारे—'सूतः–(श्रुत्वा सभयम्) कथामासन्न एवासौ कौरवराजपुत्रमहावनोत्पातमारुतो मारुतिरनुपलब्धसंज्ञश्च महाराजः भवतु दूरमपहरामि स्यन्दनम्। कदाचिदयमनार्यो दुःशासन इवास्मिन्नप्यनार्यमाचरिष्यति।' इत्यरिकृता भीतिरुद्वेगः।

अथ: संभ्रमः—

(७९)—शङ्कात्रासौ च संभ्रमः।

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषकः (पश्यन्) का उण एसा। (ससंभ्रमम्) कधं देवी वासवदत्ता अत्ताणं वावादेदि। ('का पुनरेषा ! कथं देवी वासवदत्तात्मानं व्यापादयति') राजा—(ससंभ्रममुपसर्पन्) क्वासौ क्वासौ? 'इत्यनेन वासवदत्ताबुद्धिगृहीताया सागरिकाया मरणशङ्कया संभ्रम इति।

यथा च वेणीसंहारे—('नेपथ्ये कलकलः') अश्वत्थामा–(ससंभ्रमम्) मातुल, मातुल, कष्टम्। एष भ्रातुः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुः किरीटी समं शरवर्षैर्दुर्योधनराधेयावभि-

---

और, जैसे वेणीसंहार (४.१-२) में 'सूत-(सुनकर भयपूर्वक) क्या कौरव राजपुत्र रूपी महावन के लिये उत्पात-पवन वह पवनपुत्र (भीम) निकट ही है और अभी महाराज को चेतना नहीं प्राप्त हुई है। अच्छा, रथ को दूर ले जाता हूँ। कहीं यह दुष्ट दुःशासन के समान इनके साथ भी दुष्टता न करे।'

इस प्रकार शत्रु के द्वारा उत्पन्न भय है अतः उद्वेग (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—भाव यह है कि चोर, नृप शत्रु, नायिका इत्यादि से उत्पन्न होने वाला जो भय है, जिसके कारण नियताप्ति में विघ्न उपस्थित होता है, उसका वर्णन ही उद्वेग है। दशरूपक में 'अरिकृता' में अरि शब्द का अर्थ है—अपकारी = इष्ट कार्य में विघ्न करने वाला।

११. सम्भ्रम—

शङ्का और त्रास को सम्भ्रम कहा जाता है।

जैसे रत्नावली (३.१५-१६) में 'विदूषक—(देखकर) यह कौन है? क्या देवी वासवदत्ता आत्महत्या कर रही है? राजा—(घबराहट के साथ निकट जाकर) वह कहाँ है?'

इत्यादि के द्वारा वासवदत्ता समझकर सागरिका के मरने की शङ्का होने से संभ्रम (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग) है।

और, जैसे वेणीसंहार (४.०७–४८) में (नेपथ्य में कलकल शब्द होता है) अश्वत्थामा—(घबराहट के साथ) मातुल, कष्ट की बात है! अपने भाई

द्रवति। सर्वथा पीतं शोणितं दुःशासनस्य भीमेन । इति शङ्का । तथा ('प्रविश्य संभ्रान्तः सप्रहारः) सूत—त्रायतां त्रायतां कुमारः ।' इति त्रासः । इत्येताभ्यां त्रास-शङ्काभ्याँ दुःशासनद्रोणवधसूचकाभ्यां पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वितः संभ्रम इति ।

(भीमसेन) की प्रतिज्ञा के भङ्ग के भय से यह अर्जुन बाणों की वर्षा करते हुए एक साथ ही दुर्योधन और कर्ण की ओर बढ़ रहा है । भीम ने दुःशासन का रक्त बिल्कुल पी ही लिया ।'

यहाँ पर शङ्का दिखलाई गई है । और,

(घबराहट के साथ प्रहारयुक्त प्रवेश करके) सूत—कुमार की रक्षा करो, रक्षा करो ।' यहाँ त्रास दिखलाया गया है ।

यहाँ दुःशासन और द्रोण के वध की सूचना देने वाले इस त्रास और शङ्का के द्वारा पाण्डवों की विजय की प्राप्ति की आशा से युक्त यह संभ्रम है ।

टिप्पणी—(i) वासवदत्ताबुद्धिगृहीतायाः=वासवदत्ता की बुद्धि से गृहीत की गई का, 'वासवदत्ता है' इस प्रकार की बुद्धि (ज्ञान) से गृहीत की गई का, सागरिका को वासवदत्ता समझकर (ii) संभ्रम=वह शङ्का या त्रास जिसका सम्बन्ध प्राप्त्याशा से होता है, संभ्रम (नामक गर्भसन्धि का अङ्ग है है ।) यहाँ रत्नावली के उदाहरण में वासवदत्ता की आत्महत्या की जो शङ्का है वह सागरिका समागम की प्राप्त्याशा के अनुकूल है । इसी प्रकार वेणीसंहार के उदाहरण में जो शङ्का तथा त्रास हैं उनसे होने वाला संभ्रम पाण्डवों की विजय-प्राप्ति की आशा के अनुकूल है । (iii) नाट्यशास्त्र में संभ्रम के स्थान पर 'विद्रव' नामक गर्भसन्धि के अङ्ग का निरूपण किया गया है, जिसका लक्षण है—शङ्काभयत्रासकृतो विद्रवः' (ना० शा० १९·८८) । अभिनवगुप्त के अनुसार इसकी दो व्याख्यायें हैं—(१) 'भयत्रासकृतः' इस पद में षष्ठी विभक्ति है 'शङ्का' पृथक् प्रथमान्त पद हैं । इस प्रकार भय और त्रास उत्पन्न करने वाली वस्तु की शङ्का ही विद्रव है । शङ्का का तात्पर्य है--विघ्न करने की सम्भावना (शङ्का= अपायकारकत्वसम्भावना ना० द० (१·८४) । (२) 'शङ्काभयत्रासकृतः' यह एक समस्त पद है । शङ्का भय और त्रास से किया गया (भाव) विद्रव है । वह भाव क्या है ? सम्भ्रम । जैसा कि साहित्यदर्पण में स्पष्ट किया गया है (६·१००), इस प्रकार शङ्का भय और त्रास से होने वाली घबराहट का वर्णन विद्रव है । दशरूपककार ने शङ्का और त्रास को ही सम्भ्रम कहा है । किन्तु धनिक की टीका के अनुसार शङ्का और त्रास से उत्पन्न घबराहट का वर्णन, जो प्राप्त्याशा से अन्वित है वही सम्भ्रम है । (iv) यह भी ध्यान देन योग्य है कि प्राप्त्याशा से अन्वित भय (भीति) का वर्णन उद्वेग है, किन्तु भय, त्रास और शङ्का से उत्पन्न घबराहट का वर्णन सम्भ्रम या विद्रव है ।

अथाक्षेपः—

(८०) गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः ॥४२॥

यथा रत्नावल्याम्—'राजा–वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्योपायं पश्यामि । पुनःक्रमान्तरे 'सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निष्प्रत्याशीभूताः स्मः । पुनः 'तत्किमिह स्थितेन देवीमेव गत्वा प्रसादयामि ।' इत्यनेन देवीप्रसादायत्ता सागरिकासमागमसिद्धिरिति गर्भबीजोद्भेदादाक्षेपः ।

यथा च वेणीसंहारे—'सुन्दरकः—अहवा किमेत्थ देव्वं उआलहामि तस्स क्खु एदं णिब्भच्छिदविदुरवअणबीअस्स परिभूदपिदामहहिदोवदेसङ्कुरस्स सउणिप्पोच्छाहणारूढमूलस्स कूडविससाहिणो पञ्चालीकेसग्गहणकुसुमस्स फलं परिणमेदि । ('अथवा किमत्र दैवमुपालभे तस्य खल्वेतन्निर्भर्त्सितविदुरवचनबीजस्य परिभूतपितामहहितोपदेशाङ्कुरस्य शकुनिप्रोत्साहनारूढमूलस्य—कूटविषशाखिनः पाञ्चालीकेशग्रहणकुसुमस्य फलं परिणमति' ।) इत्येन न बीजमेव फलोन्मुखतयाक्षिप्यत इत्याक्षेपः ।

---

२२. आक्षेप

गर्भ के बीज का उद्भेद (प्रकटन) ही आक्षेप कहा गया है ।

जैसे रत्नावली (३· १५--१६) में 'राजा—मित्र, देवी को प्रसन्न करने के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा उपाय नहीं दिखलाई देता ।' फिर दूसरे अवसर पर सर्वथा देवी को प्रसन्न करने के विषय में हम निराश हो चुके हैं । फिर भी तो यहाँ ठहरने से क्या लाभ ? जाकर देवी को ही प्रसन्न करें । इत्यादि के द्वारा देवी की प्रसन्नता के अधीन ही सागरिका के समागम की सिद्धि है, यह प्रकट किया गया है अतः गर्भ के बीज को प्रकट करने के कारण यह आक्षेप (नामक गर्भ सन्धि का अङ्ग) है ।

और जैसे वेणीसंहार (४६--१०) में 'सुन्दरक—अथवा इस विषय में भाग्य को क्या दोष दूं ? क्योंकि यह तो उस कपट रूपी (कूट) विष वृक्ष का फल प्राप्त हो रहा है, विदुर के वचन का तिरस्कार ही जिसका बीज है, अवहेलना किया गया पितामह का हितकारी उपदेश ही जिसका अङ्कुर है, शकुनि के प्रोत्साहन से जिसकी जड़ दृढ़ हो गई है, द्रौपदी का केश-कर्षण ही जिसका पुष्प है ।'

इत्यादि के द्वारा बीज को ही फलोन्मुख रूप में दिखलाया गया है । अतः आक्षेप (नामक गर्भसन्धि) का अङ्ग है ।

टिप्पणी—(१) नाटचशात्र के अनुसार इसका नाम आक्षिप्ति है, जिसका लक्षण है—गर्भस्योद्भेदनं यत् साऽऽक्षिप्तिः (१९.८६) । दशरूपक के उपर्युक्त लक्षण में इसकी ही छाया है । प्रता०, साहित्यदर्पण (६.९९) के अनुसार रहस्यपूर्ण अर्थ को प्रकट करना ही आक्षेप कहलाता है । नाटचदर्पण (१.५४) के अनुसार "प्राप्त्याशा की अवस्था में बीज का प्रकाशन ही आक्षेप है" । इन सभी लक्षणों के आधार पर आक्षेप का स्वरूप है—गर्भसन्धि में स्थित प्राप्त्याशा की अवस्था से अन्वित गुप्त बीज का प्रकाशन ही आक्षेप है । इसमें बीज की फलोन्मुखता का वर्णन होता है ।

एतानि द्वादश गर्भाङ्गानि प्राप्त्याशाप्रदर्शकत्वेनोपनिबन्धनीयानि । एषां च मध्येऽभूताहरणमार्गतोटकाधिबलाक्षेपाणां प्राधान्यम् इतरेषां यथासंभवं प्रयोग इति साङ्गो गर्भसन्धिरुक्तः ।

अथावमर्शः—

(८१) क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः* ।।४३।।

इन गर्भसन्धि के १२ अङ्गों को प्राप्त्याशा के प्रदर्शक के रूप में दिखलाना चाहिये । इन अङ्गों में अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल और आक्षेप—ये मुख्य हैं (इनका रखना आवश्यक है) अन्य अङ्गों का यथासम्भव प्रयोग किया जाता है । इस प्रकार अङ्गों सहित गर्भसन्धि बतलाई गई है ।

टिप्पणी—(१) गर्भसन्धि में बीज अन्तर्निविष्ट सा रहता है वह कभी प्रकट हो जाता है कभी छिप जाता है । अतः उसका बार-बार अन्वेषण किया जाया करती है । इस प्रकार का बीज प्राप्त्याशा का प्रदर्शक होता है । प्राप्त्याशा से अन्वित कभी दृष्ट और कभी नष्ट होने वाले इस बीज के वर्णन में अनेक अवस्थाएँ होती हैं जो नाटच के सन्दर्भ में गर्भसन्धि के अङ्ग कहलाते हैं । जैसा कि धनिक ने बतलाया है: इन अङ्गों में अभूताहरण इत्यादि अङ्ग अनिवार्य हैं किन्तु शेष अङ्गों की योजना अनिवार्य नहीं है । (२) ना० शा० (१९.६१–६२) में गर्भसन्धि के अङ्ग १३ माने गये हैं, इसी प्रकार ना० द० (१·७६) तथा सा० द० (६.९४–९५) में भी । साथ ही इन अङ्गों के नाम, क्रम तथा स्वरूप में ही भेद है । किन्तु प्रता० (३.१४–१५) में दशरूपक के समान ही १२ अङ्ग माने गये हैं । इन अङ्गों का नाम-भेद तथा संख्या भेद निम्न विवरण से स्पष्ट है:—

नाटचशास्त्र	दशरूपक	नाटचदर्पण	साहित्यदर्पण	प्रतापरुद्रीय
अभूताहरण मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम संग्रह, अनुमान प्रार्थना, आक्षप्ति ताटक, अधिबल उद्वेग, विद्रव	अभूताहरण मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम संग्रह, अनुमान तोटक, अधिबल उद्वेग, संभ्रम आक्षेप	संग्रह, रूप अनुमान, प्रार्थना उदाहृति, क्रम उद्वेग, विलप्व आक्षेप, अधिबल मार्ग, असत्या- हरण, तोटक	अभूताहरण मार्ग, रूप उदाहरण, क्रम संग्रह, अनुमान प्रार्थना, क्षिप्ति तोटक, अधिबल उद्वेग, विद्रव	दशरूपक के समान

विमर्श (अवमर्श) सन्धि और उसके अङ्ग

अवमर्श सन्धि—जहाँ क्रोध से, व्यसन से अथवा प्रलोभन से (फलप्राप्ति के विषय में) विमर्श किया जाता है, तथा जिसमें गर्भसन्धि द्वारा निर्भिन्न

* 'सोऽवमर्शोऽङ्गसङ्ग्रहः' इति पाठान्तरम् ।

अवमर्शनमवमर्शः पर्यालोचनं तच्च क्रोधेन वा व्यसनाद्वा विलोभनेन वा भवितव्यमनेनार्थेन इत्यवधारितैकान्तफलप्राप्त्यवसायात्मा गर्भसन्ध्युद्भिन्नबीजार्थसम्बन्धो विमर्शोऽवमर्शः, यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्केऽग्निविद्रवपर्यन्तो वासवदत्ताप्रसक्त्या निरपायरत्नावलीप्राप्त्यवसायात्मा विमर्शो दर्शितः। यथा च वेणीसंहारे दुर्योधनरुधिराक्तभीमसेनागमपर्यन्तः—

तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते।
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्येऽपि याते दिवम्।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥३०॥

इत्यत्र 'स्वल्पावशेषे जये, इत्यादिभिर्विजयप्रत्यर्थिसमस्तभीष्मादिमहारथिवधादवधारितैकान्तविजयावमर्शनादवमर्शनं दर्शितमित्यवमर्शसन्धिः।

बीजार्थ का सम्बन्ध दिखलाया जाता है, वह अवमर्श (या विमर्श) सन्धि कहलाती है ॥४३॥

'अवमर्श' शब्द का अर्थ है—ऊहा-पोह करना, पर्यालोचन। वह (पर्यालोचन क्रोध से अथवा व्यसन (आपत्ति) या विलोभन आदि (कारणों) से होता है। जहाँ 'यह फल होना चाहिये, इस प्रकार अवश्यंभावी फल-प्राप्ति का निश्चय कर लिया जाता है और जिसमें गर्भसन्धि से प्रकाशित (उद्भिन्न) बीज रूपी अर्थ का सम्बन्ध दिखलाया जाता है ?, वह पर्यालोचन (विमर्श) ही अवमर्श सन्धि है। जैसे रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अङ्क में अग्नि के उपद्रव पर्यन्त वासवदत्ता की प्रसन्नता से विघ्न रहित रत्नावली की प्राप्ति का निश्चय रूप विमर्श दिखलाया गया है।

और, जैसे वेणीसंहार में दुर्योधन के रक्त से सने (अक्त) भीमसेन के आगमन पर्यन्त विमर्श सन्धि है। जैसे कि—(युधिष्ठिर का विमर्श ६·१) भीष्म-रूपी महासागर को पार कर लेने पर, द्रोण-रूपी अग्नि के बुझ जाने पर, कर्ण रूपी विषैले सर्प का दमन कर दिये जाने पर और शल्य के परलोक चले जाने पर विजय थोड़ी ही शेष रह गई है; किन्तु साहस-प्रिय भीम ने आवेग के कारण अपनी प्रतिज्ञा द्वारा (वाचा) हम सबका जीवन संशय में डाल दिया है।

यहाँ पर 'विजय थोड़ी ही शेष है' (स्वल्पावशेषे जये) इत्यादि कथन के द्वारा विजय के बाधक सभी भीष्म आदि महारथियों के मारे जाने पर एकान्ततः, निश्चित विजय का पर्यालोचन किया जाने के कारण अवमर्शन दिखलाया गया है, अतः अवमर्श सन्धि है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१९.४२), प्रता० (३.१६), ना० द० (१.१९), सा० द० (६.७९) में भी प्रायः इसी प्रकार का लक्षण दिया गया है। किन्तु उन सभी ने इसे 'विमर्श' सन्धि नाम दिया है। संक्षेप में इसका स्वरूप यह है—गर्भसन्धि में फल-प्राप्ति की संभावना होती है, बीज का उद्भेद हो जाता है किन्तु फिर क्रोध, व्यसन, विलोभन या शाप आदि के कारण विघ्न उपस्थित हो जाने से नायक फल-प्राप्ति के विषय

तस्याङ्गसंग्रहमाह—

(८२) तत्रापवादसंफेटौ विद्रवद्रवशक्तयः
द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम् ॥४४॥
प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

(८३) दोषप्रख्यापवादः स्यात्—

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—सा खु तवस्सिणी भट्टिणीए उज्जइणिं णीअदि त्ति पवादं करिअ उवत्थिते अद्धरत्ते ण जाणीअदि कहिंपि णीदेति । ('सा खलु तपस्विनी भट्टिन्योज्जयिनीं नीयत इति प्रवादं कृत्वोपस्थितेऽर्धरात्रे न ज्ञायते कुत्रापि नीतेति ।) 'विदूषकः—(सोद्वेगम्) अदिणिग्घिणं क्खु किदं देवीए ।' (अतिनिर्घृणं खलु कृतं देव्या ।') पुनः—'भो वअस्स मा खु अण्णधा संभावेहि सा खु देवीए उज्जइणिं पेसिदा अदो अप्पिअं त्ति कहिदम् ('भो वयस्य, मा खल्वन्यथा संभावय सा खलु देव्योज्जयिन्यां प्रेषिता अतोऽप्रियमिति कथितम्') राजा—'अहो निरनुरोधा मयि देवी' इत्यनेन वासवदत्तादोषप्रख्यापनादपवादः ।

में विमर्श (=सन्देह) करने लगता है । तत्पश्चात् विघ्न हट जाने पर फल-प्राप्ति का निश्चय (नियताप्ति) हुआ करता है । इस प्रकार जहाँ नियताप्ति (कार्यावस्था) से समन्वित होकर बीज गर्भसन्धि की अपेक्षा और अधिक प्रकट हो जाता है वह प्रधानवृत्त का भाग अवमर्श सन्धि है । इसमें प्राप्त्यंश की प्रधानता और अप्राप्ति-अंश की न्यूनता होती है किन्तु गर्भसन्धि में अप्राप्ति-अंश की ही प्रधानता होती है ।

उस (अवमर्श सन्धि) के अङ्गों को बतलाते हैं—

उसके १. अपवाद, २. संफेट, ३. विद्रव, ४. द्रव, ५. शक्ति, ६. द्युति, ७. प्रसङ्ग, ८. छलन, ९. व्यवसाय, १०. विरोधन, ११. प्ररोचना, १२. विचलन और १३. आदान–ये तेरह अङ्ग होते हैं ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९६३–६४), ना० द० (१–९०), सा० द० (६·१०१–१०२) अवमर्श सन्धि के विद्रव और विचलन नामक अङ्गों को नहीं माना गया । खेद और विरोध नामक दो अन्य अङ्गों को स्वीकार किया गया है ।

नाम-निर्देश के क्रम से इन अङ्गों का लक्षण बतलाते हैं—

१. अपवाद

(किसी पात्र के) दोषों का कथन अपवाद कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (अंक ४ प्रवेशक) में 'सुसङ्गता—वह बेचारी (सागरिका) देवी (वासवदत्ता) के द्वारा "उज्जयिनी को भेजी जा रही है" यह प्रवाद फैलाकर

यथा च वेणीसंहारे—'युधिष्ठरः—पाञ्चालक, कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरवापसदस्य पदवी ? पाञ्चालकः—न केवलं पदवी स एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्शपातकप्रधानहेतुरुपलब्धः ।' इति दुर्योधनस्य दोषप्रख्यापनादपवाद इति ।

(८४)—संफेटो रोषभाषणम् ।

यथा वेणीसंहारे—'भोः कौरवराज, कृतं बन्धुनाशदर्शनमन्युना, मैवं विषादं कृथाः—'पर्याप्ताः पाण्डवाः समरायाऽहमसहाय' इति ।

पञ्चानां मन्यसेऽस्माकं यं सुयोधं सुयोधन ।
दंशितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सवः ।।३१।।

आधी रात होने पर न जाने कहाँ भेज दिया । विदूषक—(उद्वेगपूर्वक) देवी ने अति निष्ठुर कार्य किया ।' फिर (४.३—४) विदूषक—(राजा के प्रति) हे मित्र, कुछ और न समझो उस (सागरिका) को देवी ने उज्जयिनी भेज दिया है, इसलिये मैंने 'अप्रिय' ऐसा कह दिया है । राजा—अहो । देवी मेरे अनुकूल नहीं (निरनुरोधा) है ।

इत्यादि के द्वारा वासवदत्ता के दोषों का कथन किया गया है अतः यहाँ अपवाद (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसंहार (६.१—४) में 'युधिष्ठिर—पाञ्चालक, क्या उस दुष्टात्मा कौरवाधम का पद-मार्ग मिल गया है ? पाञ्चालक—केवल पदमार्ग नहीं, अपितु देवी (द्रौपदी) के केश-पाश के स्पर्श रूपी पातक का मुख्य हेतु वह दुष्टात्मा ही मिल गया है ।

इत्यादि के द्वारा दुर्योधन के दोषों का प्रख्यापन किया जाने के कारण यहाँ अपवाद (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) दशरूपक का यह लक्षण ना० शा० (१९·८९) के समान ही है । सा० द० (६·१०२) में इसी प्रकार का लक्षण है । नाट्यदर्पण (१·९४) के अनुसार अपने या दूसरे के दोषों को प्रकट करना ही अपवाद कहलाता है । (२) यहाँ रत्नावली के उदाहरण में देवी वासवदत्ता का राजा के प्रतिकूल होना ही दोष है ।

२. संफेट

(बीज से अन्वित) रोषयुक्त कथनोपकथन (भाषण) ही संफेट कहलाता है ।

जैसे वेणीसंहार (६.१०-११) (पञ्चालक युधिष्ठिर को बतलाया है कि तब भीमसेन ने दुर्योधन से कहा) 'हे कौरवराज, बन्धुओं के नाश को देखकर शोक न करो । इस प्रकार का विषाद न करो कि युद्ध के लिये पाण्डव तो पर्याप्त हैं किन्तु मैं असहाय हूँ । क्योंकि—

हे दुर्योधन; हम पाँचों में से जिससे युद्ध करना सुगम समझो' कवच पहने (दंशितस्य) और शस्त्र लिये तुम्हारा उसके साथ ही युद्धरूपी उत्सव हो जाये ।

इत्थं श्रुत्वाऽसूयात्मिकां निक्षिप्य कुमारयोर्दृष्टिमुक्तवान्धार्तराष्ट्रः—
कर्णदुःशासनवधात्तुल्यावेव युवां मम ।
अप्रियोऽपि प्रियो योद्धुं त्वमेव प्रियसाहसः ॥३२॥

'इत्युत्थाय च परस्परक्रोधाधिक्षेपपरुषवाक्कलहप्रस्तावितघोरसङ्ग्रामो-इत्यनेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यरोषसंभाषणाद्विजयबीजान्वयेन संफेट इति ।

अथ विद्रवः—

(८५) विद्रवो वधबन्धादिः—

यथा छलितरामे—

येनावृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तमायासितम्
बाल्ये येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम् ।
युष्माकं हृदयं स एष विशिखैरापूरितांसस्थलो
मूर्च्छाघोरतमः प्रवेशविवशो बद्ध्वा लवो नीयते ॥३३॥

इस प्रकार सुनकर दोनों कुमारों (भीम और अर्जुन) पर ईर्ष्यापूर्ण दृष्टि डालकर धृतराष्ट्र का पुत्र (भीम से) बोला—'कर्ण और दुःशासन का वध करने के कारण तुम दोनों मेरे लिये समान ही हो । अप्रिय होने पर भी साहस-प्रिय होने से तुम (भीम) ही मुझे युद्ध के लिये इष्ट हो । यह कहकर उठकर भीम और दुर्योधन ने परस्पर क्रोध के कारण निन्दा और कठोर वाक्-कलह के द्वारा भयंकर संग्राम आरम्भ कर दिया ।'

इत्यादि में विजय रूपी बीज से अन्वित भीम और दुर्योधन का परस्पर रोष-पूर्वक कथोपकथन है अतः यहाँ संफेट (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९·८९) में 'रोषग्रथितवाक्यं तु संफेटः' यह लक्षण दिया गया है, उसकी छाया दशरूपक के लक्षण में है । उसी प्रकार ना० द० (१·९३), प्रता० (३·१८) तथा सा० द० (६·१०२) के संफेट-लक्षण प्रायः दशरूपक के समान ही हैं । भाव यह है कि बीज से अन्वित दो पात्रों का परस्पर दोषपूर्ण कथोपकथन ही संफेट है ।

३. विद्रव

वध, बन्धन आदि का वर्णन ही विद्रव कहलाता है ।

जैसे छलितराम नामक नाटक में जिस (लव) ने सामवेद का पाठ करते हुओं का मुख बन्द करके तंग किया था । बाल्यकाल में जिसने अक्षसूत्र और वलय को छीनकर और फिर देकर क्रीड़ा की थी, जो तुम्हारा हृदय है, वही यह लव, जिसका कन्धा बाणों से भरा हुआ है, जो मूर्च्छा के गहन अन्धकार में प्रविष्ट हो जाने से असमर्थ हो गया है, अब बाँधकर ले जाया जा रहा है ।'

यथा च रत्नावल्याम्—

हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव शिखरैरर्चिषामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः ।
कुर्वन्क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातै-
रेष प्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः ॥३४॥

इत्यादि । पुनः वासवदत्ता—'अज्जउत्त, ण क्खु अहं अत्तणो कारणादो भणामि एसा मए णिग्घिणहिअआए संजदा साअरिआ विवज्जदि ।' (आर्यपुत्र, न खल्वहमात्मनः कारणाद्भणामि एषा मया निघृणहृदयया संयता सागरिका विपद्यते ।') इत्यनेन सागरिकावधबन्धाग्निभिर्विद्रव इति ।

अथ द्रवः—

(८६)—द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥४५॥

यथोत्तरचरिते—

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तते
सुन्दस्त्रीदमनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते ।
यानि त्रीण्यकुतोमुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने

और, जैसे रत्नावली (४.१४) में (नेपथ्य में) 'ज्वालाओं के समूह से महलों को स्वर्ण के शिखरों जैसी शोभा प्रदान करती हुई, घने उद्यान के वृक्षों के अग्रभाग के झुलसने से (अपने) अत्यन्त तीव्र ताप को प्रकट करती हुई, धूम-पात के द्वारा क्रीडा-पर्वत को सजल जलधरों से श्यामल सा बनाती हुई, दाह से स्त्रियों को व्याकुल करती हुई यहाँ अन्तःपुर में अकस्मात् ही अग्नि उठ चली है ।' इत्यादि । फिर 'वासवदत्ता-'मैं अपने लिये नहीं कहती हूँ । मुझ निर्दय के द्वारा बाँधी गई यह सागरिका मर रही है (विपद्यते) ।

इत्यादि में सागरिका के वध, बन्धन और अग्नि के (वर्णन) द्वारा विश्व (अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १९), ना० द० (प्रथम विवेक) और सा० द० में विद्रव को विमर्श (अवमर्श) सन्धि के अङ्गों में नहीं माना गया । प्रता० (३.१७–१८) में तो दशरूपक के समान ही विद्रव का वर्णन किया गया है । जैसा कि ऊपर कहा गया है, ना० शा० (१९·८८) ना० द० तथा सा० द० में संभ्रम के स्थान पर विद्रव नामक गर्भसन्धि का अङ्ग माना गया है । इस प्रकार सन्धियों के अङ्गों के निरूपण में दशरूपककार की अपनी निजी विशेषता है ।

४. द्रव

गुरुजनों का तिरस्कार द्रव कहलाता है ॥४५॥

जैसे उत्तररामचरित (५·३४) में (राम को लक्ष्य करके लव कह रहा है) उन वृद्ध जनों के चरित विचारणीय नहीं हैं, कैसे भी हों, हाँ यह भी तो है । सुन्द की

यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥३५॥

इत्यनेन लवो रामस्य गुरोस्तिरस्कारं कृतवानिति द्रवः ।

यथा च वेणीसंहारे—'युधिष्ठिरः—भगवन् कृष्णाग्रज सुभद्राभ्रातः;

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मो
रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन ।
तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः
कोऽयं पन्था यदसि विगुणो मन्दभाग्ये मयीत्थम् ॥३६॥

इत्यादिना बलभद्रं गुरुं युधिष्ठिरस्तिरस्कृतवानिति द्रवः ।

स्त्री ताडका का वध कर देने पर अप्रतिहत यश वाले वे लोक में महान् ही हैं। खर के साथ युद्ध में जो पीछे की ओर तीन पद रक्खे थे और वालि (इन्द्रसूनु) के वध के समय जो कौशल दिखलाया था उससे भी लोग परिचित ही हैं।

इत्यादि के द्वारा लव ने गुरुजन राम का तिरस्कार किया है अतः द्रव (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है।

और, जैसे वेणीसंहार (६.२०) में 'युधिष्ठिर—भगवन्, कृष्ण के बड़े भाई सुभद्रा के भाई (बलराम), सम्बन्धियों के प्रेम को ध्यान में नहीं रक्खा, न क्षत्रियों के धर्म को ही; अर्जुन के साथ जो (तुम्हारे) अनुज (कृष्ण) की गाढ मैत्री थी उसको भी न गिना। दोनों शिष्यों (भीम और दुर्योधन) के प्रति आपका स्नेह-सम्बन्ध समान होना तो ठीक है किन्तु आपका यह कौन सा मार्ग है जो मुझ अभागे के प्रतिकूल (विगुण) हो गये हैं।

इत्यादि के द्वारा युधिष्ठिर ने गुरु बलराम का तिरस्कार किया है अतः यहाँ द्रव (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—ना० शा० 'गुरुव्यतिक्रमो यस्तु स द्रवः (१९·८९), ना० द० 'द्रवः पूज्यव्यतिक्रमः' (१.५६), गुरुतिरस्कृतिर्द्रवः (प्रता० ३·१८)। अभिनव गुप्त के अनुसार मार्ग से विचलित होना ही द्रव है। पूज्य व्यक्ति या गुरुजनों का अनादर करना मार्ग से विचलित होना ही है। शोक, आवेग इत्यादि हेतुओं के कारण यह मार्ग-विचलन हो जाया करता है, इस तथ्य का निरूपण साहित्यदर्पण(६·१०३) में किया गया है।

अथ शक्तिः—

(८७) विरोधशमनं शक्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा'—

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्याधिकं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।
प्रत्यासत्तिमुपागता नहि तथा देवी रुदत्या यथा
प्रक्षाल्येव तयैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ॥३७॥

इत्यनेन सागरिकालाभविरोधिवासवदत्ताकोपोपशमनाच्छक्तिः ।

यथा चोत्तरचरिते लवः प्राह—

विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघन-
स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम् ।
झटित्यस्मिन्दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ॥३८॥

---

५ शक्ति—

विरोध का शान्त हो जाना शक्ति कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (४.१) में 'राजा—कपटपूर्ण शपथों से, प्रिय वचन से, अधिक चित्त के अनुकूल आचरण करने से, अत्यन्त लज्जा-प्रदर्शन (वैलक्ष्य) से, चरणों में पड़ने से और सखियों के बार-बार कहने से देवी (वासवदत्ता) उतनी प्रकृतिभाव (शान्तभाव) को प्राप्त नहीं हुई—जितनी कि रोती हुई उसने स्वयं ही मानों अश्रु-जल से धोकर कोप दूर कर लिया ।'

इत्यादि के द्वारा सागरिका की प्राप्ति में बाधक वासवदत्ता के कोप की शान्ति का वर्णन किया गया है अतः शक्ति (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

और, उत्तररामचरित नाटक (६·११) में लव कहता है—(राम के दर्शन करके), विरोध भाव शान्त हो गया, आनन्द से सान्द्र (सघन) रस (हृदय में) फैल रहा है, वह उद्धतता कहीं चली जा रही है, नम्रता मुझे झुका रही है, इनको देखते ही मैं तुरन्त ही पराधीन हो गया हूँ । अथवा तीर्थस्थलों के समान महापुरुषों का कोई विलक्षण (कोऽपि) बहुमूल्य प्रभाव (अतिशय) होता है ।

[यहाँ पर लव के विरोध की शान्ति का वर्णन है अतः शक्ति (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।]

टिप्पणी—ना० शा० (१९.९०) में विरोधी के शमन को शक्ति कहा गया है तथा ना० द० (१.१००) में 'क्रुद्ध को प्रसन्न करना शक्ति का लक्षण है । सा० द० (६·१०४) तथा प्रता० (३.१७) के शक्ति-लक्षण दशरूपक का ही अनुसरण करते हैं ।

अथ द्युतिः—

(८८)—तर्जनोद्वेजने द्युतिः ।

यथा वेणीसंहारे—'एतच्च वचनमुपश्रुत्य रामानुजस्य सकलनिकुञ्जपूरिताशातिरिक्तमुद्भ्रान्तसलिलचरशतसंकुलं त्रासोद्वृत्तनक्रग्राहमालोड्य सरःसलिलं भैरवं च गर्जित्वा कुमारवृकोदरेणाभिहितम्—

जन्मेन्दोरमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां
मां दुःशासनकोष्णशोणितसुराक्षीबं रिपुं भाषसे ।
दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे
मत्त्रासान्नृपशो, विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे ।।३९।।

इत्यादिना 'त्यक्त्वोत्थितः सरभसम्' इत्यनेन दुर्वचनजलावलोडनाभ्यां दुर्योधनतर्जनोद्वेजनकारिभ्यां पाण्डवविजयानुकूलदुर्योधनोत्थापनहेतुभ्यां भीमस्य द्युतिरुक्ता ।

अथ प्रसङ्गः—

(८५) गुरुकीर्तनं प्रसङ्गः—

यथा रत्नावल्यां—'देव, याऽसौ सिंहलेश्वरेण स्वदुहिता रत्नावली नामायुष्मती

---

६ द्युति—

तर्जन और उद्वेजन का वर्णन द्युति कहलाता है ।

जैसे वेणीसंहार (६·७) में (पाञ्चालक युधिष्ठिर से कहता है) और 'बलराम के अनुज (कृष्ण) के इस वचन को सुनकर कुमार भीम ने उस सरोवर के जल का आलोडन किया, जो सब दिशाओं के गह्वरों (=निकुञ्ज) को भर कर भी बच रहा था, जिसमें जलचर और पक्षियों का समुदाय घबरा गया था, नाके और गाह भय से उछल गये थे । फिर भयङ्कर गर्जन करके यह कहा—'तू निर्मल चन्द्रवंश में अपना जन्म बतलाता है, आज भी गदा को धारण करता है, दुःशासन के उष्ण रुधिर रूपी मद्य से मत्त हुए मुझको अपना शत्रु समझता है, दर्प से अन्धा हुआ तू मधु और कैटभ के संहारक विष्णु के प्रति भी उद्धत चेष्टा करता है । किन्तु हे नरपशु, अब मेरे भय से युद्ध को छोड़कर कीचड़ में छिपा है ।' इत्यादि से आरम्भ करके सरोवर के तल को छोड़कर वेगपूर्वक उठा' (६·९) यहाँ तक के वर्णन में भीम का दुर्वचन तथा जलावलोडन (दोनों) दुर्योधन का तर्जन एवं उद्वेजन करने वाले हैं, ये पाण्डवों की विजय में सहायक जो दुर्योधन का सरोवर से उठाना है, उसके भी निमित्त है अतः यहाँ द्युति (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० 'वाक्यम् आधर्षसंयुक्तं द्युतिः, (१९·९२); यहाँ आधर्ष=न्यक्कार, तिरस्कार, नीचा दिखाना । ना० द० (१·९६) में भी 'तिरस्कारो द्युतिः' यही लक्षण किया गया है तथा तर्जन, उद्वेजन और घर्षण आदि का तिरस्कार में ही अन्तर्भाव किया गया है । प्रता० (३.१८) तथा सा० द० (६.१०४) में दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है ।

७ प्रसङ्ग—

गुरुजनों का कीर्तन प्रसङ्ग कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (४·१३–१४) में (वत्सराज के प्रति वसुभूति का यह कथन) ।

वासवदत्तां दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूर्वप्रार्थिता सती प्रतिदत्ता।' इत्यनेन रत्नावल्य लाभानुकूलाभिजनप्रकाशिना प्रसङ्गाद् गुरुकीर्तनने प्रसङ्गः।

तथा मृच्छकटिकायाम्—'चाण्डालकः—एस सागलदत्तस्स सुओ अज्जविण-अदत्तस्स णत्तू चालुदत्तो वावादिदुं वज्झट्ठाणं णीअदि एदेण किल गणिआ वसन्त-सेणा सुवण्णलोभेण वावादिद त्ति। ('एष सागरदत्तस्य सुत आर्यविनयदत्तस्य नप्ता चारुदत्तो व्यापादयितुं वध्यस्थानं नीयते, एतेन किल गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादितेति')।

चारुदत्तः—

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
मदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।
मम निधनदशायां वर्तमानस्त पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥४०॥

इत्यनेन चारुदत्तवधाभ्युदयानुकूलं प्रसङ्गाद् गुरुकीर्तनमिति प्रसङ्गः।

'देव, आदरणीय सिंहलेश्वर ने वासवदत्ता को जली हुई सुनकर जो वह पहले माँगी गई, अपनी पुत्री आयुष्मती रत्नावली महाराज के लिये दी थी।

इत्यादि के द्वारा प्रसङ्गवश रत्नावली की प्राप्ति में सहायक (अनुकूल) आभि-जात्य (कुलीनता) को प्रकट करने वाला (माता पिता आदि) गुरुजन का कीर्तन किया गया है अतः (प्रसङ्ग नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है।

उसी प्रकार मृच्छकटिक (१०·१२) में 'चाण्डालक—यह सागरदत्त का पुत्र आर्य विनयदत्त का नाती (पौत्र) चारुदत्त वध के लिये वध्य-स्थान को ले जाया जा रहा है क्योंकि इसने स्वर्ण के लोभ से वसन्तसेना नाम की गणिका को मार दिया है।

चारुदत्त—सैकड़ों यज्ञों से पवित्र जो मेरा वंश पहले सभाओं में जनाकीर्ण यज्ञशाला की वेदध्वनियों से प्रकाशित हुआ था, वही मेरे मरणदशा में होने पर इन पापी तथा अयोग्य जनों के द्वारा (अपराध-) घोषणा-स्थल में घोषित किया जा रहा है।

इत्यादि के द्वारा प्रसङ्गवश चारुदत्त के वध और अभ्युदय के अनुकूल गुरुजनों का कीर्तन किया गया है, अतः प्रसङ्ग (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—(१) गुरुकीर्तनम्=माता पिता आदि बड़ों का नाम उच्चारण करना। (२) ना० शा० (१९·९१); ना० द० (१.९२) में 'प्रसङ्गो महतां कीर्तिः'; कीर्तिः=संशब्दन (कथन करना) यह लक्षण है। सा० द० (२·१०४) तथा प्रता० (३·१८) में दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है। (३) कुछ आचार्य अप्रस्तुत अर्थ के कथन को प्रसङ्ग कहते हैं (द्र०, ना० द० १.९२)।

अथ छलनम्—

(६०)—छलनं चावमाननम् ॥४६॥

यथा रत्नावल्याम्—राजा—'अहो निरनुरोधा मयि देवी । इत्यनेन वासवदत्तयेष्टासंपादनाद्वत्सराजस्यावमाननाच्छलनम् । यथा च रामाभ्युदये सीतायाः परित्यागेनाऽवमानाच्छलनमिति ।

अथ व्यवसायः—

(६१) व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—ऐन्द्रजालिकः—

कि धरणीए मिअङ्को आआसे महिहरो जले जलणो ।
मज्झण्हम्मि पओसो दाविज्जउ देहि आणत्तिम् ॥४१॥

अहवा किं बहुधा जम्पिएण—

मज्झ पइण्णा एसा भणामि हिअएण जं महसि दट्ठुम् ।
तं ते दावेमि फुडं गुरुणो मन्तप्पहावेण ॥'
(किं धरण्यां मृगाङ्क आकाशे महीधरो जले ज्वलनः ।
मध्याह्ने प्रदोषो दर्श्यतां देह्याज्ञप्तिम् ॥४२॥

---

८. छलन—

अवहेलना करने को छलन कहा जाता है ॥४६॥

जैसे रत्नावली (अङ्क ४ प्रवेशक) में 'राजा—अहो देवी (वासवदत्ता) मेरे प्रतिकूल है ।' यहाँ पर वासवदत्ता के द्वारा (सागरिका को अन्यत्र भेज दिया गया है) वत्सराज के अभीष्ट की सिद्धि नहीं की गई अतः उसकी अवहेलना की गई है । इस प्रकार छलन (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे रामाभ्युदय नामक नाटक में सीता का परित्याग करके उसका तिरस्कार किया गया है अतः छलन (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) इष्टाऽसंपादनात्=इष्ट का सम्पादन न करने के कारण अथवा अनिष्ट करने के कारण । (२) अवमर्श सन्धि के अङ्गों में 'छलन' के स्थान पर अधिकांश आचार्यों ने 'छादन' माना है । ना० शा० (१९.९४) के अनुसार उसका लक्षण है—'अपमानकृतं वाक्यं कार्यार्थं छादनं भवेत्' । सा० द० (६.१०७) में इसका ही रूपान्तर है । तदनुसार कार्यसिद्धि के लिये अपमान आदि के सहन करने को छादन कहते हैं । ना० द० (१.५८) में 'छादनं मन्युमार्जनम्' (अपमान का परिमार्जन छादन) है—यह लक्षण दिया गया है । वहाँ वृत्ति में अन्य अनेक मतों का उल्लेख किया गया है, जिनमें दशरूपक के 'छलन' का भी उल्लेख है, किन्तु दशरूपक या धनञ्जय का नामनिर्देश नहीं किया गया । प्रता० (पृ० १३९) में दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है ।

९. व्यवसाय

अपनी शक्ति का वर्णन करना व्यवसाय कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (४.८,९) में ऐन्द्रजालिक— क्या पृथ्वी पर चन्द्रमा, आकाश में पर्वत, जल में अग्नि, मध्याह्न में रात्रि का प्रारम्भिक समय (प्रदोष) दिखलाया

अथवा किं बहुना जल्पितेन ।

(मम प्रतिज्ञैषा भणामि हृदयेन यद्वाञ्छसि द्रष्टुम् ।
तत्ते दर्शयामि स्फुटं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण ।।४३।।)

इत्यनेनैन्द्रजालिको मिथ्याग्निसंभ्रमोत्थापनेन वत्सराजस्य हृदयस्थसागरिका-दर्शनानुकूलां स्वशक्तिमाविष्कृतवान् ।

यथा च वेणीसंहारे—

नूनं तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ।
वध्यते केशपाशस्ते स चास्याकर्षणे क्षमः ।।४।।

इत्यनेन युधिष्ठिरः स्वदण्डशक्तिमाविष्करोति ।

अथ विरोधनम्—

(६२)—संरब्धानां विरोधनम् ।

जाये ? आज्ञा दो ! अथवा बहुत कहने से क्या लाभ ? मेरी यह प्रतिज्ञा है, मैं हृदय से कहता हूँ कि जो तुम देखना चाहते हो मैं गुरु के मन्त्र के प्रभाव से वही तुम्हें स्पष्टरूप में दिखला दूंगा ।

इसके द्वारा ऐन्द्रजालिक ने मिथ्या अग्नि की भ्रान्ति उत्पन्न करके वत्सराज के हृदय में स्थित सागरिका के दर्शन के अनुकूल अपनी शक्ति को प्रकट किया है (अतः यहाँ व्यवसाय नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग है) ।

और, जैसे वेणीसंहार (६·६) में (युधिष्ठिर द्रौपदी से कहता है) 'अवश्य ही आज प्रतिज्ञा के भङ्ग से डरने वाले उस वीर (भीम) के द्वारा तेरे केशपाश को बाँध लिया जायेगा और इसको खींचने वाले (दुर्योधन) का वध कर दिया जायेगा ।'

इस (कथन) के द्वारा युधिष्ठिर अपनी दण्डशक्ति को प्रकट करता है (अतः व्यवसाय नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग है) ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९.९१) के अनुसार 'व्यवसायश्च विज्ञेयः प्रतिज्ञा-हेतुसम्भवः' यह लक्षण है; अर्थात् अङ्गीकृत (प्रतिज्ञात) अर्थ के हेतु की प्राप्ति (सम्भव) व्यवसाय कहलाता है । जैसे रत्नावली में ऐन्द्रजालिक के प्रवेश से लेकर-'एकं पुनः खेलनमवश्यं प्रेक्षितव्यम्' यहाँ तक यौगन्धरायण ने जो करना ठाना था उसके हेतु की प्राप्ति होती है (अभि० भा०) । सा० द० (६·१०३) में भी ना० शा० का लक्षण ही दिया गया है । ना० द० (१.१०२) में 'व्यवसायोऽर्थ्यहेतु-युक्' अर्थात् अर्थनीय फल के हेतु का योग व्यवसाय है यह लक्षण है, जो नाट्यशास्त्र के समान ही है । ना० द० की वृत्ति में दशरूपक के लक्षण का उल्लेख करके यह भी कहा गया है कि इसका संरम्भ नामक (विमर्शाङ्ग) में ही अन्तर्भाव हो जाता है । वहाँ 'संरम्भः शक्तिकीर्तनम्' यह विमर्श सन्धि का अङ्ग माना गया है प्रता० (३.१८) 'स्वशक्ति-प्रशंसनं व्यवसायः' ।

१०. विरोधन

आवेगपूर्ण पात्रों का (संरब्धानाम्) अपनी शक्ति का वर्णन करना विरोधन कहलाता है ।

यथा वेणीसंहारे—'राजा—रे रे मरुत्तनय, किमेवं वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितव्यमात्मकर्म श्लाघसे ? अपि च—

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी ।
अस्मिन्वैरानुबन्धे तव किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिसारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥४५॥

(भीमः क्रोधं नाटयति) अर्जुनः—आर्य प्रसीद, किमत्र क्रोधेन ?

अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तो न कर्मणा ।
हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ।' ४६॥

भीमः—अरे भरतकुलकलङ्क,

अद्यैव किं न विसृजेयमहं भवन्तं
दुःशासनानुगमनाय कटुप्रलापिन् ।
विघ्नं गुरू न कुरुतो यदि मत्कराग्र-
निर्भिद्यमानरणितास्थिनि ते शरीरे ॥४७॥

टिप्पणी—यहाँ ऊपर से 'स्वशक्त्युक्तिः' पद की अनुवृत्ति होती है । संरब्ध = आवेगपूर्ण, क्रोध आदि से युक्त, संरब्धानां = बद्धवैराणाम् (प्रभा) । इस प्रकार क्रोध आदि से युक्त पात्रों द्वारा जो अपनी शक्ति का वर्णन किया जाता है वह विरोधन नामक अवमर्शाङ्ग है क्रोध आदि आवेगों से रहित जनों द्वारा अपनी शक्ति का वर्णन व्यवसाय है ।

जैसे—वेणीसंहार (५.३०—३४) में—राजा (दुर्योधन)—अरे, मरुत्पुत्र (भीम) इस प्रकार वृद्ध राजा (धृतराष्ट्र) के सामने अपने निन्दनीय कर्म की प्रशंसा क्यों कर रहा है ? और भी,

मुझ जगत् के स्वामी की आज्ञा से राजाओं के समक्ष ही द्यूत में दासी बनाई गई तेरी, तुझ पशु की, उस राजा (युधिष्ठिर) की अथवा उन दोनों (नकुल और सहदेव) की पत्नी (द्रौपदी) केश पकड़कर खींची गई थी ; किन्तु बता इस वैर के प्रसङ्ग में उन राजाओं ने क्या अहित किया था, जिनको मार दिया गया ? भुजाओं के बलातिरेक रूपी धन के अत्यधिक मद वाले मुझको जीते बिना ही यह अभियान कर रहे हो ।

भीम—(क्रोध का अभिनय करता है) । अर्जुन—आर्य, प्रसन्न हो, यहाँ क्रोध से क्या लाभ है ?

'यह (दुर्योधन) कार्य द्वारा अशक्त होकर वाणी से अप्रिय कर रहा है । इसके सौ भाई मारे गये हैं और यह दुःखी है अतः इसके निरर्थक वचनों से क्या पीड़ा ?

भीम—अरे, भरतकुल के कलङ्क' हे कटुभाषी, क्या दुःशासन का अनुसरण करने के लिए आपको मैं अभी न भेज देता, यदि मेरे हाथ के अग्रभाग से

अन्यच्च मूढ,

शोकं स्त्रीवन्नयनसलिलैर्यत्त्याजितोऽसि
भ्रातुर्वक्षःस्थलविदलने यच्च साक्षीकृतोऽसि ।
आसीदेतत्तव कुनृपतेः कारणं जीवितस्य
क्रुद्धे युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने ॥४८॥

राजा—दुरात्मन् भरतकुलापसद पाण्डवपशो, नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः ।

किन्तु—

द्रक्ष्यन्ति नचिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ॥४९॥

इत्यादिना संरब्धयोर्भीमदुर्योधनयोः स्वशक्त्युक्तिर्विरोधनमिति ।

टूटती हुई तथा शब्द करती हुई हड्डियों वाले तेरे शरीर के विषय में माता-पिता (गुरू) विघ्न न डाल देते ।

और भी, मूर्ख, तुम्हारे कुल रूपी कमलिनी के लिये कुञ्जररूपी मुझ भीमसेन के होने पर भी तुझ जैसे दुष्ट राजा के जीवन धारण करने का यही कारण था कि स्त्रियों के समान नयन-जल के द्वारा तुझसे शोक प्रकट कराया और तेरे भाई (दुःशासन) के वक्षः स्थल को विदीर्ण करने में तुझे साक्षी बनाया ।

राजा—दुष्टात्मा, भरतकुल में अधम, पाण्डव-पशु, मैं आपकी तरह आत्मश्लाघा (=विकत्थना) में प्रगल्भ नहीं हूँ । किन्तु

शीघ्र ही तेरे बान्धव तुझे, मेरी गदा से टूटी हुई वक्षःस्थल की हड्डियों से निकलने वाले प्रवाह (वेणिका) की भङ्गिमा से भीषण होकर रण भूमि में पड़ा हुआ देखेंगे ।

इत्यादि के द्वारा क्रोधयुक्त भीमसेन तथा दुर्योधन ने अपनी शक्ति का वर्णन किया है अतः विरोधन (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१०.९३) में 'कार्यात्ययोपगमनं विरोधनम्' यह लक्षण किया गया है । सा० द० (६.१०६) में भी यही है । इसका तात्पर्य है—कार्य में विघ्न की उपस्थिति=कार्ये अत्ययस्य विघ्नस्य वा उपगमनं प्राप्तिः । ना० द० में विरोधः प्रस्तुतज्यानिः'(प्रस्तुत कार्य की हानि ही विरोध है), यह कहा गया है जो ना० शा० के समान ही है । किन्तु दशरूपक का विरोधन नामक अङ्ग इनसे भिन्न है । नियताप्ति नामक कार्यावस्था में जहाँ पात्र क्रुद्ध होकर अपनी शक्ति का वर्णन करते हैं वहीं यह (विरोधन) अङ्ग होता है । क्रोध आदि आवेग के बिना अपनी शक्ति का वर्णन व्यवसाय है । प्रता० (३.१८) में दशरूपक के इस लक्षण को कुछ परिष्कृत किया गया है—'क्रोधसंरब्धानामन्योन्यविक्षेपो विरोधनम्' ।

अथ प्ररोचना—

(६३) सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात्प्ररोचना ॥४७॥

यथा वेणीसंहारे—पाञ्चालकः-अहं च देवेन चक्रपाणिना' इत्युपक्रम्य 'कृतं सन्देहेन—

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णाऽत्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम् ।
रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥५०॥

इत्यादिना 'मङ्गलानि कर्तुमाज्ञापयति देवो युधिष्ठिरः' इत्यन्तेन द्रौपदीकेशसंयमनयुधिष्ठिरराज्याभिषेकयोर्भाविनोरपि सिद्धत्वेन दर्शिका प्ररोचनेति ।

---

११. प्ररोचना

यह सिद्ध ही है इस प्रकार के कथन (आमन्त्रण) से भावी अर्थ का दर्शन करने वाली प्ररोचना कहलाती है।

टिप्पणी—सिद्धामन्त्रणतः—सिद्धमेव इति आमन्त्रणतः. यह सिद्ध हो ही गया, इस प्रकार के कथन से अथवा सिद्धस्य आमन्त्रणतः किसी सिद्ध पुरुष के कथन से। यहाँ 'यह कार्य तो सिद्ध हो ही गया' इस प्रकार कह कर भावी कार्य की सिद्धि का निश्चय कराया जाता है, नियताप्ति से अन्वित वह इतिवृत्त का भाग प्ररोचना कहलाता है।

जैसे वेणीसंहार (६.१२) में 'पाञ्चालक—(युधिष्ठिर से कहता है) और, चक्रपाणि भगवान् कृष्ण ने मुझे आपके पास भेजा है (और देवकी-पुत्र ने कहा है)—यहाँ से आरम्भ करके—'सन्देह मत करो, तुम्हारे राज्याभिषेक के लिये रत्नकलश जल से भर दिये जायें। द्रौपदी बहुत समय से छोड़े गये अपने केश-पाश के बन्धन का उत्सव मनाये। तीक्ष्ण कुठार से दीप्त हाथों वाले तथा क्षत्रिय जाति रूप वृक्षों का उच्छेद करने वाले परशुराम के और क्रोध से अन्धे हुए भीमसेन के समर भूमि में पहुँच जाने पर सन्देह कैसे हो सकता है ?

यहाँ से लेकर महाराज युधिष्ठिर मङ्गलोत्सव करने की आज्ञा दे रहे हैं, (कञ्चुकी के) इस कथन तक भविष्य में होने वाले भी द्रौपदी के केश-संयमन और युधिष्ठिर के राज्याभिषेक को सिद्ध (सम्पन्न) रूप में दिखलाने वाली प्ररोचना (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—ना० शा० (१९.९५) में 'प्ररोचना तु विज्ञेया संहारार्थदर्शिनी' यह लक्षण है। सा द० (६.१०६) में भी यही है। ना० द० (१.१००) में 'भाविसिद्धिः प्ररोचना' यह कहते हुए इसी भाव को अधिक स्पष्ट किया गया है; अर्थात् निर्वहण सन्धि में सम्पन्न होने वाले भावी अर्थ का सिद्ध रूप में वर्णन ही प्ररोचना है। प्रता० (३.१८) में इसे और भी परिष्कृत कर दिया गया है—'सिद्धवत् भाविश्रेयः कथनं प्ररोचनम्।

अथ विचलनम्—

(६४) विकत्थना विचलनम्—

यथा वेणीसंहारे—भीमः—तात, अम्ब,

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते ।
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः ।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यः पाण्डवोऽयम् ॥५१॥

अपि च तात,

चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनसृजा ।
भङ्क्त्वा सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाऽञ्चति ॥५२॥

इत्यनेन विजयबीजानुगतस्वगुणाविष्करणाद्विचलनमिति ।

यथा च रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः-

देव्या मद्वचनाद्यथाऽभ्युपगतः पत्युर्वियोगस्तदा
सा देवस्य कलत्रसंघटनया दुःखं मया स्थापिता ।
तस्याः प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः
सत्यं दर्शयितुं तथापि वदनं शक्नोमि नो लज्जया॥५३॥

इत्यनेनान्यपरेणपि यौगन्धरायणेन 'मया जगत्स्वामित्वानुबन्धी कन्यालाभो

---

१२. विचलन

आत्मश्लाघा करना विचलन कहलाता है ।

जैसे वेणीसंहार (५.२७. २८) में । 'भीम—(धृतराष्ट्र और गान्धारी से कहते हैं) तात, अम्ब जिस (कर्ण) में तुम्हारे पुत्रों ने समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की आशा लगा थी, जिसके गर्व से उन्होंने संसार का तृण के समान तिरस्कार किया था, उस राधा के पुत्र को रण में मारने वाला यह मंझला पाण्डव (अर्जुन) आप माता पिता को प्रणाम कर रहा है ।

और भी तात, समस्त कौरवों को चूर्णित करने वाला, दुःशासन के रक्त से मत्त हुआ, दूर्योधन की जंघाओं को तोड़ देने वाला यह भीम शिरसा प्रणाम करता है। इत्यादि के द्वारा विजय रूपी बीज से अन्वित अपने गुणों को प्रकट करने के कारण यहाँ विचलन (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है :

और, जैसे रत्नावली (४.२०) में "यौगन्धरायण—जब मेरे कहने से देवी (वासवदत्ता) ने पति का वियोग स्वीकार किया तब मैंने महाराज (उदयन) का दूसरी पत्नी से सम्बन्ध कराके उस (वासवदत्ता) को दुःखी किया । ठीक है कि प्रभु की चक्रवर्ती पद की प्राप्ति उस (देवी) को सुख देगी तथापि लज्जा के कारण मैं उसको अपना मुख नहीं दिखला सकता ।'

इत्यादि में यद्यपि यौगन्धरायण का तात्पर्य दूसरा ही है तथापि "मैंने वत्सराज को ऐसी कन्या की प्राप्ति करा दी जिसका फल (अनुबन्ध) चक्रवर्ती-पद की प्राप्ति

वत्सराजस्य कृतः ।' इति स्वगुणानुकीर्तनाद्विचलनमिति ।

अथादानम्—

(६५)—आदानं कार्यसंग्रहः ।

यथा वेणीसंहारे—'भीमः—ननु भोः समन्तपञ्चकसञ्चारिणः,

रक्षो नाहं न भूतो रिपुरुधिरजलाप्लाविताङ्गः प्रकामं
निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि ।
भो भो राजन्यवीराः समरशिखिशिखादग्धशेषाः कृतं व—
स्त्रासेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत् ॥५४॥

हैं" इस रूप में अपने गुणों का कीर्तन भी है अतः अतः यहाँ विचलन (नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) अन्यपरेणापि=अन्यपरक होने पर भी, अन्य तात्पर्य रखने वाला होने पर भी (यौगन्धरायणेन का विशेषण) यहाँ यौगन्धरायण का अभिप्राय है—वासवदत्ता के प्रति किये गये अपने व्यवहार विषय में विचार करना । (२) ना० शा० में विमर्श सन्धि के अङ्गों का निर्देश करते समय 'विचलन' को नहीं रक्खा गया किन्तु अङ्गों का लक्षण करते समय 'ज्ञेया विचलना तज्ज्ञैरवमानार्थसंयुता' (१९९६) यह अवश्य लिखा है । यह स्पष्ट ही है कि यह 'विचलना' दशरूपक के 'विचलन से भिन्न ही है । ना० शा० के व्यवसाय तथा विरोध' आदि विमर्श सन्धि के अङ्गों में भी स्वशक्ति वर्णन या आत्मश्लाघा आदि का अन्तर्भाव नहीं होता । इस प्रकार यह विचारणीय ही है कि क्या ना० शा० में इस भाव को व्यक्त करने वाला प्रचलन' नामक अङ्ग नहीं माना गया था । ना० द० में प्रचलन नामक अङ्ग नहीं माना गया । वृत्ति (१,९८) में अन्यमत के रूप में इसका निरूपण अवश्य किया गया है फिर भी ना० द० के 'संरम्भः शक्तिकीर्त्तनम्' (१.९९) में आत्मशक्ति-वर्णन आदि का समावेश हो जाता है । साहित्यदर्पण में भी अधिकतर ना० शा० का अनुसरण किया गया है अतः यहाँ भी यह चिन्तनीय है कि दशरूपक के 'विचलन' इत्यादि का कहाँ समावेश किया जाये । सम्भवतः उसके यहाँ 'व्यवसाय' में इन भावों का समावेश हो सकता है । प्रता० (३,१८) में दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है ।

१३. आदान

कार्यसंग्रह आदान कहलाता है ।

जैसे वेणीसंहार (६.३७) में 'भीम—अरे, समन्तपञ्चक में घूमने वाले सैनिकों न मैं राक्षस हूँ, न कोई भूत । शत्रु के रुधिर रूपी जल में भली भाँति, सने हुए अङ्गों वाला, विशाल प्रतिज्ञा रूपी गहन सागर को पार कर चुकने वाला, क्रोध करने वाला क्षत्रिय हूँ । अरे, समर रूपी अग्नि की शिखा में जलने से बचे, क्षत्रिय वीरों आपको ऐसा भय नहीं करना चाहिये जो (मरे) हुए हाथी और घोड़ों की ओट में छिपे बैठे हैं ।'

इत्यनेन समस्तरिपुवधकार्यस्य संगृहीतत्वादादानम् ।

यथा च रत्नावल्याम्—'सागरिका—(दिशोऽवलोक्य) दिट्ठिआ समन्तादो पज्जलिदो भअवं हुअवहो अज्ज करिस्सदि दुक्खावसानम् ।' (दिष्टया समन्तात्—प्रज्वलितो भगवान्हुतवहोऽद्य करिष्यति दुःखावसानम् ।) इत्यनेनान्यपरेणापि दुःखा—वसानकार्यस्य संग्रहादादानम् । यथा च 'जगत्स्वामित्वलाभः प्रभो, इति दर्शित—मेवम् । इत्येतानि त्रयोदशावमर्शाङ्गानि तत्रैषामपवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानि प्रधानानीति ।

इत्यादि के द्वारा समस्त शत्रुओं के वध रूपी कार्य का संग्रह (उपसंहार) किया गया है अतः आदान (नामक विमर्श सन्धि का अङ्ग) है ।

और जैसे रत्नावली (४.१६-१७) में सागरिका (दिशाओं को देखकर) भाग्य से चारों ओर अग्नि देव प्रज्वलित हैं, वे आज मेरे दुःख का अन्त कर देंगे ।

यहाँ पर यद्यपि कथन का तात्पर्य दूसरा ही है तथापि दुःखों के अन्त रूपी कार्य का संग्रह किया गया है अतः आदान है और जैसे (रत्नावली ४·२०) 'प्रभु को चक्रवर्ती पद की प्राप्ति' इस (यौगन्धरायण) के (कथन) द्वारा यही (आदान) दिखलाया गया है ।

ये १३ अवमर्श सन्धि के अङ्ग हैं । इनमें अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदान मुख्य हैं ।

टिप्पणी—(१) ना शा० में 'बीजकार्योपगमनमादानम्' (१९.९३) यह लक्षण है । इसका अभिप्राय है 'फल का समीप होना' इसी भाव को ना० द० (१.१०१) में स्पष्ट किया गया है । उसके अनुसार 'फलसामीप्य' का अर्थ है—मुख्य फल का दर्शन । सा० द० (६.१०७) तथा प्रता० (३.१८) में दशरूपक का ही लक्षण दिया गया है । इन सभी लक्षणों के तात्पर्य में भेद नहीं; अर्थात् कार्य का उपसंहार—फल-सामीप्य, फल-दर्शन समान ही हैं । (२) संक्षेप में गर्भसन्धि में उद्भिन्न हुआ बीज अवमर्श सन्धि में फलोन्मुख हो जाता है । फल की प्राप्ति का निश्चय हो जाता है । साथ ही फल के बाधक या विघ्नों के प्रति क्रोध आदि करके क्रोधपूर्ण उक्ति (संफेट) आदि का प्रयोग किया जाता है । कभी तर्जन—उद्वेजन तथा कभी गुरुजनों तक के प्रति तिरस्कार भाव का भी वर्णन होता है । इसी प्रकार फलप्राप्ति का निश्चय हो जाने से आत्मशक्तिवर्णन, आत्मश्लाघा आदि के प्रसङ्ग भी आ जाते हैं । इसी आधार पर अवमर्श सन्धि के तेरह अङ्ग हो जाते हैं । किन्तु ये सब अङ्ग सभी रूपकों में नहीं होते । जहाँ इतिवृत्त और रस आदि के अनुसार जो-जो अङ्ग सम्भव होते हैं वहाँ वे हुआ करते हैं । हाँ, अपवाद इत्यादि उपर्युक्त ५ अङ्ग सर्वत्र अनिवार्य हैं । (३) अवमर्श सन्धि के उपर्युक्त अङ्गों के स्वरूप तथा नाम आदि में नाटचाचार्यों का मत-भेद है स्वरूप-भेद का यथावसर निरूपण किया जा चुका है । नाम आदि का भेद निम्न विवरण से स्पष्ट है—

अथ निर्वहणसन्धिः—

(९६) बीजवन्तो मुखाद्यार्था विप्रकीर्णा यथायथम् ॥४८॥
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।

यथा वेणीसंहारे—'कञ्चुकी—(उपसृत्य सहर्षम्) महाराज, वर्धसे, वर्धसे अयं खलु कुमारभीमसेनः सुयोधनक्षतजारुणीकृतसकलशरीरो दुर्लक्षव्यक्तिः ।' इत्यादिना द्रौपदीकेशसंयमनादिमुखसन्ध्यादिबीजानां निजनिजस्थानोपक्षिप्तानामेकार्थतया योजनम् ।

नाटचशास्त्र	दशरूपक	नाटचदर्पण	साहित्यदर्पण	प्रतापरुद्रीय
अपवाद, संफेट, विद्रव, शक्ति व्यवसाय प्रसङ्ग, द्युति खेद, निषेधन विरोध, आदान, साधन, प्ररोचना व्यवहार, युक्ति ।	अपवाद, संफेट विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति प्रसङ्ग, छलन व्यवसाय विरोधन, प्ररोचना विचलन, आपान ।	द्रव, प्रसङ्ग संफेट अपवाद छादन, द्युति खेद, निरोध संरम्भ, शक्ति प्ररोचना, आदान व्यवसाय ।	अपवाद, संफेट व्यवसाय, द्रव द्युति, शक्ति प्रसङ्ग, खेद प्रतिषेध विरोधन प्ररोचन आदान छादन ।	दशरूपक के समान

निर्वहण सन्धि और उसके अङ्ग

जहाँ बीज से सम्बन्ध रखने वाले मुख सन्धि आदि में अपने अपने स्थान पर (यथायथम्) बिखरे हुए (प्रारम्भ आदि) अर्थों का एक (—मुख्य) प्रयोजन के साथ सम्बन्ध दिखलाया जाता है, वह निर्वहण सन्धि कहलाती है ॥४८॥

जैसे वेणीसंहार नाटक (६·३८-३९) में कञ्चुकी (निकट जाकर, हर्षपूर्वक) महाराज आपकी विजय हो, यह तो कुमार भीमसेन हैं, जिनका समस्त शरीर दुर्योधन के रक्त से लाल हो गया है, और (इसी हेतु) जिन्हें पहचानना कठिन है ।'

इत्यादि के द्वारा मुख-सन्धि आदि में अपने-अपने स्थान पर रक्खे गये द्रौपदी के केश-बन्धन (शत्रु-निपात, राज्य-लाभ) आदि के बीज (भीमसेन का क्रोध इत्यादि) हैं, उनका एक प्रयोजन (द्रौपदी केश-बन्धन) के साथ सम्बन्ध दिखलाया गया है ।

यथा च रत्नावल्यां सागरिकारत्नावलीवसुभूतिबाभ्रव्यादीनामर्थानां मुखसन्ध्यादिषु प्रकीर्णानां वत्सराजैककार्यार्थत्वम् । 'वसुभूतिः–(सागरिकां निर्वर्ण्यापवार्य) बाभ्रव्य, सुसदृशीयं राजपुत्र्या । इत्यादिना दर्शितमिति निर्वहणसन्धिः ।

अथ तदङ्गानि—

(९७) सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् । ४९॥
प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूहनाः ।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ॥५०॥

यथोद्देशं लक्षणमाह—

(९८) सन्धिर्बीजोपगमनम्

और, जैसे रत्नावली नाटिका (४.१९–२०) में सागरिका, रत्नावली, वसुभूति और बाभ्रव्य आदि के कार्यों (अर्थों) का, जो मुख सन्धि आदि में बिखरे पड़े हैं वत्सराज के ही एक कार्य (रत्नावली-समागम) के लिये समाहार होता है। जो इस कथन द्वारा दिखलाया गया है—

वसुभूति—(सागरिका को देखकर, अलग से) बाभ्रव्य, यह तो बिल्कुल राजपुत्री (रत्नावली) के जैसी है ।

टिप्पणी—इतिवृत्त का अन्तिम भाग निर्वहण सन्धि है । इसमें पञ्चम कार्यावस्था (फलागम) का कार्य (नायक-व्यापार) नामक अर्थप्रकृति के साथ समन्वय होता है । इस प्रकार बीज की फलरूप में परिणति हो जाती है । अथवा कहिये कि बीज से सम्बन्ध रखने वाले जो प्रारम्भ आदि व्यापार मुख आदि सन्धियों में दिखलाये जाते हैं उनका मुख्य प्रयोजन के साथ सम्बन्ध दिखलाते हुए जहाँ उपसंहार किया जाता है वही इतिवृत्त का भाग निर्वहण सन्धि कहलाता है । इस सन्धि के स्वरूप का सा० द० (६.८०) प्रता० (३.१९) में दशरूपक के समान ही निरूपण किया गया है । ना० शा० (१९.४३) का लक्षण कुछ अंश में भिन्न है जिसका ना० द० (१.४८) में कुछ अधिक अनुसरण किया गया प्रतीत होता है । नाटयदर्पण वृत्ति में इस सन्धि का विस्तृत विवेचन किया गया है । वहाँ यह भी कहा गया है कि यह सन्धि सभी रूपकों के लिये अनिवार्य है (ध्रुवम्) ।

उस (निर्वाहण सन्धि के) अङ्ग हैं—

१. सन्धि, २, विबोध, ३. ग्रथन, ४. निर्णय, ५. परिभाषण, ६. प्रसाद, ७. आनन्द, ८. समय, ९. कृति, १०. भाषा, ११. उपगूहन, १२. पूर्वभाव, १३. उपसंहार और १४. प्रशस्ति—ये चतुर्दश ।

नाम क्रम से लक्षण बतलाते हैं—

१. सन्धि

बीज का (फलागम से अन्वित करके) सन्धान ही सन्धि कहलाती है ।

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूतिः—बाभ्रव्य, सुसदृशीयं राजपुत्र्या । बाभ्रव्यः—ममाप्येवमेव प्रतिभाति ।' इत्यनेन नायिकाबीजोपगमात्सन्धिरिति ।

यथा च वेणीसंहारे='भीमः–भवति यज्ञवेदिसंभवे, स्मरति भवती यत्तन्मयोक्तम्

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात—
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ।।५५।।

इत्यनेन मुखोपक्षिप्तस्य बीजस्य पुनरुपगमात् सन्धिरिति ।

अथ विबोधः—

(९९)—विबोधः कार्यमार्गणम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूतिः—(निरूप्य) देव, कुत इयं कन्यका ? राजा—देवी जानाति । वासवदत्ता—अज्जउत्त, एसा सागरादो पाविअत्ति भणिअ अमच्चजोगन्धराअणेण मम हत्थे णिहिदा अदो ज्जेव सागरिअत्ति सद्दावीअदि ।

जैसे रत्नावली नाटिका (४.१९–२०) में 'वसुभूति—बाभ्रव्य यह ठीक राजकुमारी जैसी है । बाभ्रव्य—मुझे भी ऐसा ही प्रतीत होता है ।'

इत्यादि के द्वारा नायिका रूपी बीज का सन्धान किया गया है, अतः यहाँ सन्धि (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसंहार (६.४१—४२) में 'भीम—श्रीमती यज्ञवेदिसम्भवा (यज्ञवेदि से उत्पन्न) द्रौपदी, क्या आपको याद है, मैंने कहा था—चञ्चद्भुज इत्यादि ऊपर उदा० ८ ।

यहाँ मुखसन्धि में उपक्षिप्त बीज का पुनः उपगमन (सन्धान) किया गया है अतः सन्धि (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—उपगमनम्—निकटीभूतम्, सन्धानम्; पुनः स्मरण या उपसंहार रूप में स्मरण । अतः मुख सन्धि में उपक्षिप्त बीज का फलागम अवस्था में सन्धान ही सन्धि है । ना० शा० (१९·९७), सा० द० (६.११०) तथा प्रता० (३.२१) में भी इसी प्रकार का लक्षण है । ना० द० में इसका विशद निवेचन है—सन्धि-र्बीजफलागमः (१.१०४) । उसके अनुसार यह निर्वहण सन्धि का आवश्यक अङ्ग है ।

२. विबोध

कार्य (फल) के अन्वेषण को विबोध कहा जाता है ।

जैसे रत्नावली (४.१९-२०) में 'वसुभूति—(देखकर) देव, यह कन्या कहाँ से (आई) ? राजा–देवी जानती है । ' वासवदत्ता—आर्यपुत्र, "यह सागर से मिली है" ऐसा कहकर अमात्य यौगन्धरायण ने मेरे पास रख दी है । इसीलिये यह सागरिका कहलाती है । राजा (मन ही मन) यौगन्धरायण ने रक्खी है, कैसे यह मुझे बिना बतलाये करेगा ?

(आर्यपुत्र' एषा सागरात्प्राप्तेति भणित्वाऽमात्ययौगन्धरायणेन मम हस्ते निहिता, अत एव सागरिकेति शब्द्यते।') राजा—(आत्मगतम्) यौगन्धरायणेन न्यस्ता, कथमसौ ममानिवेद्य करिष्यति।' इत्यनेन रत्नावलीलक्षणकार्यान्वेषणाद्विबोधः।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—मुञ्चतु मुञ्चतु मामार्यः क्षणमेकम्। युधिष्ठिरः—किमपरमवशिष्टम्? भीमः—सुमहदवशिष्टम्, संयमयामि तावदनेन दुःशासनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनावकृष्टं केशहस्तम्। युधिष्ठिरः—गच्छतु भवान् अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम्। इत्यनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणाद्विबोध इति।

अथ ग्रथनम्—

(१००) ग्रथनं तदुपक्षेपो—

यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—देव, क्षम्यतां यद्देवस्यानिवेद्य मयैतत्कृतम्।' इत्यनेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपक्षेपाद् ग्रथनम्।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—पाञ्चालि, न खलु मयि जीवति संहर्तव्या

इत्यादि के द्वारा केश-संयमन रूप फल का अन्वेषण किया गया है इसीलिये विबोध (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है। और, जैसे वेणीसंहार (६.४०–४१) भीम—आर्य; मुझे एक क्षण के लिये छोड़ दो। युधिष्ठिर—और; क्या शेष रहा? भीम—बहुत कुछ शेष रह गया। अब तो दुःशासन के रक्त से भीगे हुए हाथ से दुःशासन द्वारा खींचे गये द्रौपदी के केशहस्त को बाँधता हूँ। युधिष्ठिर—आप जाएँ। वह बेचारी वेणी-बन्धन का अनुभव करे।

इत्यादि के द्वारा केश-संयमन रूप फल का अन्वेषण किया गया है; अतः विबोध (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है।

टिप्पणी—ना० शा० (१९·९८) में 'कार्यस्यान्वेषणं युक्त्या निरोधः' यह लक्षण है। ना० द० (१.१०५) में 'निरोधः कार्यमीमांसा' यह कहा गया है; अर्थात् विनष्ट कार्य को बनाने के लिये जो उसका अनुसन्धान किया जाता है वह निरोध है। सा० द० (६.११०) में तथा प्रता० (३.२१) में दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है।

३. ग्रथन

उस (फल) के उपक्षेप (सूचना) को ग्रथन कहा जाता है।

जैसे रत्नावली (४. २०–२१) में यौगन्धरायण—महाराज; क्षमा; कीजिये जो मैंने आपसे निवेदन किये बिना यह कार्य किया है। इत्यादि के द्वारा वत्सराज का रत्नावली-प्राप्ति रूप जो कार्य है; उसकी (सिद्धि) की सूचना दी गई है अतः ग्रथन (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है। और वेणीसंहार (६.३७-३८) में भीम—हे पाञ्चालपुत्री; मेरे जीवित रहते तुमको दुःशासन द्वारा खोली गई अपनी वेणी अपने हाथ से नहीं बाँधनी चाहिये। ठहरो; मैं स्वयं ही बाँधता हूँ।'

दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना । तिष्ठतु, स्वयमेवाहं संहरामि ।' इत्यनेन द्रौपदीकेशसंयमनकार्यस्योपक्षोपाद् ग्रथनम् ।

अथ निर्णयः—

(१०१) —ऽनुभूताख्या तु निर्णयः ।।५१।।

यथा रत्नावल्याम्—यौगन्धरायणः—(कृताञ्जलिः) देव, श्रूयताम्, इयं सिंहलेश्वर-दुहिता सिद्धादेशेनोपदिष्टा—योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति सार्वभौमो राजा भविष्यति तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थे बहुशः प्रार्थ्यमानापि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेदं परिहरता यदा न दत्ता तदा लावणिके देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहितः ।' इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वानुभूतमर्थं ख्यापितवानिति निर्णयः ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—देव देव अजातशत्रो, क्वाद्यपि, दुर्योधनहतकः ? मया हि तस्य दुरात्मनः—

इत्यादि के द्वारा द्रौपदी के केश-बन्धन रूपी कार्य की सूचना दी गई है, अतः ग्रथन (नामक विर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी--(१) ना० शा० (१९.९८) तथा प्रता० (३.२१) में यही लक्षण दिया गया है, सा० द० (६.११०) में 'उपन्यासस्तु कार्याणां ग्रथनम्' यह लक्षण है । जिसका अभिप्राय दशरूपक के लक्षण के समान ही है, यहाँ उपन्यासः=उपक्षेपः । नाट्यदर्पण (१.१०६) में 'ग्रथनं कार्यदर्शनम्'--यह लक्षण है । यहाँ कार्य=मुख्य फल । जिस इतिवृत्त के भाग द्वारा मुख्य फल का व्यापार के साथ सम्बन्ध कराया जाता है वह ग्रथन कहलाता है । इस ना० द० के लक्षण का तात्पर्य भी दशरूपक आदि के लक्षण के समान ही है । वस्तुतः उपक्षेप सूचित करना, अतः जहाँ फलागम को सूचित किया जाता है वह ग्रथन है ।

४. निर्णय

अनुभूत (अनुभव किये गये) अर्थ का कथन निर्णय कहलाता है ।

जैसे रत्नवावली (४,२०--२१) में "यौगन्धरायण—महाराज, सुनिये । इस सिंहलेश्वर की पुत्री के विषय में सिद्धवचन से कहा गया था कि जो इसका पाणिग्रहण करेगा वह चक्रवर्ती राजा होगा । उसके विश्वास से हमारे द्वारा स्वामी के लिये अनेक बार माँगे जाने पर भी, जब देवी वासवदत्ता के मानसिक क्लेश को बचाते हुए सिंहलेश्वर ने (रत्नावली को) नहीं दिया······तब लावाणक में देवी (वासवदत्ता) जल गई, यह प्रवाद फैलाकर उस (सिंहलेश्वर) के पास बाभ्रव्य को भेजा ।'

इत्यादि के द्वारा यौगन्धरायण ने अपने अनुभूत अर्थ का वर्णन किया है अतः निर्णय (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसंहार (६.३९) में देव, देव अजातशत्रु, अब नीच-दुर्योधन कहाँ है ? क्योंकि मैंने उस दुष्टात्मा के शरीर को पृथ्वी पर फेंक दिया है और अपने

भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजाङ्गे
लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरुदधिपयः सीमया सार्धमुर्व्या ।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणाग्नौ
नामैकं यद् ब्रवीषि क्षितिप तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ।।५६।।

इत्यनेन स्वानुभूतार्थकथनान्निर्णय इति ।

अथ परिभाषणम्—

(१०२) परिभाषा मिथो जल्पः

यथा रत्नावल्याम्—"रत्नावली—(आत्मगतम्) कआवराहा देवीए ण सक्कुणोमि मुहं दंसिदुम् (कृतापराधा देव्यै न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम्) 'वासवदत्ता-(सास्रं पुनर्बाहू प्रसार्य) एहि अयि णिट्ठुरे, दाणीं पि बन्धुसिणेहं दंसेहि । (अपवार्य) उज्जउत्त, लज्जामि, क्खु अहं इमिणा णिसंसत्तणेण ता लहुं अवणेहि

शरीर पर उसके रुधिर को चन्दन के समान लगाया है । चारों समुद्रों के जल की सीमा वाली पृथ्वी के साथ लक्ष्मी आप में (—आर्ये) स्थित हो गई है । (उसके) भृत्य, मित्र योधा और यह समस्त कुरुवंश समराग्नि में जल गये हैं । हे पृथ्वी-पालक, जिसे आप बोल रहे है केवल धृतराष्ट के पुत्र (दुर्योधन) का नाम ही शेष है ।

इत्यादि में (भीमसेन के द्वारा) अपने अनुभूत अर्थ का कथन किया गया है । अतः निर्णय (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१६.६८) में तथा सा० द० (६. ११) में भी इसी प्रकार का लक्षण है । प्रता० (३.२१) के अनुसार 'बीजानुगुणकार्यप्रख्यापनं निर्णयः' अर्थात् बीज के अनुकूल फल का कथन ही निर्णय है । प्रता० का यह लक्षण अधिक स्पष्ट है तथा इसमें कुछ नवीनता भी है । ना० द० (१.१०७) का लक्षण दशरूपक आदि के लक्षण से तात्पर्यतः भिन्न है—'निर्णयोऽनुभवख्यातिः', अर्थात् जानने योग्य अर्थ के विषय में सन्देहयुक्त या अज्ञानयुक्त व्यक्ति को निर्णय कराने के लिये जो अनुभूत अर्थ का कथन है वह निर्णय है ।

५. परिभाषण

आपस की बात चीत को परिभाषा या परिभाषण कहा जाता है।

जैसे रत्नावली (४.१६--२०) में 'सागरिका–(मन ही मन) मैंने देवी (वासवदत्ता) का अपराध किया है इसलिये मैं मुंह नहीं दिखला सकती । वासवदत्ता—(अश्रुपूर्वक फिर भुजाएँ फैलाकर) आ, हे कठोर, अब तो बन्धु-स्नेह दिखला दे, (एक ओर होकर) आर्यपुत्र, मैं इस प्रकार की क्रूरता से लज्जित हूँ अतः शीघ्र ही इसका बन्धन हटा दो ।

राजा जैसे देवी कहें । (बन्धन को हटाता है) । वासवदत्ता—(वसुभूति के प्रति), आर्य, अमात्य यौगन्धरायण ने मुझे बुरा बना दिया, जिसने जानते हुए भी न बतलाया ।

से **बन्धणम्** । (एहि अयि निष्ठुरे, इदानीमपि बन्धुस्नेहं दर्शय । **आर्यपुत्र**, लज्जे खल्वहमनेन नृशंसत्वेन तल्लघ्वपनयास्या बन्धन्म् ।') राजा--यथाह देवी (बन्धन-मपनयति) वासवदत्ता--(वसुभूतिं निर्दिश्य) अज्ज, 'अमच्चजोगन्धरायणेण दुज्जणी-कदह्मि जेण जाणन्तेण वि णाचक्खिदम् !' (आर्य, अमात्ययौगन्धरायणेन दुर्जनीकृतास्मि येन जानतापि नाचक्षितम् ।' इत्यनेनान्योन्यवचनात्परिभाषणम् ।

यथा च वेणीसंहारे--**भीमः**--कृष्टा येनासि राज्ञां सदसि नृपशुना तेन दुःशासनेन ।' इत्यादिना क्वासौ भानुमती योपहसति पाण्डवदारान्' इत्यन्तेन भाषणात् परिभाषणम् ।

अथ प्रसादः—

(१०३)—प्रसादः पर्युपासनम् ।

यथा रत्नावल्याम्--देव, क्षम्यताम् । इत्यादिना दर्शितम् ।

यथा च वेणीसंहारे--'भीमः--(द्रौपदीमुपसृत्य) देवि पाञ्चालराजतनये,

---

इत्यादि के द्वारा परस्पर बातचीत के कारण यहाँ परिभाषण (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

और जैसे वेणीसंहार (६.४१) में 'भीम—जिस नररूपी पशु उस दुःशासन ने तुझे राजाओं की सभा में घसीटा था ।' यहाँ से लेकर 'कहाँ है वह भानुमती जो पाण्डव-पत्नी का उपहास करती रही । 'यहाँ तक आपस की बात-चीत है अतः परि-भाषण (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९.९९) में यह लक्षण है—'परिवादकृतं यत्स्यात् तदाहुः परिभाषणम्' । अर्थात् निन्दा का सूचक वाक्य परिभाषण है । सा० द० (६.१११) में परनिन्दासूचक वचन को परिभाषण माना गया है जैसा कि उसके उदाहरण से स्पष्ट है । ना० द० (१.१०८) में इसका रूप बदल गया है--परिभाषा स्वनिन्दनम्,--अपने अपराध को प्रकट करना ही परिभाषा है । ना० द० का मत अभिनवभारती से अधिकांश में मिलता है । किन्तु दशरूपक के अनुसार आपस की बात-चीत ही परिभाषण है । उसमें किसी अन्य की निन्दा करना या अपना अपराध प्रकट करना आवश्यक नहीं । प्रता० (३.२१) में इसी प्रकार का लक्षण है । ना० द० में दशरूपक के मत को अन्ये तु' कहकर दिखलाया गया है ।

६. प्रसाद

आराधना (पर्युपासन—प्रसन्न करने का प्रयास) ही प्रसाद कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (अङ्क ४) में 'महाराज क्षमा कीजिये' इत्यादि के द्वारा दिखलाया गया है ।

और, जैसे वेणीसंहार (६.४०–४१) में भीमसेन—द्रौपदी के पास जाकर देवी, पाञ्चालराजपुत्री, सौभाग्य से तुम शत्रु-कुल के नाश से बढ़ रही हो ।

दिष्टया वर्धसे रिपुकुलक्षयेण ।' इत्यनेन द्रौपद्या भीमसेनेनाराधितत्वात्प्रसाद इति ?

अथानन्दः—

(१०४)—आनन्दो वाञ्छिताप्तिः ।

यथा रत्नावल्याम्—राजा यथाह देवी (रत्नावलीं गृह्णति)'

यथा च वेणीसंहारे—'द्रौपदी—णाध—(विसुमरिदह्मि एदं वावारं णाधस्स प्पसादेण पुणो सिक्खिस्सम् (केशान्बध्नाति) (नाथ, विस्मृतास्म्येतं व्यापारं नाथस्य प्रसादेन पुनः शिक्षिष्यामि ।' इत्याभ्यां प्रार्थितरत्नावलीप्राप्तिकेशसंयमनयोर्वत्सराज-द्रौपदीभ्यां प्राप्तत्वादानन्दः ।

अथ समयः—

(१०५)—समयो दुःखनिर्गमः ॥५२॥

इत्यादि के द्वारा भीमसेन ने द्रौपदी का आराधन किया है अतः प्रसाद (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९.१०१) के अनुसार 'शुश्रूषाद्युपसम्पन्नः प्रसादः प्रीतिरुच्यते'—सेवा आदि से उत्पन्न प्रसन्नता हो प्रसाद कहलाता है । किन्तु दश-रूपक के लक्षणानुसार' प्रसन्न करने के लिये जो (सेवा) आदि प्रयत्न किया जाता है वही प्रसाद है । प्रता० (३.२१) तथा सा० द० (शुश्रूषादिः प्रसादः स्यात् ६.११२) में भी दशरूपक का अनुसरण किया गया है । ना०द० (१.१०९) ने प्रसाद' को 'उपास्ति' कहा है और यह भी उल्लेख किया है—'अन्ये त्वस्य स्थाने प्रियहिताचरण-जनितां प्रसत्ति प्रसादमङ्गमाहु' दूसरे तो उपास्ति के स्थान पर प्रिय तथा हितकर आचरण से उत्पन्न होने वाली प्रीति (प्रसाद) को (निर्वहण सन्धि का) अङ्ग बतलाते हैं । यह किसके मत की ओर संकेत है, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है । इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नाटचशास्त्र के उपरिनिर्दिष्ट लक्षण का भी यह तात्पर्य प्रतीत होता है ।

७. आनन्द

अभीष्ट की प्राप्ति होना आनन्द कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (४.२०-२१) में 'राजा—जैसे देवी कहें । (रत्नावली को स्वीकार करता है) ।

और जैसे, वेणीसंहार (६.४-४२) में द्रौपदी—नाथ, मैं इस काम को भूल गई हूँ, स्वामी की कृपा से फिर सीख जाऊँगी । यहाँ (प्रथम उदाहरण में) वत्सराज को अपनी चाही हुई रत्नावली की प्राप्ति हो जाती है तथा (द्वितीय उदाहरण में) द्रौपदी को अभीष्ट केश-बन्धन की प्राप्ति होती है अतः आनन्द (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९.१००), ना० द० (१,१११), सा० द० (६.११२) तथा प्रता० (३.२१) में भी इसी प्रकार के लक्षण हैं ।

८. समय

दुःख का दूर हो जाना ही समय कहलाता है ।

यथा रत्नावल्याम् 'वासवदत्ता —(रत्नावलीमालिङ्गय) समस्सस समस्सस बहिणिए ।' (समाश्वसिहि समाश्वसिहि भगिनिके ।') इत्यनेन भगिन्योरन्योन्यसमागमेन दुःखनिर्गमात्समयः ।

यथा च वेणीसंहारे 'भगवन्, कुतस्तस्य विजयादन्यद् यस्य भगवान्पुराणपुरुषः स्वयमेव नारायणो मङ्गलान्याशास्ते ।

कृतगुरुमहदादिक्षोभसंभूतमूर्त्तिं-
गुणिनमुदयनाशस्थानहेतुं प्रजानाम् ।
अजममरमचिन्त्यं चिन्तयित्वाऽपि त्वां
भवति जगति दुःखी किं पुनर्देव दृष्ट्वा ।।५७।।

इत्यनेन युधिष्ठिरदुःखापगमं दर्शयति ।

अथ कृतिः—

(१०६) कृतिर्लब्धार्थशमनम्—

यथा रत्नावल्याम् 'राजा—को देव्याः प्रसादं न बहु मन्यते ? वासवदत्ता- उज्जउत्त, दूरे से मादुउलं ता तधा करेसु जधा बन्धुअणं न सुमरेदि ।' ('आर्य-

---

जैसे रत्नावली (४.१९–२०) में 'वासवदत्ता—(रत्नावली से गले मिलकर) बहिन, धीरज रक्खो, धीरज रक्खो ।

इत्यादि के द्वारा दोनों बहिनों के परस्पर मिलन से दुःख दूर होता है अतः समय (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसंहार (६.४३) में युधिष्ठिर—(वासुदेव के प्रति) भगवन्, स्वयं पुराणपुरुष भगवान् नारायण जिसके मङ्गल की कामना करते हैं, उसकी विजय के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

हे देव, महत्तत्व आदि के महान् क्षोभ से व्यापक मूर्ति (त्रिनयन आदि, अथवा विशाल जगत्, अथवा हमारे शरीर आदि) की रचना करने वाले, प्रजाओं की उत्पत्ति नाश, स्थिति का कारण होने वाले, गुणयुक्त, अजन्मा, अमर और अचिन्त्य आप का चिन्तन करके कोई भी व्यक्ति दुःखी नहीं रहता, फिर देखकर तो क्या ?'

इत्यादि के द्वारा युधिष्ठिर के दुःख का दूर होना दिखलाया गया है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९.१०१), ना० द० (१.११२), सा० द० (६.११२) तथा प्रता० (३.२१) में भी इसी प्रकार का लक्षण है।

९. कृति

लब्ध अर्थ का शमन (शान्ति या स्थिरीकरण) कृति कहलाता है ।

जैसे रत्नावली (४.२०–२१) में 'राजा—देवी के प्रसाद को कौन अधिक सम्मान न देगा ? वासवदत्ता—आर्यपुत्र, इसका मातृकुल (मायका) दूर है अतः ऐसा

पुत्र, दूरेऽस्या मातृकुलं तत्तथा कुरुष्व यथा बन्धुजनं न स्मरति ।') इत्यन्योन्यवचसा लब्धायां रत्नावल्यां राज्ञः सुश्लिष्टय उपशमनात्कृतिरिति ।

यथा च वेणीसंहारे 'कृष्णः—एते खलु भगवन्तो व्यासवाल्मीकि,—इत्यादिना 'अभिषेकमारब्धवन्तस्तिष्ठन्ति' इत्यनेन (इत्यन्तेन) प्राप्तराज्याभिषेकमङ्गलैः स्थिरीकरणं कृतिः ।

अथ भाषणम्—

(१०७)—मानाद्याप्तिश्च भाषणम् ।

कीजिये कि यह अपने बन्धुजनों को याद न करे ।

इत्यादि के द्वारा रत्नावली के प्राप्त होने पर राजा के भली-भाँति समागम (सुश्लिष्टि) के लिये उस (रत्नावली) का उपशमन (शान्ति, सान्त्वना) किया गया है। अतः कृति (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

और, जैसे वेणीसंहार* (६.४४) में 'कृष्ण—ये भगवान् व्यास, वाल्मीकि यहाँ से आरम्भ करके अभिषेक का आरम्भ कर रहे हैं···यहाँ तक, प्राप्त हुए राज्य का अभिषेक के मङ्गल द्वारा स्थिरीकरण दिखलाया गया है अतः 'कृति' (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९.१००) में 'लब्धार्थस्य शमनं द्युतिमाचक्षते पुनः' लक्षण है । इससे प्रतीत होता है कि 'कृति' के स्थान पर 'द्युति' नामक अङ्ग भी माना गया था । अभि० के अनुसार इसका अभिप्राय है—क्रोध आदि जो शमन करने योग्य अर्थ हैं यदि वे किसी प्रकार प्राप्त हो जायें तो भी उनका शमन कर देना द्युति है ना० द० (१.११०) की वृत्ति में इस मत को 'अपरे तु' करके दिया गया है। ना० द०(१.११०) के अनुसार 'कृतिः क्षेमम्, क्षेमम्=लब्धस्य परिपालनम्, अर्थात् प्राप्त वस्तु का स्थिरीकरण ही कृति है । दशरूपक में उद्धृत रत्ना० का सन्दर्भ ही वहाँ उदाहरणार्थ दिया गया है । सा० द० (६·१११) में दशरूपक के समान ही लक्षण है किन्तु वृत्ति में 'स्थिरीकरणं कृतिः कहा गया है । इसी प्रकार प्रता०(३.२१) में 'लब्धस्थिरीकरणं कृतिः' यह लक्षण है इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि 'प्राप्त वस्तु का स्थिरिकरण कृति है, इसमें अधिकांश आचार्य सहमत है । अतः यहाँ उपशमन का एक अर्थ 'स्थिरीकरण' मानना तो सङ्गत ही है, (द्वितीय उदा०) । किन्तु प्रथम उदा० में 'रत्नावली को सान्त्वना देना' अथवा 'रत्नवली के प्राप्त हो जाने पर वासवदत्ता के क्रोध की शान्ति (ना० शा०)—उपशमन के ये दोनों अर्थ सम्भव हैं ।

१०. भाषण

मान आदि की प्रप्ति भाषण कहलाती है ।

---

* यह पाठान्तर प्रतीत होता है ।

यथा रत्नावल्याम्—राजा—अतः परमपि प्रियमस्ति?

यातो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले
सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः प्रिया ।
देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज्जिता कोशलाः
किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मै करोमि स्पृहाम् ।।५८।।

इत्यनेन कामाथ...नादिलाभाद्भाषणमिति ।

अथ पूर्वभावोपगूहने—

(१०८) कार्यदृष्टयद्भु तप्राप्ती पूर्वभावोपगूहने ।।५३।।

कार्यदर्शनं पूर्वभावः यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—एवं विज्ञाय भगिन्याः संप्रति करणीये देवी प्रमाणम् । वासवदत्ता—फुडं ज्जेव किं ण भणेसि ? पडिवाएहि से रअणमालं त्ति ।' ('स्फुटमेव किं न भणसि ? प्रतिपादयास्मै

जैसे रत्नावली (४.२१) में 'राजा—इससे अधिक भी कुछ प्रिय हो सकता है ? विक्रमबाहु को अपने जैसा (आत्मीय) कर दिया, पृथिवीतल का सार सागर सहित समस्त पृथिवी की प्राप्ति का एकमात्र हेतु यह प्रिया सागरिका प्राप्त कर ली, बहिन की प्राप्ति से देवी (वासवदत्ता) प्रसन्न हो गई, कोशल प्रदेश जीत लिये गये । 'सचमुच ही, तुम जैसे श्रेष्ठ अमात्य के होने पर क्या नहीं है, जिसकी मैं कामना करूँ ?

इत्यादि के द्वारा काम, अर्थ और मान आदि की प्राप्ति दिखाई गई है अतः यहाँ भाषण (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९·१०२) के अनुसार 'सामदानादिसम्पन्नं भाषणं समुदाहृतम्' यह लक्षण है । सा० द० (६·११३) में भी 'सामदानादि भाषणम्' यह कहा गया है । ना० द० (१.११४) में 'भाषणं सामदानोक्तिः' अर्थात् प्रिय तथा हितकारी वचन भाषण है, यह कहकर इसे अधिक स्पष्ट किया गया है । प्रता० (३·२१) के अनुसार 'प्राप्तकार्यानुमोदनमाभाषणम्; अर्थात् प्राप्त हुए फल का अनुमोदन करना ही आभाषण कहलाता है । इन लक्षणों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि दशरूपक में दिया गया भाषण का लक्षण प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी अचार्यों के लक्षणों से भिन्न है । यहाँ तो फलागम से अन्वित मान आदि की प्राप्ति का वर्णन ही भाषण कहलाता है ।

११. पूर्व, १२· उपगूहन—

कार्य (फल) का दर्शन (बिना कहे समझ लेना) पूर्वभाव कहलाता है तथा अद्भुत अर्थ की प्र्प्ति उपगूहन है ।

कार्य का दर्शन पूर्वभाव है; जैसे रत्नावली (४.२०-२१) में 'यौगन्धरायण—यह जानकर बहिन (रत्नावली) के लिये अब क्या करना है इस विषय में देवी

रत्नमालामिति ।') इत्यनेन 'वत्सराजाय रत्नावली दीयताम्' इति कार्यस्य यौगन्धरायणाभिप्रायानुप्रविष्टस्य वासवदत्तया दर्शनात्पूर्वभाव इति ।

अद्भुतप्राप्तिरुपगूहनं यथा 'वेणीसंहारे' (नेपथ्ये) महासमरानलदग्धशेषाय स्वस्ति भवते राजन्यलोकाय ।

क्रोधान्धैर्यस्य मोक्षात्क्षतनरपतिभिः पाण्डुपुत्रैः कृतानि
प्रत्याशं मुक्तकेशान्यनुदिनमधुना पार्थिवान्तःपुराणि ।
कृष्णायाः केशपाशः कुपितयमसखो धूमकेतुः कुरूणां
दिष्टचा बद्धः प्रजानां विरमतु निधनं स्वस्ति राजन्यकेभ्यः ।।५६।।

युधिष्ठिरः—देवि, एष ते मूर्धजानां संहारोऽभिनन्दितो नभस्तलचारिणा सिद्धजनेन ।' इत्येतेनाद्भुतार्थप्राप्तिरुपगूहनमिति । लब्धार्थशमनात्कृतिरपि भवति ।

(वासवदत्ता) प्रमाण है । वासवदत्ता—स्पष्ट ही क्यों नहीं कहते कि इन्हें (महाराज को) रत्नावली दे दो ।

इत्यादि में "रत्नावली वत्सराज को दे दी जाये" यह कार्य (फल) है, जो यौगन्धरायण के अभिप्राय के अन्तर्गत है । यहाँ इसे वासवदत्ता ने समझ लिया है । अतः पूर्वभाव (नामक) निर्वहण सन्धि का अङ्ग है ।

अद्भुत अर्थ की प्राप्ति उपगूहन है; जैसे वेणीसंहार (६.४२) में (नेपथ्य में)—महासमर की अग्नि में जलने से बचे हुए क्षत्रियजन का कल्याण हो । जिस (केशपाश) के खुल जाने के कारण क्रोध से अन्धे हुए, अनुपम भुजबल वाले, राजाओं को नष्ट करने वाले पाण्डु के पुत्रों ने प्रत्येक दिशा में राजाओं के अन्तःपुरों को खुले हुए केशों वाला कर दिया था; क्रुद्ध यमराज का मित्र' (उसके सदृश), कौरवों के लिये धूमकेतु, कृष्णा (द्रौपदी) का वह यह केशपाश बँध गया है । अब प्रजा का विनाश रुक जाये, राजसमूह का कल्याण हो ।

हे देवी, गगनतल में विचरने वाले सिद्ध जनों के द्वारा इस केश-संयमन का अभिनन्दन किया जा रहा है ।

इत्यादि के द्वारा अद्भुत अर्थ की प्राप्ति का वर्णन है अतः यहाँ उपगूहन (नाम निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है । साथ ही यहाँ प्राप्त अर्थ का शमन (स्थिरीकरण) भी है अतः कृति (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) भी है ।

टिप्पणी—(i) ना० शा० (१९.१०२) के अनुसार 'पूर्ववाक्यं तु विज्ञेयं यथोक्तार्थप्रदर्शनम्' अर्थात् पूर्वोक्त का प्रदर्शन ही पूर्ववाक्य है । सा० द० (६.११३) में भी इसी प्रकार का लक्षण है । दशरूपक का लक्षण इससे भिन्न है । इसके अनुसार कार्य (फल) किसी के अभिप्राय का अंश होता है । दूसरा उस कार्य को शब्दों द्वारा कहे बिना ही भाँप लेता है । जैसा कि ऊपर रत्नावली नाटिका के उदाहरण से स्पष्ट है ना० द० (१.११५) के प्राग्भावः कृत्यदर्शनम्' का तथा प्रता० (३.२१) के 'इष्टकार्यदर्शनं पूर्वभावः, का भी यही तात्पर्य है । (ii) ना० शा० (१९.१०२) ना० द० (१.११३), सा० द० (६.११२.११३) तथा प्रता० (३.२१) में भी उपगूहन का इसी प्रकार का लक्षण है ।

अथ काव्यसंहारः—

(१०९) वराप्तिः काव्यसंहारः

यथा—'किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ।' इत्यनेन काव्यार्थसंहरणात् काव्यसंहार इति ।

अथ प्रशस्तिः—

(११०)—प्रशस्तिः शुभशंसनम् ।

यथा वेणीसंहारे—'प्रीतश्चेद्भवान् तदिदमेवमस्तु—

अकृपणमतिः कामं जीव्याज्जनः पुरुषायुपं
भवतु भगवद्भक्तिर्द्वैतं विना पुरुषोत्तमे ।
कलितभुवनो विद्वद्बन्धुर्गुणेषु विशेषवित्
सततसुकृती भूयाद् भूपः प्रसाधितमण्डलः ॥६०॥

इति शुभशंसनात्प्रशस्तिः ।

---

१३. काव्यसंहार—

वरदान की प्राप्ति काव्यसंहार कहलाता है ।

जैसे "मैं तुम्हारा और क्या करूँ ?" इत्यादि के द्वारा काव्यार्थ का उपसंहार किया जाता है (अतः यह काव्यसंहार नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—ना० शा० (१९·१०३) तथा सा० द० (६·११४) में 'वरप्रदान-सम्प्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते'—यह कहा गया है । इसका तात्पर्य भी दशरूपक के लक्षण के समान ही है । ना० द० (१·११५) के अनुसार 'वरेच्छा काव्यसंहारः' ईप्सितं दातुं वरेच्छा; अर्थात् अभीष्ट वर को प्रदान करने की अभिलाषा को काव्यसंहार कहा जाता है । इस लक्षण में भाव अधिक स्पष्ट हो गया है । प्रता० (३·२१) में 'काव्यार्थोपसंहृतिः संहारः' यह लक्षण है ।

१४. प्रशस्ति—

शुभ (अर्थ) का कथन ही प्रशस्ति कहलाता है ।

जैसे वेणीसंहार (६·४६) में युधिष्ठिर कृष्ण के प्रति कहते हैं फिर भी यदि आप प्रसन्न हैं तो यह हो जाये—लोग अदीन मति वाले होकर पुरुष की आयुपर्यन्त जीवें । पुरुषोत्तम में अनन्य भक्ति होवे । राजा प्रजा-प्रेमी (दयितभुवनः—दयितं भुवनं यस्य स प्रियलोकः) विद्वानों का बन्धु, गुणों का विशेषज्ञ, निरन्तर पुण्य करने वाला तथा राज-समूह को अलङ्कृत करने वाला (अथवा वश में करने वाला) होवे ।

यहाँ शुभ-कथन किया गया है अतः प्रशस्ति (नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग) है ।

इत्येतानि चतुर्दशनिर्वहणाङ्गानि । एवं चतुः षष्टयङ्गसमन्विताः पञ्चसन्धयः प्रतिपादिताः ।

टिप्पणी–(१) ना० शा० (१९·१०४) में 'नृपदेशप्रशान्तिश्च प्रशस्तिः' यह लक्षण है। इसी प्रकार का लक्षण सा० द० (६·११४) में है। इस लक्षण का तात्पर्य भी दशरूपक के समान ही है। ना० द० (१·११६) तथा प्रता० (३·२१) में दशरूपक के समान ही लक्षण है। (१) 'प्रशस्ति' नामक अङ्ग की योजना अनिवार्य है। यह रूपक का अन्त मङ्गल है। (३) काव्यसंहार तथा प्रशस्ति दोनों रूपक के अन्त में इसी क्रम से आते हैं।

ये चतुर्दश निर्वह : सन्धि के अङ्ग हैं। इस प्रकार ६४ अङ्गों से युक्त पञ्च-सन्धि का प्रतिपादन किया गया है।

टिप्पणी—(१) निर्वहण सन्धि में बीज का फल-प्राप्ति के साथ सम्बन्ध दिखलाया जाता है। यह फल-प्राप्ति नायक-व्यापार (कार्य) के द्वारा होती है। इसी हेतु इसे कार्य नामक अर्थप्रकृति और फलागम नामक कार्यावस्था का समन्वय कहा जाता है। उपर्युक्त सभी अङ्गों का फलागम से सम्बन्ध होता है। उदाहरणार्थ फलप्राप्ति को दृष्टि में रखकर जो बीज का संधान किया जाता है वही सन्धि नामक अङ्ग होता है। इसी प्रकार अन्त में निर्विघ्न रूप से फल-प्राप्ति हो चुकने पर काव्यसंहार तथा प्रशस्ति नामक अङ्ग हुआ करते हैं। (२) ना० शा० (१९·६५–६७), ना० द० (१ १०३) सा० द० (६·१०८-१०९) तथा प्रता० (३·२०–२१) में सर्वत्र निर्वहण सन्धि के चौदह अङ्ग माने गये हैं यत्र-तत्र उनके नामों तथा लक्षणों में थोड़ा सा अन्तर है, जिसका यथावसर उल्लेख किया गया है। (३) पाँचों सन्धियों के कुल मिलाकर ६४ अङ्ग माने गये हैं (ना० शा० १९·६७); किन्तु इनके विषय में निम्न बातें ध्यान रखने योग्य हैं–(क) किसी एक सन्धि में बतलाया गया अङ्ग दूसरी सन्धि में भी हो सकता है, जैसे 'युक्ति' नामक अङ्ग मुखसन्धि में कहा गया है किन्तु वेणीसंहार में गर्भसन्धि में भी इसकी योजना की गई है (अभिनव० १९·१०५) (ख) एक ही सन्धि में कोई एक सन्ध्यङ्ग दो या तीन बार भी आ जाता है। (वही १९·१०५)। (ग) जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है, प्रत्येक सन्धि के अङ्गों में से कुछ ही अनिवार्य माने जाते हैं; परन्तु कभी-कभी श्रेष्ठ कवियों के प्रबन्धों में भी अनिवार्य माना जाने वाला अङ्ग नहीं मिलता। वस्तुतः भरतमुनि का कथन है कि कुशल कवियों को रस एवं भाव के आधार पर जो अङ्ग जिस सन्धि में आवश्यक हो उसकी योजना करनी चाहिये (ना० शा० १९·१०४–१०५)। (घ) सन्ध्यङ्गों का जो क्रम दशरूपक या किसी अन्य नाट्य-ग्रन्थ में दिया गया है वही क्रम रूपकों में नहीं हुआ करता (लक्षणे एवायं क्रमो न निबन्धने; अभिनव० १९·६९)।

षट्प्रकारं चाङ्गानां प्रयोजनमित्याह—

(१११) उक्ताङ्गानां चतुःषष्टिः षोढा चैषां प्रयोजनम् ॥५४॥

कानि पुनस्तानि षट् प्रयोजनानि ? (तान्याह)—

(११२) इष्टस्यार्थस्य रचना गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम् ।
राग: प्रयोगस्याश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ॥५५॥

विविक्षितार्थनिबन्धनं गोप्यार्थगोपनं प्रकाश्यार्थप्रकाशनमभिनेयरागवृद्धिश्चमत्कारित्वं च काव्यस्येतिवृत्तस्य विस्तर इत्यङ्गैः षट्प्रयोजनानि संपाद्यन्त इति ।

सन्ध्यङ्गों का प्रयोजन

इन सन्ध्यङ्गों का प्रयोजन ६ प्रकार का है, यह बतलाते हैं—

उपर्युक्त (सन्धि के) अङ्ग ६४ हैं और प्रयोजन ६ प्रकार का है ।

वे ६ प्रयोजन कौन से हैं ? उनको बतलाते हैं—

१. इष्ट अर्थ की रचना, २. गोपनीय को गुप्त रखना, ३. प्रकाशन ४. अभिनय में राग, ५. (काव्य का) वैचित्र्य और ६. इतिवृत्त का विच्छिन्न न होना ।

विवक्षित अर्थ की रचना गोपनीय अर्थ का छिपाना, प्रकाशित करने योग्य वस्तु को प्रकाशित करना, अभिनेय वस्तु के प्रति राग की वृद्धि और चमत्कारिता तथा काव्य की कथावस्तु का विस्तार ये ६ प्रयोजन सन्धि अङ्गों के द्वारा सम्पादित किये जाते हैं ।

टिप्पणी—(क) मि०, ना० शा० (१९·५१. ५२), सा० द० (६.११६–११७) प्रता० (३·२१) (ख) ६४ सन्ध्यङ्गों की योजना के ६ प्रयोजन हैं । (१) रूपक में जिस अर्थ का समावेश करना अभीष्ट होता है उस अर्थ का समावेश कर दिया जाता है । (२) कथावस्तु का जो अंश रङ्गमञ्च पर दिखलाना अभीष्ट नहीं होता, गोपनीय होता है उसको छिपा लिया जाता है । (३) (अभि० भा० ना० शा० (१९.५२) के अनुसार प्रकाशनम् = विस्तारणम् । इस प्रकार जिस वस्तु का विस्तार करना उपयोगी है उसका विस्तार कर दिया जाता है । अथवा प्रकाशित करने योग्य वस्तु को प्रकाशित किया जाता है । (४) सन्धि के अङ्गों की समुचित योजना से इतिवृत्त की संघटना इतनी सुव्यवस्थित हो जाती है कि अभिनेय वस्तु के विषय में दर्शकों की रुचि (राग) बढ़ने लगती है । (५) बार-बार सुनी गई भी कथा किसी काव्य का नाटच का इतिवृत्त बन जाया करती है, सन्ध्यङ्गों की सम्यक् योजना से उसका प्रयोग भी अपूर्व सा प्रतीत होने लगता है उसमें वैचित्र्य (चमत्कार) की प्रतीति होने लगती है (६) नाटच आदि प्रबन्धों में कथा का विच्छेद अरुचि एवं नीरसता को उत्पन्न कर दिया करता है, सन्ध्यङ्गों की सम्यक् योजना से कथावस्तु का विच्छेद नहीं होता । नाटचदर्पण (१·११६) के अनुसार तो केवल इतिवृत्त का अविच्छेद ही सन्ध्यङ्गों का प्रयोजन है । कथावस्तु के अविच्छेद से रस की पुष्टि होती है । इसलिये रस-योजना

पुनर्वस्तुविभागमाह--

(११३) द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः ।
सूच्यमेव भवेत् किञ्चिद् दृश्यश्रव्यमथापरम् ॥५६॥

कीदृक्सूच्यं कीदृग्दृश्यश्रव्यमित्याह—

(११४) नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः ।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः ॥५७॥

सूच्यस्य प्रतिपादनप्रकारमाह--

में तत्पर कवियों को सन्ध्यङ्गों की सम्यक् योजना करनी चाहिये । सा० द० (६-१२०) में यह भी बतलाया गया है कि सन्ध्यङ्गों का उद्देश्य रस की अभिव्यक्ति है केवल नाटचशास्त्र की मर्यादा का पालन नहीं ।

बीज तथा नायक-व्यापार (कार्यावस्था) के समन्वय की दृष्टि से इतिवृत्त का पाँच सन्धियों में विभाजन किया गया है । अब वर्णन (=वस्तु-निबन्धन) की दृष्टि से वस्तु-विभाजन पर विचार किया जाता है ।

वस्तु-निबन्धन की दृष्टि से वस्तु-विभाजन

फिर वस्तु का विभाजन बतलाया है--

यहाँ (रूपक में) समस्त वस्तु का दो प्रकार का विभाग करना चाहिये ; कुछ वस्तु तो सूच्य होनी चाहिये और दूसरी दृश्य तथा श्रव्य ॥५६॥

कैसी वस्तु सूच्य होती है और कैसी दृश्य तथा श्रव्य, यह बतलाते हैं--

उनमें वस्तु का जो भाग (वस्तु-विस्तर) नीरस हो, या (जिसका रङ्ग-मञ्च पर दिखाना) अनुचित हो उसे भली-भाँति सूचित करना चाहिये । किन्तु जो (वस्तु का भाग) चित्ताकर्षक, उदात्त, रस एवं भाव से पूर्ण हो उसे रङ्गमञ्च पर दिखाना चाहिये (दृश्यः) ॥५७॥

टिप्पणी---रूपक दृश्य होते है । उनका रङ्गमञ्च पर अभिनय किया जाता है । इसलिये किसी नायक के जीवन की सभी घटनाओं का रूपक में वर्णन नहीं किया जा सकता । इसके अतिरिक्त भारतीय नाटच-परम्परा के अनुसार कुछ घटनाओं का रङ्ग-मञ्च पर अभिनय करना वर्जित (अनुचित) है, जैसे किसी की मृत्यु आदि । साथ ही, रूपक रसाश्रित होते हैं अतः नीरस वस्तु का वर्णन भी रूपक में वाञ्छनीय नहीं । इस प्रकार की सभी घटनाओं का अभिनय तो नहीं किया जाता किन्तु कथा-सूत्र को अविच्छिन्न रखने के लिये इनकी सूचना अवश्य देनी होती है । इसी आधार पर दो प्रकार की वस्तु है—१. सूच्य २. दृश्य । सूच्य है नीरस तथा अनुचित (=रङ्गमञ्च पर न दिखलाने योग्य तथा वर्जित); दृश्य है--रोचक, उदात्त-भावनाओं से पूर्ण, रस-भाव-पूर्ण ।

सूच्य वस्तु के प्रतिपादन का प्रकार बतलाते हैं—

(११५) अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् ।
विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ॥५८॥

तत्र विष्कम्भकः—

(११६) वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ॥५९॥

अतीतानां भाविनां च कथावयवानां ज्ञापको मध्यमेन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां प्रयोजितो विषकम्भक इति ।

स द्विविधः शुद्धः, संकीर्णश्चेत्याह—

(११७) एकानेककृतः शुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्यमैः ।

एकेन द्वाभ्यां वा मध्यमपात्राभ्यां शुद्धो भवति, मध्यमाधमपात्रैर्युगपत्प्रयोजितः सङ्कीर्ण इति ।

---

१. विष्कम्भक, २. चूलिका, ३. अङ्कास्य, ४. अङ्कावतार और ५. प्रवेशक इन पाँच अर्थोपक्षेपकों (इतिवृत्त के सूचकों) के द्वारा सूच्य वस्तु का प्रतिपादन करना चाहिये ॥५८॥

१. विष्कम्भक (विष्कम्भ)

उनमें विष्कम्भ हैः —

बीते हुए और आगे होने वाले कथा-भागों का सूचक, संक्षिप्त अर्थ वाला तथा मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त जो अर्थोपक्षेपक है, वह विष्कम्भक कहलाता है ॥५९॥

अर्थात् (क) भूत और भविष्य के कथांशों का सूचक, (ख) एक या दो मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक होता है ।

वह दो प्रकार का होता है—शुद्ध और सङ्कीर्ण, यह बतलाते हैं—

एक या अनेक मध्यम पात्रों द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक शुद्ध कहलाता है । और मध्यम तथा अधम पात्रों द्वारा मिलकर प्रयोजित विष्कम्भक सङ्कीर्ण कहलाता है ।

टिप्पणी—(१) रूपक में तीन प्रकार के पात्र माने जाते हैं—उत्तम-राजा इत्यादि, ये संस्कृत बोलते हैं । मध्यम-अमात्य, सेनापति, वणिक्, पुरोहित आदि ये भी संस्कृत बोलते हैं । अधम-दास, चेटी इत्यादि जो प्राकृत भाषा बोलते हैं ।

(२ क)—जिस इतिवृत्त को अङ्कों में नहीं दिखलाया जा सकता विष्कम्भक में उसकी सूचना दी जाती है । (ख) विष्कम्भक का वर्ण्य अर्थ संक्षिप्त होता है, विस्तृत अर्थ को भी संक्षेप में ही कहा जाता है । (ग) यह भूत तथा भविष्य के कथाभाग को सूचित करके कथा-सूत्र को अविच्छिन्न बनाता है । (घ) इसका, अङ्क के प्रारम्भ में प्रयोग किया जाता है, अर्थात् यह प्रथम अङ्क में आमुख, के पश्चात् रक्खा जा सकता है तथा अन्य अङ्कों के प्रारम्भ में भी । किन्तु कोहल का मत है कि विष्कम्भक

अथ प्रवेशकः—

(११८) तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः ॥६०॥

तद्वदेवेति भूतभविष्यदर्थज्ञापकत्वमतिदिश्यते, अनुदात्तोक्त्या नीचेन नीचैर्वा पात्रैः प्रयोजित इति विष्कम्भलक्षणापवादः' अङ्कद्वयस्यान्त इति प्रथमाङ्के प्रतिषेध इति।

का प्रयोग केवल प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में ही होता है, अन्य अङ्कों में इसका प्रयोग होता ही नहीं (ना० द० १.२०)। (ङ) एक मध्यम पात्र द्वारा या अनेक मध्यम पात्रों द्वारा अथवा मध्यम और नीच दोनों प्रकार के पात्रों द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है। (च) मध्यम पात्र संस्कृत बोलते हैं तथा अधम पात्र प्राकृत (शौरसेनी)—विशेष द्र०, ना० द० १.२०। जिस विष्कम्भक में केवल मध्यम पात्र होते हैं वह शुद्ध कहलाता है, किन्तु जिसमें मध्यम तथा अधम दोनों प्रकार के पात्र होते हैं वह संकीर्ण।

२. प्रवेशक—

उसी प्रकार (=भूत और भविष्य के कथांशों का सूचक) नीचपात्रों द्वारा अनुदात्त उक्तियों से प्रयुक्त, दो अङ्कों के बीच में स्थित तथा शेष (अप्रदर्शनीय) अर्थ का सूचक प्रवेशक (प्रवेश) कहलाता है ॥६०॥

तद्वद् एव (उसी प्रकार) इस (शब्द) के द्वारा भूत और भविष्यत् अर्थ की सूचना देने वाला बतलाया गया है, अनुदात्त उक्ति से एक नीच या अनेक नीच पात्रों द्वारा प्रयुक्त—यह कहकर विष्कम्भक के लक्षण से भेद किया गया है; दो अङ्कों के बीच में—यह कहकर प्रथम अङ्क में (प्रवेशक का) निषेध किया गया है।

(१) टिप्पणी—(१) अतिदिश्यते=अतिदेश किया जाता है, एक पदार्थ के धर्म का दूसरे पदार्थ से सम्बन्ध दिखलाना अतिदेश कहलाता है—अन्यधर्मस्यान्यत्राभिसम्बन्धोऽतिदेशः। यहाँ विष्कम्भक के धर्म (भूत—भविष्य अर्थ की सूचकता) का प्रवेशक में अतिदेश किया गया है। (२) प्रवेशक में विष्कम्भक से समानता यह है—(क) अङ्कों में न दिखलाने योग्य इतिवृत्त का सूचक होता है। (ख) वर्ण्य अर्थ संक्षिप्त होता है। (ग) भूत तथा भविष्यत् के कथा-भाग को सूचित करके कथासूत्र को जोड़ता है। दोनों का अन्तर यह है:—(क) विष्कम्भक में विशेषकर मध्यम पात्रों का प्रयोग किया जाता है, कभी मध्यम के साथ अधम का भी। फलतः (ख) विष्कम्भक में मुख्यतः संस्कृत भाषा का व्यवहार होता है। सङ्कीर्ण विष्कम्भक में संस्कृत के साथ प्राकृत (शौरसेनी) का भी, दूसरी ओर प्रवेशक में केवल अधम पात्रों का ही प्रयोग होता है और तदनुसार इसमें संस्कृत भाषा का व्यवहार नहीं होता, केवल प्राकृत भाषा का व्यवहार होता है। प्राकृत भी निम्नकोटि की शकारी, आभीरी, चाण्डाली आदि (अनुदात्तोक्त्या इत्यादि)। (ग) विष्कम्भक की योजना प्रथम अङ्क के आरम्भ में तथा अन्य अङ्कों के आरम्भ में भी हो सकती है; किन्तु प्रवेशक सदा दो अङ्कों के बीच में ही आता है वह कभी प्रथम अङ्क के आरम्भ में नहीं आ सकता (अङ्कद्वयस्यान्तः)।

अथ चूलिका

(११९) अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना ॥६१॥

नेपथ्यपात्रेणार्थसूचनं चूलिका, यथोत्तरचरिते द्वितीयाङ्कस्यादौ—(नेपथ्ये) स्वागतं तपोधनायाः (ततः प्रविशति तपोधना)' इति नेपथ्यपात्रेण वासन्तिकयाऽऽत्रेयी-सूचनाच्चूलिका ।

यथा वा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ—(नेपथ्ये) भो भो वैमानिकाः, प्रवर्त्यन्तां प्रवर्त्यन्तां मङ्गलानि—

कृशाश्वान्तेवासी जयति भगवान्कौशिकमुनिः
सहस्रांशोर्वंशे जगति विजयि क्षत्रमधुना ।
विनेता क्षत्रारेर्जगदभयदानव्रतधरः
शरण्यो लोकानां दिनकरकुलेन्दुर्विजयते ॥५१॥

इत्यत्र नेपथ्यपात्रैर्देवैः 'रामेण परशुरामो जितः' इति सूचनाच्चूलिका ।

अथाङ्कास्यम्—

(१२०) अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ।

---

३. चूलिका

जवनिका के भीतर स्थित पात्रों के द्वारा किसी अर्थ (बात) की सूचना देना चूलिका कहलाता है ॥६१॥

नेपथ्ये में स्थित पात्र के द्वारा अर्थ की सूचना चूलिका है; जैसे उत्तररामचरित नाटक के द्वितीय अङ्क के आरम्भ में—'(नेपथ्ये में) तपस्विनी का स्वागत हो (तब तपस्विनी आत्रेयी प्रवेश करती है) । यहाँ पर नेपथ्य-पात्र वासन्ती द्वारा आत्रेयी (के आने) की सूचना दी गई है अतः यहाँ चूलिका (नामक अर्थोपक्षेपक) है ।

अथवा जैसे महावीरचरित नाटक के चतुर्थ अङ्क के आरम्भ में—('नेपथ्य में) हे विमान से चलने वालों (देवों), मङ्गलों का आरम्भ करो, आरम्भ करो—(४.१) कृशाश्व के शिष्य भगवान् कौशिक मुनि (विश्वामित्र) की जय हो रही है । इस समय संसार में सहस्ररश्मि (सूर्य) के वंश में क्षत्र (क्षत्रिय जाति या क्षात्र धर्म) विजयी हो रहा है । क्षत्रियों के शत्रुओं का दमन करने वाले (विनेता), संसार को अभयदान करने के व्रत के धनी, लोगों को शरण देने वाले सूर्यवंश के चन्द्रमा (राम) विजयी हो रहे हैं ।

यहाँ पर नेपथ्य-पात्र देवों के द्वारा 'राम ने परशुराम को जीत लिया' यह सूचना दी गई है अतः चूलिका (नामक अर्थोपक्षेपक) है ।

४. अङ्कास्य

अङ्क के अन्त में आने वाले पात्रों के द्वारा (पूर्व अङ्क से) असम्बद्ध (=विच्छिन्न) अग्रिम अङ्क के अर्थ की सूचना देने के कारण यह अङ्कास्य कहलाता है ।

अङ्कान्त एव पात्रमङ्कान्तपात्रं तेन विश्लिष्टस्योत्तराङ्कमुखस्य सूचनं तद्वशेनोत्तराङ्कावतारोऽङ्कास्यमिति, यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते—('प्रविश्य) सुमन्त्रः—भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्वयतः। इतरे क्व भगवन्तौ ? सुमन्त्रः-महाराजदशरथस्यान्तिके। इतरे—तदनुरोधात्तत्रैव गच्छामः, इत्यङ्कसमाप्तौ '(ततः प्रविशन्त्युपविष्टा वसिष्ठविश्वामित्रपरशुरामाः), इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथार्थविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यमिति।

अङ्क के अन्त में आने वाला पात्र अङ्कपात्र है। उसके द्वारा (तेन) (पूर्व अङ्क से) असम्बद्ध अग्रिम अङ्क के आरम्भिक अर्थ (मुख) की सूचना; उस (सूचना) का आश्रय लेकर जहाँ अग्रिम अङ्क का आरम्भ होता है वह अङ्कास्य कहलाता है। जैसे महावीरचरित नाटक में द्वितीय अङ्क के अन्त में (प्रविष्ट होकर) सुमन्त्र—आदरणीय वसिष्ठ और विश्वामित्र आप सबको परशुराम सहित बुला रहे हैं। दूसरे—वे कहाँ हैं ? सुमन्त्र महाराज दशरथ के पास। दूसरे—उनके अनुरोध से वहीं चलते हैं।'

इस प्रकार अङ्क की समाप्ति हो जाने पर (तब बैठे हुए वसिष्ठ, विश्वामित्र, और परशुराम प्रवेश करते हैं)।

यहाँ पर पूर्व (द्वितीय) अङ्क के अन्त में ही प्रविष्ट होने वाले सुमन्त्र नामक पात्र के द्वारा शतानन्द और जनक की कथा के समाप्त हो जाने पर अग्रिम (तृतीय) अङ्क के प्रारम्भिक अर्थ (वसिष्ठ और विश्वामित्र आदि का संवाद) की सूचना दी गई है, अतः यह अङ्कास्य है।

टिप्पणी—ना० शा० (१९·११६) में इसे 'अङ्कमुख' कहा गया है तथा इसे अङ्कावतार के पश्चात् रखा गया है। भरत के अनुसार अङ्कमुख का लक्षण है—

विश्लिष्टमुखमङ्कस्य स्त्रिया पुरुषेण वा।
यदुपक्षिप्यते पूर्वं तदङ्कमुखमुच्यते॥

अर्थात् जहाँ किसी स्त्री या पुरुष पात्र के द्वारा पूर्व अङ्क में दूसरे अङ्क की विच्छिन्न प्रारम्भिक कथा (मुख) की सूचना दी जाती है वहाँ अङ्कमुख होता है। दशरूपक में इसका ही अनुसरण किया गया है। ना० द० (१·२२) तथा प्रता० (३·२१) में भी इसी प्रकार का लक्षण है। ना० द० के अनुसार अङ्कास्य तथा अङ्कमुख एक ही है। भा० प्र० (पृ० २१७–२१८) का लक्षण भी इसके समान ही है। किन्तु वहाँ अङ्कास्य के साथ-साथ अङ्कमुख का पृथक्शः वर्णन किया गया है। साहित्यदर्पण का मार्ग भिन्न है। यहाँ पञ्चम अर्थोपक्षेपक 'अङ्कमुख' माना गया है, जिसका लक्षण है—जहाँ एक अङ्क में अन्य अङ्कों की कथा की सूचना दी जाती है और जो बीजार्थ का प्रकट करने वाला होता है (६·५९–६०)। साहित्यदर्पणकार ने दशरूपक का अङ्कास्य का लक्षण तथा उदाहरण भी दिखलाया है किन्तु वहाँ यह भी उल्लेख कर दिया है कि अन्य नाट्याचार्यों के अनुसार दशरूपक का 'अङ्कास्य' तो अङ्कावतार के अन्तर्गत ही आ जाता है। भावप्रकाशन तथा साहित्यदर्पण के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि इनसे पूर्व अङ्कास्य और अङ्कमुख दोनों का पृथक्-पृथक् लक्षण माना जाने लगा होगा।

अथाङ्कावतार—

(१२१) अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः ॥६२॥

यत्र प्रविष्टपात्रेण सूचितमेव पुर्वाङ्कावच्छिन्नार्थतयैवाङ्कान्तरमापतति प्रवेशक-विष्कम्भकादिशून्यं सोऽङ्कावतारः, यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमाङ्कान्ते 'विदूषकः—तेण हि दुवेवि देवीए पेक्खागेहं गदुअ सङ्गीदोवअरणं करिअ तत्थभवदो दूदं विसज्जेध अथवा मुदङ्गसद्दो ज्जेव णं उत्थावयिस्सदि ।' (तेन हि द्वावपि देव्याः प्रेक्षागेहं गत्वा सङ्गीतकोपकरणं कृत्वा तत्रभवतो दूतं विसर्जयतम्, अथवा मृदङ्गशब्द एवैनमुत्थाप-यिष्यति ।') इत्युपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणादनन्तरं सर्वाण्येव पात्राणि प्रथमाङ्कप्रक्रान्त-पात्रसंक्रान्तिदर्शनं द्वितीयाङ्कादावारभन्त इति प्रथमाङ्कार्थाविच्छेदेनैव द्वितीयाङ्कस्या-वतरणादङ्कावतार इति ।

---

५. अङ्कावतार

जहाँ (पूर्व) अङ्क का अन्त हो जाने पर (अग्रिम) अङ्क का अभिन्न (अविच्छिन्न) रूप से अवतरण हो जाता है वह अङ्कावतार कहलाता है ।

जहाँ पहिले अङ्क में प्रविष्ट पात्र के द्वारा सूचित किया गया, पहिले अङ्क की कथा का विच्छेद किये बिना ही अन्य अङ्क अवतरित हो जाता है तथा प्रवेशक विष्कम्भक आदि का प्रयोग नहीं होता वह अङ्कावतार है । जैसे मालविकाग्निमित्र के प्रथम अङ्क के अन्त में 'विदूषक तो आप दोनों देवी के प्रेक्षागृह में जाकर सङ्गीत की सामग्री एकत्र करके उनके पास दूत भेज दीजिये अथवा मृदङ्ग का शब्द ही उन्हें उठा देगा' ।

इस प्रकार का उपक्रम होने पर मृदङ्ग का शब्द सुनने के पश्चात् सभी पात्र द्वितीय अङ्क के आरम्भ में प्रथम अङ्क में प्रविष्ट पात्रों (हरदत्त और गणदास) के शिष्य-शिक्षा-क्रम (संक्रान्ति) का अवलोकन आरम्भ कर देते हैं । इस प्रकार यहाँ प्रथम अङ्क की कथा का विच्छेद किये बिना ही द्वितीय अङ्क अवतरित होता है, अतः अङ्कावतार (नामक अर्थोपक्षेपक) है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१९·११५) के अनुसार अङ्कावतार का लक्षण है—जहाँ प्रयोग का आश्रय लेकर पूर्व अङ्क के अन्त में ही अग्रिम अङ्क अवतरित हो जाता है, वह बीजार्थ की उक्ति से युक्त अङ्कावतार कहलाता है । ना० द० (१·२३) के अनुसार इसका लक्षण है—'सोऽङ्कावतारो यत् पात्रैरङ्कान्तरमसूचनम्' अर्थात् जो पूर्व अङ्क के पात्रों के द्वारा (विष्कम्भक आदि के माध्यम से अन्य पात्रों के आगमन की) सूचना दिये बिना ही दूसरे अङ्क का आरम्भ कर दिया जाता है वह अङ्कावतार कहलाता है । यह लक्षण तथा उदाहरण दशरूपक के समान ही है । सा० द० (६ ५८) तथा प्रता० (३.२५) में भी इसी प्रकार का लक्षण है किन्तु वहाँ यह कुछ अधिक स्पष्ट हो गया है । संक्षेप में जहाँ (क) पूर्व अङ्क में अग्रिम अङ्क की वस्तु सूचित हो

(१२१ क) एभिः संसूचयेत् सूच्यं दृश्यमङ्कैः प्रदर्शयेत् ।

पुनस्त्रिधा वस्तुविभागमाह—

जाती है। (ख) उसे सूचित करने के लिये विष्कम्भक या प्रवेशक आदि का प्रयोग नहीं किया जाता। (ग) अग्रिम अङ्क के पात्रों की सूचना नहीं दी जाती; क्योंकि पूर्व अङ्क के पात्र ही अग्रिम अङ्क के आरम्भ में रहते हैं, (घ) पूर्व अङ्क की कथा के प्रवाह में ही अग्रिम अङ्क का आरम्भ हो जाता है (अविभागतः), वहाँ अङ्कावतार कहलाता है। अङ्कास्य और अङ्कावतार--समानता—(क) दोनों किसी अङ्क के अभिन्न अङ्ग होते हैं प्रवेशक आदि की भाँति अङ्क से बाहर नहीं (ख) दो अङ्कों के मध्य में होते हैं। अन्तर यह है—अङ्कास्य में अग्रिम अक पूर्व अङ्क से असम्बद्ध रूप में आरम्भ होता है (छिन्नाङ्क); अर्थात् पूर्व अङ्क का अथांश समाप्त हो जाता है, उस अङ्क में स्थित पात्रों द्वारा दूसरे (विच्छिन्न) कथाभाग की सूचना दी जाती है और तब उस सूचित तथा पूर्व अङ्क की कथा से असम्बद्ध कथा का अग्रिम अङ्क में आरम्भ होता है। इसके विपरीत अङ्कावतार में पूर्व अङ्क के अङ्गरूप में ही अग्रिम अङ्क आरम्भ हो जाता है (अविभागतः)। अभिप्राय यह है कि पूर्व अङ्क की कथा का विच्छेद नहीं होता। अग्रिम अङ्क की कथा उससे अविच्छिन्न रूप में चलती रहती है। हाँ, उस कथांश की सूचना पूर्व अङ्क में अवश्य मिल जाती है, जैसे माल० के प्रथम अङ्क के अन्त में हरदत्त और गणदास के शिष्य-शिक्षा-क्रम (संक्रान्ति) की सूचना मिल जाती है (३) अन्य आचार्यों का मत है कि जिस अङ्क में दूसरे सब अङ्कों के बीजभूत अर्थ की अवतारणा होती है वह अङ्कावतार है। जैसे रत्नावली के द्वितीय अङ्क में 'ईदृशस्य कन्यारत्नस्येदृश एव वरेऽभिलाषेण भवितव्यम्' यहाँ सब अङ्कों का बीजभूत अनुराग रूप अथ है। इसे गर्भाङ्क भी कहा जाता है (ना० द० १.२३)।

इन (उपर्युक्त अर्थोपक्षेपकों) के द्वारा सूचित करने योग्य अर्थ को सूचित करना चाहिये और (रङ्गमञ्ज पर) दिखलाने योग्य (दृश्य) वस्तु को अङ्कों के द्वारा दिखलाना चाहिये।

टिप्पणी—(१) ना० द० (१·२४) में यह भी बतलाया है कि जहाँ बहुत अधिक अर्थ सूचित करना होता है वहाँ विष्कम्भक और प्रवेशक का प्रयोग किया जाता है उससे अल्प अर्थ यदि सूचनीय हो तो अङ्कास्य का, अल्पतर अर्थ हो तो चूलिका का तथा अल्पतम अर्थ हो तो अङ्कावतार का प्रयोग किया जाता है। अङ्कास्य तथा अङ्कावतार दोनों अङ्क के अन्तर्गत रहते हैं, विष्कम्भक तथा प्रवेशक अङ्क से बाहर होते हैं और चूलिका तो यथावसर अङ्क के भीतर या बाहर हो सकती है (प्रता० ३·२५ टीका)।

नाटय-धर्म की दृष्टि से वस्तु के भेद

फिर तीन प्रकार के वस्तु भेद बतलाये है—

(१२२) नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते ॥६३॥

केन प्रकारेण त्रैधं तदाह—

(१२३) सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च ।

तत्र—

(१२४) सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम् ॥६४॥

सर्वश्राव्यं यद्वस्तु तत्प्रकाशमित्युच्यते । यत्तु सर्वस्याश्राव्यं तत्स्वगतमितिशब्दाभिधेयम् ।

नियतश्राव्यमाह—

नाट्यधर्म की दृष्टि से भी वस्तु तीन प्रकार की मानी जाती है ॥६३॥

टिप्पणी—नाट्यधर्म = अभिनय के नियम; नाट्यशास्त्रमर्यादा (प्रभा)। सा० द० (६·१३७) में नाट्यधर्म के स्थान पर नाट्योक्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है:—अवस्थानुकृति ही नाट्य है । इससे लोकवृत्त का अनुकरण किया जाता है। लोक में सभी बातें एक रूप से नहीं कही जाती। कोई बात सबके सामने कही जाती है (सर्वश्राव्य), कोई किसी से छिपाई जाती है तथा दूसरे पर प्रकट की जाती है (नियतश्राव्य), कोई बात सभी से छिपाकर मन ही मन कही जाती हैं (अश्राव्य)। इनमें नियतश्राव्य किसी से गोपनीय होता है सभी से नहीं, अश्राव्य तो सर्वथा गोपनीय होता है। किन्तु नाट्य, में इनकी गोपनीयता केवल अभिनय करने वाले पात्रों की अपेक्षा से होती है। सामाजिकों को तो ये सब बातें सुनानी होती हैं यदि सामाजिक इन बातों को न सुन सकेगा तो कथाप्रवाह में बाधा पड़ेगी और भलीभाँति रसास्वादन न किया जा सकेगा। इस प्रकार लोकवृत्त का अनुकरण करने के लिये ही अभिनय में इन विविध उक्तियों का प्रयोग किया जाता है। ये नाट्य के धर्म (=स्वभाव) हैं। इनके प्रयोग से नाट्य में स्वाभाविकता रहती है।

तीन भेद किस प्रकार हैं, यह बतलाते हैं—

१. सबके ही सुनने योग्य (सर्वश्राव्य), २. नियत जनों के ही सुनने योग्य (नियतश्राव्य) तथा ३. किसी के भी न सुनने योग्य (अश्राव्य)।

उनमें

१. प्रकाश, २. स्वगत—

सबके सुनने योग्य वस्तु 'प्रकाश' तथा किसी के भी न सुनने योग्य वस्तु 'स्वगत' कहलाती है ॥६४॥

जो सर्वश्राव्य वस्तु है वह 'प्रकाश' (प्रकट रूप से) इस नाम से कही जाती है किन्तु जो सबके लिये ही आश्राव्य होती है वह 'स्वगत' इस शब्द से कही जाती है।

नियतश्राव्य को बतलाया है—

(१२५) द्विधाऽन्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम् ।

अन्यत्तु नियतश्राव्यं द्विप्रकारं जनान्तिकापवारितभेदेन ।

तत्र जनान्तिकमाह—

(१२६) त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तिरा कथाम् ॥६५॥

अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् ।

यस्य न श्राव्यं तस्यान्तर ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलं वक्रानामिकत्रिपताकालक्षणं करं कृत्वाऽन्येन सह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकमिति ।

अन्य नाट्यधर्म (नियतश्राव्य) दो प्रकार का है—जनान्त (जनान्तिक) और अपवारित ।

अन्यत् (दूसरा)=नियतश्राव्य तो जनान्तिक और अपवारित के भेद से दो प्रकार का होता है ।

४. जनान्तिक—

उनमें से जनान्तिक को बतलाते हैं—

वार्तालाप के सन्दर्भ में (अन्तरा) जो त्रिपताक रूप हाथ (की मुद्रा) के द्वारा अन्यों को बचाकर (अपवार्य), बहुत से जनों के मध्य में दो पात्र आपस में बात चीत करते हैं, वह जनान्तिक है ॥६५॥

जिस (पात्र) को सुनाना नहीं है उसके बीच में हाथ की सारी अङ्गुलियाँ ऊँची हों किन्तु अनामिका वक्र हो, इस प्रकार त्रिपताका रूप में हाथ को करके जब कोई पात्र दूसरे के साथ मन्त्रणा करता है वह (संवाद) जनान्तिक कहलाता है ।

टिप्पणी—(१) दशरूपक में 'जनान्तम्' (जनों के मध्य में) तथा 'जनान्तिकम् (जनों के निकट) दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है । धनञ्जय के अनुसार जनान्तिक नामक संवाद की ये विशेषतायें हैं—(क) कोई कथाप्रसङ्ग चलता रहता है उसके सन्दर्भ में यह दूसरे प्रकार का संवाद होता है (अन्तरा कथाम्) । (ख) बहुत से जनों के मध्य में (जनान्ते) अन्यों को बचाकर दो पात्र परस्पर मन्त्रणा करते हैं । अतः वह अन्यों से गोपनीय संवाद होता है । (ग) अन्य जनों को त्रिपताकाकर से बचा दिया जाता है । जब हाथ की तीन अंगुलियाँ ऊपर उठी होती हैं केवल अनामिका अंगूठे से दबाकर नीचे झुका ली जाती है तो त्रिपताकाकर कहलाता है । यह हाथ की एक मुद्रा है । (२) सा० द० (६.१३६) में दशरूपक का लक्षण ही अपनाया गया है । ना० द० वृत्ति (१.१३) के अनुसार तो जनान्तिक वह संवाद है, जहाँ कोई पात्र त्रिपताकाकर से किसी एक पात्र को बचाकर अन्य बहुसंख्यक जनों से बात करता है । धनिक का भी यही आशय प्रतीत होता है, इस प्रकार यह संवाद एक से तो गोपनीय होता है किन्तु बहुतों के लिये श्राव्य होता है । जनान्तिक शब्द की व्युत्पत्ति ही है 'बहूनां (जनानां) अन्तिकं श्राव्यतया निकटं जनान्तिकम् ।

अथापवारितम्—

(१२७) रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्त्यापवारितम् ।।६६।।

परावृत्त्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितमिति ।

नाटचधर्मप्रसङ्गादाकाशभाषितमाह—

(१२८) किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ।।३७।।

---

४. अपवारित—

अब अपवारित को बतलाते हैं

जहाँ (किसी पात्र के द्वारा) मुँह फेरकर (परावृत्त्य) दूसरे व्यक्ति से गुप्त बात (रहस्य) कही जाती है, वह अपवारित (संवाद) कहलाता है ।।६६।।

मुँह फेर कर (घूमकर) दूसरे से गुप्त बात कहना ही अपवारित हैं ।

टिप्पणी—(१) श्लोक तथा वृत्ति में जो 'अन्यस्य' शब्द है, वह 'अन्यस्मै' के अर्थ में है । ना० द० (१.१२) में भी यही लक्षण है—'परावृत्य रहस्याख्याऽन्यस्मै तदपवारितम्' । नाटकों के सन्दर्भ से भी यही विदित होता है (द्र०, रत्नावली २.१९–२०) अतः 'रहस्यम् अन्यस्य कथ्यते=रहस्य अन्य से कहा जाता है । (२) दशरूपक के अनुसार जनान्तिक और अपवारित दोनों गोपनीय कथन होते हैं । दोनों का भेद यह है:—(क) जनान्तिक में त्रिपताकाकर से अन्य जनों को बचाया जाता है किन्तु अपवारित में मुँह फेरकर (मुड़कर या घूमकर) अन्यों से बचा जाता है, (ख) जनान्तिक में जनों के मध्य में ही कथा-सन्दर्भ की बात कही जाती है किन्तु अपवारित में एक ओर मुड़कर रहस्य का कथन किया जाता है । सा० द० (६.१३८) में अपवारित का लक्षण दशरूपक के समान ही है (३) ना० द० (१.१०) के अनुसार मुँह मोड़कर किसी दूसरे से रहस्य का कथन करना अपवारित है, यह बहुतों से छिपाकर एक पर प्रकट किया जाता है ।" इस प्रकार जनान्तिक से इसका यह भी अन्तर है—जनान्तिक तो एक जन से गोपनीय होता है और बहुत जनों के लिये श्राव्य होता है । इसके विपरीत अपवारित बहुत जनों से गोपनीय होता है और एक व्यक्ति के प्रति ही श्राव्य होता है—इह यद् वृत्तमेकस्यैव गोप्यं बहूनामगोप्यं तज् जनान्तिकम् । तद्विपरीतमपवारितम्—ना० द०—(१.११) ।

५. आकाशभाषित—

नाटचधर्म के प्रसङ्ग से आकाशभाषित को बतलाते हैं—

जहाँ कोई अकेला पात्र (एकः) दूसरे पात्र के विना तथा किसी के विना कहे भी मानों सुनकर ही 'क्या कहते हो ?' इस प्रकार कहता है (ब्रवीति) वह आकाशभाषित है ।

स्पष्टार्थः ।

अन्यान्यपि नाटचधर्माणि प्रथमकल्पादीनि कैश्चिदुदाहृतानि तेषामभारतीयत्वान्नाममालाप्रसिद्धानां केषांचिद्देशभाषात्मकत्वान्नाटचधर्मत्वाभावाल्लक्षणं नोक्तमिति-उपसंहरति--

(१२६) इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च ।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्याच्चित्रां कथामुचितचारुवचः प्रपञ्चैः ॥६८॥

इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य प्रथमः प्रकाशः समाप्तः ।

इसका अर्थ स्पष्ट है ।

कुछ (विद्वानों) ने अन्य प्रथमकल्प इत्यादि नाटचधर्मो का भी वर्णन किया है; किन्तु वे (प्रथमकल्प आदि) (१) भरत के अनुसार नहीं है (अभारतीय भरतस्येदं भारतीयम्) (२) वे केवल नामावली में ही प्रसिद्ध हैं (उनके लक्षण आदि नहीं कहे गये), (३) उनमें से कुछ देशभाषा रूप में ही हैं । अतः वे नाटचधर्म नहीं है । इसी से उनका लक्षण यहाँ नहीं दिया गया ।

टिप्पणी--(१) सा० द० (६.१३८) में आकाशभाषित का लक्षण दशरूपक के समान ही है किन्तु ना० द० (१·११) के अनुसार दूसरे पात्र के विना स्वयं ही प्रश्न तथा उत्तर का कथन आकाशोक्ति कहलाता है ।' इसमें कोई पात्र कभी तो किसी प्रश्नकर्त्ता के बिना ही प्रश्न की कल्पना करके स्वयं उत्तर देने लगता है और कभी स्वयं प्रश्न करके किसी उत्तरदाता के विना ही उत्तर की कल्पना कर लेता है । (२) **कैश्चिदुदाहृतानि**=यहाँ धनिक ने किन्हीं पूर्ववर्ती नाटचाचार्यों के मत का उल्लेख किया है । ये आचार्य कौन से थे ? यह अन्वेषण का विषय है । (३) **देशभाषात्मकत्वात्**=देशभाषा रूप में होने के कारण; भाव यह है कि उन आचार्यों ने जो नाटचधर्म कहे हैं, उनमें से कुछ ऐसे हैं जो वस्तुतः नाटच के नियम नहीं है अपितु किन्हीं पात्रों द्वारा किये गये लोकभाषा (Dialect) के प्रयोग मात्र हैं किन्हीं बोलियों में उस प्रकार की उक्तियाँ प्रचलित थीं उनका कहीं अभिनय में प्रयोग देखकर उन आचार्यों ने उस प्रकार की उक्तियों को नाटचधर्मों में गिन लिया होगा ।

अब वस्तु का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार (कवि) वस्तु के समस्त भेदों का तथा रामायण आदि एवं बृहत्कथा का अनुशीलन करके तब (तदनु) नेता और रस के अनुरूप उचित और चारु उक्तियों के द्वारा विचित्र (विलक्षण) कथा को ग्रथित करे ॥६८॥

इस प्रकार धनञ्जयकृत दशरूपक का प्रथम प्रकाश समाप्त हुआ ।

वस्तुविभेदजातम्––वस्तु=वर्णनीयं तस्य विभेदजातं नाम भेदाः रामायणादि बृहत्कथां च गुणाढ्यनिर्मितां विभाव्य आलोच्य । तदनु=एतदुत्तरम् । नेत्रिति=नेता वक्ष्यमाणलक्षणः; रसाश्च तेषामानुगुण्याच्चित्राम्=चित्ररूपां कथाम् आख्यायिकाम् । चारूणि यानि वचांसि तेषां प्रपञ्चैर्विस्तरैरासूत्रयेदनुग्रथयेत् । तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्––

चाणक्यनाम्ना तेनाथ शकटालगृहे रहः । कृत्यां विधाय सहसा सपुत्रो निहतो नृपः ।।
योगानन्दयशःशेषे पूर्वनन्दसुतस्ततः । चन्द्रगुप्तः कृतो राजा चाणक्येन महौजसा ।।६२।।

इति बृहत्कथायां सूचितम्, श्रीरामायणोक्तं रामकथादि ज्ञेयम् ।

।। इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके प्रथमः प्रकाशः समाप्तः ।।

वस्तुविभेदजातम्—वस्तु का अर्थ है वर्णनीय उसका भेदसमूह अर्थात् अनेक भेद । रामायण आदि तथा गुणाढ्य द्वारा रचित बृहत्कथा का अनुशीलन करके (आलोच्य=विभाव्य) । तदनु=इसके पश्चात्, (नेतृ इत्यादि का अर्थ है)—नायक, जिसका लक्षण आगे बतलाया जायेगा और रस; उनके अनुकूल, विविधरूप वाली (चित्ररूपाम्) कथा (आख्यायिका) को; चारु उक्तियों के विस्तार (प्रपञ्च) द्वारा ग्रथित करे । जैसे मुद्राराक्षस (की कथा) का मूल बृहत्कथा है । बृहत्कथा में संकेत किया गया है:—

"चाणक्य नामक उस व्यक्ति ने शकटाल के घर में एकान्त में कृत्या (देवी-विशेष, जो मारण-कर्म के लिये विशेष रूप से पूजी जाती है) को बनाकर पुत्रों सहित राजा को सहसा मार दिया । तब योगानन्द की कीर्तिमात्र शेष रह जाने पर (मर जाने पर) महान् ओजस्वी चाणक्य ने पूर्व नन्द के पुत्र चन्द्रगुप्त को राजा बनाया ।"

रामकथा इत्यादि रामायण में कही गई (वस्तु) जाननी चाहिये ।

इति श्रीविष्णुपुत्र धनिक की रचना दशरूपकावलोक में प्रथम प्रकाश पूर्ण हुआ ।

टिप्पणी––इस प्रकार यहाँ विविध दृष्टिकोणों से वस्तु का विवेचन किया गया है–प्रथमतः स्वरूप की दृष्टि से वस्तु दो प्रकार की है—१ आधिकारिक २ प्रासङ्गिक इन दोनों के प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र ये तीन भेद हैं—२ × ३=६ । इन ६ भेदों के दिव्य, मर्त्य और दिव्यादिव्य भेद से=६ × ३=१८ भेद हैं ।

फल (उद्देश्य), वस्तुयोजना तथा वस्तु-संघटन की दृष्टि से इतिवृत्त में अर्थ-प्रकृति, कार्यावस्था तथा इन दोनों के समन्वित रूप सन्धियों का वर्णन किया गया है।

रस और अभिनेयता की दृष्टि से सूच्य तथा दृश्य दो भेद करके श्राव्य, अश्राव्य, नियतश्राव्य आदि नाट्यधर्मों (नाट्योक्ति, कथोपकथन) का उल्लेख किया गया है ।

इस वस्तु-विवेचन से यह स्पष्ट है कि यहाँ 'वस्तु' नामक तत्त्व के भीतर पाश्चात्य साहित्य-समीक्षा-शास्त्र के कथावस्तु, कथोपकथन, उद्देश्य तथा अभिनेयता (के कुछ अंश) का समावेश किया जा सकता है। देश-काल (के कुछ अंश का) प्रवृत्ति (द्वि० प्रकाश) में समावेश हो जाता है। इसी प्रकार द्वितीय प्रकाश में निरूपित 'नायक' तत्त्व में पाश्चात्य समीक्षा पद्धति के 'चरित्र-चित्रण' का समावेश किया जा सकता है। पाश्चात्य 'शैली' तत्त्व के कुछ अंश भारती आदि वृत्तियों में तथा रस-योजना (द्वि० तथा च० प्रकाश) में अन्तर्भूत हो सकते हैं। यहाँ पृथक्शः शैली तथा चरित्र-चित्रण पर विचार नहीं किया गया, यहाँ तो रूपकों को रसाश्रित कहा गया है। अभिनेयता को भी यहाँ पृथक् तत्त्व नहीं माना गया। रूपक तो अभिनेय होते ही हैं। इस प्रकार नाटक (रूपक) के तत्त्वों के विषय में पाश्चात्य साहित्य समीक्षा और संस्कृत साहित्य शास्त्र के दृष्टिकोण में यत्किञ्चत् समानता होते हुए भी पर्याप्त अन्तर है।

इति प्रथमः प्रकाशः

—:०:—

अथ द्वितीयः प्रकाशः

रूपकाणामन्योन्यं भेदसिद्धये वस्तुभेदं प्रतिपाद्येदानीं नायकभेदः प्रतिपाद्यते—

(१) नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥१॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥२॥

नेता नायको विनयादिगुणसम्पन्नो भवतीति ।

वस्तु, नेता (नायक) और रस को रूपकों (नाटक, प्रकरण आदि) का भेदक तत्त्व कहा गया है (ऊपर सूत्र १६) । इनमें से वस्तु के भेद-प्रभेदों का प्रथम प्रकाश में विवेचन किया जा चुका है । यहाँ द्वितीय प्रकाश में नायक के स्वरूप, भेद-प्रभेदों तथा भारती इत्यादि वृत्तियों का वर्णन किया जा रहा है ।

रूपकों का एक दूसरे से भेद सिद्ध करने के लिये (प्रथम प्रकाश में) वस्तुभेद का प्रतिपादन करके अब (यहाँ) नायक-भेदों का प्रतिपादन किया जा रहा है—

नायक के गुण

नायक विनीत, मधुर, त्यागी, चतुर, प्रिय बोलने वाला, लोकप्रिय (रक्तो लोको यस्मिन् तथाभूतः) पवित्र, वाक्पटु, प्रसिद्ध वंश वाला स्थिर युवक, बुद्धि-उत्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला तथा मान से युक्त, दृढ, तेजस्वी शास्त्रों का ज्ञाता और धार्मिक होता है ।

नेता = नायक; वह विनय आदि गुणों से युक्त होता है ।

टिप्पणी—(१) नाट्यशास्त्र (२४·१) में स्त्री तथा पुरुषों की प्रकृति तीन प्रकार की बतलाई गई है उत्तम, मध्यम तथा अधम । फिर मध्यम तथा उत्तम प्रकृति के नायकों के चार प्रकार बतलाये गये हैं—धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त (२४.१६-१७) । इसी प्रकार भा० प्र० (पृ० ९२), ना० द० (१.५-६) तथा सा० द० (३.३०-३१), प्रता० (१·२७-२८) में नायक के गुण तथा भेदों का निरूपण है । नायक-भेद के लिये विशेष द्रष्टव्य (ना० शा० अ० २४, ना० द० चतुर्थ विवेक०, सा० द० तृतीय परिच्छेद तथा प्रता० नायक-प्रकरण) । (२) रूपक के नायक (नेता) तत्त्व में प्रायः नायक, नायिका तथा उनके सहायक आदि सभी पात्रों का ग्रहण किया जाता है । किन्तु यहाँ नेता (नायक) शब्द प्रधान कथा-नायक के लिये प्रयुक्त हुआ है । प्रथमतः उसी के गुणों तथा प्रकारों का वर्णन किया जा रहा है ।

कारिका में निर्दिष्ट गुणों का क्रमशः उदाहरणसहित विवेचन इस प्रकार है—

तत्र विनीतो यथा वीरचरिते—

'यद्ब्रह्मवादिभिरुपासितवन्द्यपादे विद्यातपोव्रतनिधौ तपतां वरिष्ठे।
दैवात्कृतस्त्वयि मया विनयापचारस्तत्र प्रसीद भगवन्नयमञ्जलिस्ते ॥६३॥

मधुरः=प्रियदर्शनः। यथा तत्रैव—

राम राम नयनाभिरामतामाशयस्य सदृशीं समुद्वहन्।
अप्रतर्क्यगुणरामणीयकः सर्वथैव हृदयङ्गमोऽसि मे ॥६४॥

त्यागी=सर्वस्वदायकः। यथा—

'त्वचं कर्णः शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः।
ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम् ॥६५॥

दक्षः=क्षिप्रकारी। यथा वीरचरिते—

स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक-
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ॥६६॥

---

१. उनमें विनम्र इस प्रकार का होता है। जैसा महावीरचरित (४·२१) में है--(रामचन्द्र जी परशुराम से कहते हैं)—ब्रह्मवादियों के द्वारा जिनके चरणों की उपासना और वन्दना की जाती है जो विद्या, तप तथा व्रत के निधि हैं, तपस्वियों में श्रेष्ठ हैं, उन (आप) के विषय में (प्रति) मैंने दैववश विनय का अतिक्रमण किया है। भगवन्, अब आप प्रसन्न हो जाइये, यह आपके लिये हाथ जोड़कर प्रणाम (अञ्जलि) है।

[यहाँ रामचन्द्र जी की विनम्रता प्रकट हो रही है]

२. मधुर का अर्थ है—जो देखने में प्रिय हो। जैसे वहीं (महावीरचरित २·३७) हे राम, हृदय के समान ही नयनाभिरामता को धारण करने वाले अकल्पनीय गुणों से रमणीय आप सब प्रकार से मेरे हृदय में स्थित हों।

[यहाँ राम का माधुर्य प्रकट हो रहा है]

३. त्यागी का अर्थ है—अपना सब कुछ दान कर देने वाला। जैसे--(?) 'कर्ण ने त्वचा, शिवि ने मांस, जीमूतवाहन ने जीवन और दधीचि ने हड्डियाँ दे दीं। महात्माओं के लिये कुछ भी अदेय नहीं है'।

[यहाँ कर्ण इत्यादि महापुरुषों का त्याग प्रकट हो रहा है]

४. दक्ष का अर्थ है--किसी कार्य को शीघ्रता से करने वाला। जैसे वीरचरित (१·५३) में--(नेपथ्य में)' दीप्तिमान् हजारों वज्रों से बना हुआ सा, त्रिपुर का अन्त करने वाला, देवताओं के तेज से प्रदीप्त शिव का धनुष राम के सामने प्रकट हो रहा है। जिस प्रकार हाथी का बच्चा (कलभ) पर्वत पर सूंड को रख देता है, उसी प्रकार राजकुमार राम (वत्स) ने अपना भुजदण्ड उस (धनुष) पर रख दिया। गर्जना करती हुई प्रत्यञ्चा वाले उस धनुष को खींच लिया तथा तोड़ डाला'।

प्रियंवदः = प्रियभाषी । यथा तत्रैव—

'उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान्देवः पिनाकी गुरु—
वीर्यं यत्तु न तद्गिरां पथि ननु व्यक्तं हि तत्कर्मभिः ।
त्यागः सप्तसमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः
सत्यब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किं वा न लोकोत्तरम् ॥६७॥

रक्तलोकः । यथा तत्रैव—

त्रय्यास्त्राता यस्तवायं तनूज—
स्तेनाद्यैव स्वामिनस्ते प्रसादात् ।
राजन्वन्तो रामभद्रेण राज्ञा
लब्धक्षेमाः पूर्णकामाश्चरामः ॥६८॥

एवं शौचादिष्वप्युदाहार्यम् । तत्र शौचं नाम मनोनैर्मल्यादिना कामाद्यनभिभूतत्वम् । यथा रघौ—

'का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते ।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥६९॥

[यहाँ राम की क्षिप्रकारिता प्रकट हो रही है]

५. प्रियंवद का अर्थ है—प्रिय बोलने वाला । जैसे (वीरचरित २.३६ में ही) (रामचन्द्र जी परशुराम से कहते हैं) 'आपका जन्म जमदग्नि से हुआ, वह भगवान् पिनाकधारी (शिव) आपके गुरु हैं, आपका जो पराक्रम है वह वाणी का विषय नहीं हो सकता, वह तो आपके कर्मों से ही व्यक्त हो रहा है, सप्त सागरों से वेष्टित पृथ्वी का निरपेक्ष भाव से दान कर देना ही आपका त्याग है, क्षत्रतेज ब्रह्मतेज और तपस्या के निधान आपकी क्या बात लोकोत्तर नहीं है ।'

[यहाँ रामचन्द्र जी की प्रियवादिता प्रकट हो रही है]

६. रक्तलोकः (=लोकप्रिय) । जैसे वहीं (वीरचरित ४·४४ में ही)—अयोध्या की प्रजा दशरथ से कह रही है)' 'जो आपका यह पुत्र तीनों वेदों का रक्षक मैं आप प्रभु की कृपा से, उस रामचन्द्र के आज ही राजा बनने से हम सब लोग श्रेष्ठ राजा से युक्त होकर, कुशलता प्राप्त कर मनोरथों को पूर्ण कर विचरण करेंगे ।'

७. इसी प्रकार शौच इत्यादि (नायक-गुणों) का भी उदाहरण दिया जा सकता है । मन की निर्मलता आदि के द्वारा काम आदि (दोषों) से अभिभूत न होना शौच कहलाता है । जैसे रघुवंश (१६.८) में "हे शुभे तुम कौन हो ? किसकी पत्नी हो ? मेरे पास तुम्हारे आने का क्या कारण है ? संयमी रघुवंशियों के मन की प्रवृत्ति पर-स्त्री से विमुख रहती है यह समझकर मुझे (सब) बतलाओ' ।

[यहाँ नायक के मन की ऐसी पवित्रता का उल्लेख किया गया है, जो पर स्त्री आदि से अभिभूत नहीं होती]

वाग्मी । यथा हनुमन्नाटके—

'बाह्वोर्बलं न विदितं न च कार्मुकस्य
त्र्यम्बकस्य तनिमा तत एष दोषः ।
तच्चापलं परशुराम मम क्षमस्व
डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम् ॥७०॥

रूढवंशो यथा—

ये चत्वारो दिनकरकुलक्षत्रसन्तानमल्ली–
मालाम्लानस्तबकमधुपा जज्ञिरे राजपुत्राः ।
रामस्तेषामचरमभवस्ताडकाकालरात्रि–
प्रत्यूषोऽयं सुचरितकथाकन्दलीमूलकन्दः ॥७१॥

स्थिरो वाङ्मनः क्रियाभिरचञ्चलः । यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥७२॥

यथा वा भर्तृहरिशतके—

'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।

---

८. वाग्मी=वाक्कुशल । जैसे हनुमन्नाटक (१·३८) में (रामचन्द्र परशुराम से कहते हैं)—हे परशुराम, मैंने अपनी भुजाओं के बल को नहीं समझा और न ही त्र्यम्बक के (शिव) धनुष की दुर्बलता को ही । इसीलिये यह (धनुष तोड़ने का) दोष हो गया । मेरी इस चपलता को क्षमा कीजिये । बालक की दुश्चेष्टायें गुरुजनों के आनन्द के लिये होती' हैं ।

[यहाँ राम की वाग्मिता प्रकट होती है]

९. रूढवंश वाला (उच्च कुल का) । जैसे सूर्यवंश के क्षत्रियों की सन्तान रूपी मल्लिका की माला न मुरझाये हुए (अम्लान) गुच्छों के भ्रमरों के समान जो चार राजपुत्र उत्पन्न हुए, उनमें राम प्रथम है (अचरमभव=अन्त में उत्पन्न न होने वाला) जो ताड़का रूपी कालरात्रि के लिये प्रभात है, सुचरित कथा रूपी कन्दली के मूलकन्द हैं' ।

[यहाँ राम की कुलीनता प्रकट हो रही है]

१०. स्थिर का अर्थ है—वाणी, मन तथा कार्य से चञ्चल न होना जैसे वीरचरित्र (३·८) में (परशुराम विश्वामित्र से कहते हैं)—'आप जैसे पूज्य जनों का अतिक्रमण करने के कारण मैं प्रायश्चित कर लूँगा किन्तु शस्त्रग्रहण के महाव्रत को दूषित नहीं करूँगा ।

[यहाँ राम की स्थिरता प्रकट हो रही है]

अथवा जैसे भर्तृहरिशतक (नीति० २६) में (कवि कहता है)—'नीच जन विघ्नों के भय से किसी कार्य को आरम्भ नहीं करते, मध्य कोटि के लोग कार्य को आरम्भ करके विघ्नों के मारे रुक जाते हैं । किन्तु उत्तम जन विघ्नों से बार-बार प्रतिहत होकर

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति* ॥७३॥

युवा प्रसिद्धः । बुद्धिर्ज्ञानम् । गृहीतविशेषकरी तु प्रज्ञा । यथा मालविकाग्निमित्रे—

'यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।
तत्तद्विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥७४॥

स्पष्टमन्यत् ।

नेतृविशेषानाह—

(२) भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

भी आरम्भ किये हुए कार्य को नहीं छोड़ते ।

[यहाँ उत्तमजनों की स्थिरता दिखलाई गई है ।]

११. 'युवा का अर्थ स्पष्ट ही है । बुद्धि का अर्थ है—ज्ञान, किसी वस्तु को जानना । किन्तु गृहीत (ज्ञान) में विशेषता उत्पन्न करने वाली प्रज्ञा कहलाती है । जैसे मालविकाग्निमित्र (१·५) में गणदास मालविका के विषय में कहता है मेरे द्वारा 'प्रयोग के विषय में जिस-जिस भाव का उपदेश दिया गया है उसमें ही विशेषता उत्पन्न करने के कारण वह बाला (मालविका) मानों मुझे बदले ही में उपदेश देती है' ।

अन्य (गुणों के उदाहरण आदि) स्पष्ट ही हैं ।

टिप्पणी—मि० ना० शा० (२४.३—४), सा० द० (३.३०), प्रता० (१.११–२६) ।

नायक के प्रकार

नायक के प्रकार बतलाते हैं—

यह (नायक) ललित, शान्त, उदात्त और उद्धत भेद से चार प्रकार का होता है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२४.१७), भा० प्र० (पृ० ९२), ना० द० (१.६), सा० द० (३.३१) प्रता० (१.२७) आदि । (२) 'ललित' आदि चारों से पूर्व धीर शब्द जोड़कर १. धीरललित, २. धीरप्रशान्त, ३. धीरोदात्त तथा ४. धीरोद्धत्त, ये चार प्रकार के नायक माने जाते हैं । (३) 'धीर' शब्द का अर्थ है—धैर्ययुक्त अर्थात् महान् संकट में भी कातर न होने वाला (ना० द० १.६) (Self-Controlled-Haas) सा० द० (३.५३) के अनुसार 'महान् विघ्न' उपस्थित होने पर भी अपने निश्चय से विचलित न होना ही धैर्य है ।

नाम-निर्देश के क्रम से लक्षण बतलाते हैं—

१. धीरललित—

---

* 'प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिहोद्वहन्ति' इति पाठान्तरम् ।

(३) निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ॥३॥

सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहितः अतएव गीतादिकलाविष्टो भोगप्रवणश्च शृङ्गारप्रधानत्वाच्च सुकुमारसत्त्वाचारो मृदुरिति ललितः। यथा रत्नावल्याम्—

'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥७५॥

अथ शान्तः—

(४) सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।

चिन्तारहित, (गीत आदि) कलाओं का प्रेमी, सुखी और कोमल (स्वभाव तथा आचार वाला) नायक धीरललित कहलाता है।

वह चिन्तारहित होता है, क्योंकि उसके योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति—अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः) तथा क्षेम (प्राप्त वस्तु की रक्षा—प्राप्तस्य परिरक्षणं क्षेमः) की सिद्धि अमात्य इत्यादि के द्वारा कर दी जाती है। चिन्तारहित होने के कारण (अतएव) वह गीत आदि कलाओं में संलग्न रहता है और भोगों में आसक्त रहता है। उसमें शृङ्गार (भाव) की प्रधानता होने के कारण वह कोमल स्वभाव (=सत्त्व=चित्त) तथा व्यवहार वाला होता है। इसी से उसे 'मृदु' कहा गया है। यही ललित नायक है।

जैसे रत्नावली नाटिका (१.९) में (महाराज उदयन विदूषक से कह रहे हैं)—'ऐसा राज्य है जिसके शत्रुओं को जीत लिया गया है, योग्य मन्त्री पर समस्त भार रख दिया गया है; प्रजाएं, जिसके समस्त उपद्रव शान्त कर दिये गये हैं, ठीक प्रकार से पालन के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो रही हैं, प्रद्योत की पुत्री (वासवदत्ता), वसन्त का समय और तुम (मित्र) हो, इससे कामदेव (मदनोत्सव) नाम के कारण सन्तोष भले ही प्राप्त कर ले, किन्तु मैं समझता हूँ कि यह मेरा ही महान् उत्सव है'।

टिप्पणी—(१) इस वर्णन से प्रकट होता है कि रत्नावली का नायक उदयन निश्चिन्तता इत्यादि धीरललित नायक के गुणों से युक्त है अतः वह धीरललित नायक है। (२) भा० प्र० (पृ० ९२), ना० द० (१.९), सा० द० (३.३४) प्रता० (१.३२)।

२. धीरशान्त—

सामान्य गुणों से युक्त द्विज आदि नायक तो धीर प्रशान्त कहलाता है।

विनयादिनेतृसामान्यगुणयोगी धीरशान्तो द्विजादिक इति । विप्रवणिक्सचिवादीनां प्रकरणनेतॄणामुपलक्षणं, विवक्षितं चैतत्, तेन नैश्चिन्त्यादिगुणसंभवेऽपि विप्रादीनां शान्ततैव, न लालित्यं । यथा मालतीमाधव-मृच्छकटिकादौ माधवचारुदत्तादिः ।

'तत् उदयगिरेरिवैक एव
स्फुरितगुणद्युतिसुन्दरः कलावान् ।
इह जगति महोत्सवस्य हेतु—
र्नयनवतामुदियाय बालचन्द्रः ॥७६॥

इत्यादि । यथा वा—

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् ।
मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै—
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्' ॥७७॥ (इत्यादि)

विनय इत्यादि जो नायक के सामान्य गुण (कहे गये) हैं उनसे युक्त द्विज आदि धीरशान्त होता है । द्विज इत्यादि' यह कथन प्रकरण के नायक होने वाले ब्राह्मण, वणिक् और मन्त्री आदि का उपलक्षण है । और, यह कहना अभीष्ट ही है, इस प्रकार निश्चिन्तता आदि गुणों के होने पर भी (प्रकरण के नायक) विप्र इत्यादि में शान्तता ही होती है, लालित्य नहीं । जैसे मालतीमाधव और मृच्छकटिक आदि में माधव एवं चारुदत्त आदि धीरप्रशान्त नायक हैं ।

(कामन्दकी माधव का वर्णन करती हुई कहती है)—"प्रकट होने वाले गुणों की कान्ति से सुन्दर, कलाओं वाला (१. नृत्य आदि कलाओं में निपुण, २. चन्द्रपक्ष में चन्द्रकलाओं से युक्त), इस संसार में नेत्र वालों के महोत्सव का निमित्त यह (माधव) उस देवरात से (ततः=तस्मात्) इसी प्रकार उत्पन्न हुआ जिस प्रकार उदयगिरि से बालचन्द्र उदित होता है" । इत्यादि ।

अथवा जैसे मृच्छकटिक (१०.१२) में मखशत० इत्यादि (ऊपर उदा० ४०)

टिप्पणी—(१) प्रकरणनेतॄणाम् उपलक्षणम्—यहाँ 'द्विजादिक' (ब्राह्मण इत्यादि) शब्द प्रकरण (नामक रूपक-भेद) के नायकों को सूचित करता है । आगे (३.३९) जो प्रकरण के नायक कहे गये हैं—अमात्य, विप्र, वणिक् वे धीरप्रशान्त होते हैं । (२) विवक्षितं चैतत्—विप्र आदि धीरप्रशान्त होते हैं, यही अभीष्ट है । इस प्रकार यह नियम हो जाता है कि—विप्र इत्यादि धीरप्रशान्त ही होते हैं । यदि किसी विप्र आदि में धीरललित के गुण (निश्चिन्तता इत्यादि) हों तो भी वह धीरप्रशान्त ही माना जायेगा । किन्तु यहाँ वह नियम नहीं होता है कि विप्र आदि ही धीरप्रशान्त होते हैं । इसलिये अन्य क्षत्रिय (राजा) आदि भी धीरप्रशान्त हो सकते हैं जैसे बुद्ध धीरप्रशान्त नायक हैं ।

अथ धीरोदात्तः—

(५) महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।।४।।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ।

महासत्त्वः = शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्तःसत्त्वः, अविकत्थनः = अनात्मश्लाघनः; निगूढाहङ्कारः = विनयच्छन्नावलेपः, दृढव्रतः = अङ्गीकृतनिर्वाहकः, धीरोदात्तः यथा नागानन्दे—'जीमूतवाहनः—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत् किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ।।७८।।

यथा च रामं प्रति—

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ।।७९।।

यच्च केषांचित्स्थैर्यादीनां सामान्यगुणानामपि विशेषलक्षणे क्वचित्संकीर्तनं तत्तेषां तत्राधिक्यप्रतिपादनार्थम् ।

---

३. धीरोदात्त—

उत्कृष्ट अन्तःकरण (सत्त्व) वाला अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा न करने वाला, स्थिर, अहंभाव को दबाकर रखने वाला, दृढव्रती नायक धीरोदात्त कहलाया है ।।४।।

'महासत्त्व' का अर्थ है—जिसका अन्तःकरण शोक, क्रोध आदि से अभिभूत नहीं होता । 'अविकत्थन' का अर्थ है अपनी प्रशंसा न करने वाला । 'निगूढाहङ्कार का अर्थ है कि उसका गर्व (अवलेप) नम्रता से छिपा रहता है । दृढव्रत वह होता है जो स्वीकृत बात का निर्वाह करता है । ऐसा धीरोदात्त नायक होता है । जैसे नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन है । (जीमूतवाहन की गरुड़ के प्रति उक्ति ५.१६)—'हे गरुड़, मेरी नसों के छिद्र से रक्त बह ही रहा है, अब भी मेरे शरीर में मांस है, तुम्हारी भी तो मैं तृप्ति नहीं देख रहा हूँ, फिर तुम (मुझको) खाने से क्यों रुक गये' ?

और जैसे राम के प्रति कहा गया है—(महानाटक ३.२५) 'अभिषेक के लिये बुलाये गये और वन के लिये भेजे गये राम का (तस्य) मुझे तनिक भी आकृति-विकार नहीं दिखाई पड़ा' ।

यहाँ स्थिरता इत्यादि (नायक के) किन्हीं सामान्य गुणों का भी जो कहीं विशेष (प्रकार के नायक के) लक्षण में उल्लेख कर दिया गया है वह उन गुणों का उस विशेष प्रकार के नायक में (तत्र) आधिक्य बतलाने के लिये है ।

टिप्पणी—यह शङ्का हो सकती है कि नायक के सामान्य गुणों में स्थैर्य या स्थिरता का कथन किया जा चुका है फिर यहाँ धीरोदात्त नायक के लक्षण में स्थैर्य का क्यों उल्लेख किया है । इसका समाधान 'यच्च' इत्यादि में किया गया है कि अन्य नायकों की अपेक्षा धीरोदात्त नायक में स्थिरता गुण का आधिक्य होता है, यह बतलाने के लिये यहाँ पुनः 'स्थिरः' यह कहा गया है ।

ननु च कथं जीमूतवाहनादिर्नागानन्दादावुदात्त इत्युच्यते ? औदात्त्यं हि नाम सर्वोत्कर्षेण वृत्तिः, तच्च विजिगीषुत्व एवोपपद्यते जीमूतवाहनस्तु निर्जिगीषुतयैव कविना प्रतिपादितः । यथा—

'तिष्ठन्भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा
यत्संवाहयतः सुखं हि चरणौ तातस्य किं राज्यतः ।
किं भुक्ते भुवनत्रये धृतिरसौ भुक्तोज्झिते या गुरो–
रायासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद् गुणः' ॥८०॥

इत्यनेन ।

'पित्रोर्विधातुं शुश्रूषां त्यक्त्वैश्वर्यं क्रमागतम् ।
वनं याम्यहमप्येष यथा जीमूतवाहनः' ॥८१॥

इत्यनेन च । अतोऽस्यात्यन्तशमप्रधानत्वात्परमकारुणिकत्वाच्च वीतरागवच्छान्तता । अन्यच्चात्रायुक्तं यत्तथाभूतं राज्यसुखादौ निरभिलाषं नायकमुपादायान्तरा तथाभूत—

(शङ्का) (i) नागानन्द आदि (नाटक) में जीमूतवाहन इत्यादि धीरोदात्त नायक हैं, यह कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि उदात्त का अर्थ है—सर्वोत्कृष्ट रूप में रहना (वृत्ति) और, यह बात विजय की आकाङ्क्षा होने पर ही बन सकती है । किन्तु जीमूत-वाहन को तो कवि ने विजय की आकाङ्क्षा से रहित ही वर्णित किया है । जैसे—(नागानन्द १·७) ।

'पिता के सामने भूमि पर बैठा हुआ (व्यक्ति) जैसा शोभित होता है, क्या वैसा सिंहासन पर बैठा हुआ (शोभित) हो सकता है ? पिता के चरण दबाते हुए को जो सुख मिलता है, क्या वह राज्य से मिल सकता है ? पिता के खाने से बचे हुए (भुक्तोज्झिते) पदार्थ को खाने से जो सन्तोष (धृति) मिलता है, क्या वह तीनों लोकों के भोग से भी मिल सकता है ? पिता का परित्याग करने वाले के लिये राज्य तो केवल आयास मात्र है, क्या उसमें कुछ भी लाभ है ?

इसके द्वारा तथा नागानन्द (१-४)—क्रमागत (वंशपरम्परागत) ऐश्वर्य को छोड़कर माता-पिता की सेवा करने के लिये मैं वन को जा रहा हूँ, जैसे जीमूतवाहन चला गया था ।'

इसके द्वारा भी (जीमूतवाहन को विजय की आकाङ्क्षा से रहित दिखलाया गया है) । इसलिये इस (जीमूतवाहन) में अत्यधिक शम (निर्वेद) की प्रधानता है और अत्यन्त करुणा-परायणता है, अतः यह वीतराग (राग-रहित) की भाँति शान्त (धीरप्रशान्त) ही है ।

(ii) [यदि कोई कहे कि मलयवती के प्रति जीमूतवाहन के अनुराग का भी कवि ने वर्णन किया है अतः वह अत्यन्त शमप्रधान, वीतराग या निरभिलाष नहीं है—इस पर पूर्वपक्षी कहलाता है ।]

और, नागानन्द नाटक में (अत्र) यह तो अनुचित ही है कि जो उस प्रकार के राज्य और सुख आदि में निरभिलाष नायक को लेकर उसके विषय में (अन्तरा) इस प्रकार मलयवती के अनुराग का वर्णन किया गया है ।

मलयवत्यनुरागोपवर्णनम् । यच्चोक्तम्—'सामान्यगुणयोगी द्विजादिर्धीरशान्तः' इति । तदपि पारिभाषिकत्वादवास्तवमित्यभेदकम् । अतो वस्तुस्थित्या बुद्ध-युधिष्ठिर-जीमूतवाहनादिव्यवहाराः शान्ततामाविर्भावयन्ति ।

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्तं सर्वोत्कर्षेण वृत्तिरौदात्त्यमिति न तज्जीमूतवाहनादौ परिहीयते । न ह्येकरूपैव विजिगीषुता । यः केनापि शौर्यत्यागदयादिनाऽन्यानतिशेते स विजिगीषुः, न यः परापकारेणार्थग्रहादिप्रवृत्तः । तथात्वे च मार्गदूषकादेरपि धीरोदात्तत्वप्रसक्तिः । रामादेरपि जगत्पालनीयमिति दुष्टनिग्रहे प्रवृत्तस्य नान्तरीयकत्वेन

(iii) और जो यह कहा गया है कि (विनय आदि) सामान्य गुणों से युक्त (प्रकरण के नायक होने वाले) ब्राह्मण, वैश्य, अमात्य (द्विजादि) धीरप्रशान्त नायक होते हैं (अतः जीमूतवाहन धीरप्रशान्त नहीं हो सकता)? वह कथन भी पारिभाषिक है वास्तविक नहीं । इसलिये भेदक (व्यावर्तक) नहीं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि प्रकरण के नायक ब्राह्मण आदि धीरप्रशान्त नायक होते हैं, यह कथन पारिभाषिक है, यह तो धनञ्जय की कल्पना है, वस्तुस्थिति तो यह है कि जिस व्यक्ति में धीरप्रशान्त के गुण होंगे वही धीरप्रशान्त हो जायेगा । इस प्रकार केवल कल्पित परिभाषा के द्वारा जीमूतवाहन को धीरप्रशान्त नायक होने से नहीं रोका जा सकता, या कहिये कि यह परिभाषा जीमूतवाहन से धीरप्रशान्त के लक्षण की व्यावृत्ति (भेद) नहीं करा सकती ।

(समाधान) इस पर कहा जाता है—(i) जो यह कहा गया है कि सर्वोत्कृष्ट रूप में रहना उदात्तता है इत्यादि । उस उदात्तता का जीमूतवाहन में भी अभाव नहीं है (परिहीयते) । क्योंकि विजय की आकाङ्क्षा केवल एक प्रकार की ही नहीं होती अपितु जो व्यक्ति शौर्य त्याग, दया आदि (गुणों) के द्वारा दूसरों से बढ़ जाता है (अतिशेते) वही विजिगीषु (विजयाकाङ्क्षी) है, जो दूसरों का अपकार करके धन बटोरने आदि में लगा रहता है, वह विजिगीषु नहीं है । यदि उसे भी विजिगीषु माना जाये (तथात्वे = वैसा होने पर) तो बटमार (मार्गदूषक) आदि भी धीरोदात्त होने लगेंगे ।

[यहाँ यदि कोई कहे कि राम ने भी रावण आदि का वध करके भूमि, सम्पत्ति तथा यश आदि प्राप्त किया था फिर तो वे भी उदात्त नायक नहीं होंगे—इसका समाधान करते हुए कहते हैं—]

'जगत् का पालन करना है, इस विचार से दुष्टों को दण्ड देने में प्रवृत्त हुए राम आदि को भी आनुषङ्गिक रूप से (= नान्तरीयकत्वेन) भूमि आदि की प्राप्ति हो

भूम्यादिलाभः । जीमूतवाहनादिस्तु प्राणैरपि परार्थसम्पादनाद्विश्वमप्यतिशेते, इत्युदात्ततमः । यच्चोक्तम्—'तिष्ठन्भाति' इत्यादिना विषयसुखपराङ्मुखतेति, तत् सत्यम्—कार्पण्यहेतुषु स्वसुखतृष्णासु निरभिलाषा एव जिगीषवः, तदुक्तम्—

'स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छाययोपाश्रितानाम् ॥८२॥' इत्यादिना ।

मलयवत्यनुरागोपवर्णनं त्वशान्तरसाश्रयं शान्तनायकतां प्रत्युत निषेधति । शान्तत्वं चानाहङ्कृतत्वं, तच्च विप्रादेरौचित्यप्राप्तमिति वस्तुस्थित्या विप्रादेः शान्तता, न स्वपरिभाषामात्रेण । बुद्धजीमूतवाहनयोस्तु कारुणिकत्वाविशेषेऽपि सकामनिष्कामकरुणत्वादिधर्मत्वाद्भेदः । अतो जीमूतवाहनादेर्धीरोदात्तत्वमिति ।

गई [वहाँ किसी के अपकार की भावना से धन-ग्रहण आदि नहीं है अतः राम आदि की उदात्तता में शङ्का करना ठीक नहीं] । और जीमूतवाहन आदि तो प्राणों के द्वारा भी दूसरों का हित सम्पादन करते हैं इस प्रकार सभी (विश्वम् अपि) से बढ़कर हैं अतः (उदात्त ही नहीं) उदात्ततम नायक हैं ।

और, जो (पूर्वपक्षी ने) कहा है कि 'तिष्ठन् भाति' इत्यादि के द्वारा (जीमूतवाहन की) विषय-पराङ्मुखता प्रकट होती है, वह ठीक ही है, (सच्चे) विजिगीषु जन कार्पण्य (तुच्छता) को उत्पन्न करने वाली, अपने सुख की इच्छा के प्रति अभिलाषा रहित ही होते हैं । यही कहा भी है (शाकुन्तल ५.६ में दुष्यन्त के प्रति) "आप प्रतिदिन अपने सुख के प्रति अभिलाषा-रहित होकर लोक (हित) के लिये कष्ट-सहन करते हैं; अथवा आपकी वृत्ति (जन्म) ही इस प्रकार है; क्योंकि वृक्ष अपने सिर पर तीव्र उष्णता को सहन करता है और अपनी छाया में आश्रित जनों के सन्ताप शान्त करता है ।' इत्यादि ।

(ii) मलयवती के प्रति (जीमूतवाहन के) अनुराग का वर्णन तो शान्त रस के अनुकूल नहीं हो सकता, बल्कि वह (जीमूतवाहन के) शान्त नायक होने का ही निषेध करता है ।

(iii) और, शान्तता का अर्थ है—अहङ्कार से रहित होना (अहङ्कारशून्यता) उसका ब्राह्मण इत्यादि में होना उचित (स्वाभाविक) ही है । इस प्रकार वस्तुतः ही ब्राह्मण इत्यादि में शान्तता होती है, केवल अपनी (कल्पित) परिभाषा से ही उनमें शान्तता नहीं मानी गई ।

यद्यपि बुद्ध और जीमूतवाहन दोनों में समानरूप से (अविशेष) करुण-भाव है तथापि (जीमूतवाहन में) सकाम करुणभाव और (बुद्ध में) निष्काम करुणभाव होने से दोनों में भेद है । इस प्रकार जीमूतवाहन इत्यादि धीरोदात्त नायक ही हैं ।

अथ धीरोद्धतः—

(६) दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः ॥

दर्पः = शौर्यादिमदः, मात्सर्यम् = असहनता, मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशनं माया, छद्म = वञ्चनामात्रम्, चलः = अनवस्थितः, चण्डः = रौद्रः, स्वगुणशंसी = विकत्थनो धीरोद्धतो भवति, यथा जामदग्न्यः = 'कैलासोद्धारसारत्रिभुवनविजयं

टिप्पणी—(१) हर्ष-कृत नागानन्द नाटक का नायक जीमूतवाहन है। धनिक की दृष्टि से वह धीरोदात्त नायक है पूर्वपक्षी इस मत से सहमत नहीं। उसके अनुसार जीमूतवाहन धीरप्रशान्त नायक है। संक्षेप में उसकी तीन युक्तियाँ हैं, जिनका अभी अनुवाद में क्रमशः विवरण दिया गया है। उन तीनों युक्तियों का खण्डन करके धनिक ने यह सिद्ध किया है कि जीमूतवाहन धीरोदात्त नायक ही है (द्र०, अनुवाद) (२) विजिगीषुता (विजयाकाङ्क्षा) उदात्त नायक का विशिष्ट गुण माना गया है (मि०, भा० प्र०, पृ० ९३ पं० ४)। (३) **अतोऽस्य वीतरागवत् शान्तता**—इस वाक्य द्वारा पूर्वपक्षी की ओर से जीमूतवाहन को शान्त नायक सिद्ध करने के लिये अनुमान प्रस्तुत किया गया है। अनुमान का प्रकार है—जीमूतवाहन धीरप्रशान्त नायक है (प्रतिज्ञा); क्योंकि उसमें शम की प्रधानता है और वह परम कारुणिक है (हेतु); वीतराग के समान (उदाहरण)। यहाँ 'वीतराग' शब्द से 'बुद्ध' का ग्रहण होता है (?)। **शान्तत्वं चानहङ्कृतत्वम्**—शान्त में तो अहङ्कार का सर्वथा अभाव होता है किन्तु उदात्त का अहङ्कार विनय के द्वारा छिपा रहता है, यही भेद है (द्र०, ना० द० १·९)। (५) **बुद्धजीमूतवाहनयोस्तु···भेदः**—धनिक ने पूर्वपक्षी के अनुमान में दृष्टान्तदोष दिखलाया है। बुद्ध की करुणा निष्काम है, जीमूतवाहन की सकाम। इस धर्मभेद के कारण दृष्टान्त ठीक नहीं; तथा अनुमान अयुक्त है। भाव यह है कि बुद्ध धीरप्रशान्त हैं, किन्तु जीमूतवाहन धीरोदात्त है।

४. धीरोद्धत

जिसमें घमण्ड (दर्प) और डाह (मात्सर्य) अधिक होता है, जो माया और कपट में तत्पर होता है, अहङ्कारी, चञ्चल, क्रोधी तथा आत्मश्लाघा करने वाला है, वह धीरोदात्त नायक है ॥५॥

दर्प = शूरता इत्यादि का घमण्ड, मात्सर्य = (दूसरों की समृद्धि को) न सहना; मन्त्र की शक्ति से अविद्यमान वस्तु को प्रकट कर देना माया कहलाती है और किसी की छलना मात्र ही छद्म है; चल का अर्थ है अस्थिर (चञ्चल); चण्ड = क्रोधयुक्त; विकत्थन = अपने गुणों की प्रशंसा करने वाला; ऐसा धीरोद्धत नायक होता है। जैसे (महावीरचरित २.१६ में) परशुराम के 'कैलासोद्धारसार॰ इत्यादि कथन से

इत्यादि। यथा च रावणः—'त्रैलोक्यैश्वर्यलक्ष्मीहठहरणसहा बाहवो रावणस्य।' इत्यादि।

धीरललितादिशब्दाश्च यथोक्तगुणसमारोपितावस्थाभिधायिनः, वत्सवृषभमहोक्षादिवन्न जात्या कश्चिदवस्थितरूपो ललितादिरस्ति, तदा हि महाकविप्रबन्धेषु विरुद्धानेकरूपाभिधानमसङ्गतमेव स्यात्—जातेरनपायित्वात्, यथा च भवभूतिनैक एव जामदग्न्यः—

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥८३॥

इत्यादिना रावणं प्रति धीरोदात्तत्वेन 'कैलासोद्धारसार—' इत्यादिभिश्च रामादीन्प्रति प्रथमं धीरोद्धतत्वेन, पुनः—'पुण्या ब्राह्मणजातिः' इत्यादिभिश्च धीरशान्तत्वेनोपवर्णितः। न चावस्थान्तराभिधानमनुचितम्, अङ्गभूतनायकानां नायकान्तरापेक्षया महासत्त्वादेरव्यवस्थितत्वात्। अङ्गिनस्तु रामादेरेकप्रबन्धोपात्तान् प्रत्येकरूपत्वा-

---

धीरोद्धतता प्रकट होती है। और, जैसे 'त्रैलोक्य०' (रावण की भुजायें तीनों लोकों के ऐश्वर्य की लक्ष्मी का बलपूर्वक हरण करने में समर्थ हैं) इत्यादि (रावण की उक्ति) के द्वारा रावण धीरोदात्त है यह प्रकट होता है)।

(i) धीरललित आदि शब्द उसी प्रकार यथोक्त (निश्चिन्तता आदि) गुणों से युक्त अवस्था को बतलाने वाले हैं, जिस प्रकार वत्स (बछड़ा), वृषभ (बैल) तथा महोक्ष (बड़ा बैल) एक ही व्यक्ति की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को बतलाते हैं। जाति के द्वारा नियत रूप वाला कोई ललित आदि नहीं होता। यदि ललितत्व आदि नियत होता तो (तदा) महाकवियों की कृतियों में जो एक ही नायक में भिन्न-भिन्न (विरुद्ध) अनेक अवस्थाओं (ललित आदि) का कथन किया गया है वह असङ्गत ही होता; क्योंकि जाति तो नष्ट होने वाली नहीं है (फिर जो नायक धीरोदात्त जाति का होगा वह धीरोद्धत जाति का कैसे हो सकेगा?) और, भवभूति जैसे कवि ने एक ही परशुराम को 'ब्राह्मण के अतिक्रमण का त्याग आपके ही कल्याण के लिये है, अन्यथा तुम्हारा मित्र परशुराम क्रुद्ध हो जायेगा।'' (वीरचरित २.१९) इत्यादि कथन के द्वारा रावण के प्रति धीरोदात्त रूप में वर्णित किया है, 'कैलासोद्धारसार०' (वीरचरित २.१०) इत्यादि के द्वारा राम आदि के प्रति पहले तो धीरोद्धत रूप में और फिर 'पुण्या०' (ब्राह्मणजाति पवित्र है वीर० ४.२२) इत्यादि के द्वारा धीरशान्त रूप में वर्णित किया है।

(ii) (न चेति०) यह शङ्का करना भी ठीक नहीं कि (एक ही नायक की) भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का वर्णन करना अनुचित है, क्योंकि जो अङ्गभूत (अप्रधान) नायक होते हैं उनका सभी अन्य नायकों के प्रति महासत्त्व आदि होना (तथा उदात्त आदि अवस्था) नियत (व्यवस्थित) नहीं होता। किन्तु जो प्रधान (अङ्गी) नायक राम आदि हैं उनकी एक प्रबन्ध में आये हुए (सभी) पात्रों के प्रति एकरूपता होनी

दारम्भोपात्तावस्थातोऽवस्थान्तरोपादानमन्याय्यं, यथोदात्तत्वाभिमतस्य रामस्य छद्मना वालिवधादमहासत्त्वतया स्वावस्थापरित्याग इति ।

वक्ष्यमाणनां च दक्षिणाद्यवस्थानाम् 'पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः' इति नित्यसापेक्ष-त्वेनाविर्भावादुपात्तावस्थातोऽवस्थान्तराभिधानमङ्गाङ्गिनोरप्यविरुद्धम् ।

अथ शृङ्गारनेत्रवस्थाः—

(७) स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः ॥६॥

चाहिये। इसलिये (किसी प्रधान नायक की) जिस (उदात्त आदि) अवस्था का आरम्भ में ग्रहण किया जाये (उनकी) उससे दूसरी अवस्था का ग्रहण अनुचित ही है। जैसे राम को उदात्त नायक के रूप में माना गया है अतः राम का छल से बालि-वध करना महासत्त्वता के प्रतिकूल है इसलिये अपनी (उदात्त) अवस्था का परित्याग ही है (जो अनुचित है)।

(iii) किन्तु आगे वर्णित दक्षिण आदि (नायक की) अवस्थाओं में पहिले कही गई (उपात्त...गृहीत) अवस्था से भिन्न दूसरी अवस्था का वर्णन करना तो अप्रधान तथा प्रधान (दोनों प्रकार के) नायकों के विषय में ही अनुचित नहीं हैं, क्योंकि वे अवस्थाएँ सदा ही एक दूसरे की अपेक्षा से उत्पन्न हुआ करती हैं, दूसरी नायिका के द्वारा आकृष्ट किया गया (नायक) ही प्रथम नायिका के प्रति दक्षिण (आदि) होता है' (आगे २.६)।

टिप्पणी—(१) (i) धनिक के अनुसार धीरोदात्तत्व आदि नायक की अवस्थाएँ हैं, जातियाँ नहीं; इसलिये एक ही नायक धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत तथा धीरप्रशान्त हो सकता है। यदि धीरोदात्तत्व इत्यादि जातियाँ होतीं तो ऐसा सम्भव नहीं था, क्योंकि गोत्व जाति से युक्त व्यक्ति कभी भी महिषत्व जाति से युक्त नहीं हो सकती। (ii) एक अङ्गभूत (अप्रधान) नायक में ही अनेक (उदात्तत्व आदि) अवस्थाओं का वर्णन करना उचित है, एक प्रधान नायक में नहीं। (iii) एक ही प्रधान नायक में भी दाक्षिण्य आदि अनेक अवस्थाओं का वर्णन किया जा सकता है। (२) ना० शा० (२३.१५) में भी उदात्तत्व आदि चारों अवस्थाएँ शील पर आश्रित मानी गई हैं। ना० द० (१.६) के अनुसार नायकों के चार प्रकार के स्वभाव होते हैं। एक ही अप्रधान नायक में अनेक स्वभावों का भी वर्णन किया जा सकता है।

नायक की शृङ्गाररस-सम्बन्धी अवस्थाएँ

जो नायक दूसरी (नायिका) के द्वारा हर लिया जाता है, वह पहली (नायिका) के प्रति दक्षिण, शठ या धृष्ट कहलाता है ॥६॥

टिप्पणी—सा० द० (३.३५) तथा प्रता० (१.३५) में भी शृङ्गार की दृष्टि से नायक के चार भेद किये गये हैं—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ।

नायकप्रकरणात्पूर्वां नायिकां प्रत्यन्ययाऽपूर्वनायिकयाऽपहृतचित्तस्त्र्यवस्थो वक्ष्यमाणभेदेन स चतुरवस्थः। तदेवं पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येकं चतुरवस्थत्वेन षोडशधा नायकः। तत्र—

(८) दक्षिणोऽस्यां सहृदयः—

योऽस्यां ज्येष्ठायां हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिणः। यथा ममैव—

'प्रसीदत्यालोके किमपि किमपि प्रेमगुरवो
रतिक्रीडाः कोऽपि प्रतिदिनमपूर्वोऽस्य विनयः।
सविश्रम्भः कश्चित्कथयति च किञ्चित्परिजनो
न चाहं प्रत्येमि प्रियसखि किमप्यस्य विकृतिम् ॥८४॥

यथा वा—

'उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः।
उपचारविधिर्मनस्विनीनां ननु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः ॥८५॥

नायक का प्रकरण होने के कारण यह अर्थ है—दूसरी नवीन नायिका के द्वारा जिसका चित्त अपहृत हो गया है उसकी पहली नायिका के प्रति तीन अवस्थाएँ होती हैं। और, आगे कहे जाने वाले ('अनुकूल नायक') भेद सहित उसकी चार अवस्थाएँ हो जाती हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त (धीरोदात्त इत्यादि) चारों में से प्रत्येक की चार अवस्था हो जाने से नायक सोलह प्रकार का हो जाता है। उनमें—

१. दक्षिण नायक

इस (पूर्व नायिका) के प्रति सहृदय (प्रीति युक्त) रहने वाला दक्षिण नायक है।

जो (अन्य नायिका के द्वारा अपहृत-चित्त होकर भी) इस ज्येष्ठ (पूर्व) नायिका के प्रति हृदय के साथ व्यवहार करता है, वह दक्षिण नायक है। जैसे मेरा (धनिक का) ही उदाहरण है—(कोई नायिका अपने प्रियतम के विषय में कहती है–) 'मुझे देखते ही प्रसन्न हो जाता है, इसकी रतिकेलियाँ कुछ (विशेष रूप से) प्रेम से भरी होती हैं, इसका विनय प्रतिदिन अपूर्व होता जाता है। किन्तु कोई विश्वसनीय परिजन इसके विषय में कुछ (=इसका प्रेम किसी अन्य नायिका से हो गया है आदि) कहता है फिर भी प्रिय सखी, मैं तो इसके किसी भी विकार (परिवर्तन) का विश्वास नहीं करती'।

अथवा, जैसे—(मालवि० ३.३) 'प्रेम को तोड़ लेना ही अधिक उचित है, क्योंकि खण्डन के अनेक निमित्त देखे गये हैं। यद्यपि मनस्विनी नायिकाओं के प्रति की जाने योग्य औपचरिकता (आदर-सत्कार) पहिले से भी अधिक है तथापि वह भाव-शून्य ही है।'

अथ शठः—

(९)—गूढविप्रियकृच्छठः ।

दक्षिणस्यापि नायिकान्तरापहृतचित्ततया विप्रियकारित्वाविशेषेऽपि सहृदयत्वेन शठाद्विशेषः, यथा—

'शठोऽन्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा'
यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः ।
तदेतत्क्वाचक्षे घृतमधुमयं त्वद्बहुवचो—
विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ॥८६॥

अथ धृष्टः—

(१०) व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टो—

टिप्पणी—(१) दक्षिण नायक नवीन नायिका से प्रेम हो जाने पर भी पूर्वा नायिका के प्रति अपने प्रेमपूर्ण व्यवहार में कमी नहीं आने देता, भले ही उसका हार्दिक प्रेम कम हो जाये । (२) सा० द० (३.३५) के अनुसार तो अनेक नायिकाओं के साथ समान रूप से प्रेम करने वाला नायक दक्षिण नायक कहलाता है । इसी प्रकार प्रता० (१.३५) के अनुसार भी 'तुल्योऽनेकत्र दक्षिणः' यह लक्षण है ।

२. शठ नायक—

(पूर्व नायिका का) गुप्त रूप से अप्रिय करने वाला शठ नायक होता है ।

यद्यपि दक्षिण नायक का चित्त भी दूसरी नायिका के द्वारा हर लिया जाता है अतः वह भी समान रूप से नायिका का अप्रिय करता है तथापि वह (पूर्व नायिका के प्रति) सहृदय रहता है, यही उसमें शठ नायक से अन्तर है) । जैसे—(अमरु १०६, नायिका की सखी नायक को उपालम्भ दे रही है) 'हे शठ अन्य नायिका की करधनी की मणि के शब्द को सुनकर जो तुमने सहसा ही (मेरी सखी का) आलिङ्गन करते हुए भी अपने भुज-बन्धन को शिथिल कर दिया था, इस बात को कहाँ कहूँ ? घृत और मधु से मिश्रित (चिकने चुपड़े तथा मीठे) तुम्हारे बहुत से वचनों के विष से चक्कर खाती हुई मेरी सखी कुछ भी नहीं समझ पाती' ।

टिप्पणी—प्रता० (१.३९) में भी यही लक्षण है । सा० द० (३.३७) में तो लक्षण यह है—जो वस्तुतः तो एक नायिका से प्रेम करे किन्तु बाहर से दोनों नायिकाओं के प्रति प्रेम प्रदर्शित करे और छिपे रूप से दूसरी नायिका का अप्रिय करे वह शठ नायक है ।—यह लक्षण अधिक स्पष्ट है ।

जिस (नायक) के अङ्गों में विकार (=अन्य नायिका के प्रति किये गये प्रेम चिह्न) स्पष्ट प्रकट होते हैं वह धृष्ट नायक है ।

यथाऽमरुशतके—

'लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपरः ।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः ॥८७॥

भेदान्तरमाह—

(११)—ऽनुकूलस्त्वेकनायिकः ॥७॥

यथा—

'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्-
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥८८॥

जैसे अमरुशतक (६०) में '(अन्य नायिका से रमण करके आये हुए) प्रात:काल प्रिय के ललाट पट्ट के चारों ओर महावर का चिह्न, गले में केयूर की मुद्रा, मुख पर काजल की कालिमा और नेत्रों में दूसरे प्रकार की पान की लालिमा इत्यादि कोप उत्पन्न करने वाले मण्डन को देर तक देखकर मृगनयनी के श्वास लीलाकमल के मध्य में ही समाप्त हो गये ।'

[ईर्ष्या-विकार को छिपाने के लिये सूँघने के बहाने क्रीडाकमल को मुख के समीप कर लिया, उसमें निश्वास निकल-निकल कर समाती रही, अमरु० पृ० २६१]

टिप्पणी—प्रता० (१.३८) में 'व्यक्तागा गतभीर्धृष्टः' यह लक्षण है। सा० द० (३.३६) में इसका ही विशद विवेचन है—जो प्रेम में अपराधी हो जाने पर भी निशङ्क रहता है, झिड़की खाने पर भी लज्जित नहीं होता, स्पष्टतः दोषों के प्रकट हो जाने पर भी झूठ बोल देता है, वही धृष्ट नायक है ।

अन्य भेद बतलाते हैं—

४. अनुकूल नायक

जिसकी एक ही नायिका होती है, वह अनुकूल नायक कहलाता है ॥७॥

जैसे उत्तररामचरितम् (१.३९) में (सीता का स्पर्श करते हुए राम कहते हैं) जो सुख और दुःख में एकरूप (अद्वैत) है और सभी अवस्थाओं में अनुगत है, जिसमें हृदय का विश्राम होता है, जिसमें प्रीति बुढ़ापे से भी नहीं हटती, जो कि समय के तत्त्व में स्थित रहता है; उस दाम्पत्य (सुमानुष) का वह एक कल्याण किसी प्रकार ही (पुण्य से, कठिनाई से) प्राप्त किया जाता है ।

किमवस्थः पुनरेषां वत्सराजादिर्नाटिकानायकः स्यात् ? इत्युच्यते-पूर्वमनुपजातनायिकान्तरानुरागोऽनुकूलः, परतस्तु दक्षिणः । ननु च गूढविप्रियकारित्वाद्व्यक्तविप्रियत्वाच्च शाठ्यधाष्टर्येऽपि कस्मान्न भवतः, न तथाविधविप्रियत्वेऽपि वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्तेर्ज्येष्ठां नायिकां प्रति सहृदयत्वाद्दक्षिणतैव, न चोभयोर्ज्येष्ठाकनिष्ठयोर्नायकस्य स्नेहेन न भवितव्यमिति वाच्यम्, अविरोधात् । महाकविप्रबन्धेषु च—

'स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसु-
र्द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याद्य च ।
इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ॥८९॥

इत्यादावपक्षपातेन सर्वनायिकासु प्रतिपत्त्युपनिबन्धनात् ।

तथा च भरतः—

मधुरस्त्यागी रागं न याति मदनस्य नापि वशमेति ।
अवमानितश्च नार्या विरज्येत स तु भवेज्ज्येष्ठः ॥९०॥

टिप्पणी—सा० द० (३.३७) अनुकूल एकनिरतः, प्रता० (१.३५) एकायत्तोऽनुकूलः स्यात् ।

(प्रश्न) (रत्नावली) नाटिका का नायक वत्सराज आदि इसमें से किस प्रकार का नायक होगा ? (उत्तर) कहते हैं पहले जब तक दूसरी नायिका के प्रति प्रेम उत्पन्न नहीं होता वह अनुकूल नायक है, किन्तु बाद में (दूसरी नायिका के प्रति प्रेम हो जाने पर) वह दक्षिण नायक है । (प्रश्न) क्योंकि (वत्सराज) गुप्त रूप से (वासवदत्ता का) अप्रिय करता है और स्पष्ट रूप से अप्रिय करने वाला (जान लिया जाता) है फिर वह क्रमशः शठ और धृष्ट नायक भी क्यों नहीं होता ? (उत्तर) नहीं, यद्यपि वत्सराज आदि उस प्रकार का अप्रिय आचरण करते हैं तथापि प्रबन्ध की समाप्ति पर्यन्त ज्येष्ठ नायिका (वासवदत्ता आदि) के प्रति सहृदय ही बने रहते हैं अतः वे दक्षिण नायक हैं । (प्रश्न) ज्येष्ठा और कनिष्ठा दोनों नायिकाओं में नायक का प्रेम नहीं हो सकता (क्योंकि वास्तविक प्रेम तो एक से ही हो सकता है) । (उत्तर) यह कहना ठीक नहीं क्योंकि (ज्येष्ठा और कनिष्ठा दोनों के प्रति प्रेम होने में) विरोध नहीं है । और, महाकवियों के प्रबन्धों में 'स्नाता०' इत्यादि में (एक ही नायक का) सभी नायिकाओं में पक्षपात रहित प्रेम-वर्णन किया गया है, जैसे—(कञ्चुकी राजा के विजय में कहता है) ।

"कुन्तलेश्वर की पुत्री नहाई बैठी है, अङ्गराज की बहिन की बारी है, कमला ने यह रात्रि जुए में जीत ली है, आज देवी को भी प्रसन्न करना है", इस प्रकार अन्तःपुर की सुन्दरियों के प्रति जानकर जब मैंने राजा को सूचित किया तो महाराज कुछ निश्चय न करने (अविप्रतिपत्ति) के कारण मूढ मन से दो तीन घड़ी (नाडिका—घटिकाः) स्तब्ध रहे' । और, भरत ने भी ऐसा ही कहा है—जो मधुर तथा त्यागी हैं, किसी एक में राग नहीं करता, न ही काम के वश में होता है । और, नारी के द्वारा अपमानित होकर विरक्त हो जाता है, वह ज्येष्ठ (उत्तम) नायक होता है ।

इत्यत्र 'न रागं याति न मदनस्य वशमेति' इत्यनेनासाधारण एकस्यां स्नेहो निषिद्धो दक्षिणस्येति । अतो वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्ति स्थितं दाक्षिण्यमिति ।

षोडशानामपि प्रत्येकं ज्येष्ठमध्यमाधमत्वेनाष्टाचत्वारिंशन्नायकभेदा भवन्ति । सहायानाह—

(१२) पताकानायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः ।
तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिदूनश्च तद्गुणैः ॥८॥

प्रागुक्तप्रासङ्गिकेतिवृत्तविशेषः पताका तन्नायकः पीठमर्दः, प्रधानेतिवृत्तनायकस्य सहायः : यथा मालतीमाधवे मकरन्दः, रामायणे सुग्रीवः ।

सहायान्तरमाह—

यहाँ पर 'राग नहीं करता, काम के वश में नहीं होता' इस कथन के द्वारा दक्षिण नायक का किसी एक नायिका में असाधारण प्रेम (—राग आसक्ति) होने का निषेध किया गया है । इसीलिये वत्सराज आदि का प्रबन्ध की समाप्ति पर्यन्त दक्षिण नायक होना (दाक्षिण्यम्) निश्चित होता है ।

उपर्युक्त सोलह प्रकार के नायकों में से प्रत्येक के ज्येष्ठ, मध्यम और अधम भेद होने से नायक के ४८ भेद हो जाते हैं ।

टिप्पणी—इस प्रकार नायक के ४८ भेद हैं, यथा—धीरललित, धीरप्रशान्त, धीरोदात्त, धीरोद्धत (४) × दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल (४) × ज्येष्ठ, मध्यम और अधम (३) = ४८ । सा० द० (३.३८) में भी इसी प्रकार भेद-गणना की गई है ।

नायक के सहायक (पीठमर्द)

(नायक के) सहायकों को बतलाते हैं—

(प्रधान नायक से) दूसरा पताका नायक होता है जो पीठमर्द कहलाता है । वह चतुर होता है, उस (प्रधान नायक) का अनुचर तथा भक्त होता है और उसके गुणों से कुछ न्यून गुण वाला होता है ॥८॥

ऊपर (१.१३) कहा गया है कि विशेष प्रकार का प्रासङ्गिक इतिवृत्त पताका है । उसका नायक पीठमर्द कहलाता है । वह प्रधान (आधिकारिक) इतिवृत्त के नायक का सहायक होता है । जैसे मालतीमाधव में मकरन्द है और रामायण में सुग्रीव ।

टिप्पणी—ऊपर (१.१२–१३) कथावस्तु के दो प्रकार बतलाये गये हैं—आधिकारिक और प्रासङ्गिक । प्रासङ्गिक वस्तु (इतिवृत्त) भी दो प्रकार की होती है—पताका तथा प्रकरी । प्रासङ्गिक व्यापक वृत्त पताका है उसका नायक ही पीठमर्द कहलाता है । सा० द० (३.३९) में भी इसी प्रकार का लक्षण है : किन्तु प्रता० (१.४०) में इसका लक्षण स्पष्ट नहीं है ।

अन्य सहायकों को बतलाते हैं—

(१३) एकविद्यो विटश्चान्यो हास्यकृच्च विदूषकः ।

गीतादिविद्यानां नायकोपयोगिनीनामेकस्या विद्याया वेदिता विटः । हास्यकारी विदूषकः । अस्य विकृताकारवेषादित्वं हास्यकारित्वेनैव लभ्यते । यथा शेखरको नागानन्दे विटः । विदूषकः प्रसिद्ध एव ।

अथ प्रतिनायकः—

(१४) लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनी रिपुः ॥९॥

दूसरा (नायक की उपयोगी) किसी एक विद्या को जानने वाला विट होता है और हास्य उत्पन्न करने वाला विदूषक होता है :

नायक की उपयोगी जो गीत आदि विद्याएँ हैं, उनमें से किसी एक विद्या को जानने वाला विट होता है । हास्य उत्पन्न करने वाला, प्रधान नायक का सहायक विदूषक होता है । क्योंकि इसे हास्य उत्पन्न करने वाला (हास्यकृत्—हास्यकारी) कहा गया है, इसी से इसका विकृत आकार और वेष आदि वाला होना प्रकट हो जाता है । जैसे नागानन्द नाटक में 'शेखरक' विट है । विदूषक तो प्रसिद्ध ही है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (३५.५५) में विट का लक्षण अधिक स्पष्ट है—

वेश्योपचारकुशलः मधुरो दक्षिणः कविः ।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत् ॥

सा० द० (३.४१) में भी ना० शा० का अनुसरण करते हुए विट का विशद लक्षण किया गया है । तदनुसार 'जो भोगों में अपनी सम्पत्ति नष्ट कर चुका है, धूर्त्त है, कुछ कलाओं को जानता है, वेशोपचार में कुशल है, वाक्कुशल, मधुर तथा गोष्ठी में सम्मानित होने वाला है, वह विट है ।' प्रता० (१.४०) में दशरूपक का ही अनुसरण किया गया है । (२) ना० शा० (३५.५७) में विदूषक का लक्षण भी अधिक स्पष्ट है—

वामनो दन्तुरः कुब्जो द्विजिह्वो विकृताननः ।
खलतिः पिङ्गलाक्षश्च स विधेयो विदूषकः ॥

सा० द० (३.४२) में इसे और अधिक स्पष्ट कर दिया गया है । तदनुसार "कुसुम, वसन्त आदि नाम वाला, अपने कार्य, शरीर, वेष और भाषा आदि के द्वारा दूसरों को हँसाने वाला, कलह-प्रिय, अपने कर्म (हास्य या भोजन आदि) को जानने वाला विदूषक होता है ।" धनिक की व्याख्या के अनुसार दशरूपक के 'हास्यकृत्' शब्द के द्वारा ही इन सभी विशेषताओं की ओर संकेत कर दिया गया है । प्रता० (१.४०) में दशरूपक के समान ही लक्षण है ।

प्रतिनायक—

लोभी, धीरोद्धत, स्तब्ध (कठोर, आग्रही) पाप करने वाला तथा व्यसनी व्यक्ति (प्रधान नायक का) शत्रु (—प्रतिनायक) होता ॥९॥

तस्य नायकस्येत्थंभूतः प्रतिपक्षनायको भवति । यथा रामयुधिष्ठिरयो रावण-दुर्योधनौ ।

अथ सात्त्विका नायकगुणाः—

(१५) शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं [1]स्थैर्यतेजसी ।
ललितौदार्यमित्यष्टौ [2]सात्त्विकाः पौरुषा गुणाः ॥१०॥

तत्र (शोभा यथा)—

(१६) नीचे घृणाधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते ।

नीचे घृणा यथा वीरचरिते

'उत्तालताडकोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पितः ।
नियुक्तस्तत्प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति ॥६१॥

उस (प्रधान) नायक इसका (उपर्युक्त) प्रकार का प्रतिनायक होता है । जैसे राम और युधिष्ठिर के प्रतिनायक रावण तथा दुर्योधन हैं ।

टिप्पणी—(१) नायक की फलप्राप्ति में विघ्न करने वाला प्रतिनायक कहलाता है । उसे ही यहाँ 'शत्रु' (=प्रतिपक्षनायक) शब्द द्वारा कहा गया है । (२) ना० द० (४.२५०), सा० द० (३.१३१) में इसी प्रकार का लक्षण है ।

नायक के सात्विक गुण

अब नायक के सात्त्विक गुणों को बतलाते हैं—

१. शोभा, २. विलास, ३. माधुर्य, ४. गम्भीरता, ५. स्थिरता, ६. तेजस्, ७. ललित तथा ८. औदार्य-ये आठ, पुरुषों के सात्त्विक गुण हैं ॥१०॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२.३३), सा० द० (३.५१), ना० द० (४·२२०) में भी प्रायः ये आठ गुण कहे गये हैं । सा० द० में 'स्थैर्य' के स्थान पर 'धैर्य' है । (२) 'सात्त्विक' का अर्थ है सत्त्वं से उत्पन्न होने वाले (सत्त्वजाः) । रजोगुण और तमोगुण के उद्रेक से रहित मन ही 'सत्त्व' कहलाता है । 'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते ।'

१. इनमें शोभा यह है जैसे—

नीच के प्रति घृणा, अपने से अधिक के प्रति स्पर्धा तथा शूरता और दक्षता, ये शोभा में होते हैं ।

'नीच के प्रति घृणा यह है जैसे वीरचरित (१.३७) में (राक्षस मन ही मन कहता है)—'तालवृक्ष के समान ऊँची ताडका के उत्पात को देखकर भी राम कम्पित नहीं हुए; किन्तु उसके मारने के लिये नियुक्त किये जाने पर उसके स्त्री होने के कारण सन्देह में पड़ गये ।

[यहाँ राम में नीच के प्रति घृणा दिखलाई गई है]

---

१. धैर्यं इति पाठान्तरम् । २. 'सत्त्वजाः' इति पाठान्तरम् ।

गुणाधिकैः स्पर्धा यथा—

'एतां पश्य पुरः स्थलीमिह किल क्रीडाकिरातो हरः
कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः ।
इत्याकर्ण्य कथाद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापते-
र्मन्दं मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डलम् ॥९२॥

शौर्यशोभा यथा ममैव—

'अन्त्रैः स्वैरपि संयताग्रचरणो मूर्च्छाविरामक्षणे
स्वाधीनव्रणिताङ्गशस्त्रनिचितो रोमोद्गमं वर्मयन् ।
भग्नानुद्वलयन्निजान्परभटान्सन्तर्जयन्निष्ठुरं
धन्यो धाम जयश्रियः पृथुरणस्तम्भे पताकायते ॥९३॥

दक्षशोभा यथा वीरचरिते—

'स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक-
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ॥९४॥

अधिक गुणों वाले के प्रति स्पर्धा यह है, जैसे—?

'इस सामने के स्थल को देखो, यहाँ ही अर्जुन (किरीटी) ने अपने धनुष के द्वारा लीला से किरात का रूप धारण करने वाले शिव के मस्तक पर वेगपूर्वक प्रहार किया था। हिमालय में सुभद्रापति (अर्जुन) की इस अद्भुत कथा को सुनकर जिस (महादेव) ने अपनी दोनों भुजाओं को धीरे-धीरे मण्डलाकार बना लिया'।

[यहाँ अर्जुन के पराक्रम को सुनकर महादेव में स्पर्धा का वर्णन किया गया है]

शौर्य, शोभा यह है जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

'अपनी ही आँतों से जिसके चरणों के अग्रभाग बँधे हैं, जो मूर्च्छा समाप्त होते ही अपने घाव-युक्त अङ्गों में प्रचुरता से (=स्वाधीन) शस्त्रों से भरा हुआ भी रोमाञ्च को ही कवच बनाए हुए है, जो अपने हारते योद्धाओं को उत्साहित करता है (वलयन्) तथा शत्रु के योद्धाओं को कठोरता से तर्जित करता है, वह विजयश्री के विशाल युद्धस्तम्भ पर पताका के समान है, वह धन्य है।

दक्ष शोभा, जैसे वीरचरित (१.५३) में 'स्फूर्जद्' इत्यादि ऊपर उदा० ६६।

[यहाँ राम में दक्ष-शोभा का वर्णन किया गया है]

टिप्पणी—मि०, ना० शा० (२२.३४), ना० द० (४.२४४)। सा० द० (३.५१) के अनुसार 'जिस विशेषता के कारण शूरता, दक्षता, सत्य, महान्, उत्साह, अनुराग, नीच के प्रति घृणा, अधिक के प्रति स्पर्धा होती है, उसे शोभा कहते हैं।"

अथ विलासः—

(१७) गतिः सधैर्या दृष्टिश्च विलासे सस्मितं वचः ॥११॥

यथा—

'दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानो
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥६५॥

अथ माधुर्यम्—

(१८) श्लक्ष्णो विकारो माधुर्यं संक्षोभे सुमहत्यपि ।

महत्यपि विकारहेतौ मधुरो विकारो माधुर्यम् । यथा—

'कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरं गण्डोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम् ।
मुहुः पश्यञ्छृण्वन्रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥६६॥

---

२. विलास

विलास में धैर्ययुक्त गति तथा धैर्ययुक्त ही दृष्टि होती है और वचन मुस्कराहट के साथ ॥११॥

जैसे (उत्तररामचरित ६.१९ में लव को देखकर राम कहते हैं)—इसकी दृष्टि तीनों लोकों के बल के उत्कर्ष (सार) को तिनके के समान समझने वाली है, धीर एवं उद्धत चाल मानों भूमि को झुका रही है, कौमार अवस्था में भी पर्वत के समान गौरव को धारण करता हुआ यह (साक्षात्) वीर ही है या दर्प ही है ।

टिप्पणी—ना० शा० (२२.३५); सा० द० (३.५२) में 'धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः' यह लक्षण है तथा ना० द० (४.२४२) में 'विलासो वृषवद् यानं धीरा दृक् सस्मितं वचः' ।

३. माधुर्य

महान् संक्षोभ उपस्थित होने पर भी मृदु विकार उत्पन्न होना माधुर्य कहलाता है ।

महान् विकार का हेतु (=संक्षोभ) होने पर मधुर विकार होना माधुर्य है । जैसे (हनुमन्नाटक १.१६)—'रघुकुल के नायक (परिवृढः=प्रभुः) राम हाथी के बच्चे के दाँतों की कान्ति का हरण करने वाले जानकी के कपोल में अपने मुस्कराहट से युक्त तथा गण्डस्थल पर मनोहर (उड्डमर) रोमाञ्च से युक्त मुखकमल को बार-बार देखते हुए और राक्षसों की सेना के कोलाहल को सुनते हुए जटाजूट की ग्रन्थि को दृढ़ कर रहे हैं' ।

टिप्पणी—ना० शा० (२२.३६); सा० द० (३.५२) में इसी प्रकार का लक्षण है । ना० द० (४.२४३) में इसे अधिक स्पष्ट किया गया है । यहाँ विकार

अथ गाम्भीर्यम्—

(१९) गाम्भीर्यं यत्प्रभावेन विकारो नोपलक्ष्यते ।।१२।।

मृदुविकारोपलम्भाद्विकारानुपलब्धिरन्येति माधुर्यादन्यद् गाम्भीर्यम् ।

यथा—

'आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ।।९७।।

अथ स्थैर्यम्—

(२०) व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नकुलादपि ।

यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ।।९८।।

(=विकृति) का अर्थ है—अपने सामान्य रूप से भिन्न रूप हो जाना । जहाँ रोमाञ्च आदि के द्वारा हल्की सी विकृति का प्रकाशन होता है, वहाँ माधुर्य गुण कहलाता है । यहाँ 'जटाजूटग्रन्थि दृढयति, इस कथन द्वारा राम का मृदु विकार प्रकट हो रहा है ।

४ गाम्भीर्य

जिस गुण के प्रभाव से विकार नहीं दिखलाई पड़ता वह गाम्भीर्य कहलाता है ।।१२।।

मृदु विकार की उपलब्धि से विकार की अनुपलब्धि भिन्न होती है अतः माधुर्य से गाम्भीर्य भिन्न है जैसे—आहूतस्य इत्यादि ऊपर उदा० ७९ ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२.३८); सा० द० (३.५३) तथा ना० द० (४ २४६) में यद्यपि लक्षण का स्वरूप भिन्न है तथापि तात्पर्य यही है । (२) माधुर्य में मृदु विकार होता है और उसकी प्रतीति भी होती है; किन्तु गम्भीर्य वह गुण है जिसके कारण कोई विकार लक्षित ही नहीं होता । जैसे अभिषेक के लिये बुलाये गये अथवा वन में भेजे गये राम में कोई विकार लक्षित नहीं होता ।

५. स्थैर्य

अनेकों विघ्नों से भी अपने निश्चय से विचलित न होना स्थैर्य है ।

जैसे वीरचरित (३.८) में ऊपर उदा० ७२ ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२.३७); सा० द० (२.५३) में इसी प्रकार का लक्षण है किन्तु इसे धैर्य कहा गया है । ना० द० (४.२४५) के अनुसार 'विघ्नों के उपस्थित होने पर भी अशुभ प्रारब्ध कार्य से भी विचलित न होना' ही स्थैर्य है । (२) यहाँ व्यवसाय=निश्चय, इसका अर्थ, 'कर्तव्यपालन' नहीं है अतः शुभ—अशुभ किसी प्रकार के निश्चय से विचलित न होना ही स्थैर्य है । 'प्रायश्चित्तं' इत्यादि उदाहरण में परशुराम के शस्त्रग्रहण के महाव्रत से विचलित न होने का वर्णन है ।

अथ तेजः—

(२१) अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि ॥१३॥

यथा—

'ब्रूत नूतनकूष्माण्डफलानां के भवन्त्यमी ।
अङ्गुलीदर्शनाद्येन न जीवन्ति मनस्विनः ॥९९॥'

अथ ललितम्—

(२२) शृङ्गाराकारचेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु ।

स्वाभाविकः शृङ्गारो मृदुः, तथाविधा शृङ्गारचेष्टा च ललितम् ।

यथा ममैव

लावण्यमन्मथविलासविजृम्भितेन स्वाभाविकेन सुकुमारमनोहरेण ।
किंवा ममेव सखि योऽपि ममोपदेष्टा तस्यैव किं न विषमं विदधीत तापम् ॥१००॥

अथौदार्यम्—

(२३) प्रियोक्त्याऽऽजीविताद्दानमौदार्यं सदुपग्रहः ॥१४॥

---

६. तेज—

प्राणों का संकट उपस्थित होने पर भी अपमान आदि को न सहना तेज कहलाता है ॥१३॥

जैसे—(?) 'बतलाओ तो ये मनस्वी जन नवीन कुम्हड़े के फूलों के क्या लगते हैं जो ये अङ्गुली दिखाने से जीवित नहीं रह पाते' ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२.४१); सा० द० (३.५४) में भी इसी प्रकार के लक्षण हैं । (२) ऊपर के उदाहरण में मनस्वी जनों के तनिक सा अपमान न सह सकने का वर्णन किया गया है ।

७. ललित —

शृङ्गार के अनुरूप स्वाभाविक और मृदु चेष्टा करना ही ललित कहलाता है ।

स्वाभाविक शृङ्गार मृदु होता है और स्वाभाविक एवं मृदु (=तथाविधा) शृङ्गार-चेष्टा ललित कहलाती है । जैसे मेरा (धनिक का) ही (पद्य है)—'हे सखि, (वह नायक) सौन्दर्य और काम-चेष्टा के स्वाभाविक, मृदु और मनोहर स्फुरण (विजृम्भित) के द्वारा जिस प्रकार मुझ में विषम सन्ताप उत्पन्न करता है, उसी प्रकार जो मुझे उपदेश देने वाला है, उसके भी क्यों नहीं करता' ?

टिप्पणी—ना० शा० (२२.३६), ना० द० (४.२४८), सा० द० (३.५५) में भी इसी प्रकार का लक्षण है ।

८. औदार्य—

(क) प्रिय वचन के साथ जीवन पर्यन्त दान देना तथा (ख) सज्जनों की आराधना (उपग्रह=सन्तुष्ट करना, अपने अनुकूल बनाना) अनुरञ्जन, (Propitiation) औदार्य कहलाता है ।

प्रियवचनेन सहाऽऽजीविताबधेर्दानमौदार्यं सतामुपग्रहश्च । यथा नागानन्दे—

'शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांससस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ॥१०१॥'

सदुपग्रहो यथा—

'एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम् ।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ॥१०२॥'

अथ नायिका—

(२४) स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा ।

प्रिय वचन के साथ जीवन के अन्त तक दान देना औदार्य कहलाता है तथा सज्जनों का अनुरञ्जन भी । जैसे नागानन्द (५-१६) में 'शिरामुखैः' इत्यादि ऊपर उदा० ७८ ।

[यहाँ जीमूतवाहन के जीवन तक दान देने का वर्णन है अतः उसके औदार्य की अभिव्यक्ति होती है ।]

सज्जनों की आराधना यह है, जैसे (कुमार० ६·६३)— ये हम हैं, ये स्त्रियाँ हैं, कुल का जीवन एक लड़की है; इनमें से जिससे तुम्हारा प्रयोजन (सिद्ध) हो बतलाओ । बाह्य वस्तुओं में हमारी आस्था नहीं है' ।

[यहाँ किसी सज्जन को अपने अनुकूल बनाने का प्रभाव प्रकट होता है।

टिप्पणी—(१) औदार्य के दो रूप हैं—(१) प्रियवचन के साथ जीवनपर्यन्त दान (२) सदुपग्रह । (३) ना० शा० (२२·४०) के अनुसार यह लक्षण है

दानमभ्युपपत्तिश्च तथा च प्रियभाषणम् ।
स्वजने च परे वाऽपि तदौदार्यं प्रकीर्तितम् ॥

यहाँ स्वजन या पर (शत्रु) दोनों के लिये प्रियवचन के साथ दान और दोनों की रक्षा आदि करना (अभ्युपपत्तिः=परित्राणार्थिनोऽङ्गीकरणम्) औदार्य कहा गया है, केवल सदुपग्रह को नहीं । इसी प्रकार ना० द० (४·२४७) के अनुसार अपने प्राण देकर भी शत्रु तथा मित्र का उपकार (=उपग्रह) करना औदार्य है' तथा सा० द० (३·५५) "प्रियवचन के साथ दान करना, तथा शत्रु और मित्र के प्रति समभाव को औदार्य कहा गया है ।"

नायिका-भेद

उस (नायक) के (समान) गुणों वाली नायिका होती है जो तीन प्रकार की होती है—

स्वकीया, परकीया तथा साधारणस्त्री ।

तद्गुणेति । यथोक्तसम्भवे नायकसामान्यगुणयोगिनी नायिकेति, स्वस्वी पर-साधारणस्त्रीत्यनेन विभागेन त्रिधा ।

तत्र स्वीयाया विभागगर्भं सामान्यलक्षणमाह—

(२५) मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक् ॥१५॥

शीलं सुवृत्तम्, पतिव्रताऽकुटिला लज्जावती पुरुषोपचारनिपुणा स्वीया नायिका । तत्र शीलवती यथा—

'कुलबालिआए पेच्छह जोव्वणलाअण्णविब्भमविलासा ।
पवसन्ति व्व पवसिए एन्ति व्व पिये घरं एत्ते ॥१०३॥'

('कुलबालिकायाः प्रेक्षध्वं यौवनलावण्यविभ्रमविलासाः ।
प्रवसन्तीव प्रवसिते आगच्छन्तीव प्रिये गृहमागते ॥')

आर्जवादियोगिनी यथा—

'हसिअमविआरमुद्धं भमिअं विरहिअविलाससुच्छाअम् ।
भणिअं सहावसरलं धण्णाणं घरे कलत्ताणम् ॥१०४॥'

('हसितमविचारमुग्धं भ्रमितं विरहितविलाससुच्छायम् ।
भणितं स्वभावसरलं धन्यानां गृहे कलत्राणाम् ।)

तद्गुणा का अर्थ है—जो नायक के गुण कहे गये हैं उनमें से जहाँ तक सम्भव हो उन नायक के सामान्य गुणों से युक्त नायिका होती हैं । वह अपनी स्त्री, दूसरे की स्त्री तथा साधारण स्त्री इस तरह के भेद से तीन प्रकार की होती है ।

टिप्पणी—सा० द० (३.५६), भा० प्र० (पृ० ९४ पं० २० तथा आगे) में भी इसी प्रकार नायिका के तीन भेदों का वर्णन है । आचार्य हेमचन्द्र (काव्या० ७.२३) ने इन तीनों भेदों का अधिक सुव्यवस्थित वर्णन किया है । उसके अनुसार शरीर की अवस्था (वयः) और कौशल (काम-चेष्टा की निपुणता) के आधार पर नायिकाओं के मुग्धा, मध्या और प्रौढा, ये तीन भेद होते हैं । ना० द० (४·२५५) में कुलजा, दिव्या, क्षत्रिया तथा पण्यस्त्री ये चार प्रकार की नायिकाएँ कही गई हैं ।

१. स्वकीया

उन तीन प्रकार की नायिकाओं में (तत्र) स्वकीया का विभाग सहित सामान्य लक्षण बतलाते हैं—

स्वकीया नायिका शील तथा सरलता आदि से युक्त होती है, वह मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा (तीन प्रकार की) होती है ॥१५॥

शील का अर्थ है—अच्छा आचरण; अतः स्वकीया नायिका पतिव्रता, कुटिलता रहित (आर्जवयुक्ता), लज्जावती और पति की सेवा में निपुण होती है ।

उसमें शीलवती यह है, जैसे (हाल ८७१)—'कुल बालिका के यौवन, लावण्य, विभ्रम तथा विलास देखिये । प्रिय के प्रवास चले जाने पर मानों ये सब चले जाते हैं और प्रिय के घर आने पर आ जाते हैं ।

सरलता आदि से युक्त यह है, जैसे (हाल ८६९)—'भाग्यशाली जनों के

लज्जावती यथा—

'लज्जापज्जत्तपसाहणाइं परतित्तिणिप्पिवासाइं ।
अविणअदुम्मेहाइं धण्णाणं घरे कलत्ताइं ॥१०५॥'
('लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परतृप्तिनिष्पिपासानि ।'
अविनयदुर्मेधांसि धन्यानां गृहे कलत्राणि ॥)

सा चैवंविधा स्वीया मुग्धा-मध्या-प्रगल्भा-भेदात्त्रिविधा ।

तत्र—

(२६) मुग्धा नववयः कामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ।

प्रथमावतीर्णतारुण्यमन्मथा रमणे वामशीला सुखोपायप्रसादना मुग्धनायिका ।
तत्र वयोमुग्धा यथा—

घर में नारियों की हँसी बिना सोचे-विचारे ही मनोहर होती है, उनकी चाल विलास रहित होकर भी शोभायुक्त (सुच्छायम्) होती है और बोलना स्वभाव से ही सरल होता है ।'

लज्जावती यह है, जैसे (हाल ८६६)—भाग्यशाली जनों के घर में ही ऐसी नारियाँ होती हैं जिनका लज्जा ही पर्याप्त प्रसाधन (अलङ्करण) है, जो पर-पुरुषों से तृप्ति की इच्छा नहीं रखतीं, अविनय करना नहीं जानतीं (अविनये दुर्मेधांसि अविनय में कुण्ठित बुद्धि वाली)' ।

और वह इस प्रकार की (स्वकीय) नायिका (क) मुग्धा, (ख) मध्या और (ग) प्रगल्भा भेद से तीन प्रकार की होती है ।

टिप्पणी—(१) ना० द० (४·२५७) में सभी प्रकार की नायिकाओं के ये तीन भेद किये गये हैं । किन्तु सा० द० (३·५७) में दशरूपक का अनुसरण करके स्वकीया के ही ये तीन भेद किये गये हैं । इसी प्रकार भा० प्र० (पृ० ९४ पं० २१) में भी स्वकीया के ही ये तीन भेद हैं । (२) स्वकीया नायिका के लक्षण में संस्कृत के साहित्य-शास्त्र में आदर्शवादिता की झलक मिलती है किन्तु परकीया और साधारण स्त्री के वर्णन में उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी रहा है ।

(क) मुग्धा नायिका

उनमें—

जिनकी अवस्था तथा काम-भावना नवीन होती है, जो रति-क्रीड़ा में झिझकने वाली (वामा=विपरीत, प्रतिकूल, विमुख) और क्रोध करने में कोमल होती है, वह मुग्धा नायिका है ।

अर्थात् जिसमें यौवन तथा काम-भाव का प्रथम अवतरण होता है, जो रति-क्रीड़ा में अनुकूल नहीं होती (क्योंकि उससे अनभिज्ञ होती है), (क्रोध करने पर जिसे सुखपूर्वक प्रसन्न किया जा सकता है) वह मुग्धा नायिका होती है ।

उनमें वयोमुग्धा यह है जैसे—'यह स्तन भार बढ़ने वाला है किन्तु अभी उचित विस्तार को नहीं प्राप्त है । यह त्रिवलि रेखाओं से तो प्रकट हो रही है

'विस्तारी स्तनभार एष गमितो न स्वोचितामुन्नतिं
रेखोद्भासिकृतं वलित्रयमिदं न स्पष्टनिम्नोन्नतम् ।
मध्येऽस्या ऋजुरायतार्धकपिशा रोमावली निर्मिता
रम्यं यौवनशैशवव्यतिकरोन्मिश्रं वयो वर्तते ॥१०६॥'

यथा च ममैव—

'उच्छ्वसन्मण्डलप्रान्तरेखमाबद्धकुड्मलम् ।
अपर्याप्तमुरोवृद्धेः शंसत्यस्याः स्तनद्वयम् ॥१०७॥'

काममुग्धा यथा—

'दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि ।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः ॥१०८॥

रतवामा यथा—

'व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥१०९॥'

किन्तु स्पष्टतः नीची ऊँची नहीं है । इसके मध्य में सीधी बिस्तृत रोमावली बन गई है, जो आधी कपिश वर्ण की (भूरी) ही है । इस प्रकार इसकी यौवन और शैशव के संसर्ग (व्यतिकर) से मिश्रित अवस्था है ।

[यहाँ नायिका में तारुण्य के अवतरित होने का वर्णन किया गया है]

और, जैसे मेरा (धनिक का) ही (पद्य है)—'इसके दोनों स्तन, जिनके मण्डल के प्रान्त की रेखा उभर रही है, कलियाँ बँध गई हैं, वक्षः स्थल की वृद्धि की अपूर्णता को बतला रहे हैं ।'

[यहाँ विशेष प्रकार के स्तनों के वर्णन से यौवन का अवतरित होना प्रकट होता है]

काममुग्धा यह है, जैसे—अब इस बाला की दृष्टि अलसाई सी रहती है, बाल-क्रीड़ा में यह रुचि नहीं रखती सखियों के द्वारा चलाई गई सम्भोग की बातों में कान लगा लेती है पहिले की भाँति अब शङ्कारहित होकर पुरुषों की गोद में नहीं बैठ जाती । इस प्रकार धीरे-धीरे यह बाला नूतन यौवन के संसर्ग से युक्त हो रही है ।'

[यहाँ नायिका में धीरे-धीरे काम के सञ्चार का वर्णन किया गया है]

रतवामा यह है, जैसे—(कुमारसम्भव ८·२) 'जब (शिव ने पार्वती से) कुछ कहा तो उसने उत्तर नहीं दिया, जब उसका आँचल पकड़ लिया तो उसने जाने की इच्छा की, वह दूसरी ओर को मुख करके शय्या पर सोती थी फिर भी वह शिव को आनन्द देने वाली थी ।'

[इस वर्णन से पार्वती की रति-विमुखता प्रकट होती है]

मृदुः कोपे यथा—

'प्रथमजनिते बाला मन्यौ विकारमजानती
 कितवचरितेनासज्याङ्के विनम्रभुजैव सा ।
चिबुकसलिकं चोन्नम्योच्चैरकृत्रिमविभ्रमा
 नयनसलिलस्यन्दिन्योष्ठे रुदन्त्यपि चुम्बिता ॥११०॥'

एवमन्येऽपि लज्जासंवृतानुरागनिबन्धना मुग्धाव्यवहारा निबन्धनीया, यथा—

'न मध्ये संस्कारं कुसुममपि बाला विषहते
 न निःश्वासैः सुभ्रूर्जनयति तरङ्गव्यतिकरम् ।
नवोढा पश्यन्ती लिखितमिव भर्तुः प्रतिमुखं
 प्ररोहद्रोमाञ्चा न पिबति न पात्रं चलयति ॥१११॥'

कोप में मृदु यह है जैसे ? 'प्रथम बार उत्पन्न कोप में यह बाला बिगड़ना नहीं जानती थी, वह भुजाओं को नीचे किये रही और उस धूर्त चरित्र वाले नायक ने उसे गोदी में खींचकर उसकी ठोड़ी और मस्तक (अलिक) को ऊपर उठाकर किसी प्रकार की कृत्रिम शृङ्गार-चेष्टा (विभ्रम) न करने वाली केवल रोती हुई उसका नेत्र के जल से भीगे ओठों पर चुम्बन किया ।'

[इस वर्णन से प्रकट होता है कि मुग्धा कोप में बिगड़ना नहीं जानती, यदि कोप करती भी है तो उसे सहज ही प्रसन्न किया जा सकता है]

इसी प्रकार लज्जा से आच्छादित अनुराग द्वारा उत्पन्न होने वाली (लज्जया संवृत्तो योऽनुरागस्तन्निबन्धनाः) मुग्धा की चेष्टाओं का वर्णन करना चाहिये । जैसे— 'वह बाला (पेय-पात्र के) बीच में पुष्प के संस्कार (शोभा या सुगन्ध के लिये रक्खे-गये पुष्प) को सहन नहीं करती, वह सुन्दर भौंहों वाली अपने श्वास द्वारा (पेय पदार्थ में) तरङ्गों का व्यवधान (व्यतिकर) भी नहीं उत्पन्न करती, वह नवविवाहिता प्रियतम के मुख के प्रतिबिम्ब को (पेय पदार्थ में) चित्रित सा देखती है, उसके रोमाञ्च उत्पन्न हो गये हैं तथा वह न तो (पेय को) पीती ही है और न पात्र को हिलाती है' ।

टिप्पणी—(१) 'न मध्ये इत्यादि में लज्जा से आच्छादित अनुराग प्रकट होता है । बाला नवोढा है, मुग्धा है, वह अनुराग के कारण पति को देखना चाहती है किन्तु लज्जा से उसका अनुराग ढका है और वह पेय पदार्थ में प्रिय के प्रतिबिम्ब को देखकर दर्शन की लालसा को तृप्त करना चाहती है । (२) सा० द० (३.५८), ना० द० (४.२५८) में भी प्रायः इसी प्रकार का विवेचन है । भा० प्र० (पृ० ९६ पं १७–२०) में मुग्धा के स्वरूप का अधिक स्पष्ट चित्रण है—

शीलसत्यार्जवोपेता रहःसम्भोगलालसा ।
मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ॥
यतते रतिचेष्टासु पत्युर्व्रीडामनोहरम् ।
अपराधे रुदत्येव न वदत्यप्रियं प्रिये ॥

अथ मध्या—

(२७) मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा ।।१६।।

सम्प्राप्ततारुण्यकामा मोहान्तरतयोग्या मध्या ।

तत्र यौवनवती यथा—

'आलापान् भ्रूविलासो विरलयति लसद्बाहुविक्षिप्तयातं
नीवीग्रन्थिं प्रथिम्ना प्रतनयति मनाङ्मध्यनिम्नो नितम्बः ।
उत्पुष्यत्पार्श्वमूर्च्छत्कुचशिखरमुरो नूनमन्तः स्मरेण
स्पृष्टा कोदण्डकोटचा हरिणशिशुदृशो दृश्यते यौवनश्रीः ।। ११२।।

कामवती यथा—

'स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभि—
र्यदपि विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथाः ।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखा
नयननलिनीनालाकृष्टं पिबन्ति रसं प्रियाः ।।११३।।

मध्यसम्भोगो यथा—

ताव च्चिअ रइसमए महिलाणं विब्भमा विराअन्ति ।
जाव ण कुवलयदलसच्छहाइं मउलेन्ति णअणाइं ।।१४४।।

(ख) मध्या नायिका

जिसमें यौवन और काम का उदय हो रहा है, जो बेसुधी अवस्था (मोह) पर्यन्त रति में समर्थ है, वह मध्या नायिका है ।

तारुण्य और काम भाव प्राप्त कर चुकने वाली तथा मोह की अवस्था पर्यन्त सुरत के योग्य नायिका मध्या होती है ।

उनमें यौवन से युक्त यह है जैसे (?)—'उनके भ्रूविलास ने आलाप (वार्तालाप=बातचीत) को कम कर दिया है. उसका गमन भुजाओं के हिलने के शोभित है, मध्य भाग में नीचा नितम्ब अपने विस्तार से नीवी की ग्रन्थि को तनिक क्षीण (शिथिल) कर रहा है, वक्षस्थल के पार्श्व भाग विकसित हो रहे हैं, स्तन-शिखर बढ़ रहा है (मूर्च्छत्) । ऐसा दिखलाई देता है कि अवश्य ही अन्तःकरण में स्थित कामदेव ने अपने धनुष की कोर से मृगशावकनयनी की यौवन-श्री का स्पर्श कर लिया है ।'

[इस वर्णन द्वारा यह प्रकट होता है कि नायिका को पूर्ण यौवन प्राप्त हो रहा है ।]

काम से युक्त नायिका यह है, जैसे—(अमरु ९०) 'कामदेव की नूतन सरिता के प्रवाह में बहते हुए प्रिय यद्यपि गुरुजन रूपी सेतु के द्वारा रोके हुए अपूर्ण मनोरथ वाले होकर निकट बैठे हैं तथापि चित्रलिखित से अङ्गों द्वारा एक दूसरे के प्रति उन्मुख होकर नेत्र रूपी कमलनाल से लाये हुए रस का पान कर रहे हैं' ।

मध्या की रति इस प्रकार की होती है, जैसे—(हाल० ५) 'महिलाओं की

('तावदेव रतिसमये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते ।
यावन्न कुवलयदलस्वच्छाभानि मुकुलयन्ति नयनानि ॥')

एवं धीरायामधीरायां धीराधीरायामप्युदाहार्यम् ।

अथास्या मानवृत्तिः—

(२८) धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या, मध्या साश्रु कृतागसम् ।
खेदयेद् दयितं कोपादधीरा परुषाक्षरम् ॥१७॥

मध्याधीरा कृतापराधं प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या खेदयेत् । यथा माघे—

'न खलु वयममुष्य दानयोग्याः
पिबति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम् ।
व्रज विटपममुं ददस्व तस्यै
भवतु यतः सदृशोश्चिराय योगः ॥११५॥

शृङ्गार-चेष्टाएँ रतिकाल में तभी तक शोभित होती हैं, जब तक कि नीलकमल-पत्र के समान निर्मल आभा वाले नेत्र मुकुलित (बन्द) नहीं हो जाते' ।

इसी प्रकार धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा का भी उदाहरण दिया जा सकता है ।

टिप्पणी—(१) सि०, ना० द० (४.२५९) 'मध्या मध्यवयः काम-माना मूर्च्छन्तिमोहना'; भा० प्र० (पृ० ९६ पं० २१–२२) । सा० द० (३.५९) में मध्या का लक्षण अधिक स्पष्ट है—'मध्या वह है जो विचित्र रतिलीला में निपुण हो, जिसका काम और यौवन उभार पर हो, जो कुछ प्रगल्भ वचन बोलती हो और मध्यम कोटि की लज्जा रखती हो ।' (२) मध्या के धीरा अधीरा तथा धीराधीरा, ये तीन प्रकार माने जाते हैं । तीनों प्रकार की मध्या नायिका के रतिवर्णन में भी कुछ अवान्तर भेद हो जाता है जिसके उदाहरण काव्य-नाट्य में देखे जा सकते हैं । ना० द० (४·२५९) तथा दशरूपक के अग्रिम (२.१७) विवेचन में धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा की 'मानवृत्ति' का ही वर्णन किया गया है ।

इस (मध्या) नायिका की मानवृत्ति इस प्रकार की है—

मध्या धीरा ताने (उत्प्रास) के साथ वक्रोक्ति से, धीराधीरा आसुओं और ताने के साथ वक्रोक्ति से और अधीरा कोप के साथ अश्रुपूर्वक कठोर शब्दो से अपराधी प्रियतम को फटकारती है:—

मध्या धीरा अपराध करने वाले प्रियतम को ताने सहित वक्रोक्ति से फटकारती है । जैसे माघ (७.५३) में [अपराध करने के पश्चात् कोई नायक नायिका को मनाने के लिये वृक्ष की शाखा (विटप) अर्पित करता है, इस पर नायिका कहती है] 'हम तो इस दान के योग्य नहीं हैं, जो एकान्त में तुम्हें पीती हैं और तुम्हारी रक्षा करती है जाओ इस शाखा को उसी को दे दो, जिससे इन दोनों समान वस्तुओं का चिरकाल के लिये संयोग हो जाये' ।

धीराधीरा साश्रु सोत्प्रासवक्रोक्त्या खेदयेत्, यथाऽमरुशतके—

बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधा मयि ।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते ।।११६।।

अधीरा साश्रु परुषाक्षरम्, यथा—

'यातु यातु किमनेन तिष्ठता मुञ्च सखि सादरं कृथाः ।
खण्डिताधरकलङ्कितं प्रियं शक्नुमो न नयनैर्निरीक्षितुम् ।।११७।।'

एवमपरेऽपि व्रीडानुपहिताः स्वयमनभियोगकारिणो मध्याव्यवहारा भवन्ति, यथा—

'स्वेदाम्भः कणिकाञ्चितेऽपि वदने जातेऽपि रोमोद्गमे
विश्रम्भेऽपि गुरौ पयोधरभरोत्कम्पेऽपि वृद्धि गते ।

टिप्पणी—(१) विटप = १. शाखा २. विट अर्थात् कामुक या उपपति का पान करने वाली या रक्षा करने वाली । (२) यहाँ नायिका ताना देकर वक्रोक्ति से फटकार रही है ।

धीराधीरा अश्रुपूर्वक ताने सहित वक्रोक्ति से अपराधयुक्त प्रियतम को फटकारती है । जैसे अमरुशतक (५७) में—(नायक) 'बाले' (नायिका) नाथ, (नायक) मानिनी, क्रोध को छोड़ दो ।' (नायिका) क्रोध से मैंने क्या कर लिया ? (नायक) हमारे (हृदय) में खेद उत्पन्न कर दिया (नायिका) आपने मेरा कोई अपराध नहीं किया, सब मेरा ही दोष है । (नायक) तो फिर गद्गद् वचन के साथ क्यों रो रही हो ? (नायिका) किसके आगे रो रही हूँ ? (नायक) यह मेरे ही तो सामने । (नायिका) मैं तेरी कौन हूँ ? (नायक) प्रियतमा (नायिका) आपकी प्रियतमा नहीं रही इसीलिये रो रही हूँ ।'

टिप्पणी—नायिका की इस फटकार में अश्रु हैं (रुद्यते) और ताने के साथ वक्रोक्ति भी (न मेऽपराध्यति, का तवाऽस्मि इत्यादि) ।

अधीरा मध्या अश्रुपूर्वक कठोर वचनों से (अपराधयुक्त नायक को फटकारती है); जैसे—[अपराधयुक्त नायक कुपित नायिका को मनाने का प्रयास करता है, वह नहीं मानती तो नायक वापस चल देता है । इस पर कोई सखी नायक को रोकती है तो नायिका कहती है]—हे सखी, इसे जाने दो, जाने दो, इसके ठहरने से क्या प्रयोजन ? छोड़ दो, इसका आदर मत करो ! (अन्य नायिका के द्वारा) खण्डित अधर से कलङ्कित प्रिय को हम आँखों से भी नहीं देख सकती ।

इसी प्रकार मध्या नायिका के और भी व्यवहार होते हैं जो लज्जा से ढके नहीं होते और (सुरत में) नायिका की स्वतः प्रवृत्ति न कराने वाले होते हैं । जैसे— 'यद्यपि नायिका का मुख स्वेद-जलकण से युक्त हो गया, उसे रोमाञ्च हो आया, गुरुजन (के न आने) से निश्चिन्तता भी रही, स्तन-भार का कम्पन भी बढ़ गया,

दुर्वारस्मरनिर्भरेऽपि हृदये नैवाभियुक्तः प्रिय—
स्तन्वङ्ग्या हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धया ॥११८॥
स्वतोऽनभियोजकत्वं हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धयेवेत्युत्प्रेक्षाप्रतीतेः ।

अथ प्रगल्भा—

(२६) यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके ।
विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना ॥१८॥

गाढयौवना यथा ममैव—
'अभ्युन्नतस्तनमुरो नयने च दीर्घे
वक्रे भ्रुवावतितरां वचनं ततोऽपि ।'

हृदय कठिनता से रोकने योग्य काम-भाव से भर गया । फिर भी उस कृशाङ्गी ने मानों हठात् केशकर्षण तथा गाढ आलिङ्गन रूपी अमृत के लोभ से प्रिय को स्वयं (सुरत में) प्रवृत्त नहीं कराया' ।

यहाँ "मानों हठात् केशाकर्षण तथा गाढ आलिङ्गन (आश्लेष) रूपी अमृत में लुब्धा ने" इस प्रकार उत्प्रेक्षा की प्रतीति होने से 'स्वयं प्रवृत्ति न कराना' प्रकट हो रहा है ।

टिप्पणी—(२) ना० द० (४.२५६ वृत्ति) तथा सा० द० (३.६१) में धीरा अधीरा और धीराधीरा मध्या नायिकाओं के मान का इसी प्रकार वर्णन किया गया है । (१) व्रीडानुपहिता=लज्जा की उपाधि से रहित, इस पद के द्वारा मध्या के व्यवहारों का मुग्धा के व्यवहारों से भेद दिखलाया गया है, मुग्धा के व्यवहार लज्जा से आच्छादित (लज्जासंवृत) होते हैं (२.१६) किन्तु मध्या के व्यवहार सर्वथा लज्जा से आच्छादित नहीं होते, हाँ उनमें लज्जा रहती अवश्य है । इसलिये सा० द० (३.५६) में इसे 'मध्यमव्रीडिता' कहा है । (३) स्वयम् अनभियोगकारिणः—सुरते स्वकीय—(मध्या) प्रवृत्त्यप्रयोजकाः, प्रियः स्वयमेव सुरते प्रवर्तेतेति समीहते मध्येति भावः (प्रभा)=नायक की सुरत में स्वयं प्रवृत्ति न कराने वाली, इस पद के द्वारा मध्या का प्रगल्भा से भेद दिखलाया गया है । प्रगल्भा नायिका नायक को सुरत में स्वयं प्रवृत्त कराने वाली होती है जैसा कि 'रतप्रगल्भा' (उदा० १२२) पद से विदित होता है । भा० प्र० में भी कहा गया है—'प्रगल्भाऽऽरभते स्वैरं बाह्ये चाभ्यन्तरे रते' (४) स्वतो……प्रतीतेः' इस पंक्ति का अन्वय इस प्रकार है— हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धयेव (प्रियो नैवाभियुक्तः) इत्युत्प्रेक्षाप्रतीतेः (नायिकायाः) स्वतोऽनभियोजकत्वं (लभ्यते) ।

(ग) प्रगल्भा

जो यौवन में अन्धी सी, काम से उन्मत्त सी, आनन्द के कारण प्रियतम के अङ्गों में प्रविष्ट होती हुई सी सुरत के आरम्भ में भी चेतना रहित हो जाती है, वह प्रगल्भा नायिका है ।

गाढ यौवन वाली (जवानी में अन्धी सी) यह है जैसे मेरा (धनिक का) ही (पद्य है) 'उस अनूठे यौवन वाली का उरस्थल उभरे स्तनों वाला है, नेत्र विशाल हैं, भौंहें वक्र हैं: वचन उनकी अपेक्षा भी अधिक वक्र हैं, मध्यभाग अत्यन्त क्षीण है

मध्योऽधिकं तनुरतीवगुरुर्नितम्बो
मन्दा गतिः किमपि चाद्‌भुतयौवनायाः ॥११९॥'

यथा च—

'स्तनतटमिदमुत्तुङ्गं निम्नो मध्यः समुन्नतं जघनम् ।
विषमे मृगशावाक्ष्या वपुषि नवे क इव न स्खलति ॥१२०॥'

भावप्रगल्भा यथा—

'न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये ।
सर्वाण्यङ्गानि किं यान्ति नेत्रतामुत कर्णताम् ॥१२१॥'

रतप्रगल्भा यथा—

कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धनाद्—
वासः प्रश्लथमेखलागुणधृतं किञ्चिन्नितम्बे स्थितम् ।
एतावत् सखि वेद्मि केवलमहं तस्याङ्गसङ्गे पुनः
कोऽसौ कास्मि रतं नु किं कथमिति स्वल्पाऽपि मे न स्मृतिः ॥१२२॥

एवमन्येऽपि परित्यक्तह्रीयन्त्रणावैदग्ध्यप्रायाः प्रगल्भा व्यवहारा वेदितव्याः । यथा—

तथा नितम्ब अत्यधिक भारी और चाल कुछ मन्द हो गई है' । और जैसे—'यह ऊपर उठा हुआ स्तनतट, नीचा मध्यभाग, और फिर ऊँचा जघन–स्थल, इस प्रकार मृगशावकनयनी के इस विषम (ऊँचे-नीचे) तथा नवीन शरीर में कौन स्खलित नहीं होगा ?'

टिप्पणी—यहाँ नायिका के गाढ़ यौवन का वर्णन है । 'विषमे न स्खलति' का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार नई ऊँची नीची भूमि में कोई भी व्यक्ति चलते हुए फिसल जाता है इसी प्रकार इसके गाढ यौवन से पूर्ण शरीर के प्रति भी उसके फिसलने की सम्भावना है ।

भावप्रगल्भा (भावों में प्रगल्भा) यह है, जैसे (कोई नायिका अपनी सखी से कहती है) 'प्रियतम के सामने आने पर और प्रिय बचन कहने पर न जाने मेरे समस्त अङ्ग ही नेत्र बन जाते हैं अथवा श्रोत्र बन जाते हैं (अर्थात् प्रियतम के निकट आने पर मैं सब ओर उन्हें ही देखती हूँ, उनके बोलने पर सब ओर उनकी ही बात सुनती हूँ) ।'

रतप्रगल्भा (रति में प्रगल्भा) यह है, जैसे (अमरु० १०१ में नायिका अपनी सखी से कहती है) 'प्रियतम के सेज पर आते ही मेरी नीवी की गाँठ स्वयं ही खुल गई, ढीली करधनी की लड़ी (गुण) से रोका गया वस्त्र भी कुछ नितम्ब पर ही ठहरा रहा । मैं तो अब केवल इतना ही जानती हूँ । उसके अङ्गों का सम्पर्क होने के बाद की तो 'वह क्या है, मैं क्या हूँ, किस प्रकार की रतावस्था है' इत्यादि किसी बात की तनिक भी स्मृति मुझे नहीं रही' ।

इसी प्रकार और भी प्रगल्भा के व्यवहार जानने चाहियें जिनमें लज्जा की यन्त्रणा छोड़ दी जाती है और विदग्धता का प्राचुर्य होता है । जैसे (अमरु०

क्वचित्ताम्बूलाक्तः क्वचिदगरुपङ्काङ्कमलिनः
क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपदः ।
वलीभङ्गाभोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः
स्त्रियाः सर्वावस्थं कथयति रतं प्रच्छदपटः ॥१२३॥'

अथास्याः कोपचेष्टा—

(३०) सावहित्थादरोदास्ते रतौ, धीरेतरा क्रुधा ।
सन्तर्ज्य ताडयेद्, मध्या मध्याधीरेव तं वदेत् ॥१६॥

सहावहित्थेन=आकारसंवरणेनादरेण च=उपचाराधिक्येन वर्तते सा सावहित्थादरा, रतावुदासीना क्रुधा कोपेन भवति ।

सावहित्थादरा यथाऽमरुशतके—

'एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमाद् दूरत-
स्ताम्बूलाहरणच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः ।

---

(१०७) 'बिछाने का वस्त्र (चादर) नायिका की सब प्रकार की रति को प्रकट कर रहा है । वह वस्त्र कहीं पान से रंगा है, कहीं अगर के लेप के धब्बों से मलिन है, कहीं (गन्ध के) चूर्ण से युक्त है और कहीं महावर लगे पद (पद-चिह्न) से तथा कहीं केशों से गिरे हुए मृदित (शीर्ण) पुष्पों युक्त है ।

टिप्पणी—(१) क्वचित् ० इत्यादि में नायिका की विविध प्रकार की कामशास्त्रोक्त रति-विधियाँ प्रकट होती हैं । यदि नायिका लज्जा का नियन्त्रण स्वीकार करे या उसमें विदग्धता न हो तो वह विविध प्रकार की रतिविधियों का प्रयोग नहीं कर सकती (द्र० अमरु० १०७ टिप्पणी) । (२) ना० द० (४.२६०) के अनुसार दीप्त आयु, मान तथा काम वाली और प्रिय के स्पर्शमात्र से बेसुध हो जाने वाली प्रगल्भा नायिका होती है । सा० द० (३.६०) में प्रायः दशरूपक के समान ही प्रगल्भता का स्वरूप दिखलाया गया है । प्रता० (१.५६) में प्रगल्भा को 'प्रोढा' कहा गया है, इसी प्रकार वाग्भट्टालङ्कार तथा काव्यानुशासन में भी ।

इस (प्रगल्भा) की कोपचेष्टा इस प्रकार होती है—

धीरा प्रगल्भा अवहित्थ (=आकार संवरण) तथा आदर-प्रदर्शन सहित व्यवहार करती है, वह कोप के कारण रति में उदासीन रहती है। अधीरा (धीरेतरा) प्रगल्भा क्रोध से (नायक को) फटकार कर पीटती है। धीराधीरा (मध्या) प्रगल्भा तो धीराधीरा मध्या के समान उस नायक से बात करती है ॥१६॥

जो (कुपित) आकार को छिपाकर अधिक औपचारिकता (आदर) के साथ व्यवहार करती है वह 'सावहित्थादरा' कहलाती है । कोप के कारण रति में उदासीन रहती है ।

सावहित्थादरा यह है, जैसे अमरुशतक (१८) में 'नायक को दूर से आते हुए देखकर अगवानी में उठते हुए एक आसन पर बैठने को बचा दिया, पान लाने के बहाने से (नायक द्वारा) वेगपूर्वक किये जाते हुए आलिङ्गन में भी विघ्न कर

आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्याऽन्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः ॥१२४॥'

रतावुदासीना यथा—

'आयस्ता कलहं पुरेव कुरुते न स्रंसने वाससो
भग्नभ्रूगतिखण्ड्यमानमधरं धत्ते न केशग्रहे ।
अङ्गान्यर्पयति स्वयं भवति नो वामा हठालिङ्गने
तन्व्या शिक्षित एष सम्प्रति कुतः कोपप्रकारोऽपरः ॥१२५॥

इतरा त्वधीरप्रगल्भा कुपिता सती सन्तर्ज्य ताडयति । यथाऽमरुशतके—

'कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
नीत्वा केलिनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः ।
भूयोऽप्येवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एष निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदन्त्या हसन् ॥१२६॥

धीराधीरप्रगल्भा मध्याधीरेव तं वदति सोत्प्रासवक्रोक्त्या । यथा तत्रैव —

'कोपो यत्र भ्रुकुटिरचना निग्रहो यत्र मौनं
यत्रान्योन्यस्मितमनुनयो दृष्टिपातः प्रसादः ।

दिया, नायक के पास सेवकों को काम में लगाती हुई उसने नायक से बात-चीत भी न की इस प्रकार प्रियतम के प्रति औपचारिकता का प्रदर्शन करके उस प्रगल्भा (नायिका) ने अपना कोप सफल कर लिया' ।

रति में उदासीन यह है, जैसे (अमरु० १०६ में नायक कहता है)—'परिश्रान्ता सी (आयस्ता) वह वस्त्र खींचने पर पहिले के समान कलह नहीं करती, केश-ग्रहण के समय भौंहें वक्र करके अधर नहीं काटती स्वयं अपने अङ्गों को अर्पित कर देती है और बलात् आलिङ्गन करने पर विरोध नहीं करती । इस प्रकार कृशाङ्गी ने कहीं से यह और (=अपर=अनूठा) ही कोप का प्रकार सीख लिया है ।'

दूसरी अर्थात् अधीर प्रगल्भा तो कुपित होकर नायक को फटकार कर पीटती है जैसे अमरुशतक (९) में (कवि वर्णन करता है) 'प्रियतमा अपनी काँपती हुई कोमल बाहुलता से प्रियतम को दृढ़तापूर्वक बाँधकर सायंकाल सखियों के सामने ही केलिगृह में ले आई । 'फिर भी ऐसे ही' इस प्रकार की कम्पित मृदु वाणी से उसके अपराध को सूचित करके रोती हुई उस नायिका ने (अपने अपराध को) छिपाने में तत्पर तथा हँसते हुए उस सौभाग्यशाली (धन्य) को पीटा' ।

धीराधीरा जो प्रगल्भा होती है, वह भी धीराधीरा मध्या के समान उस (नायक) से ताने भरी वक्रोक्ति के साथ बातें करती है । जैसे वहीं (अमरु० ३८ में नायिका नायक से कहती है) 'जिस प्रेम में भ्रू-विलास ही कोप है, मौन ही दण्ड है, एक दूसरे के प्रति मुसकराना ही अनुनय है, दृष्टि डालना ही प्रसन्नता है, देखो

तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैशसं पश्य जातं
त्वं पादान्ते लुठसि न च मे मन्युमोक्षः खलायाः ॥१२७॥

पुनश्च—

(३१) द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिताः ।

मध्याप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाकनिष्ठात्वभेदेन द्वादश भेदा भवन्ति । मुग्धा त्वेकरूपैव । ज्येष्ठाकनिष्ठे यथाऽमरुशतके—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्य नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥१२८॥

न चानयोर्दाक्षिण्यप्रेमभ्यामेव व्यवहारः, अपि तु प्रेम्णापि यथा चैतत्तथोक्तं दक्षिणलक्षणावसरे । एषां च धीरमध्या-अधीरमध्या-धीराधीरमध्या-धीरप्रगल्भा-अधीर-

---

तो उस प्रेम का यह अब कैसा विनाश (वैशसम्) हुआ है कि तुम मेरे चरणों में लेट रहे हो और मुझ दुष्टा का कोप ही दूर नहीं होता ।

टिप्पणी—मध्या नायिका के समान प्रगल्भा भी तीन प्रकार की होती है—धीरा, धीराधीरा और अधीरा; मि०, ना० द० (४.२६० वृत्ति) तथा सा० द० (३. ६१) । ना० द० (४.२६० वृत्ति) तथा सा० द० (३.६२–६४) में प्रगल्भा की कोप-चेष्टा का प्रायः इसी प्रकार वर्णन किया गया है ।

और फिर भी

(मध्या तथा प्रगल्भा नायिकाएँ) दो प्रकार की होती हैं—ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा । इस प्रकार मुग्धा से भिन्न नायिकाओं के बारह भेद हो जाते हैं ।

मध्या और प्रगल्भा के भेदों में से प्रत्येक के ज्येष्ठा और कनिष्ठा दो भेद होने से दोनों के कुल १२ भेद हो जाते हैं । किन्तु मुग्धा तो एक प्रकार की ही होती है । ज्येष्ठा और कनिष्ठा इस प्रकार की होती हैं, जैसे अमरुशतक (१९) में (कवि वर्णन करता है) 'एक आसन पर बैठी दो प्रियाओं को देखकर प्रियतम ने आदरपूर्वक पीछे से पास जाकर क्रीड़ा करने के बहाने से एक की आँख मूँद ली और उस धूर्त ने रोमाञ्चित होकर ग्रीवा को कुछ वक्र करके प्रेम से उल्लसित हृदय वाली एवं आन्तरिक हास से शोभित कपोल तल वाली दूसरी नायिका का चुम्बन किया' ।

इन दोनों (ज्येष्ठा और कनिष्ठा) के प्रति क्रमशः (ज्येष्ठा के प्रति) केवल दाक्षिण्य का ही तथा (कनिष्ठा के प्रति) प्रेम का भी व्यहार पाया जाता है, यह बात नहीं है, अपितु (ज्येष्ठा के प्रति) प्रेम का भी व्यवहार देखा जाता है । यह किस प्रकार होता है यह दक्षिण नायक के लक्षण के अवसर पर (सहृदयत्वेन शठाद् विशेषः इत्यादि) बतलाया जा चुका है ।

प्रगल्भा-धीराधीरप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाकनिष्ठाभेदाद् द्वादशानां वासवदत्ता-रत्नावलीवत्प्रबन्धनायिकानामुदाहरणानि महाकविप्रबन्धेष्वनुसर्तव्यानि।
अथान्यस्त्री—

(३२) अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाऽङ्गिरसे क्वचित् ॥२०॥
कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ।

नायकान्तरसम्बन्धिन्यन्योढा यथा—

दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मिन्गृहे दास्यसि ।
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि तद्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः ॥१२६॥

इयं त्वङ्गिनि प्रधाने रसे न क्वचिन्निबन्धनीयेति न प्रपञ्चिता।

इन धीरमध्या अधीरमध्या, धीराधीरमध्या तथा धीरप्रगल्भा, अधीरप्रगल्भा धीराधीरप्रगल्भा में से प्रत्येक के ज्येष्ठा और कनिष्ठा दो भेद होने के कारण कुल १२ भेद हो जाते हैं। इन १२ प्रबन्धनायिकाओं के उदाहरण वासवदत्ता (ज्येष्ठा) तथा रत्नावली (कनिष्ठा) के समान महाकवियों की रचनाओं में खोजने चाहियें।

टिप्पणी (१)—मि०, सा० द० (३·६४–६५), रसार्णवसुधासार (१·१०५)।
(२) इस प्रकार स्वकीया नायिका के १३ भेद होते हैं:—

मुग्धा (केवल एक प्रकार) = १
मध्या (धीरा, अधीरा, धीराधीरा) × (ज्येष्ठा, कनिष्ठा) = ६
प्रगल्भा (धीरा, अधीरा, धीराधीरा) × (ज्येष्ठा, कनिष्ठा) = ६

परकीया (अन्य स्त्री)

अन्य स्त्री (परकीया) दो प्रकार की होती है—कन्या तथा विवाहिता अन्य विवाहिता स्त्री (परोढा) को कभी भी प्रधान रस की नायिका नहीं बनाना चाहिये। कन्या के अनुराग को तो कवि इच्छानुसार प्रधान या अप्रधान रस का आधार बना सकता है ॥२०–२१॥

किसी अन्य नायक की विवाहिता स्त्री अन्योढा (परोढा) कहलाती है, जैसे (?)—'हे पड़ोसिन, क्षण भर को यहाँ हमारे घर पर निगाह रखना। इस बालक का पिता (अर्थात् मेरा स्वामी) कुएँ के स्वादरहित जल को नहीं पीता, इसलिये यह ठीक ही है कि मैं अकेली होकर भी तमाल वृक्षों से घिरे हुए स्रोत पर यहाँ से जाऊँ, भले ही पुराने खण्डों वाली नल (नरसल) की घनी (नीरन्ध्राः = रन्ध्र अर्थात् छिद्र से रहित) गाँठें मेरे शरीर को खरोंच दें'।

इस (परोढा) की तो अङ्गी अर्थात् प्रधान रस में कभी भी योजना नहीं करनी चाहिये, इसीलिये इसका विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया गया।

टिप्पणी—(१) इस उक्ति से प्रकरण आदि के अनुसार यह प्रकट होता है कि नायिका परपुरुष से रतिक्रीडा के लिये जा रही है। रतिक्रीडा में होने वाले

कन्यका तु पित्राद्ययत्तत्वादपरिणीताप्यन्यस्त्रीत्युच्यते, तस्यां पित्रादिभ्योऽलभ्यमानायां सुलभायामपि परोपरोधस्वकान्ताभयात्प्रच्छन्नं कामित्वं प्रवर्तते, यथा मालत्यां माधवस्य सागरिकायां च वत्सराजस्येति। तदनुरागश्च स्वेच्छया प्रधानाप्रधानरससमाश्रयो निबन्धनीयः। यथा रत्नावलीनागानन्दयोः सागरिका-मलयवत्यनुराग इति।

(३३) साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ॥२१॥

तद्व्यवहारो विस्तरतः शास्त्रान्तरे निदर्शितः। दिङ्मात्रं तु—

दन्तक्षत, नखक्षत आदि को छिपाने के लिये वह नल की गाँठों से छिद जाने की बात बना रही है। (२) लोक में अन्य की परिणीता भी किसी अन्य पुरुष ये प्रेम करने लगती है। संस्कृत के मुक्तक काव्यों में इस प्रकार के प्रेम-प्रसङ्गों का वर्णन किया गया है, यद्यपि इस प्रकार का प्रेम-वर्णन रसाभास (शृङ्गाराभास) के अन्तर्गत ही माना जाता है रस के अन्तर्गत नहीं। साहित्य शास्त्र की यह भी मर्यादा है कि जहाँ शृङ्गार प्रधान रस हो उस शृङ्गार का आलम्बन परोढा को नहीं बनाया जा सकता।

यद्यपि कन्या अविवाहिता होती है तथापि उसे अन्य स्त्री (परकीया) कहा जाता है; क्योंकि वह पिता आदि के अधीन होती है। उस (कन्या) में गुप्त रूप से प्रेम की प्रवृत्ति हुआ करती है; क्योंकि (प्रथम तो) वह पिता इत्यादि से प्राप्त ही नहीं की जा सकती। यदि प्राप्त भी हो जाती है यो दूसरों की रुकावट या अपनी प्रियतमा का भय होता है। जैसे मालती में माधव का (दूसरों की रुकावट के कारण) और सागरिका में वत्सराज का (देवी वासवदत्ता के भय के कारण) अनुराग गुप्तरूप से प्रवृत्त होता है। कन्या के अनुराग का इच्छानुसार प्रधान तथा अप्रधान दोनों रसों में वर्णन किया जा सकता है। जैसे रत्नावली और नागानन्द में सागरिका तथा मलयवती के अनुराग का वर्णन है।

टिप्पणी—(१) रत्नावली में प्रधान रस शृङ्गार है, उसके सन्दर्भ में सागरिका के अनुराग का वर्णन किया गया है। नागानन्द में प्रधान रस दयावीर है, शृङ्गार अप्रधान है. उसके सन्दर्भ में मलयवती के अनुराग का वर्णन किया गया है। सुदर्शनाचार्यकृत प्रभा (संस्कृत टीका) में कहा गया है—जीमूतवाहन शान्तरस का नायक है (जीमूतवाहनस्य···प्राधान्येन शान्तरसनायकत्वात्), यह कथन धनञ्जय और धनिक के मत के प्रतिकूल है। धनिक ने नागानन्द में दयावीर रस की प्रधानता मानी है (द्र०, आगे ४·३५)। (२) मि०, सा० द० (३·६६–६७), भा प्र० (पृ० ९५)।

साधारण स्त्री (सामान्य नायिका)

साधारण स्त्री तो गणिका होती है जो कला, प्रगल्भता और धूर्तता से युक्त होती है।

उस (साधारण स्त्री) का व्यवहार अन्य शास्त्रों में विस्तारपूर्वक वर्णित किया गया है। दिग्दर्शन मात्र तो यह है—

(३४) छन्नकामसुखार्थाज्ञस्वतन्त्राहंयुपण्डकान् ।
रक्तेव रञ्जयेदाढ्यान्निःस्वान्मात्रा विवासयेत् ॥२२॥

छन्नं ये कामयन्ते छन्नकामाः श्रोत्रियवणिग्लिङ्गिप्रभृतयः, सुखार्थः अप्रयासावाप्तधनः सुखप्रयोजनो वा, अज्ञो मूर्खः, स्वतन्त्रो निरङ्कुशः, अहंयुरहङ्कृतः, पण्डको वातपण्डादिः, एतान्बहुवित्तान् रक्तेव रञ्जयेदर्थार्थम्-तत्प्रधानत्वात्तद्वृत्तेः, गृहीतार्थान्कुट्टिन्यादिना निष्कासयेत् पुनः प्रतिसन्धानाय । इदं तासामौत्सर्गिकं रूपम् ।
रूपकेषु तु—

वह छिपकर प्रेम करने वाले, सुखपूर्वक धन प्राप्त करने वाले, अज्ञानी, स्वच्छन्द, अहङ्कारी और पण्डक आदि को, यदि धनवान् हों तो अनुरक्ता के समान प्रसन्न करती है और धनरहित होने पर इनको (निःस्वान्) माता के द्वारा निकलवा देती है ॥२२॥

जो गुप्त रूप से काम-तृप्ति करते हैं वे 'छन्नकाम' कहे जाते हैं, जैसे श्रोत्रिय (वेदपाठी) व्यापारी तथा संन्यास इत्यादि का चिह्न (लिङ्ग) धारण करने वाले, 'सुखार्थ' शब्द का अभिप्राय है वह व्यक्ति जिसे बिना प्रयास के ही धन मिल गया हो अथवा जिसका उद्देश्य सुख भोगना ही हो; अज्ञ = मूर्ख, स्वतन्त्र अर्थात् निरङ्कुश या स्वेच्छाचारी, अहंयु = अहङ्कारी; पण्डक का अर्थ है—वातपण्ड (= नपुंसक) इत्यादि । यदि ये प्रचुर धन वाले हों तो अनुरक्ता के समान धन की प्राप्ति के लिये इन्हें प्रसन्न करे, क्योंकि वेश्या की वृत्ति में धन की प्रधानता होती है (तद्वृत्तेः = वेश्यावृत्तेः; तत्प्रधानत्वात् = धनप्रधानत्वात्) । जब इससे धन ले लिया जावे तो इनको कुट्टिनी आदि के द्वारा निकलवा दे जिससे कि वे फिर भी मिल सकें । यह उन (गणिकाओं) का सामान्य रूप है ।

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (९५·४), सा० द० (३.६७—७१) में सामान्यनायिका का विस्तृत वर्णन किया गया है । 'पण्डक' शब्द का अर्थ सा० द० में 'वातपाण्ड्वादि' किया गया है; कुछ स्थलों पर इसका अर्थ 'पाण्डुरोगी' किया गया है; वस्तुतः इसका अर्थ एक विशेष प्रकार का नपुंसक प्रतीत होता है जिसे चरक में 'वातिकपण्डक' कहा गया है । (वाय्वग्निदोषाद् वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातिकपण्डकः सः—चरक अ० २) । २ पुनः प्रतिसन्धानाय—फिर मिलने के लिये, भाव यह है कि यदि कामुक का धन चुक जाने पर वेश्या उसे स्वयं निकालेगी तो वह फिर नहीं आयेगा; किन्तु यदि स्वयं प्रेम दिखाती रहेगी और कुट्टिनी द्वारा निकलवायेगी तो धन मिलने पर वह फिर भी आ जायेगा ।

रूपकों में तो (वेश्या के विषय में यह विशेष बात है)—

(३५) *रक्तैव त्वप्रहसने, नैषा दिव्यनृपाश्रये ।

प्रहसनवर्जिते प्रकरणादौ रक्तैवैषा विधेया । यथा मृच्छकटिकायां वसन्तसेना चारुदत्तस्य । प्रहसने त्वरक्तापि हास्यहेतुत्वात् । नाटकादौ तु दिव्यनृपनायके नैव विधेया ।

अथ भेदान्तराणि—

(३६) आसामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः ।।२३।।

स्वाधीनपतिका वासकसज्जा विरहोत्कण्ठिता खण्डिता कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितप्रिया अभिसारिकेत्यष्टौ स्वस्त्रीप्रभृतीनामवस्थाः । नायिकाप्रभृतीनामप्यवस्थारूपत्वे सत्यवस्थान्तराभिधानं पूर्वासां धर्मित्वप्रतिपादनाय । अष्टाविति न्यूनाधिकव्यवच्छेदः ।

प्रहसन से भिन्न अन्य रूपक में गणिका को (नायक के प्रति) अनुरक्त ही दिखलाना चाहिये । जिस रूपक का आश्रय कोई दिव्य (नायक) या राजा हो जिसमें इस (गणिका) को नहीं रखना चाहिये ।

प्रहसन को छोड़कर अन्य प्रकरण आदि में इस (गणिका) को नायक में अनुरक्त ही दिखलाना चाहिये जैसे मृच्छकटिक में वसन्तसेना को चारुदत्त में अनुरक्त दिखलाया गया है । प्रहसन में तो इसे नायक में अनुरक्त न होने वाली भी दिखलाया जाता है । क्योंकि प्रहसन हास्य का हेतु होता है । जिसमें दिव्य पुरुष या राजा नायक होता है ऐसे नाटक इत्यादि में तो गणिका को (नायिका रूप में) नहीं रखना चाहिये ।

नायिकाओं की अवस्थाएँ

इन (नायिकाओं) की स्वाधीनपतिका इत्यादि आठ अवस्थाएँ होती हैं ।।२३।।

१. स्वाधीनपतिका, २. वासकसज्जा, ३. विरहोत्कण्ठिता, ४. खण्डिता, ५. कलहान्तरिता, ६. विप्रलब्धा, ७. प्रोषितप्रिया, ८. अभिसारिका—ये आठ स्वकीया (परकीया, सामान्य) आदि नायिकाओं की अवस्थाएँ हैं । यद्यपि नायिका होना (अथवा स्वकीया नायिका होना) इत्यादि भी (नारी की) अवस्थाएँ ही हैं तथापि पूर्वोक्त (स्वकीया इत्यादि) अवस्थाएँ धर्मी हैं और ये (स्वाधीनपतिका इत्यादि) उनके धर्म हैं (अर्थात् उन अवस्थाओं की ही ये अवस्थाएँ हैं) यह बतलाने के लिये इन अन्य अवस्थाओं का वर्णन किया गया है । 'आठ' (अष्टौ) इस शब्द का अभिप्राय यह है कि ये अवस्थाएँ आठ ही हैं, कम या अधिक नहीं । कैसे ?

---

*'रूपके त्वनुरक्तैव कार्या प्रहसनेतरे' इति पाठान्तरम् ।

न च वासकसज्जादेः स्वाधीनपतिकादावन्तर्भावः, अनासन्नप्रियत्वाद्वासकसज्जाया न स्वाधीनपतिकात्वम् । यदि चैष्यत्प्रियापि स्वाधीनपतिका प्रोषितप्रियापि न पृथग्वाच्या, न चेयता व्यवधानेनासत्तिरिति नियन्तुं शक्यम् । न चाविदितप्रियव्यलीकाया खण्डितात्वम् । नापि प्रवृत्तरतिभोगेच्छायाः प्रोषितप्रियात्वम् । स्वयमगमनान्नायकं प्रत्यप्रयोजकत्वान्नाभिसारिकात्वम् ।

एवमुत्कण्ठिताप्यन्यैव पूर्वाभ्यः । औचित्यप्राप्तप्रियागमनसमयातिवृत्तिविधुरा न वासकसज्जा । तथा विप्रलब्धापि वासकसज्जावदन्यैव पूर्वाभ्यः, उक्त्वा नायात इति

वासकसज्जा (=आने वाले प्रिय के लिये अपने आपको सजाने वाली) इत्यादि का स्वाधीनपतिका इत्यादि में अन्तर्भाव नहीं हो सकता । क्योंकि वासकसज्जा का पति पास में नहीं रहता अतः वह स्वाधीनपतिका नहीं कहला सकती (स्वाधीनपतिका का पति पास में रहता है) । यह कहना भी ठीक नहीं कि वासकसज्जा का पति शीघ्र ही आने वाला है (एष्यत्पतिका) इसलिये वह स्वाधीनपतिका ही है, क्योंकि इस प्रकार तो प्रोषिता (जिसका पति दूरदेश में स्थित है) को भी स्वाधीनपतिका से पृथक् नहीं कहना चाहिये । (यदि कहो कि वासकसज्जा और उसके प्रिय के बीच तो देश काल की दूरी कम है; किन्तु प्रोषितपतिका तथा उसके प्रिय के बीच देश काल की दूरी अधिक है, इस प्रकार वासकसज्जा का पति निकट कहा जा सकता है और उसका स्वाधीनपतिका में अन्तर्भाव हो सकता है, प्रोषितपतिका का नहीं, इस पर कहते हैं—) और, इतनी दूरी होने पर ही समीपता (आसत्ति=पास होना) मानी जायेगी, इस प्रकार का नियम नहीं कहा जा सकता । अतः वासकसज्जा का स्वाधीनपतिका में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, इस प्रकार अन्य अवस्थाओं में भी उसका अन्तर्भाव नहीं होता, कैसे ?) । वह (वासकसज्जा) खण्डिता भी नहीं कहला सकती, क्योंकि उसे प्रिय का अपराध (=व्यलीक, अन्य स्त्री में आसक्ति) ज्ञात नहीं है, वह (वासकसज्जा) प्रोषितप्रिया भी नहीं है, क्योंकि रति और भोग की इच्छा में प्रवृत्त है (प्रोषितपतिका तो रति और भोग की इच्छा में प्रवृत्त नहीं होती) । वह (वासकसज्जा) अभिसारिका भी नहीं है; क्योंकि वह नायक के प्रति स्वयं नहीं जाती, न ही नायक को (अपने पास आने की) प्रेरणा देती है ।

टिप्पणी—इस प्रकार जिन अवस्थाओं में वासकसज्जा का अन्तर्भाव होने की आशङ्का थी, उनमें इसका अन्तर्भाव होना सम्भव नहीं है अतः वासकसज्जा नामक अवस्था अन्य अवस्थाओं से भिन्न ही है ।

इसी प्रकार विरहोत्कण्ठिता भी पूर्वोक्त नायिकाओं से भिन्न ही है । वह वासकसज्जा नहीं कही जा सकती; क्योंकि वह तो प्रिय के आगमन के उचित समय का अतिक्रमण हो जाने पर व्याकुल (उत्कण्ठित) होने वाली है (इसके विपरीत आने वाले प्रिय के लिये सज्जा करने वाली वासकसज्जा होती है) । इसी प्रकार विप्रलब्धा

प्रतारणाधिक्याच्च वासकसज्जोत्कण्ठितयोः पृथक् । कलहान्तरिता तु यद्यपि विदितव्यलीका तथाप्यगृहीतप्रियानुनया पश्चात्तापप्रकाशितप्रसादा पृथगेव खण्डितायाः । तत् स्थितमेतदष्टाववस्था इति ।

तत्र—

(३७) आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका ।

भी वासकसज्जा के समान ही पूर्वोक्त नायिकाओं से भिन्न है । (विप्रलब्धा का प्रियतम) 'वचन देकर भी नहीं आता' इस प्रकार वहाँ वञ्चना (प्रतारणा) की अधिकता है; इस लिये विप्रलब्धा वासकसज्जा और उत्कण्ठिता से भिन्न ही है (क्योंकि वे दोनों प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा तो करती हैं किन्तु वहाँ वञ्चना नहीं होती) । यद्यपि कलहान्तरिता नायिका भी (खण्डिता के समान) पति के अपराध (= व्यलीक) को जानती है तथापि (भेद यह है कि) वह पहले तो प्रियतम की मनौती (अनुनय) को स्वीकार नहीं करती, फिर पश्चात्ताप द्वारा अपनी प्रसन्नता को प्रकट करती है (खण्डिता में यह बात नहीं होती) अतः वह खण्डिता से भिन्न ही है । इस प्रकार यह निश्चित है (स्थितम्) कि नायिकाओं की आठ अवस्थाएँ होती हैं ।

टिप्पणी—(१) स्वाधीनपतिका इत्यादि जो आठ प्रकार की नायिकाएं हैं उनका लक्षण आगे दिखलाया जायेगा । (२) 'न च वासकसज्जादेः···इति'—इस अवतरण में यह दिखलाया गया है जो ये नायिका की आठ अवस्थाएँ कही गई हैं इनमें से किसी एक का दूसरी में अन्तर्भाव नहीं हो सकता । इसलिये इन आठों को अलग-अलग मानना चाहिये । और, इन अवस्थाओं में नायिका की सभी दशाओं का समावेश हो जाता है अतः ये आठ ही अवस्थाएँ हैं, कम या अधिक नहीं । (३) न च···सारिकात्वम्—यहाँ वासकसज्जा का क्रमशः स्वाधीनपतिका, खण्डिता, प्रोषितप्रिया और अभिसारिका से भेद दिखलाया गया है । एवमुत्कण्ठिता···वासकसज्जा'—यहाँ उत्कण्ठिता का अन्य अवस्थाओं से भेद, तथा···पृथक्—यहाँ विप्रलब्धा का अन्य अवस्थाओं से भेद तथा 'कलहान्तरिता···खण्डिता'—यहाँ कलहान्तरिता का खण्डिता से भेद दिखलाया गया है (द्र०, ऊपर अनुवाद) । यह भी ध्यान रखने योग्य है कि इस अवतरण में उन्हीं अवस्थाओं का भेद दिखलाया गया है जिनमें एक-दूसरे के अन्तर्भाव की सम्भावना हो सकती है । (४) नायिका की आठ अवस्थाओं के लिये मि०, ना० शा० (२२.२११–२१२), भा० प्र० (पृ० ९८), ना० द० (४.२६१ तथा आगे), प्रता० (१.४१–४२) तथा सा० द० (३.७२–७३) ।

स्वाधीनपतिका—

जिस नायिका का पति समीप में स्थित है तथा उसके अधीन है और जो प्रसन्न रहती है वह स्वाधीनपतिका है ।

यथा—

'मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति ।
अन्यापि किं न सखि भाजनमीदृशीनां वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः ।।१३०।।'

अथ वासकसज्जा—

(३८) मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये ।।२४।।

स्वमात्मानं वेश्म च हर्षेण भूषयत्येष्यति प्रिये वासकसज्जा । यथा—

'निजपाणिपल्लवतटस्खलनादभिनासिकाविवरमुत्पतितैः ।
अपरा परीक्ष्य शनकैर्मुमुदे मुखवासमास्यकमलश्वसनैः ।।१३१।।'

जैसे—(अमरु० ५५) 'हे सखी, इस बात का गर्व न कर कि प्रियतम के अपने हाथ से चित्रित मञ्जरी मेरे कपोल तल पर विराजमान है । अन्य स्त्री भी क्या इस प्रकार के सौभाग्य का पात्र नहीं हो सकती यदि बैरी कम्पन बाधक न हो जाये' ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२·२१५), भा० प्र० (पृ० ९९·१५–१९), ना० द० (४·२६७), प्रता० (१·४३), सा० द० (३.७४) । (२) 'मा गर्वम्' इत्यादि का भाव यह है तुम्हारा प्रियतम प्रेम से आकृष्ट होकर तुम्हारे वश में नहीं है तभी तो किसी प्रकार के कम्पन आदि सात्त्विक विकार के विना ही कपोल पर मञ्जरी चित्रित कर देता है । मेरा प्रियतम तो इतना प्रेम के वश है कि ज्योंही मञ्जरी चित्रित करने बैठता है त्योंही कम्पन आदि सात्त्विक भावों का उदय हो जाता है और मञ्जरी-चित्रण में बाधक हो जाता है । इस कथन से प्रियतम का समीप स्थित होना, अपने वश में होना और इसीलिये नायिका की प्रसन्नता प्रकट होती है अतः यह स्वाधीन-पतिका है (आसन्नः=समीपस्थः, आयत्तः=स्वाधीनश्च रमणो यस्याः सा तथा) ।

२. **वासकसज्जा**—

प्रिय के आगमन की आशा होने पर जो हर्ष के साथ अपने को सजाती है वह वासकसज्जा है ।।२४।।

अर्थात् जब प्रिय आने वाला हो तब जो अपने आपको तथा अपने घर को भूषित करती है, वह वासकसज्जा है । जैसे—(माघ ९·५२) 'कोई अन्य रमणी अपने पाणिपल्लव के छोर से टकराने के कारण नासिका के छिद्रों की ओर उठी हुई मुख-कमल की श्वासों के द्वारा धीरे से अपने मुख की सुगन्धि की परीक्षा करके प्रसन्न हुई' ।

टिप्पणी—ना० शा० (२२.२१३), भा० प्र० (पृ० ९९.८--१४), ना० द० (४.२६६), प्रता० (१.४४), सा० द० (३.८५) । (२) 'वासकसज्जा' शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गई है; जैसे 'वासके वासवेश्मनि सज्जा सन्नद्धा सैव वासकसज्जिका' । 'स्त्रीणां वारस्तु वासकः' इति पक्षे वासके वारदिवसे सज्जयति सज्जी-करोति हर्षेण केलिगृहादिकमिति वासकसज्जिका, (प्रता० टीका पृ० २१) । प्रिय के साथ रात्रि आदि में रहना 'वासक' कहलाता है, वासक के लिये सज्जिता वासकसज्जा है (मि०, ना० द० वृत्ति ४.२६६) ।

अथ विरहोत्कण्ठिता—

(३९) चिरयत्यव्यलीके तु *विरहोत्कण्ठितोन्मनाः ।

यथा—

'सखि स विजितो वीणाद्यैः कयाप्यपरस्त्रिया
पणितमभवत्ताभ्यां तत्र क्षपाललितं ध्रुवम् ।
कथमितरथा शेफालीषु स्खलत्कुसुमास्वपि
प्रसरति नभोमध्येऽपीन्दौ प्रियेण विलम्ब्यते ॥१३२॥'

अथ खण्डिता—

(४०) ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता ॥२५॥

यथा

'नवनखरदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन् नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥१३३॥'

३. विरहोत्कण्ठिता—

निरपराध होते हुए भी प्रिय के देर करने पर उत्कण्ठित रहने वाली नायिका विरहोत्कण्ठिता कहलाती है ।

जैसे (?) (कोई नायिका अपनी सखी से कहती है) 'हे सखी, किसी दूसरी स्त्री ने वीणा-वादन के द्वारा उसे जीत लिया है । अवश्य ही उन दोनों ने रात भर क्रीड़ा करने की शर्त लगा ली है (पणितम्) । यदि ऐसा न होता तो हारसिंगार (शेफाली) के पुष्प गिरने लगने पर भी, चन्द्रमा के आकाश के मध्य में जाने पर भी, मेरे प्रियतम विलम्ब क्यों करते ' ?

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२.२१४), भा० प्र० (पृ० १००), ना० द० (४.२६५), प्रता० (१.४५), सा० द० (३.८६) । (२) अव्यलीके=निरपराधे, निरपराध होने पर । चिरयति—देर करने पर (सति सप्तमी) ।

४. खण्डिता—

नायक को दूसरी नायिका के सहवास से विकृत (चिह्नित) जान लेने पर जो ईर्ष्या से कलुषित हो जाती है वह खण्डिता है ॥२५॥

जैसे (माघ ११/३४, अपराधी नायक से नायिका कहती है)—'तुम अपने वस्त्र (उत्तरीय) से नखों के नवीन (ताजे) व्रण रद—(खरोंच) वाले अङ्ग को छिपा रहे हो और दाँतों से कटे हुए ओठ को हाथ से ढक रहे हो । किन्तु प्रत्येक दिशा में फैला हुआ, अन्य स्त्री के सङ्ग की सूचना देने वाला यह नवीन परिमल गन्ध किसके द्वारा छिपाया जा सकता है' ?

टिप्पणी—ना० शा० (२२.२१७), भा० प्र० (पृ० ९८), ना० द० (४.२६३), प्रता० (१.४६), सा० द० (३.७५) । (२) अन्यायाः सङ्गेन विकृते (नायके) ज्ञाते सति, यह अन्वय है ।

---

*विरहोत्कण्ठिता मता' इत्यपि पाठः ।

अथ कलहान्तरिता—

(४१) कलहान्तरिताऽमर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक् ।

यथा—

निःश्वासा वदनं दहन्ति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते
निद्रा नैति न दृश्यते प्रियमुखं नक्तं दिवं रुद्यते ।
अङ्गं शोषमुपैति पादपतितः प्रेयांस्तथोपेक्षितः
सख्यः कं गुणमाकलय्य दयिते मानं वयं कारिताः ॥१३४॥

अथ विप्रलब्धा—

(४२) विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता ॥२६॥

यथा—

उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नायातः ।
याऽतः परमपि जीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः ॥१३५॥

---

५. कलहान्तरिता—

क्रोध से (अपराधयुक्त नायक को) तिरस्कृत करके पश्चात्ताप की पीडा (का अनुभव करने) वाली कलहान्तरिता नायिका है ।

जैसा (अमरु० ९२ कोई नायिका सखियों को उपालम्भ दे रही है)—'निश्वासें मुख को जला रही हैं, हृदय जड़ से उन्मथित हो रहा है, नींद नहीं आती, प्रियतम का मुख नहीं दिखलाई देता, रात दिन रोना आता है, अङ्ग सूख रहा है, तब चरणों में पड़े प्रियतम की उपेक्षा कर दी । सखियों, बताओ तो क्या लाभ सोचकर प्रियतम से मान कराया था' ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२.२१६), भा० प्र० (पृ० ९५), ना० द० (४.२६४), प्रता० (१.५१) तथा सा० द० (३.८२) में कलहान्तरिता का लक्षण कुछ अधिक स्पष्ट है । सा० द० के अनुसार जो खुशामद करते हुए भी प्रियतम को रोष से तिरस्कृत कर देती है और फिर पश्चात्ताप करती हैं, वह कलहान्तरिता नायिका है (२) (क) कलहान्तरिता तो ईर्ष्या तथा कलह के कारण प्रिय से समागम की इच्छा ही नहीं रखती किन्तु खण्डिता समागम की अभिलाषा रखती है । (ख) कलहान्तरिता अपने किये पर पश्चात्ताप करती है किन्तु खण्डिता प्रिय के प्रति ईर्ष्या रखती है ।

६. विप्रलब्धा—

प्रियतम के निश्चित समय पर न आने के कारण अत्यधिक अपमानित होने वाली विप्रलब्धा कहलाती है ॥२६॥

जैसे, हे दूती, उठो चलें, प्रहर (याम) बीत गया तथापि वह नहीं आया । जो इसके पश्चात् भी जीवित रहे वह तो उसी का प्राणनाथ होगा' ।

अथ प्रोषितप्रिया—

(४३) दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषिताप्रिया ।

यथाऽमरुशतके—

'आदृष्टिप्रसरात्प्रियस्य पदवीमुद्वीक्ष्य निर्विण्णया
विश्रान्तेषु पथिष्वहः परिणतौ ध्वान्ते समुत्सर्पति ।
दत्त्वैकं सशुचा गृहं प्रति पदं पान्थस्त्रियास्मिन्क्षणे
माभूदागत इत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितम् ॥१३६॥

अथाभिसारिका—

(४४) कामार्ताऽभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाभिसारिका ॥२७॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२.२१८), भा० प्र० (पृ० ९९), ना० द० (४.२९२), प्रता० (१.४७), सा० द० (३·८३)। (३) खण्डिता से विप्रलब्धा का अन्तर यह है कि विप्रलब्धा के पति की दूसरी स्त्री में आसक्ति होना निश्चित नहीं होता वह तो केवल उक्त समय पर नहीं आता । संकेत में वञ्चित होने के कारण ही वह नायिका अपने आपको तिरस्कृत अनुभव करती है (विप्रलब्धा=वञ्चिता)।

७. प्रोषितप्रिया—

जिस नायिका का प्रिय किसी कार्य से दूसरे दूर देश में स्थित होता है वह प्रोषितप्रिया कहलाती है ।

जैसे अमरुशतक (७६) में 'जहाँ तक दृष्टि पहुँच सकी वहाँ तक वह नायिका प्रिय का पथ (पदवी) निहारकर दुःखी हो गई । दिन के समाप्त होने पर, अन्धेरा फैल जाने पर पथिक विश्रान्त हो गये (चलना बन्द कर दिया) तो उस पथिक (प्रोषित) की स्त्री ने दुःख के साथ घर की ओर एक पग रखा और फिर वेगपूर्वक (अमन्द) ग्रीवा को घुमाकर देखा कि 'कहीं वह इसी क्षण न आ गया हो'।

टिप्पणी—ना० शा० (२२.२१९), भा० प्र० (पृ० १००), ना० द० (४.२९१) "कार्यतः प्रोषिते पत्यावभूषा प्रोषितप्रिया" के लक्षण में अभूषा (=केश-संवारना आदि की भूषा से रहित) यह विशेषण अधिक है। प्रता० (१·५३), सा० द० (३.८४)।

८. अभिसारिका—

जो काम से पीड़ित होकर नायक के पास स्वयं जाती है अथवा नायक को अपने पास बुलाती है वह अभिसारिका है ॥२७॥

यथाऽमरुशतके—

'उरसि निहितस्तारो हारः कृता जघने घने
कलकलवती काञ्ची पादौ रणन्मणिनूपुरौ।
प्रियमभिसरस्येवं मुग्धे त्वमाहतडिण्डिमा
यदि किमधिकत्रासोत्कम्पं दिशः समुदीक्षसे ॥१३७॥

यथा च—

'न च मेऽवगच्छति तथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि।
निपुणं तथैनमुपगम्य वदेरभिदूति काचिदिति संदिदिशे ॥१३८॥

तत्र—

(४५) चिन्तानिःश्वासखेदाश्रुवैवर्ण्यग्लान्यभूषणैः ।
युक्ताः षडन्त्या द्वे चाद्ये क्रीडौज्ज्वल्यप्रहर्षितैः ॥२८॥

जैसे अमरुशतक (३१) में "वक्षःस्थल पर चञ्चल हार धारण कर लिया है, पुष्ट कटिप्रदेश पर कलकल ध्वनि करने वाली मेखला है, पैरों में झंकार करने वाले मणिनूपुर हैं। हे मुग्धे, यदि तुम इस प्रकार ढिंढोरा पीटती हुई अभिसरण कर रही हो तो अधिक भय से काँपती हुई दिशाओं को क्यों देखती हो ?

अथवा जैसे (माघ ९·५६) 'किसी नायिका ने दूती से यह कहा-इस (नायक) के पास जाकर ऐसे निपुणतापूर्वक कहना कि जिससे वह मेरी लघुता न समझे और मुझ पर करुणा भी करे'।

टिप्पणी—(१) ना० शा० २२.२२६-२३१) में विस्तार से अभिसरण के स्वरूप का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार भा० प्र० (पृ० १००—१०१) तथा सा० द० (३-७६—८१) में भी। अभिसारिका का लक्षण द्र०, प्रता० (१·५३), ना० द० (४·२६८)। (२) यहाँ प्रथम उदाहरण में नायिका के स्वयं अभिसरण का वर्णन है तथा 'न च' इत्यादि द्वितीय उदाहरण में नायिका अपने प्रिय को बुलाने के लिये दूती को भेज रही है। (३) यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त आठ प्रकार की नायिकाओं में वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका और अभिसारिका—इन तीनों के वर्णन में सम्भोग शृङ्गार होता है और शेष के वर्णन में विप्रलम्भ शृङ्गार (मि०; ना० द० ४·२६६)।

उन आठ प्रकार की नायिकाओं में—

'अन्तिम ६ (विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया और अभिसारिका) तो चिन्ता, निःश्वास, खेद अश्रु, वर्ण का फीका पड़ जाना (वैवर्ण्य), ग्लानि तथा भूषणहीनता से युक्त होती हैं और आरम्भ की दो (स्वाधीनपतिका और वासकसज्जा) क्रीडा, उज्ज्वलता और हर्ष से युक्त होती है ॥२८॥

परस्त्रियौ तु कन्यकोढे संकेतात्पूर्वं विरहोत्कण्ठिते, पश्चाद्विदूषकादिना सहाभिसरन्त्यावभिसारिके, कुतोऽपि संकेतस्थानमप्राप्ते नायके विप्रलब्धे, इति व्यवस्था व्यवस्थितैवाऽनयोरिति, अस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात् ।

यत्तु मालविकाग्निमित्रादौ 'योऽप्येवं धीरः सोऽपि दृष्टो देव्याः पुरतः' इति मालविकावचनान्तरम्, राजा—

'दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम् ।
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः ॥१३६॥'

इत्यादि, तत्र न खण्डितानुनयाभिप्रायेण, अपितु सर्वथा मम देव्यधीनत्वमाशङ्क्य निराशा मा भूदिति कन्याविश्रम्भणायेति ।

तथाऽनुपसञ्जातनायकसमागमाया देशान्तरव्यधानेऽप्युत्कठितात्वमेवेति न प्रोषितप्रियात्वम् अनायत्तप्रियत्वादेवेति ।

टिप्पणी—अभूषण—यहाँ आभूषणों से रहित का अर्थ शोभा आदि से रहित (=दीन) किया गया है, क्योंकि उपर्युक्त ६ नायिकाओं में अभिसारिका आभूषण धारण करती ही है (अभूषणयुक्ता नाम शोभारहिता दीना इति यावत, प्रभा)। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह आवश्यक नहीं कि चिन्ता इत्यादि सभी चिह्न विरहोत्कठिता इत्यादि में से प्रत्येक में हों; अपि तु भाव यह है कि चिन्ता आदि चिह्न विरहोत्कठिता इत्यादि में यथायोग्य होते हैं।

इस प्रकार स्वकीया की ये आठों अवस्थाएँ होती हैं किन्तु परकीया और सामान्यनायिका में सभी अवस्थाएँ नहीं होतीं, यह बतलाते हैं—

कन्या तथा (दूसरे की) विवाहिता जो (दो प्रकार की) परकीया नायिकाएँ हैं वे तो (१) संकेत के निश्चय से पहले विरहोत्कण्ठिता ही हैं। (२) इसके बाद विदूषक आदि के साथ अभिसरण करती हुई अभिसारिका हो जाती हैं और (३) यदि किसी निमित्त से नायक संकेतस्थल पर न पहुँचे तो ये विप्रलब्धा नायिका होती है। इनकी यही व्यवस्था निश्चित है। इनका प्रिय अपने अधीन नहीं होता इसलिये इनमें अन्य अवस्थाएँ नहीं हो सकतीं।

किन्तु जो 'मालविकाग्निमित्र' आदि में 'जो राजा ऐसा धीर है वह भी देवी के सामने देख लिया' मालविका के इस कथन के पश्चात् राजा कहता हे—'हे बिम्बा के समान ओष्ठ वाली दक्षिण होना तो नायकों का कुल क्रमागत नियम है किन्तु मेरे जो प्राण है वे तो तुम्हारी ही आशा पर आश्रित हैं'। इत्यादि।

वह खण्डिता नायिका को मनाने के अभिप्राय से नहीं कहता अपि तु मुझे (राजा को) सब प्रकार से देवी के अधीन समझकर निराश मत हो, इस प्रकार से कन्या (मालविका) को विश्वास दिलाने के लिये कहता है।

इसी प्रकार जब तक नायक से समागम नहीं होता जब तक यदि नायक दूसरे देश में चला जाये तो भी नायिका उत्कण्ठिता ही कहलाती है प्रोषितपतिका नहीं; क्योंकि प्रिय उसके अधीन नहीं होता।

टिप्पणी—इस प्रकार कन्या और परोढा दोनों प्रकार की जो परकीया हैं वे विरहोत्कण्ठिता, अभिसारिका तथा विप्रलब्धा ही हो सकती हैं, अन्य प्रकार की नहीं। क्यों ? इसके उत्तर में धनिक का कथन है 'क्योंकि प्रिय उनके अधीन नहीं होता अत: उनमें अन्य अवस्थाएँ नहीं हो सकतीं (अस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात्)। अभिप्राय यह है कि जिस नायिका का प्रिय अपने अधीन होता है, उसमें ही उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं से भिन्न अवस्थाएँ हो सकती हैं, परोढा और कन्या के तो प्रिय अपने अधीन नहीं होता अत: इन दोनों (परकीया) में अन्य अवस्थाएँ नहीं हो सकतीं। साहित्यदर्पण के टीकाकार सिद्धान्तवागीश के अनुसार इसका आशय यह है–कन्या और परोढा के निकट परपुरुष (प्रिय) निरन्तर नहीं रह सकता अत: वे स्वाधीनपतिका नहीं हो सकतीं। वे खण्डिता भी नहीं हो सकतीं; क्योंकि परपुरुष का अपनी पत्नी से समागम निश्चित ही है अत: यहाँ अन्य स्त्री के समागम के चिह्नों को देखकर ईर्ष्या होना असम्भव है। इसीलिये वे कलहान्तरिता भी नहीं हो सकतीं। परपुरुष तो दूर ही होता है, अत: कार्य के लिये दूर देश जाने का प्रश्न नहीं उठता, इसलिये परकीया प्रोषितपतिका भी नहीं होती। अनिष्ट की आशङ्का से परपुरुष के आगमन की प्रतीक्षा में सज्जा करना भी असम्भव है अत: परकीया वासकसज्जा भी नहीं होती। साहित्यदर्पण (३.८७) में 'इति······कश्चित्, कहकर दशरूपक के इस मत को उद्धृत किया गया हैं। इससे प्रकट होता है साहित्यदर्पणकार की दृष्टि में दशरूपक का यह मत उचित नहीं। कारण यह है कि 'स्वाधीनपतिका' शब्द में पति का अर्थ प्रिय है और पिता या पति के घर में यदि कोई परपुरुष विश्वसनीय समझ लिया जाता है तो निरन्तर समीप रह सकता है तब कन्या एवं परोढा भी स्वाधीनपतिका कहला सकती हैं। इसी प्रकार परकीया में परिस्थिति के अनुसार अन्य अवस्थाएँ भी हो सकती हैं (द्र०, सा० द० टीका)। (२) प्रश्न यह हो सकता है कि यदि कन्या आदि पककीया की अन्य अवस्थाएँ नहीं होती तो मालविकाग्निमित्र में मालविका को खण्डिता के रूप में क्यों चित्रित किया गया है। 'यत्तु······विश्रम्भणायेति' में इसका उत्तर दिया गया है। भाव यह है कि यहाँ खण्डिता नायिका के रूप में मालविका का चित्रण नहीं है, (द्र० अनुवाद)। (३) 'तथा···इति' में दिखलाया है कि परकीया प्रोषितपतिका भी नहीं हो सकती।

अथासां सहायिन्याः—

(४६) दूत्यो दासी सखी कारुर्धात्रेयी प्रतिवेशिका।
लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृमित्रगुणान्विताः ॥२६॥

दासी = परिचारिका। सखी = स्नेहनिबद्धा। कारुः = रजकीप्रभृतिः। धात्रेयी = उपमातृसुता। प्रतिवेशिका = प्रतिगृहिणी। लिङ्गिनी = भिक्षुक्यादिका। शिल्पिनी = चित्रकारादिस्त्री। स्वयं चेति दूतीविशेषाः। नायकमित्राणां पीठमर्दादीनां निसृष्टार्थत्वादिना गुणेन युक्ताः। तथा च मालतीमाधवे कामन्दकीं प्रति—

'शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोधः प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी।
कालानुरोधः प्रतिभानवत्वमेते गुणाः कामदुघाः क्रियासु ॥१४०॥

नायिका की सहयिकाएँ

इन (नायिकाओं) की सहायिकाएँ हैं :—

दासी, सखी, कारू, धाय की लड़की, पड़ोसिन संन्यास आदि का चिह्न धारण करने वाली (लिङ्गिनी), शिल्पिनी और स्वयं (नायिका), ये दूती होती हैं जो नायक के मित्रों पीठमर्द आदि के गुणों से युक्त होती हैं ॥२६॥

दासी = सेविका, सखी = स्नेहयुक्त सहचरी, कारू = धोबिन आदि धात्रेयी = उपमाता (धाय) की पुत्री, प्रतिवेशिका = समीप के घर में रहने वाली (पड़ोसिन), लिङ्गिनी = भिक्षुणी इत्यादि, शिल्पिनी = चित्र आदि बनाने वाली स्त्री और नायिका स्वयं भी, ये नायक के मित्र पीठमर्द इत्यादि के निसृष्टार्थ इत्यादि गुणों से युक्त दूतियाँ होती हैं। जैसे मालतीमाधव (३.११) में कामन्दकी के प्रति कहा गया है—

'शास्त्रों में निष्ठा, स्वाभाविक ज्ञान, वाक्पटुता, गुणों में अभ्यस्त वाणी, समय के अनुसार कार्य करना, प्रतिभा-युक्त होना—ये गुण कार्य में कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं।'

टिप्पणी—(१) दूती के प्रकार तथा गुण द्र०, ना० शा० (२३.९–११), भा० प्र० (पृ० ९४), ना० द० (४.२८८), प्रता० (१.५५), सा० द० (३.१२८-१२९) (२) **निसृष्टार्थता**—दूत तीन प्रकार के होते हैं-(i) निसृष्टार्थ, जो दोनों के भाव को समझकर स्वयं उत्तर दे देता है और यथोचित कार्य कर लेता है, (ii) मितार्थ जो बात तो थोड़ी करता है किन्तु जिस कार्य के लिये भेजा जाता है उसे सिद्ध कर देता है (iii) संदेशहा-रक जो उतनी ही बात कहता है जितनी उसे बतलाई जाती है (मि० सा० द० ३.४७--४९)। इन तीन प्रकार के दूतों के समान ही तीन प्रकार की दूतियाँ हुआ करती हैं। (३) 'शास्त्रेषु' इत्यादि पद्य माधव ने कामन्दकी (बौद्ध संन्यासिनी जो दूती का काम कर रही थी) को लक्ष्य करके कहा है। इसमें दूती के सामान्य गुणों का वर्णन किया गया है।

तत्र सखी यथा—

मृगशिशुदृशस्तस्यास्तापं कथं कथयामि ते
दहनपतिता दृष्टा मूर्तिर्मया वैधवी ।
इति तु विदितं नारीरूपः स लोकदृशां सुधा
तव शठतया शिल्पोत्कर्षो विधेर्विघटिष्यते ॥१४१॥

यथा च—

'सच्चं जाणाइ दट्ठुं सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राओ ।
मरउ ण तुमं भणिस्सं मरणं पि सलाहणिज्जं से ॥१४२॥'
('सत्यं जानाति द्रष्टुं सदृशे जने युज्यते रागः ।
म्रियतां न त्वां भणिष्यामि मरणमपि श्लाघनीयमस्याः ॥')

स्वयं दूती यथा—

'महु एहि किं णिवालअ हरसि णिअं वाउ जइ वि मे सिचअम् ।
साहेमि कस्स सुन्दर दूरे गामो अहं एक्का ॥१४३॥'
("मुहुरेहि किं निवारक हरसि निजं वायो यद्यपि मे सिचयम् ।
साधयामि कस्य सुन्दर दूरे ग्रामोऽहमेका ॥')

इत्याद्यूह्यम् ।

अथ योषिदलङ्काराः—

उनमें सखी (का दूती होना) यह है, जैसे (?)—(नायिका की सखी नायक के पास जाकर कहती है—) 'उस मृगशावकनयनी के संताप को तुमसे कैसे कहूँ ? मैंने चन्द्रमा की (वैधवी—विधु की) मूर्ति को अग्नि में पड़ा नहीं देखा (उससे ही इसकी समता की जा सकती थी) मैं तो केवल यह जानती हूँ कि नारी के रूप में संसार की दृष्टियों का अमृत, विधाता के रचना-कौशल का वह उत्कृष्ट रूप तेरी शठता से नष्ट हो जायेगा'।

और जैसे (हाल १२ कोई सखी नायक से कहती है—'ठीक है वह देखना जानती है, सदृश व्यक्ति से प्रेम करना उचित ही है। (इस प्रेम में) वह मर जाये; किन्तु मैं तुमसे नहीं कहूँगी (योग्य व्यक्ति से प्रेम करने के कारण) उसका मरना भी सराहनीय है।'

स्वयं दूती यह हैं, जैसे (हाल ८७७)—'हे रोकने वाले वायु, यद्यपि तुम मेरा वस्त्र (आँचल) खींच रहे हो, किन्तु इससे क्या ? फिर आओ। हे सुन्दर, मैं किसकी आराधना करूँ। ग्राम दूर है और मैं अकेली हूँ।

टिप्पणी—'मुहुरेहि' इत्यादि में नायिका स्वयं दूती है। वायु को सम्बोधित करती हुई वह किसी पान्थ को आमन्त्रित कर रही है।

स्त्रियों के (सात्त्विक) अलङ्कार हैं—

(४७) यौवने सत्त्वजाः स्त्रीणामलङ्कारास्तुः ।

यौवने सत्त्वोद्भूता विंशतिरलङ्काराः स्त्रीणां भवन्ति ।

तत्र--

(४८) भावो हावश्च हेला च त्रयस्तत्र शरीरजाः ॥३०॥
शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्त भावा अयत्नजाः ॥३१॥

तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः । शोभा कान्तिर्दीप्तिर्माधुर्यं प्रागल्भ्यमौदार्यं धैर्यमित्ययत्नजाः सप्त ।

यौवन में सत्त्व से उत्पन्न होने वाले स्त्रियों के बीस अलङ्कार होते हैं।

टिप्पणी--(१) जिस प्रकार केयूर आदि आभूषण शरीर की शोभा बढ़ाते हैं। उसी प्रकार शरीर में प्रकट होने वाले कुछ विकार (परिवर्तन) हैं जो शरीर की शोभा बढ़ाते हैं अतः उन्हें भी केयूर आदि के समान अलङ्कार कहा जाता है। (२) यहाँ स्त्रियों के सात्त्विक अलङ्कारों का वर्णन किया जा रहा है। पुरुषों में भी इसी प्रकार उत्साह आदि सात्त्विक भाव होते हैं। और, जैसा कि साहित्यदर्पण (३·९३) में बताया गया है, आगे कहे गये अङ्गज और अयत्नज जो दस अलङ्कार हैं, वे भी पुरुषों में हो सकते हैं तथापि ये युवतियों में होने पर ही अधिक चमत्कारक होते हैं। स्त्रियों में भी विशेषकर यौवनावस्था में ही प्रकट हुआ करते हैं, बाल्यकाल में प्रकट नहीं होते और वृद्धावस्था में प्रायः नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये इन्हें युवतियों के अलङ्कार कहा जाता है। (३) ये अलङ्कार सत्त्वज, सात्त्विक (सत्त्व से उत्पन्न) कहलाते हैं। 'सत्त्व' का क्या तात्पर्य है, यह आगे (३३ वें श्लोक की व्याख्या में) स्पष्ट किया जायेगा। (४) विशेष द्र०, ना० शा०, अभि० (२२.४), भा० प्र० (पृ० ६ पं० २०), ना० द० (४.२६६), सा० द० (३.८९-९२) में नायिका के २८ अलङ्कारों का वर्णन किया गया है। प्रता० (पृ० १८७) में इनके स्थान पर १८ शृङ्गारचेष्टाओं का वर्णन किया गया है।

उन (सात्त्विक अलङ्कारों) में—

१.भाव, २.हाव और ३. हेला ये तीन शरीरज अलङ्कार है।

१. शोभा २. कान्ति ३. दीप्ति, ४. माधुर्य, ५· प्रगल्भता, ६. औदार्य और ७. धैर्य; ये सात भाव अयत्नज (विना यत्न के उत्पन्न होने वाले) अलङ्कार है ॥३१॥

(टीका, तत्र आदि मूल के समान है)

(४६) लीला विलासो विच्छित्तिविभ्रमः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं विव्वोको ललितं तथा ।।३२।।
विहृतं चेति विज्ञेया दश भावाः स्वभावजाः ।

तानेव निर्दिशति—

(५०) निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया ।।३३।।

तत्र विकारहेतौ सत्यप्यविकारकं सत्त्वं यथा कुमारसम्भवे----

"श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभूव ।
आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ।।१४४।।'

१.लीला, २. विलास, ३. विच्छित्ति, ४. विभ्रम, ५. किलकिञ्चित,

---

६. मोट्टायित,७. कुट्टमित, ८. विव्वोक, ९. ललित तथा १०. विहृत; ये दश भाव स्वभावज (स्वाभाविक) समझने चाहिये ।।३२।।

टिप्पणी----अभि० भा० (२२.५) तथा ना० द० वृत्ति (४.२६६) में शरीरज (अङ्गज) इत्यादि को स्पष्ट किया गया है । संक्षेप में ये सात्त्विक अलङ्कार दो प्रकार के हैं---१. यत्नज और २. अयत्नज । यत्नज का अर्थ है----क्रिया से उत्पन्न होने वाले । इच्छा से यत्न होता है और यत्न से देह-क्रिया होती है । उस देह-क्रिया के द्वारा इन अलङ्कारों का आविर्भाव हुआ करता है । ये यत्नज अलङ्कार दो प्रकार के हैं—(क) अङ्गज—(ख) स्वभावज या स्वाभाविक (क) अङ्गज—वे अलङ्कार हैं जो सत्त्व द्वारा उद्बुद्ध होने वाली पूर्ववासना के आधार पर बाह्य गन्धमाल्य आदि प्रसाधनों के विना ही केवल शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं, भाव, हाव और हेला ऐसे ही अलङ्कार हैं । (ख) स्वाभाविक अलङ्कार—अभिनवगुप्ताचार्य ने स्वाभाविक शब्द की दो प्रकार की व्याख्या की है—(i) ये युवती के हृदय में विद्यमान अपने रतिभाव (स्व + भाव) से उत्पन्न होते हैं, (ii) स्वभाव (प्रकृति Nature) से किसी स्त्री में कोई भाव होता है, दूसरी में कोई दूसरा भाव । ये स्वाभाविक अलङ्कार लीला इत्यादि दस हैं । ये भी चित्त के रतिभाव से व्याप्त हो जाने पर शरीर में होने वाली क्रियाएँ ही हैं अतः यत्नज कहलाती हैं । शोभा इत्यादि सात अयत्नज भाव हैं । ये शरीर के ऐसे धर्म हैं जो इच्छापूर्वक यत्न द्वारा उत्पन्न नहीं होते अपितु हृदय में रति-भाव के होने पर विना यत्न के ही प्रकट हुआ करते हैं ।

उन (अलङ्कारों) का क्रमशः वर्णन करते हैं)

उनमें निर्विकारात्मक सत्त्व से उत्पन्न होने वाला प्रथम विकार भाव कहलाता है ।।३३।।

विकार की उत्पत्ति का कारण होने पर भी विकार रहित रहना सत्त्व कहलाता है । जैसे कुमारसम्भव (६.४०) में अप्सराओं का गीत सुनकर भी इस समय महादेव ध्यान में तत्पर रहे; क्योंकि विघ्नबाधाएँ आत्मा को वश में कर लेने वाले व्यक्तियों की समाधि को भङ्ग करने में समर्थ नहीं हुआ करतीं ।

तस्मादविकाररूपात्सत्त्वात् यः प्रथमो विकारोऽन्तर्विपरिवर्ती बीजस्योच्छूनतेव स भावः। यथा—

'दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि ।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः'।।१४५।।

टिप्पणी—निर्विकारात्मकात् सत्त्वात्, इस वाक्यांश में सत्त्व का स्वरूप बतलाया गया है। इसी को धनिक ने 'तत्र विकारहेतौ०' इत्यादि से स्पष्ट किया है। भाव यह है कि मन की एक विशेष प्रकार की अवस्था सत्त्व कहलाती है। जब मन के विकृत होने का कारण विद्यमान होता है किन्तु मन विकृत नहीं होता वही मन की अवस्था 'सत्त्व' है। इसी को कहीं-कहीं 'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते' कहा गया है। मन सत्त्व, रजस् और तमस् गुण वाला है। रजस् का स्वभाव है—चञ्चलता और तमस् का स्वभाव है—जडता। इन दोनों से रहित होकर मन, काम, क्रोध आदि विकारों से प्रभावित नहीं होता। इस प्रकार मन की रजस् तथा तमस् से रहित जो अवस्था है वह निर्विकार अवस्था ही है। धीरोदात्त नायक के लक्षण (ऊपर २.४) में जो 'महासत्त्व' शब्द है, वहाँ 'सत्त्व' शब्द इसी अर्थ में आया है। आगे सात्त्विक भावों की व्याख्या के अवसर पर धनिक ने नाट्यशास्त्र का यह उद्धरण दिया है—'सत्त्वं' नाम मनः प्रभवं तच्च समाहितमनस्त्वाद् उत्पद्यते' अर्थात् एकाग्रता से उत्पन्न होने वाली मन की अवस्थाविशेष ही सत्त्व है। इसी प्रकार अभिनवगुप्ताचार्य ने सात्त्विक अलङ्कारों के सन्दर्भ में भी 'सत्त्वं मनःसमाधानजम्' (अभि० भा० २२.१) यह बतलाया है। नाट्यदर्पण (३.२२८) में 'अवहितं मनः सत्त्वम्' यह कहा गया है। इन सबका तात्पर्य भी यही है कि एकाग्रता या समाधान से मन विकार रहित हो जाता है या कहिये कि रजोगुण और तमोगुण से सूना सा हो जाता है। ऐसा मन ही सत्त्व कहलाता है। (२) 'श्रुताप्सरोगीतिः' यह सत्त्व का उदाहरण है।

१. भाव

उस निर्विकारात्मक सत्त्व से जो प्रथम विकार (परिवर्तन) होता है, वह भाव कहलाता है। वह इसी प्रकार (शरीर के) भीतर विद्यमान रहता है, जिस प्रकार (अङ्कुरित होने से पहिले) बीज की फुलावट (उच्छूनता होती है। जैसे दृष्टि; 'सालसताम्' इत्यादि ऊपर उदा० १०८ (कामयुग्धा)।

यथा वा कुमारसम्भवे—

'हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥१४६॥'

यथा वा ममैव—

'तं च्चिअ वअणं ते च्चेअ लोअणे जोव्वणं पि तं च्चेअ ।
अण्णा अणङ्गलच्छी अण्णं च्चिअ किं पि साहेइ ॥१४७॥'
('तदेव वचनं ते चैव लोचने यौवनमपि तदेव ।
अन्यानङ्गलक्ष्मीरन्यदेव किमपि साधयति ॥')

अथ हावः—

(२१) *हेवाकसस्तु शृङ्गारो हावोऽक्षिभ्रूविकारकृत् ।

अथवा जैसे कुमारसम्भव (३.६७) में, महादेव का धैर्य इसी प्रकार कुछ-कुछ लुप्त हो गया जिस प्रकार चन्द्रोदय के आरम्भ में समुद्र का (स्थैर्य भङ्ग हो जाता है) और उन्होंने बिम्बाफल के समान अधरोष्ठ वाले पार्वती के मुख पर दृष्टि डाली'

और, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—'उस (नायिका) का बोलना पहले जैसा ही है, नेत्र भी वहीं है और यौवन भी वही है। किन्तु कुछ दूसरी ही काम की शोभा हो गई है जो कुछ और ही कार्य कर रही है'।

टिप्पणी—(१) द्र० ना० शा० (२२·८), भा० प्र० (पृ० ८), ना० द० (४.२७०), सा० द० (३.९३)। प्रता० (पृ० १८७) में 'रसाभिज्ञानयोग्यत्वं भाव इत्यभिधीयते' यह लक्षण दिया गया है। (२) मिट्टी और जल के संयोग से बीज फूल सा जाता है वही उसकी उच्छूनता है बीज का वह विकार अङ्कुर रूप में बाहर नहीं आता अपितु भीतर ही रहता है पारखी जनों को ज्ञात हो जाता है कि बीज अङ्कुरोन्मुख है। इसी प्रकार विकाररहित (निर्मल) मन में जो रति के विकार का प्रथम स्फुरण होता है वह (उत्तम) नायिका के भीतर ही रहता है किन्तु इसकी वाणी और आँख आदि अङ्गों में एक विशेषता उत्पन्न हो जाती है जिससे सहृदय जन यह जान सकते हैं कि इसके हृदय में विकार का स्फुरण हुआ है। इसलिये भाव (तथा हाव और हेला भी) अङ्गज या शरीरज कहलाते हैं (मि० ना० द० ४.२७०)। (२) 'दृष्टिः' इत्यादि (१४५) में किसी मुग्धा के 'भाव' नामक सात्त्विक अलङ्कार का चित्रण है। 'हरस्तु०' (१४६) में महादेव में प्रथम विकार के स्फुरण का वर्णन है 'तदेव०' (१४७) में भी किसी नायिका के 'भाव' का वर्णन है।

२. हाव—

उभरा हुआ (=हेवाकस=उद्बुद्ध, Ardent) रति भाव, जो आँखों तथा भौंह इत्यादि (कुछ अङ्गों में) विकार उत्पन्न करता है, हाव कहलाता है।

* 'अल्पालापः सशृङ्गारो इति पाठान्तरम् ।

प्रतिनियताङ्गविकारकारी शृङ्गारः स्वभावविशेषो हावः । यथा ममैव—

'जं किं पि पेच्छमाणं भणमाण रे जहा तहच्चेअ ।
णिज्झाअ णेहमुद्धं वअस्स मुद्धं णिअच्छेहि ॥१४८॥'
('यत्किमपि प्रेक्षमाणां भणमानां रे यथा तथैव ।
निध्याय स्नेहमुग्धां वयस्य मुग्धां पश्य ॥')

अथ हेला—

(५२) स एव हेला सुव्यक्तशृङ्गाररससूचिका ॥३४॥

हाव एव स्पष्टभूयोविकारत्वात्सुव्यक्तशृङ्गाररससूचको हेला । यथा ममैव—

'तह झत्ति से पअत्ता सव्वङ्ग विब्भमा थणुब्भेए ।
संसइअबालभावा होइ चिरं जह सहीणं पि ॥१४९॥'
("तथा झटित्यस्याः प्रवृत्ताः सर्वाङ्गविभ्रमाः स्तनोद्भेदे ।
संशयितबालभावा भवति चिरं यथा सखीनामपि ॥')

अर्थात् कुछ ही अङ्गों में विकार उत्पन्न करने वाला रतिभाव (शृङ्गार) ही हाव है, जो विशेष प्रकार का स्वभाव होता है । जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—(कोई व्यक्ति अपने मित्र से कहता है)—'हे मित्र, जिस किसी को देखती हुई जैसे-तैसे बोलती हुई कुछ सोचकर प्रेम से मुग्ध हुई उस मुग्धा नायिका को देखो ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२.१०), भा० प्र० (पृ० ८), ना० द० (४.२७१) प्रता० (पृ० १८८), सा० द० (३.९४) । (२) भाव से अग्रिम अवस्था हाव है । यहाँ रतिभाव भाव दशा की अपेक्षा अधिक उद्बुद्ध हो जाता है । भाव दशा में उससे बाह्य अङ्गों में विकार उत्पन्न नहीं होता किन्तु हाव-दशा में आँख भौंह, गर्दन, ठोड़ी में विकार हो जाया करता है । 'हेवाकसस्तु शृङ्गारो' के स्थान पर 'अल्पालापः सशृङ्गारो' पाठान्तर है, जिसका अर्थ है—थोड़ आलाप से और शृङ्गार से युक्त हाव होता है । 'यत्किमपि०' (१४८) में आँखों और वाणी का विकार दिखलाया गया है ।

३. हेला—

वह (हाव) जब स्पष्ट रूप से रतिभाव का सूचक होता है तो हेला कहलाता है ॥३६॥

अर्थात् जब हाव स्पष्ट और अधिक अङ्गविकारों को उत्पन्न करने के कारण स्पष्ट रूप से रतिभाव का सूचक होता है, तब वह हेला कहलाता है । जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है 'इस (नायिका) के स्तनों का,उभार होते ही एक दम समस्त अङ्गों में ऐसे विभ्रम उत्पन्न होने लगे कि सखियों को भी इसके बाल-भाव के विषय में संशय होने लगा' ।

अथायत्नजाः सप्त । तत्र शोभा—

(५३) रूपोपभोगतारुण्यैः शोभाङ्गानां विभूषणम् ।

यथा कुमारसम्भवे—

'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य बालां क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः ।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः ॥१५०॥

इत्यादि । यथा च शाकुन्तले—

'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥१५१॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२.११), भा० प्र० (पृ० ८), ना० द० (४.२७२), प्रता० (पृ० १८८), सा० द० (३.९५) । (२) यहाँ नायिका के सभी अङ्गों में ऐसे विकारों के प्रकट होने का वर्णन किया गया है जिनसे उसके हृदय का प्रेम भाव स्पष्ट रूप से सूचित होता है, यही हेला का स्वरूप है । इस प्रकार भाव, हाव और हेला तीनों शरीरज विकार हैं । युवति के हृदय में स्थित रतिभाव से उत्पन्न होने वाला प्रथम अङ्ग-विकार जो बाह्यरूप में प्रकट नहीं होता, 'भाव' है । वही जब आँख आदि कुछ अङ्गों में विकार उत्पन्न कर देता है तो 'हाव' कहलाता है और जब प्रायः समस्त अङ्गों में विकार उत्पन्न करके रति भाव की सूचना देता है तब 'हेला' कहलाता है ।

अब अयत्नज सात अलङ्कारों का वर्णन करते हैं । इनमें—

१. शोभा—

रूप, उपभोग और तारुण्य के द्वारा अङ्गों का सौन्दर्य बढ़ जाना ही शोभा कहलाती है ।

जैसे कुमारसम्भव (७.१७) में (विवाह के लिये अलङ्कृत की जाती हुई पार्वती के विषय में कवि ने कहा है)—'उस बाला (पार्वती) को पूर्व की ओर मुख करके बैठाकर (प्रसाधन के लिये) सामने बैठी हुई नारियों के नेत्र उसकी स्वाभाविक शोभा से हर लिये गये अतः शृङ्गार की सामग्री सामने उपस्थित होने पर भी वे क्षण भर के लिये ठिठक गई' इत्यादि ।

और जैसे शकुन्तलानाटक (२.११) में (राजा दुष्यन्त शकुन्तला के विषय में कहते हैं)—'उसका निर्दोष (अनघ) सौन्दर्य उस पुष्प के समान है जो सूँघा नहीं गया, उस किसलय के समान है जो नखों से नहीं नोचा गया, उस रत्न जैसा है जो अभी बींधा नहीं गया, ऐसा नवीन मधु है जिसका स्वाद नहीं लिया गया और पुण्यों के अखण्ड फल के समान है । न जाने विधाता यहाँ किस भोक्ता को समुपस्थित करेगा'।

अथ कान्ति:—

(५४)*मन्मथावापितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता ।।३५।।

शोभैव रागावतारघनीकृता कान्तिः । यथा—

'उन्मीलद्वदनेन्दुदीप्तिविसरैर्दूरे समुत्सारितं
भिन्नं पीनकुचस्थलस्य च रुचा हस्तप्रभाभिर्हतम् ।
एतस्याः कलविङ्ककण्ठकदलीकल्पं मिलत्कौतुका-
दप्राप्ताङ्गसुखं रुषेव सहसा केशेषु लग्नं तमः ।।१५२।।

यथा हि महाश्वेतावर्णनावसरे भट्टबाणस्य ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२.२७), भा० प्र० (पृ० ८) ना० द० (४.२८३), सा० द० (३.९५) । प्रता० (पृ० १८७) में 'शोभा' को शृङ्गार-चेष्टाओं में नहीं रक्खा गया । (२) 'तां प्राङ्मुखीम्०' (१५०) में रूप और तारुण्य के द्वारा होने वाली शोभा का वर्णन है । 'अनाघ्रातम्०' (१५१) में रूप द्वारा होने वाली शोभा का वर्णन है ।

कान्ति—

जब काम-भाव (मन्मथ) के द्वारा उस (शोभा) की द्युति (छाया) बढ़ जाती है तो वही (शोभा) कान्ति कहलाती है ।।३६

अर्थात् राग की अधिकता (अवतार=आविर्भाव) से समृद्ध हुई शोभा ही कान्ति है । जैसे (?) (जब अन्धकार ने किसी नायिका के स्पर्श के सुख को प्राप्त करने की चेष्टा की तब) 'नायिका के प्रफुल्लित मुख-चन्द्र की दीप्ति के विस्तार ने उस (अन्धकार) को दूर भगा दिया, विशाल (पुष्ट) स्तनों की कान्ति से वह छिन्न-भिन्न हो गया, हाथों की प्रभा से मारा गया, इस प्रकार कौतुक के साथ नायिका से मिलने का प्रयत्न करता हुआ भी उनके अङ्गों का सुख न प्राप्त करके कलविङ्क पक्षी की कण्ठकदली के समान वह अन्धकार मानों क्रोधपूर्वक एकदम ही उस बाला के केशों में लिपट गया ।'

और, जैसे बाणभट्ट द्वारा महाश्वेता-वर्णन के अवसर पर कान्ति प्रकट होती है ।

टिप्पणी—(१) कान्तिः शोभैवापूर्णमन्मथा (ना० शा० २२.२८), कान्तिः स्यात् मन्मथाप्यायिता छविः (भा० प्र०, पृ० ८), कान्तिः पूर्णसम्भोगा (ना० द० ४.२८४), सैव कान्तिर्मन्मथाप्यायितद्युतिः (सा० द० ३.९६) । प्रता० (पृ० १८७) में 'कान्ति' को शृङ्गार-चेष्टाओं में नहीं रक्खा गया । (२) 'उन्मीलद्०' (१५२) में अनुराग की अधिकता के कारण नायिका की शोभा के बढ़ जाने का वर्णन है, जिससे चेतन प्राणी तो क्या जड़-अन्धकार भी उसके अङ्गों के स्पर्श-सुख के लिये इच्छा करता है । (३) मन्मथाध्यासितछाया इस पाठ में 'मन्मथेन अध्यासिता छाया यस्यां सा' अर्थात् जिस शोभा में कामभाव के द्वारा द्युति आरोपित कर दी जाती है, वह कान्ति है ।

---

*'मन्मथाध्यासित' इत्यपि पाठः ।

अथ माधुर्यम्—

(५५) अनुल्बणत्वं माधुर्यम्—

यथा शाकुन्तले

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥१५३॥

अथ दीप्तिः—

---

३. माधुर्य—

(सब अवस्थाओं में) रमणीयता ही माधुर्य है ।

जैसे शकुन्तला नाटक (१·२०) में (राजा दुष्यन्त वल्कलधारिणी शकुन्तला को देखकर कहते हैं) 'सेवाल से लिपटा भी कमल रमणीय होता है. मलिन चिह्न भी शीतकर (चन्द्रमा) की शोभा को बढ़ाता है, यह कृशाङ्गी वल्कल धारण करके भी अधिक मनोहर है । वस्तुतः मधुर आकृतियों के लिये क्या आभूषण नहीं बन जाता' ?

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२.२६) के अनुसार माधुर्य का लक्षण है—

सर्वावस्थाविशेषेषु दीप्तेषु ललितेषु च ।
अनुल्बणत्वं चेष्टाया माधुर्यमिति संज्ञितम् ॥

भा० प्र० (पृ० ८) में 'सर्वावस्थासु चेष्टानां माधुर्यं मृदुकारिता' । ना० द० (४.२८५) में 'सौम्यं तापेऽपि माधुर्यम्' अर्थात् क्रोध आदि का सन्ताप होने पर भी आकृति में विकार न होना माधुर्य है । इसी प्रकार रसार्णवसुधाकरकार शिङ्गभूपाल के अनुसार भी 'माधुर्यं नाम चेष्टानां सर्वावस्थासु मार्दवम्'—यह लक्षण है । इन सभी लक्षणों का अभिप्राय समान ही है । दशरूपक के लक्षण में 'अनुल्बणत्वं माधुर्यं' ये नाट्यशास्त्र के ही पद लिये गये हैं । किन्तु यह लक्षण स्पष्ट नहीं । सम्भवतः दशरूपककार के अभिप्राय को ही प्रता० तथा सा० द० ने स्पष्ट किया है । प्रता० (पृ० १८८) में 'अभूषणेऽपि रम्यत्वं माधुर्यमिति कथ्यते' तथा सा० द० (३.९७) में 'सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्य रमणीयता'—ये लक्षण हैं । सा० द० में धनिक के समान ही सरसिजम्' इत्यादि उदाहरण भी दिया गया है । इन सबके आधार पर दशरूपक के माधुर्य का स्वरूप है—सभी प्रकार की अवस्थाओं में एक सी रहने वाली रमणीयता माधुर्य है, जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है । (२) अनुल्बणत्वं = रमणीयता (प्रभा), मासृण्य (अभि० भा०), Not intense (Haas) ।

४. दीप्ति—

(५६) —दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः ।

यथा—

'देआ पसिअ णिअन्तसुमुहससिजोण्हाविलुत्ततमणिवहे ।
अहिसारिआणं विग्घं करोसि अण्णाणं वि हआसे ।।१५४।।
('दैवाद् दृष्ट्वा नितान्तसुमुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ।।')

अथ प्रागल्भ्यम्—

(५७) निस्साध्वसत्वं प्रागल्भ्यम्—

मनः क्षोभपूर्वकोऽङ्गसादः साध्वसं तदभावः प्रागल्भ्यम्, यथा ममैव—

'तथा व्रीडाविधेयापि तथा मुग्धापि सुन्दरी ।
कलाप्रयोगचातुर्ये सभास्वाचार्यकं गता।।१५५।।

कान्ति का विस्तार ही दीप्ति कहलाता है ।

जैसे ?—'नितान्त सुन्दर मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से अन्धकार के समूह का नाश करने वाली, हे मूर्ख (हताश), तुम अकस्मात् इधर देखकर अन्य अभिसारिकाओं के मार्ग में भी विघ्न उपस्थित करोगी' ।

(१) ना० शा० (२२.२८), भा० प्र० (पृ० ८), ना० द० (४.२८४), सा० द० (३.९६) में भी इसी प्रकार का लक्षण है । प्रता० (पृ० १८७) में 'दीप्ति की शृङ्गार-चेष्टाओं में गणना नहीं की गई । (२) संक्षेप में रूप यौवन आदि की जो उज्ज्वलता है उसकी तीन अवस्थाएँ हैं—मन्द, मध्य और तीव्र । वे ही क्रमशः शोभा, कान्ति और दीप्ति कहलाती हैं । (मि० ना० द० ४.२८४) ।

५. प्रागल्भ्यम्—

साध्वस रहित होना ही प्रागल्भ्य कहलाता है ।

मानसिक क्षोभ के कारण अङ्गों में म्लानता (अवसाद) हो जाना ही साध्वस है, उसका अभाव प्रागल्भ्य है । जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—'उतनी लज्जा-परवश और उतनी अधिक मुग्धा होते हुए भी उस सुन्दरी ने सभाओं में कला-प्रयोग की निपुणता में आचार्यपद प्राप्त किया' ।

टिप्पणी—ना० शा० (२२.३१) के अनुसार 'प्रयोगनिस्साध्वसता प्रागल्भ्यं समुदाहृतम्' यह लक्षण है । अभिनवगुप्त के अनुसार प्रयोग का अभिप्राय है—६४ कामकला इत्यादि (प्रयोग इति कामकलादौ चातुःषष्टिक इत्यर्थः) । भा० प्र० (पृ० ८) में इसी प्रकार का लक्षण है । दशरूपक के लक्षण का भी नाटचशास्त्र के लक्षण के समान ही तात्पर्य प्रतीत होता है । इस प्रकार कलाओं के प्रयोग में किसी प्रकार का मनः क्षोभ तथा मुख आदि की मलिनता न होना ही प्रागल्भ्य है । ना०

(५८)—औदार्यं प्रश्रयः सदा ॥३६॥

अथौदार्यम्—

यथा—'दिअहं खु दुक्खिआए सअलं काऊण गेहबावारम् ।
गरुएवि मण्णुदुक्खे भरिमो पाअन्तसुत्तस्स ॥१५६॥
(दिवसं खलु दुःखितायाः सकलं कृत्वा गृहव्यापारम् ।
गुरुण्यपि मन्युदुःखे भरिमा पादान्ते सुप्तस्य ॥')

यथा वा—'भ्रूभङ्गे सहसोद्गता' इत्यादि ।

अथ धैर्यम्—

(५९) चापलाऽविहता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकत्थना ।

चापलानुपहता मनोवृत्तिरात्मगुणानामनाख्यायिका धैर्यमिति । यथा मालतीमाधवे—

द० (४.२८६) के अनुसार 'प्रागल्भ्यं कौशलं रते' अर्थात् रतिक्रीडा में निपुणता ही प्रागल्भ्य है । सा० द० (३.९७) में यद्यपि दशरूपक का लक्षण ही लिया गया है तथापि उदाहरण से प्रतीत होता है कि उसका अभिप्राय ना० द० के समान ही है ।

६. औदार्य—

सभी अवस्थाओं में (सदा) विनम्र रहना (=प्रश्रय) ही औदार्य कहलाता है ।

जैसे (गाथासप्तशती ३·२६) 'दिनभर गृहकार्य करके दुःखी हुई उस नायिका के भारी क्रोधयुक्त क्लेश में पादतल में सोये हुए प्रिय की प्रभुता (भरिमा) है । अर्थात् प्रिय के चरणतल में सो जाने से वह क्रोधयुक्त दुःख शान्त हो गया है (?) । (इसका अर्थ स्पष्ट नहीं, गाथा० में पाठान्तर है) ।

और, जैसे 'भ्रूभङ्गे' इत्यादि (रत्नावली २·२१) ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२.३१) में 'औदार्यं प्रश्रयः प्रोक्तः सर्वावस्थानुगो बुधैः' यह लक्षण है । इसका भाव है—'अमर्ष, ईर्ष्या, क्रोध आदि सभी अवस्थाओं में जो कठोर वचन आदि न कहना है, वही औदार्य है' । भा० प्र० (पृ० ८) में भी ना० शा० के समान ही लक्षण है । ना० द० के अनुसार संतप्त होने पर भी विनय आदि उचित बातों का त्याग न करना ही औदार्य है । सा० द० (३.९७) में 'औदार्यं विनयः सदा' यह लक्षण है । (२) भ्रूभङ्ग इत्यादि में यह दिखलाया गया है कि वासवदत्ता कुपित हो गई तथापि उसने विनय नहीं छोड़ा ।

७. धैर्य—

चञ्चलता से रहित तथा आत्म-श्लाघा से शून्य चित्त-वृत्ति धैर्य कहलाती है ।

अर्थात् जो चित्तवृत्ति चञ्चलता से युक्त नहीं है, जो अपने गुणों का बखान करने वाली नहीं है, वह धैर्य है । जैसे मालतीमाधव (२.२) में (मालती अपनी सखी

'ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी
दहतु मदनः किंवा मृत्योः परेण विधास्यति ।
मम तु दयितः श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया
कुलममलिनं न त्वेवायं जनो न च जीवितम् ॥१५७॥

अथ स्वाभाविका दश, तत्र—

(६०) प्रियानुकरणं लीला मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥३७॥

प्रियकृतानां वाग्वेषचेष्टानां शृङ्गारिणीनामङ्गनाभिरनुकरणं लीला ।

यथा ममैव—दिट्ठं तह भणिअं ताए णिअदं तहा तहासीणम् ।
अवलोइअं सइण्हं सविब्भमं जहं सवत्तीहिं ॥१५८॥
(तथा दृष्टं तथा भणितं तथा नियतं तथा तथासीनम् ।
अवलोकितं सतृष्णं सविभ्रमं यथा सपत्नीभिः ॥')

यथा वा—'तेनोदितं वदति याति यथाऽसौ' आदि ॥१५९॥

से कहती है) 'प्रत्येक रात्रि में आकाश में सम्पूर्ण कलाओं वाला चन्द्रमा (भले ही) जला करे, कामदेव भी मुझे जला दे । मृत्यु से अधिक ये दोनों मेरा क्या करेंगे ? मुझे तो अपने श्लाघ्य पिता, पवित्र वंश वाली माता और अपना निर्मल कुल ही प्रिय है । न तो यह जन (माधव) और न अपना जीवन प्रिय है' ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२.३०), भा० प्र० (पृ० ८), ना० द० (४.२८६), काव्यानु० (७.५०) तथा सा० द० (३.९८) में प्रायः इसी प्रकार का लक्षण है । भा० प्र० (पृ० ८) में 'मानग्रहो दृढो यस्तु तद् धैर्यम्' तथा प्रता० (पृ० १९९) में 'शीलाद्यलङ्घनं नाम धैर्यम्' यह कहा गया है ।' (२) उपर्युक्त उदाहरण में मालती के धैर्य का वर्णन है ।

इस प्रकार सात अयत्नज अलङ्कार कहे गये हैं ।

अब दस स्वाभाविक अलङ्कारों का वर्णन करते हैं, उनमें—

१. लीला—

मधुर अङ्ग-चेष्टाओं द्वारा प्रियतम का अनुकरण करना ही लीला कहलाती है ॥३७॥

अर्थात् प्रियतम की बोली तथा वेष-भूषा आदि की जो शृङ्गार-सम्बन्धी चेष्टाएँ हैं उनका अङ्गनाओं के द्वारा अनुकरण किया जाना ही लीला है । जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—'उस नायिका ने उसी प्रकार (नायक के समान) ही देखा, उसी प्रकार बातें की, उसी प्रकार नियन्त्रण किया तथा वह उसी प्रकार बैठी, जिससे सपत्नियों ने विभ्रम और तृष्णा के साथ उसे देखा' ।

अथवा जैसे (नायिका) उस प्रियतम की कही बात को कहती है, और जैसे वह चलता है, वैसे ही चलती है' ।

टिप्पणी—ना० शा० (२२.१४), भा० प्र० (पृ० ९), ना० द० (४.२७६), प्रता० (पृ० १८९); सा० द० (३.९८--९९) में भी प्रायः इसी प्रकार का लक्षण है ।

अथ विलासः—

(६१) तत्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियोक्तिषु*।

दयितावलोकनादिकालेऽङ्गे क्रियायां वचने च सातिशयविशेषोत्पत्तिर्विलासः यथा मालतीमाधवे—

'अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्त—
वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः।
तद्भूरिसात्त्विकविकारविशेषरम्य—
माचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥१६०॥'

अथ विच्छित्तिः—

(६२) आकल्परचनाऽल्पापि विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ॥३८॥

स्तोकोऽपि वेषो बहुतरकमनीयताकारी विच्छित्तिः। यथा कुमारसम्भवे—

'कर्णार्पितो रोध्रकषायरूक्षे गोरोचनाभेदनितान्तगौरे।
तस्याः कपोले परभागलाभाद्बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ॥१६१॥'

---

२. विलास—

प्रिय के दर्शन आदि के अवसर पर (नायिका के) अङ्ग चेष्टा तथा, वचनों में जो एक विशेषता आ जाती है, वही विलास कहलाता है।

अर्थात् प्रिय के अवलोकन आदि के अवसर पर (नायिका के) अङ्ग (मुख, नेत्र आदि) में, क्रिया (उठना, बैठना आदि) में तथा बोलने में जो चमत्कारपूर्ण विशेषता उत्पन्न हो जाती है, वही विलास है। जैसे मालतीमाधव (१·२६) में (माधव अपने मित्र मकरन्द से कह रहा है) 'इसी समय विशाल नेत्रों वाली (मालती) के लिये कामदेव का विजयशील अनूठा आचार्यत्व (आचार्यकम्=आचार्यभावः, विविध शृङ्गार चेष्टाओं का उपदेश करना) प्रकट हुआ, जिसकी विचित्रता का वर्णन करना वाणी की शक्ति से बाहर है, जिसमें अनेक विभ्रम (शृङ्गार-चेष्टाएँ) उद्भावित हो रहे थे तथा जो अत्यधिक सात्त्विक विकारों के कारण रमणीय हो रहा था'।

टिप्पणी—ना० शा० (२२.१५), भा० प्र० (पृ० ६), ना० द० (४.२७४), प्रता० पृ० १८६), सा० द० (३.६६)।

३. विच्छित्ति—

यदि थोड़ी सी वेश-रचना (आकल्परचना) भी शोभा को बढ़ा देती है तो वहाँ विच्छित्ति नामक भाव होता है ॥३८॥

अर्थात् अल्प भी प्रसाधन यदि अत्यधिक कमनीयता उत्पन्न करता है तो विच्छित्ति कही जाती है। जैसे कुमारसम्भव (७.१७) में 'उस (पार्वती) के कान में लगाया गया यवाङ्कुर लौध्रचूर्ण से रूक्ष तथा गोरोचना के मलने से अत्यधिक गोरे कपोल पर विशेष शोभा प्राप्त कर (लोगों की) आँखों को खींच रहा था'।

---

*क्रियादिषु, इत्यपि पाठः।

अथ विभ्रमः--

(६३) विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्यय।

यथा—

अभ्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती--
संलापसंवलितलोचनमानसाभिः ।
अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा--
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः ॥१६२॥'

यथा वा ममैव--

'श्रुत्वाऽऽयातं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया ।
भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः ॥१६३॥'

अथ किलकिञ्चितम्---

(६४) क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितम् ॥३९॥

यथा ममैव--

टिप्पणी--ना० शा० (२२.१६), भा० प्र० (पृ० ९), ना० द० (४.२७५) प्रता० (पृ० १९०), सा० द० (३.१००), अभिनवगुप्त के अनुसार विच्छित्ति का निमित्त सौभाग्य का गर्व होता है ।

४. विभ्रम—

प्रिय के आगमन आदि के समय (=काले) शीघ्रता के कारण आभूषणों के स्थान का उलट फेर हो जाना विभ्रम कहलाता है।

जैसे--"चन्द्रमा के उदित होने पर प्रिय नायक की दूती के वार्तालाप में मग्न नेत्र तथा मन वाली अङ्गनाओं ने ऐसा प्रसाधन कर लिया कि उनके विपरीत भूषण धारण के कारण सखियाँ हँसने लगीं'।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२.१७), भा० प्र० (पृ० ९), ना० द० (४.२७३) प्रता० (पृ० १९०), सा० द० (३.१०४)। (२) संक्षेप में प्रियतम के आगमन आदि के अवसर पर राग तथा हर्ष आदि के कारण शीघ्रतावश कार्यों का उलट फेर ही विभ्रम है, जैसे किसी बात के स्थान पर दूसरी कह देना, कटि में पहनने योग्य आभूषण को गले में पहन लेना इत्यादि । अभिनवगुप्त के अनुसार विभ्रम का कारण सौभाग्य का गर्व होता है ।

५. किलकिञ्चत—

क्रोध, अश्रु, हर्ष तथा भय इत्यादि का एक साथ होना (सङ्कर), किलकिञ्चित कहलाता है ॥३९॥

रतिक्रीडाद्यूते कथमपि समासाद्य समयं
मया लब्धे तस्याः क्वणितकलकण्ठार्धमधरे ।
कृतभ्रूभङ्गासौ प्रकटितविलक्षार्धरुदित–
स्मितक्रोधोद्भ्रान्तं पुनरपि विदध्यान्मयि मुखम् ॥१६४॥

अथ मोट्टायितम्---

(६५) मोट्टायितं तु तद्भावभावनेष्टकथादिषु ।

इष्टकथादिषु प्रियतमकथानुकरणादिषु प्रियानुरागेण भावितान्तःकरणत्वं मोट्टायितम् । यथा---

'चित्रवर्तिन्यपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि ।
व्रीडार्धवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा ॥१६५॥'

यथा वा---

'मातः कं हृदये निधाय सुचिरं रोमाञ्चिताङ्गी मुहु--
र्जृम्भामन्थरतारकां सुललितापाङ्गां दधाना दृशम् ।
सुप्तेवालिखितेव शून्यहृदया लेखावशेषीभव--
स्यात्मद्रोहिणि किं ह्रिया कथय मे गूढो निहन्ति स्मरः ॥१६६॥'

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है नायक अपने मित्र से कहता है—'रति-क्रीड़ा के द्यूत में किसी प्रकार दाँव (समय) पाकर मैंने उसके अधर को पा लिया जब कि उसका कण्ठ अस्फुट और मधुर ध्वनि कर रहा था । फिर भौंहें टेढ़ी करती हुई और लज्जा प्रकट करती हुई उस (नायिका) ने अपना मुख कुछ रोदन, मुस्कराहट तथा क्रोध से युक्त कर लिया । अच्छा हो कि वह फिर भी मेरे प्रति ऐसा मुख करे' ।

टिप्पणी—ना० शा० (२२.१८), भा० प्र० (पृ० ६), ना० द० (४.१८२), प्रता० (पृ० १६०), सा० द० (३.१०१) ।

६. मोट्टायित—

प्रियतम की चर्चा इत्यादि के अवसर पर उस (प्रिय) के भाव में मग्न हो जाना मोट्टायित कहलाता है ।

इष्टकथा अर्थात् प्रिय की चर्चा और उसके अनुकरण आदि के अवसर पर प्रिय के प्रेम में मन का तल्लीन (भावित) हो जाना मोट्टायित है । जैसे पद्मगुप्त का पद्य है—'राजा के चित्रलिखित होने पर भी, चित्र में राजा के भाव का आवेश हो जाने के कारण उस (नायिका) ने अपने मुखचन्द्र को लज्जा से कुछ वक्र कर लिया' ।

अथवा जैसे ?—'अरी' (मातः=आदरणीय, as a term of respect आप्टे) किसको अपने हृदय में रखकर बहुत देर से रोमाञ्चित हुई, बार-बार जम्भाई से मन्द (नेत्र के) तारों वाली सुन्दर अपाङ्गों वाली दृष्टि को धारण करती हुई, सोई सी, चित्रलिखी सी, शून्य हृदय वाली होकर रेखामात्र शेष रह गई हो (अत्यन्त कृश हो गई हो) ? हे अपने साथ द्रोह करने वाली, लज्जा से क्या लाभ ? मुझे बताओ तो क्या छिपा कामदेव तुम्हें मार रहा है' ।

यथा वा ममैव—

'स्मरदवथुनिमित्तं गूढमुन्नेतुमस्याः
सुभग तव कथायां प्रस्तुतायां सखीभिः ।
भवति विततपृष्ठोदस्तपीनस्तनाग्रा
ततवलयितबाहुर्जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः ॥१६७॥

अथ कुट्टमितम्—

(६६) सानन्दान्तः कुट्टमितं कुप्येत्केशाधरग्रहे ॥४०॥

यथा—

'नान्दीपदानि रतिनाटकविभ्रमाणा--
माज्ञाक्षराणि परमाण्यथवा स्मरस्य ।

और जैसे मेरा (धनिक का) पद्य है—(कोई दूती नायक से कहती है) 'हे सुभग, जब सखियाँ उस (नायिका) की काम-वेदना (दवथ=पीड़ा, अग्नि) के गूढ निमित्त को जानने के लिये तुम्हारी चर्चा करती हैं तब वह अङ्गभङ्गिमा के साथ जम्भाइयाँ लेती है जिनसे उसकी पीठ फैल जाती है, पीन स्तनों के अग्रभाग उठ जाते हैं, तथा भुजाएँ आगे बलयाकार हो जाती हैं।,

टिप्पणी—धनञ्जय तथा धनिक के शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रिय की बात चलने आदि के समय नायिका के मन का भाव-मग्न हो जाना ही मोट्टायित है । इसी प्रकार का लक्षण भा० प्र० (पृ० ६) में भी है । किन्तु ना० शा० (२२.१६), ना० द० (४.२८१), प्रता० (पृ० १६१), सा० द० (३.१०२) के अनुसार 'जब नायक की चर्चा चलने आदि के समय नायिका का चित्त उसके भाव में मग्न हो जाता है तब उसकी जो कान खुजलाना, अङ्ग मोड़ना आदि शारीरिक चेष्टाएँ होती हैं वे ही मोट्टायित कहलाती हैं । अभिनवगुप्त के अनुसार भी मोट्टायित का यही स्वरूप है—(अङ्गमोडनात् मोट्टायितम्) । वस्तुतः दशरूपक के लक्षण का भी यही अभिप्राय होना चाहिये; क्योंकि तद्भाव—भावना तो शरीर चेष्टाओं से ही प्रकट होती है । धनिक द्वारा दिये गये उदाहरणों से भी यही अभिव्यक्त होता है । अतः दशरूपक के 'तद्भावभावना' शब्द का तात्पर्य है—तद्भावभावनाकृतम् (ना० शा०) अर्थात् उसके भाव में मग्न होकर की गई शारीरिक चेष्टा ।

७. कुट्टमित—

(रतिक्रीडा में प्रियतम के द्वारा) केश और अधर का ग्रहण किये जाने पर (नायिका) जो हृदय में प्रसन्न होकर भी कोप प्रकट करती है, वही कुट्टमित कहलाता है ॥४०॥

जैसे ? 'प्रियतम के द्वारा ओठ काट लिया जाने पर (रोकने के लिये) हाथ के अग्रभाग को हिलाती हुई नारी के सीत्कारयुक्त सूखे रुदन विजयी (सर्वोत्कृष्ट) हैं,

दष्टेऽधरे प्रणयिना विधुताग्रपाणेः
सीत्कारशुष्करुदितानि जयन्ति नार्याः ॥१६८॥

अथ बिब्बोकः—

(६७) गर्वाभिमानादिष्टेऽपि बिब्बोकोऽनादरक्रिया ।

यथा ममैव—

'सव्याजं तिलकालकान्विरलयंल्लोलाङ्गुलिः संस्पृशन्
वारंवारमुदञ्चयन्कुचयुगप्रोदञ्चिनीलाञ्चलम् ।
यद्भ्रूभङ्गतरङ्गिताञ्चितदृशा सावज्ञमालोकितं
तद्गर्वादवधीरितोऽस्मि न पुनः कान्ते कृतार्थीकृतः ॥१६९॥

अथ ललितम्—

(६८) सुकुमाराङ्गविन्यासो मसृणो ललितं भवेत् ॥४१॥

वे (रुदन) रतिक्रीड़ा की नाटकीय चेष्टाओं के नान्दीपाठ हैं अथवा कामदेव के आदेश के बड़े-बड़े लेख हैं'।

टिप्पणी—(१) द्र०, ना० शा० (२२.२०), भा० प्र० (पृ० ६), ना० द० (४.२८०), प्रता० (पृ० १९१), सा० द० (३.१०३)। (२) केशाधरग्रहे प्रियतमेन इति शेषः (अभि० भा०); सानन्दान्तः=सानन्दम् अन्तः (अन्तकरणम्) यस्मिन् कर्मणि तत्; कुप्येत् का क्रियाविशेषण है (प्रभा)। शुष्क— सूखा, झूठमूठ, बनावटी ।

८. बिब्बोक—

गर्व और अभिमान के कारण इष्ट वस्तु के प्रति भी अनादर दिखलाना बिब्बोक कहलाता है।

जैसा मेरा (धनिका का) ही पद्य है— (नायक नायिका से कहता है)—'हे प्रियतमे (कान्ते), तिलक के बालों को विरल करके कपटपूर्वक चञ्चल अङ्गुलियों से स्पर्श करते हुए तथा बार-बार कुच-युगल पर फहराते नीले आंचल को उठाते हुए मुझ को तुमने जो टेढी भौहों वाली वक्र दृष्टि से अवज्ञापूर्वक देखा, उस गर्व से मैं अपमानित हो गया हूँ, किन्तु तुमने मुझे कृतार्थ नहीं किया'।

टिप्पणी—(१) द्र०, ना० शा० (२२.२१), भा० प्र० (पृ० ६), काव्यानु०-(७.३६), ना० द० (४.२७७), प्रता० (पृ० १९२), सा० द० (३.१००)। (२) इष्टेऽपि—प्रिय में भी; प्रियतम अथवा अभीष्ट वस्त्र, अलङ्कार आदि का अनादर। गर्व—सौभाग्य का गर्व, हर्ष। अभिमान—चित्त का चढ़ा होना (ना० द०); रूपादेर्गर्वः, यौवनादेश्चाभिमानः (प्रभा०)।

९. ललित—

सुकुमार अङ्गों को स्निग्धतापूर्वक चलाना ललित कहलाता है ॥४१॥

यथा ममैव--

'सभ्रूभङ्गं करकिसलयावर्तनैरालपन्ती
सा पश्यन्ती ललितललितं लोचनस्याञ्चलेन ।
विन्यस्यन्ती चरणकमले लीलया स्वैरयातै-
र्निस्सङ्गीतं प्रथमवयसा नर्तिता पङ्कजाक्षी ॥१७०॥

अथ विहृतम्--

(६९) प्राप्तकालं न यद् ब्रूयाद् व्रीडया विहृतं हि तत् ।

प्राप्तावसरस्यापि वाक्यस्य लज्जया यदवचनं तद् विहृतम्, यथा--

पादाङ्गुष्ठेन भूमिं किसलयरुचिना सापदेशं लिखन्ती
भूयो भूयः क्षिपन्ती मयि सितशबले लोचने लोलतारे ।
वक्त्रं ह्रीनम्रमीषत्स्फुरदधरपुटं वाक्यगर्भं दधाना
यन्मां नोवाच किञ्चित्स्थितमपि हृदये मानसं तद् दुनोति ॥१७१॥

जैसा मेरा (धनिक का ही पद्य है --'भ्रूभङ्ग के साथ कर-पल्लव को घुमाकर बातें करती हुई' नेत्रों के कोनों से अत्यन्त सुन्दरता के साथ देखती हुई' स्वच्छन्दता के साथ लीलापूर्वक चरण-कमलों को रखती हुई उस कमलनयनी को यौवन का प्रादुर्भाव विना सङ्गीत के ही नचा रहा है ।'

टिप्पणी-- (१) द्र० ना० शा० (२२.२२), भा० प्र० (पृ० ६), प्रता० (पृ० १९२), सा० द० (३.१०५) । (२) ना० द० (४.२७९) के अनुसार 'व्यर्थ' ही सकुमारतापूर्वक अङ्गों का चलाना ललित कहलाता है (ललितं गात्रसञ्चारः सुकुमारो निरर्थकः) यहाँ सुकुमार - अतिमनोहर. निरर्थक = निष्प्रयोजन; जैसे विना द्रष्टव्य के ही दृष्टि डालना, विना ग्राह्य के ही हाथ फैलाना आदि । (३) निष्प्रयोजन व्यापार ललित कहलाता है और सप्रयोजन विलास; यही दोनों का अन्तर है । (४) दशरूपक में भी सुकुमारोऽङ्गविन्यास; यही पाठ उचित प्रतीत होता है, अर्थात् सुकुमार तथा स्निग्ध अङ्गविन्यास ललित है ।

१०. विहृत

जो अवसर आने पर भी (नायिका) लज्जा के कारण नहीं बोलती वह विहृत है ।

अर्थात् जिसका अवसर हो ऐसे वाक्य का भी जो लज्जा के कारण न बोलना है वही विहृत कहलाता है जैसे (अमरुशतक १३६)--किसलय के समान कान्ति वाले पैर के अंगूठे से किसी बहाने भूमि को कुरेदती हुई; चञ्चल तारों वाले श्वेत एवं शबल नेत्रों को बार-बार मुझ पर डालती हुई; लज्जा से झुके, कुछ फड़कते अधरपुट वाले भीतर किसी बात को लिये हुए मुख को धारण करती हुई उस (नायिका) ने मन में होते हुए भी जो मुझ से नहीं कहा वही बात मेरे मन को दुःखी कर रही है ।'

अथ नेतुः कार्यान्तरसहायानाह—

(७०) मन्त्री स्वं वोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने ॥४२॥

तस्य नेतुरर्थचिन्तायां तन्त्रावापादिलक्षणायां मन्त्री वाऽऽत्मा वोभयं वा सहायः।

तत्र विभागमाह—

(७१) मन्त्रिणा ललितः, शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः।

उक्तलक्षणो ललितो नेता मन्त्र्यायत्तसिद्धिः। शेषा धीरोदात्तादयः अनियमेन मन्त्रिणा स्वेन वोभयेन वाऽङ्गीकृतसिद्धय इति।

टिप्पणी—(१) द्र०, ना० शा० (२२.२४—२५), भा० प्र० (पृ० ९), ना० द० (४.२७८), प्रता० (पृ० १९३), सा० द० (३.१०६)। यहाँ 'व्रीडया' यह पद उपलक्षण मात्र है अतः अवसर पर भी लज्जा, मुग्धता, बालस्वभाव, अन्यमनस्कता या किसी कपटभाव आदि के कारण प्रिय मधुर वचन न कहना ही 'विहृत' है (मि०, ना० शा० तथा ना० द०)।

नायक के अन्य सहायक

[नायक के शृङ्गारी सहायक विदूषक आदि का ऊपर वर्णन किया जा चुका है] अब नायक के अन्य कार्यों में सहायकों का वर्णन करते हैं—

उस (नायक) के अर्थ-चिन्तन में मन्त्री सहायक (सखा) होता है, अथवा स्वयं ही या दोनों (नायक या मन्त्री) ही ॥४२॥

उस नायक की अर्थ-चिन्ता अर्थात् तन्त्र (=अपने राज्य में किया गया कार्य) तथा आवाप (गुप्तचर भेजना आदि दूसरे राज्य में किया गया कार्य) इत्यादि में मन्त्री या वह स्वयं अथवा मन्त्री और वह दोनों ही साधक होते हैं।

उनका विभाग करते हैं—

धीरललित नायक की सिद्धि मन्त्री-द्वारा होती है और अन्य नायकों (धीरोदात्त, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत) की सिद्धि मन्त्री तथा स्वयं के द्वारा होती है।

जिसका ऊपर (२.३) लक्षण किया गया है उस धीरललित नायक की सिद्धि मन्त्री के अधीन होती है। शेष जो धीरोदात्त आदि नायक हैं वे कभी मन्त्री द्वारा, कभी स्वयं ही, कभी दोनों के द्वारा (कार्य में) सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं; इसमें कोई नियम नहीं है।

टिप्पणी—(१) द्र०, ना० शा० (२४.७४), भा० प्र० (पृ० ९३), ना० द० (४.२५३), सा० द० (३.४३)। (२) अर्थचिन्तन=तन्त्रावापादि; अपने राज्य में किया जाने वाला कर्म तन्त्र कहलाता है और दूसरे राज्य में गुप्तचर आदि नियुक्त करना आवाप है। यहाँ 'आदि' शब्द से 'शत्रु को दण्ड देना आदि का ग्रहण होता

धर्मसहायास्तु—

(७२) ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मे तपस्विब्रह्मवादिनः ॥४३॥

ब्रह्म=वेदस्तं वदन्ति व्याचक्षते वा तच्छीला ब्रह्मवादिनः, आत्मज्ञानिनो वा। शेषाः प्रतीताः।

दुष्टदमनं दण्डः। तत्सहायास्तु—

(७३) सुहृत्कुमाराटविका दण्डे सामन्तसैनिकाः।

स्पष्टम्।

है; (मि०, प्रभा०)। सखा=सहायः, साधक। (३) 'मन्त्री स्वं' इत्यादि कथन की विश्वनाथ ने (सा० द० ३.४३) इस प्रकार आलोचना की है—(i) अर्थ-चिन्तन के उपायों के सन्दर्भ में यह कथन उचित हो सकता था नायक के सहायकों के सन्दर्भ में नहीं, (ii) नायक के अर्थचिन्तन में मन्त्री सहायक होता है, केवल इतना कहना ही पर्याप्त है, इसी से नायक का भी कार्य में भाग लेना स्वतः सिद्ध है फिर 'स्वं' तथा 'उभयं' इत्यादि कथन व्यर्थ ही है। (४) 'मन्त्रिणा ललितः इत्यादि की भी विश्वनाथ ने (सा० द० ३.४३) आलोचना की है कि (i) 'निश्चिन्तो धीरललितः' (ऊपर २.२) इस लक्षण से ही यह सिद्ध है कि ललित नायक की सिद्धि मन्त्री के अधीन होती है: फिर यहाँ उसका कथन करना व्यर्थ है, किञ्च (ii) मन्त्री अर्थ–चिन्तन में ललित नायक का सहायक नहीं होता अपितु वह स्वयं ही उसके अर्थ का साधक होता है, ललित नायक तो अर्थ-चिन्तन आदि करता ही नहीं अतः मन्त्री को सहायक कहना ठीक नहीं।

नायक के धर्मकार्य में सहायक ये हैं—

यज्ञ करने वाले (ऋत्विक्), पुरोहित तपस्वी और ब्रह्मज्ञानी या (वेदपाठी) धर्म में सहायक होते हैं ॥४३॥

ब्रह्म का अर्थ है—वेद, उसका प्रवचन या व्याख्या करने के स्वभाव वाले ब्रह्मवादी कहलाते हैं अथवा आत्मज्ञानी। शेष (ऋत्विक् आदि) प्रसिद्ध ही हैं—

दुष्टों का दमन करना दण्ड कहलाता है उसमें ये सहायक होते हैं —

मित्र, राजकुमार, वन-विभाग के कर्मचारी अथवा अरण्यवासी (आटविक), सामन्त तथा सैनिक दण्ड में सहायक होते हैं।

यह स्पष्ट ही है।

टिप्पणी—ना० शा० (२४.७४), भा० प्र० (पृ० ९३), ना० द० (४.२५३), सा० द० (३.४५)।

एवं तत्तत्कार्यान्तरेषु सहायान्तराणि योज्यानि । यदाह—

(७४) अन्तःपुरे वर्षवराः किराता मूकवामनाः ॥४४॥
म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः ।

शकारो राज्ञः श्यालो हीनजातिः ।

विशेषान्तरमाह—

(७५) ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषां च त्रिरूपता ॥४५॥
तारतम्याद्यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिता ।

एवं प्रागुक्तानां नायकनायिकादूतदूतीमन्त्रिपुरोहितादीनामुत्तममध्यमाधमभावेन त्रिरूपता, उत्तमादिभावश्च न गुणसंख्योपचयापचयेन किं तर्हि गुणातिशयतारतम्येन ।

इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कार्यों में अन्य सहायकों को नियुक्त करना चाहिये । जैसे कि कहा है—

अन्तःपुर में वर्षवर (नपुंसक जन), किरात, गूंगे, बौने, म्लेच्छ, अहीर, तथा शकार आदि अपने-अपने कार्य में उपयोगी होत हैं ॥४४–४५॥

राजा का साला जो नीच जाति का होता है, शकार हुआ करता है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२४·६८ तथा आगे), ना० द० (४·२५१), सा० द० (३·४३–४४) । वर्षवर किरात और वामन आदि का रत्नावली (२·३) में भी चित्रण किया गया है । शकार मूर्ख और घमण्डी होता है, नीच कुल का तथा ऐश्वर्य-सम्पन्न होता है; वह राजा की अविवाहिता (रखेल) पत्नी का भाई होता है (सा० द०), वह हास्य का हेतु होता है और राजा का परिचारक भी (ना० द०) । मृच्छकटिक में शकार की योजना की गई है ।

इन (नायक आदि) के अन्य भेद बतलाते हैं—

इन सभी (नायक आदि) के ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम भेद से तीन-तीन प्रकार होते हैं । और इनकी उत्तमता (मध्यमता तथा अधमता) आदि ऊपर कहे गये गुणों के तारतम्य (न्यूनता और अधिकता) से होती है ॥४५-४६॥

अर्थात् इस प्रकार ऊपर कहे गये नायक, नायिका, दूत, दूती, मन्त्री, पुरोहित इत्यादि के उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन-तीन प्रकार होते हैं । और, वह उत्तमता इत्यादि गुणों की संख्या की अधिकता और न्यूनता के आधार पर नहीं होती अपितु गुणों के उत्कर्ष (विशेषता) के न्यूनाधिक्य से होती है ।

टिप्पणी—(१) नायक आदि में स प्रत्येक तीन प्रकार का होता है, जिस प्रकार नायक उत्तम, मध्यम और अधम कोटि का हो सकता है, इसी प्रकार नायिका

(७६) एवं नाट्ये विधातव्यो नायकः सपरिच्छदः* ॥४६॥

उक्तो नायकः, तद्व्यापारस्तूच्यते—

(७७) तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा,

दूत, दूती, मन्त्री आदि में से भी प्रत्येक तीन प्रकार का हो सकता है। धीरोदात्त आदि प्रत्येक नायक के भी तीन-तीन प्रकार होते हैं (ऊपर १·७), मि०, सा०, द० ३·३८, ३·८७, ३·१३० ।

(२) **उत्तमादिभावश्च न गुणसंख्योपचयापचयेन**—प्रश्न यह है कि इस उत्तमता आदि की व्यवस्था का आधार क्या है ? एक तो यह हो सकता है कि किसी नायक आदि के जो गुण बतलाये गये हैं, वे सभी गुण जिसमें हों वह उत्तम, जिसमें कुछ गुणों की कमी हो वह मध्यम और जिसमें बहुत गुणों की कमी हो वह अधम कहलायेगा (द्र०, भा० प्र० पृ० ९१–९२), जैसे महासत्त्व, अतिगम्भीर, आदि ७ गुण धीरोदात्त नायक के बतलाये गये हैं (ऊपर २·४)। उन सातों गुणों वाला उत्तम छः पाँच या चार गुणों वाला मध्यम और शेष तीन, दो या एक गुण वाला अधम धीरोदात्त होगा। दूसरी व्यवस्था यह हो सकती है कि ये महासत्त्व आदि जिसमें अधिक मात्रा में हों या उत्कृष्ट अवस्था में हों वह उत्तम होगा। गुणों की मात्रा अल्प तथा अल्पतर होने पर मध्यम तथा अधम होगा। धनञ्जय तथा धनिक का मन्तव्य है कि दूसरे प्रकार से उत्तम आदि की व्यवस्था माननी चाहिये। (३) इसके अतिरिक्त उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रों की एक अन्य व्यवस्था भी है जिसका उल्लेख विष्कम्भक और प्रवेशक के लक्षण (ऊपर १·५९-६०) में किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ पुरोहित, अमात्य, कञ्चुकी (ना० शा० १९·१०९) तथा विट, विदूषक (सा० द० ३·४६) आदि मध्यम पात्र हैं और शकार, चेट (सा० द० ३·४६) आदि नीच पात्र माने गये हैं।

इस प्रकार रूपक में परिच्छद (परिवार, सहायकों) सहित नायक की योजना करनी चाहिये ॥४६॥

टिप्पणी—'परिच्छद' का अर्थ है—सेवक, सहायक, परिवार, परिजन (Attendants, circle of dependents आप्टे) नायक और नायिका के सहायकों का वर्णन करना रूपकों की परम्परा रही है, विशेषकर राज-परिच्छद का वर्णन करना। इसी हेतु नाट्यशास्त्र से लेकर प्रायः सभी नाट्य के ग्रन्थों में नायक का परिच्छद सहित विवेचन किया गया है।

भारती आदि वृत्तियाँ (नाटचवृत्तियाँ)

नायक का वर्णन किया जा चुका है अब उस (नायक) के व्यापार (वृत्ति) का वर्णन किया जाता है—

उस (नायक आदि) का व्यापार ही वृत्ति कहलाता है। यह वृत्ति चार प्रकार की है।

---

*'सपरिग्रहः' इति पाठान्तरम् ।

प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापारस्वभावो वृत्तिः, सा च कैशिकी-सात्त्वती-आरभटी-भारती-भेदाच्चतुर्विधा ।

प्रवृत्तिरूप नायक (आदि के) व्यापार का स्वभाव ही वृत्ति कहलाता है । वह वृत्ति कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी तथा भारती के भेद से चार प्रकार की होती है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२·२३–२५), भा० प्र० (पृ० १२), ना० द० (३·१५५), प्रता० (२·१५), सा० द० (६·१२२–१२३)। (२) नेतृव्यापारस्वभावः—नायकस्य व्यापारानुकूलः स्वभावो वृत्तिः (प्रभा); वस्तुतस्तु नेतृव्यापारस्य स्वभावः—स्वरूपविशेषः एव वृत्तिः, कीदृशः स्वरूपविशेषः ? प्रवृत्तिरूपः । प्रवृत्ति का अर्थ है—मानसिक, वाचिक और कायिक चेष्टा । सामान्यतः नायक आदि के व्यापार अनेक प्रकार के होते हैं । वाचिक आदि चेष्टाओं के साथ-साथ वह देश-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा बोलता है, भिन्न-भिन्न प्रकार का वेश धारण करता है और अन्य भी नाना प्रकार के क्रिया-कलाप में व्यस्त रहता है किन्तु वे सभी व्यापार नाट्य-वृत्तियाँ नहीं कहलाते । इसीलिये विश्वनाथ ने 'नायकादिव्यापारविशेषा नाटकादिषु' (सा० द० ६·१२३) में 'विशेष' शब्द का ग्रहण किया है तथा धनिक ने 'प्रवृत्तिरूपः' यह विशेषण दिया है । फलतः नायक आदि का मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार नाट्य में वृत्ति कहलाता है ।

इन वृत्तियों को 'काव्यानां मातृका वृत्तयः (ना० शा० १८·४) 'नाट्यमातरः' (ना० द० ३·१५५), नाट्यस्य मातृकाः (सा० द० ६·१२३) कहा गया है; क्योंकि कवि नायक आदि के कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारों को वर्णनीय रूप से अपने हृदय में ही रखकर काव्यरचना करता है । इसी से वृत्तियाँ काव्य की जननी हैं ।

(३) ये वृत्तियाँ चार मानी गई हैं—सात्त्वती, भारती और कैशिकी तथा आरभटी । इनमें सात्त्वती वृत्ति विशेषतः मानस व्यापार-रूप होती है, भारती वाचिक व्यापार-रूप और कैशिकी तथा आरभटी दोनों वृत्तियाँ विशेषकर कायिक व्यापार-रूप हैं । किन्तु मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों का असंकीर्ण रूप से होना तो असम्भव है, क्योंकि कायिक और वाचिक चेष्टायें तो सर्वदा मानस चेष्टाओं पर ही आश्रित रहती हैं । इसलिये किसी एक अंश की प्रधानता के कारण ही वृत्तियों का यह भेद किया गया , जैसे जिस वृत्ति में वाक्चेष्टा की प्रधानता है उसे भारती कह दिया गया है (द्र०, ना० द० वृत्ति ३·१५५ तथा अभि० भा० २०·२५) । इसके अतिरिक्त रस-भेद तथा अभिनय-भेद आदि भी वृत्तियों के भेदक माने जाते हैं । नाट्य में सभी व्यापार रस, भाव तथा अभिनय से युक्त होता है । अतः ये वृत्तियाँ भी रस, भाव तथा अभिनय का अनुसरण करती हैं (रसभावाभिनयगाः, ना० द० ३·१५५) । अभिनवगुप्त ने चारों वृत्तियों का स्वरूप सक्षेप में इस प्रकार बतलाया है—पाठ्य-

(७७ क)—तत्र कैशिकी ।

गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृङ्गारचेष्टितैः ॥४७॥

तासां गीतनृत्यविलासकामोपभोगाद्युपलक्ष्यमाणो मृदुः शृङ्गारी कामफलावच्छिन्नो व्यापारः कैशिकी । सा तु—

(७८) नर्मतत्स्फिञ्जतत्स्फोटतद्गर्भैश्चतुरङ्गिका ।

तदित्यनेन सर्वत्र नर्म परामृश्यते ।

तत्र—

प्रधाना भारती, अभिनयप्रधाना सात्त्वती, अनुभावाद्यावेशमयरसप्रधानारभटी, गीतवाद्योपरञ्जकप्रधाना कैशिकीति (अभि० भा० २०·२३) । इन चारों वृत्तियों का विशद वर्णन आगे किया जा रहा है ।

१. कैशिकी वृत्ति

उनमें गीत, नृत्य, विलास आदि शृङ्गारिक चेष्टाओं से कोमल वृत्ति कैशिकी होती है ॥४७॥

अर्थात् उन (चार प्रकार की वृत्तियों) में गीत, नृत्य, विलास कामोपभोग इत्यादि से युक्त अतएव मृदु (सुकुमार) तथा शृङ्गार-पूर्ण अर्थात् कामरूपी फल की प्राप्ति से सम्बद्ध (नायक आदि का) व्यापार कैशिकी वृत्ति है ।

और उसके—

(क) नर्म, (ख) नर्मस्फिञ्ज, (ग) नर्मस्फोट, (घ) नर्मगर्भ भेद से चार अङ्ग होते हैं ।

(कारिका में) तत् (वह) शब्द के द्वारा सब जगह 'नर्म' का ग्रहण होता है (अर्थात् तत्स्फिञ्ज = उस नर्म का स्फिञ्ज या नर्मस्फिञ्ज इत्यादि) ।

टिप्पणी—(१) द्र०, ना० शा० (२०·५२–५३), भा० प्र० (पृ० १२), ना० द० (३·१६१), सा० द० (६·१२४) । (२) सा० द० में ना० शा० के कैशिकी-लक्षण का अनुसरण करते हुए इसे अधिक स्पष्ट किया गया है । तदनुसार 'जो विशेष प्रकार की वेश-भूषा से चित्रित हो, जिसमें स्त्री पात्रों की बहुलता हो, नृत्य गीत की प्रचुरता हो, शृङ्गारप्रधान व्यवहार हो, वह चारु विलासों से युक्त वृत्ति कैशिकी है' । ना० द० वृत्ति (३·१६१) के अनुसार कैशिकी शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—लम्बे केश होने के कारण स्त्री कैशिका कही जाती है और स्त्रियों का प्राधान्य होने के कारण इसे कैशिकी वृत्ति कहते हैं ।

नर्म—

उन (कैशिकी के चार अङ्गों) में—

(७६) वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म प्रियोपच्छन्दनात्मकम् ॥४८॥
हास्येनैव सश्रृङ्गारभयेन विहितं त्रिधा ।
आत्मोपक्षेपसम्भोगमानैः श्रृङ्गार्यपि त्रिधा ॥४९॥
शुद्धमङ्गं भयं द्वेधा, त्रेधा वाग्वेषचेष्टितैः ।
सर्वं सहास्यमित्येवं नर्माष्टादशधोदितम् ॥५०॥

अग्राम्य इष्टजनावर्जनरूपः परिहासो नर्म, तच्च शुद्धहास्येन सश्रृङ्गारहास्येन सभयहास्येन रचितं त्रिविधम्, श्रृङ्गारवदपि स्वानुरागनिवेदन-सम्भोगेच्छाप्रकाशन-सापराधप्रियप्रतिभेदनैस्त्रिविधमेव, भयनर्मापि शुद्धरसान्तराङ्गभावाद् द्विविधम् । एवं षड्विधस्य प्रत्येकं वाग्वेषचेष्टाव्यतिकरेणाष्टादशविधत्वम् ।

प्रिय को प्रसन्न करने वाली (उपच्छन्दन) विदग्धता से युक्त क्रीडा को नर्म कहा जाता है ॥४८॥

वह नर्म (प्रथमतः) तीन प्रकार का होता है—(i) केवल हास्य से किया गया, (ii) श्रृङ्गार सहित हास्य से किया गया और (ii) भय सहित हास्य से किया गया । इनमें (ii) श्रृङ्गार युक्त (हास्य से किया गया) भी तीन प्रकार का होता है-(अ) आत्मोपक्षेप, (आ) सम्भोग और (इ) मान ॥४९॥

भययुक्त (iii) (हास्य से किया गया) भी दो प्रकार का है—शुद्ध और अङ्ग । फिर हास्य नर्म सहित ये सब (अर्थात् कुल ६ प्रकार के नर्म) वाक् वेष और चेष्टा के भेद से तीन तीन प्रकार के होते हैं । इस प्रकार नर्म अट्ठारह प्रकार का कहा गया है ॥५०॥

प्रियजन को आकृष्ट करने वाला विदग्ध (अग्रास्य = शिष्ट) परिहास ही नर्म कहलाता है । वह शुद्ध हास्य, श्रृङ्गारसहित हास्य तथा भयसहित हास्य से किये जाने के कारण तीन प्रकार का होता है । श्रृङ्गारसहित हास्य से किया गया नर्म भी—नायिका द्वारा अपने अनुराग का निवेदन (=आत्मोपक्षेप) नायिका द्वारा सहवास की इच्छा प्रकट करना (=सम्भोग) तथा अपराध करने वाले प्रिय के प्रति कोप करना (प्रतिभेदन, मान) तीन प्रकार का होता है । भयसहित हास्य से किया गया नर्म भी —शुद्ध भय और अन्य रस के अङ्ग रूप भय के भेद से—दो प्रकार का होता है । इस प्रकार ६ प्रकार के नर्म के वाक्, वेष और चेष्टा के भेद से अट्ठारह भेद हो जाते हैं ।

तत्र वचोहास्यनर्म यथा—

'पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ।।१७२।।

वेषनर्म यथा नागानन्दे विदूषकशेखरकव्यतिकरे । क्रियानर्म यथा मालविकाग्निमित्रे उत्स्वप्नायमानस्य विदूषकस्योपरि निपुणिका सर्पभ्रमकारणं दण्डकाष्ठं पातयति । एवं वक्ष्यमाणेष्वपि वाग्वेषचेष्टापरत्वमुदाहार्यम् ।

शृङ्गारवदात्मोपक्षेपनर्म, यथा—

मध्याह्नं गमय त्यज श्रमजलं स्थित्वा पयः पीयतां
मा शून्येति विमुञ्च पान्थ विवशः शीतः प्रपामण्डपः ।
तामेव स्मर घस्मरस्मरशरत्रस्तां निजप्रेयसीं
त्वच्चित्तं तु न रञ्जयन्ति पथिक प्रायः प्रपापालिका ।।१७३।।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२०.५६-६१), ना० द० (३.१६१ तथा वृत्ति) सा० द० (६.१२५-१२८) । (२) १८ भेदों की गणना संक्षेप में इस प्रकार है—हास्य नर्म १ + शृङ्गार सहित हास्य (आत्मोपक्षेप, सम्भोग, मान) ३ + भयसहित हास्य (शुद्ध अङ्ग) २ = ६ । नर्म को प्रकट करने वाले वाणी, वेष और चेष्टा हैं अतः इन ६ में से प्रत्येक के तीन भेद होकर ६ × ३ = १८ । इनके नाम वचोहास्य नर्म, वेषहास्य नर्म इत्यादि होंगे ।

उनमें से वचोहास्यनर्म यह है, जैसे (कुमारसम्भवं ७.१९) "चरणों में लाली लगाकर सखी ने पार्वती को परिहासपूर्वक यह आशीष दी कि 'इससे पति के सिर की चन्द्रकला का स्पर्श करो' तब पार्वती ने बिना कुछ बोले ही माला से उसे पीटा ।"

वेष-हास्य-नर्म नागानन्द में विदूषक और शेखरक के सन्दर्भ (व्यतिकर) में है । चेष्टा-हास्य-नर्म यह है, जैसे मालविकाग्निमित्र नाटक में निपुणिका नामक चेटी स्वप्न देखते हुए विदूषक के ऊपर साँप का भ्रम उत्पन्न करने के लिये लकड़ी का डण्डा डाला देती है । इसी प्रकार आगे कहे जाने वाले भेदों में भी वाक् वेष और चेष्टा के उदाहरण दिये जा सकते हैं ।

(ii) (अ) शृङ्गारसहित आत्मोपक्षेप नर्म यह है, जैसे ?—(कोई प्याऊ देने वाली किसी पथिक के प्रति अपना अनुराग प्रकट करती हुई कहती है) 'हे पथिक दोपहरी बिता लो, पसीना सुखा लो, बैठकर पानी पीलो, 'यह सूना है' ऐसा समझकर बरबस इसे छोड़ न जाओ । यह प्रपामण्डप (प्याऊ का झोंपड़ा) तो शीतल है । यहाँ (ठहरकर) काम के घातक (घस्मर) बाणों से त्रस्त अपनी उस प्रियतमा को ही याद करते रहना क्योंकि हे पथिक, प्याऊ, वेने वाली तो प्रायः तुम्हारे चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती है ।'

सम्भोगनर्म यथा—

'सालोए व्विअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण ।
णेच्छन्तस्य वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ।।१७३।।
(सालोके एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिकस्य गृहीत्वा ।
अनिच्छतोऽपि पादौ धुनोति हसन्ती हसतः ।।')

माननर्म यथा—

'तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति
प्रियजनपरिमुक्तं यद्दुकूलं दधानः ।
मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्री—
र्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ।।१७५।।

भयनर्म यथा रत्नावल्यामालेख्यदर्शनावसरे 'सुसङ्गता—जाणिदो मए एसो सव्वो वुत्तन्तो समं चित्तफलएण ता देवीए णिवेदइस्सम्' (ज्ञातो मयैष सर्वो वृत्तान्तः सह चित्रफलकेन तद्देव्यै निवेदयिष्यामि । इत्यादि ।

शृङ्गाराङ्गं भयनर्म यथा ममैव—

'अभिव्यक्तालीकः सकलविफलोपायविभव—
श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम् ।

(आ) शृङ्गारसहित सम्भोग नर्म यह है, जैसे (गाथासप्तशती २.३०) 'सूर्य के प्रकाशयुक्त रहते हुए भी हँसती हुई गृहिणी न चाहते हुए भी हँसते गृहस्वामी के चरणों को पकड़कर हिला रही है ।'

(इ) शृङ्गारसहित माननर्म यह है, जैसे (माघ ११, कोई नायक किसी नायिका का वस्त्र धारण करके दूसरी नायिका के पास पहुँच गया, उसे देखकर वह नायिका मानपूर्वक परिहास करती हुई बोली)—'जो तुमने कहा कि तुम मेरी प्रियतमा हो, वह सत्य ही है । तभी तो तुम अपनी प्रिया के वस्त्र को धारण करके मेरे वासस्थान पर आये हो । क्योंकि कामी जनों की शृङ्गार शोभा प्रियतमा के द्वारा देख लिये जाने पर ही सफल होती है ।'

(iii) भयनर्म (शुद्ध) यह है जैसे रत्नावली (२·१५—१६) में चित्र-दर्शन के अवसर पर 'सुसङ्गता—(राजा से परिहास करती है) मैंने चित्रफलक सहित यह समस्त वृत्तान्त जान लिया है तो अब जाकर महारानी से कह दूँगी' इत्यादि ।

शृङ्गार का अङ्ग भयनर्म यह है, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—जिस नायक का अपराध प्रकट हो चुका था फिर (मानवती नायिका को मनाने के) समस्त उपायों का सामर्थ्य भी विफल हो गया था, उस नायक ने देर तक सोचकर एकदम

इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषं धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम् ॥१७६॥

अथ नर्मस्फिञ्जः—

(८०) नर्मस्फिञ्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसङ्गमे।

यथा मालविकाग्निमित्रे सङ्केते नायकमभिसृतायां नायिकायां नायकः—

विसृज सुन्दरि सङ्गमसाध्वसं ननु चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे।
परिगृह्याण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि ॥१७७॥

'मालविका—भट्टा देवीए भयेण अत्तणो विपिअं काउं ण पारेमि।' (भर्त्तः देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामि।) इत्यादि।

अथ नर्मस्फोटः—

(८१) नर्मस्फोटस्तु भावानां सूचितोऽल्परसो लवैः ॥५१॥

निपुणतापूर्वक (कृतक) उद्वेग को दिखलाते हुए "यह पीछे क्या है, पीछे क्या है!" इस प्रकार नायिका को डरा दिया। और, उस धूर्त ने पास को सटते हुए मुस्कराहट पूर्वक मधुरता के साथ नायिका का आलिङ्गन किया।'

नर्मस्फिञ्ज—

यदि (नायिका को) प्रथम समागम के समय आरम्भ में सुख होता है और अन्त में भय तो वह नर्मस्फिञ्ज कहलाता है।

जैसे मालविकाग्निमित्र (४·१३) में जब नायिका (मालविका) सङ्केतस्थल पर नायक के पास पहुँचती है तो नायक (राजा) कहता है—हे सुन्दरी, समागम के भय को छोड़ दो, बहुत समय से तुम्हारे प्रेम की प्रतीक्षा करने वाले अतएव सहकार (अम्रवृक्ष) के समान हो जाने वाले मेरे प्रति तुम माधवी लता का सा आचरण करो (जैसे माधवी लता आम्र से लिपट जाती है, उसी प्रकार···)'। मालविका—स्वामी देवी के भय से मैं अपना चाहा भी करने में समर्थ नहीं, इत्यादि।

टिप्पणी—ना० शा० (२०.५६), सा० द० (६.१२७) में भी लक्षण तथा उदाहरण दश० के समान ही हैं। ना० शा० में इसका नाम नर्मस्फुञ्ज है अभि० भा० के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति है—नर्मणः स्फुञ्जः विघ्न इत्यर्थः। सा० द० में 'नर्मस्फूर्ज' नाम है।

नर्मस्फोट—

जहाँ पर भावों के कुछ अंशों द्वारा (लवैः) अल्प रस सूचित होता है, वह नर्मस्फोट कहलाता है ॥५१॥

यथा मालतीमाधवे—'मकरन्दः—

गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं
श्वसितमधिकं किं न्वेतत्स्यात्किमन्यदितोऽथवा ।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं
ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम् ॥१७८॥

इत्यत्र गमनादिभिर्भावलेशैर्माधवस्य मालत्यामनुरागः स्तोकः प्रकाश्यते ।

अथ नर्मगर्भः—

छन्ननेतृप्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे ।

यथाऽमरुशतके—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा—
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा—
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्त्तोऽपरां चुम्बति ॥१७६॥

यथा (च) प्रियदर्शिकायां गर्भाङ्के वत्सराजवेषसुसङ्गतास्थाने साक्षाद्वत्सराजप्रवेशः ।

जैसे मालतीमाधव नाटक (१·२०) में "मकरन्द—(माधव की दशा का वर्णन करते हुए कहता है) 'इसका गमन आलस्ययुक्त, दृष्टि सूनी, शरीर सौन्दर्यहीन, श्वास अधिक चलता हुआ, यह क्या है ? अथवा इससे भिन्न क्या हो सकता है ? संसार में कामदेव की आज्ञा विचरण कर रही है और यौवन विकारशील है अतः नाना प्रकार के ललित एवं मधुर भाव धैर्य को नष्ट कर देते हैं' ।

यहाँ पर (अलस) गमन इत्यादि भावलेशों के द्वारा माधव का मालती के प्रति थोड़ा सा प्रेम प्रकट होता है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२०·६०), सा० द० (६·१२८) । (२) अभि० भा० के अनुसार 'नर्मस्फोट' शब्द की व्युत्पत्ति है—नर्मण इति तदुपलक्षितस्य शृङ्गारस्य स्फोटो वैचित्र्यं चमत्कारोल्लासकृतस्फुटत्वं यत्रेति ।' (३) यहाँ 'भाव' शब्द से भय, हास, हर्ष, त्रास, रोष आदि लिये जाते हैं । उनके अंशों के द्वारा जहाँ अल्प सा अनुराग सूचित होता है, वहाँ नर्म-स्फोट है (अभि० भा०); 'भावानां लवैः=अल्पैः सात्त्विकादिभावैः' (प्रभा) ।

नर्मगर्भ—

किसी प्रयोजन (अर्थ) की सिद्धि के लिये नायक का गुप्त व्यवहार (प्रतीचारः) ही नर्मगर्भ कहलाता है ।

जैसे अमरुशतक (१९) में 'दृष्ट्वैकासन०' इत्यादि (ऊपर उदा० १२८) ।

और, जैसे प्रियदर्शिका नाटिका के गर्भाङ्क में वत्सराज के वेष में सुसङ्गता का प्रवेश होने के स्थान पर स्वयं वत्सराज का ही प्रवेश होता है ।

(८२ क) अङ्गैः सहास्यनिर्हास्यैरेभिरेषाऽत्र कैशिकी ॥५२॥

अथ सात्त्वती—

(८३) विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः ।
संलापोत्थापकावस्यां साङ्घात्यः परिवर्तकः ॥५३॥

शोकहीनः सत्त्वशौर्यत्यागदयाहर्षादिभावोत्तरो नायकव्यापारः सात्त्वती, तदङ्गानि च संलापोत्थापकसाङ्घात्यपरिवर्तकाख्यानि ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२०·६१) सा० द० (६·१२८) । (२) **छन्ननेतृ-प्रतीचारः**—नायक का छिपकर व्यवहार करना, जैसे गुप्त रूप से सङ्केत-स्थल पर जाना इत्यादि (अभि० भा०), **प्रतीचारः** व्यवहारः, प्रवेशः (प्रभा), approach (Haas), **अर्थहेतवे**—प्रयोजन के लिये, कार्य की सिद्धि के लिये, नव समागम की सिद्धि के लिये (अभि० भा०) ।

इस प्रकार हास्य-युक्त और हास्य-रहित अङ्गों के साथ यह कैशिकी वृत्ति यहाँ प्रतिपादित की गई है ।

२. सात्त्वती वृत्ति—

सात्त्वती शोक-रहित होती है यह सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया और सरलता (आदि भावों) से युक्त होती है । इसमें संलापक, उत्थापक, सांघात्य और परिवर्त्तक (ये चार अङ्ग) होते हैं ॥५३॥

अर्थात् शोकरहित तथा सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया, हर्ष आदि भावों के अनन्तर होने वाला नायक का व्यापार सात्त्वती वृत्ति है । (क) संलापक, (ख) उत्थापक, (ग) सांघात्य और (घ) परिवर्त्तक नाम से उसके (चार) अङ्ग होते हैं ।

टिप्पणी—(१) द्र०, ना० शा० (२०·४१–४४), भा० प्र० (पृ० १२), ना० द० (३·१६०), सा० द० (६·१२८—१३०) । (२) सत्त्व का अर्थ है—मन, उसका व्यापार अर्थात् मानस व्यापार ही सात्त्वती वृत्ति है । यह मानस व्यापार सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया, हर्ष आदि भावों के रूप में होता है और इसको सात्त्विक, वाचिक तथा आङ्गिक अभिनय के द्वारा प्रकट किया जाता है । किन्तु इसमें सात्त्विक अभिनय की ही प्रधानता होती है । इसीलिये नाट्य में इस नायक-व्यापार को सात्त्वती वृत्ति कहा जाता है (द्र०, ना० शा० अभि० भा० तथा ना० द० ।) (३) मानसिक व्यापार अनेक प्रकार का होता है । उन सबकी गणना करना असम्भव ही है । फिर भी नाट्याचार्यों ने उन मानस व्यापारों का चार भागों में विभाजन किया है । ये ही सात्त्विक वृत्ति के चार अङ्ग कहे गये हैं । ना० शा० में इन चारों का वर्णन है किन्तु भा० प्र० तथा ना० द० में नहीं । आगे चलकर सा० द० में भी इनका विवेचन है । (४) आर्जव—ऋजुता, कुटिलता का अभाव । हर्षादिभावोत्तरः यह 'नायकव्यापारः'

तत्र—

(८४) संलापो गभीरोक्तिर्नानाभावरसा मिथः ।

यथा वीरचरिते–'रामः—अयं स यः किल सपरिवारकार्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवत्सरसहस्रान्तेवासिने तुभ्यं प्रसादीकृतः परशुः । परशुरामः–राम-राम दशरथे, स एवायमाचार्यपादानां प्रियः परशुः—

शस्त्रप्रयोगखुरलीकलहे गणानां
सैन्यैर्वृतो विजित एव मया कुमारः ।
एतावतापि परिरभ्य कृतप्रसादः
प्रादादमुं प्रियगुणो भगवान्गुरुर्मे ॥१८०॥

इत्यादिनानाप्रकारभावरसेन रामपरशुरामयोरन्योन्यगभीरवचसा संलाप इति ।

अथोत्थापकः—

(८५) उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत्परम् ॥५३॥

का विशेषण है, हर्षादिभावप्रधानः (प्रभा), वस्तुतः हर्ष आदि भाव के पश्चात् होने वाला नायक-व्यापार, यह अर्थ सङ्गत प्रतीत होता है ।

(क) संलापक—

उनमें अनेक प्रकार के भावों तथा रसों से युक्त (पात्रों की) पारस्परिक उक्ति (कथोपकथन) में संलापक (नामक सात्त्वती वृत्ति का अङ्ग) होता है ।

जैसे वीरचरित (२.३४) में 'राम—यही वह परशु है जो सेनापति कार्तिकेय की विजय से प्रभावित (आकृष्ट) होकर भगवान् शिव (नीललोहित) ने एक सहस्र वर्ष तक शिष्य रहने वाले आपको उपहार में दिया था ? परशुराम—राम, राम, दशरथ-पुत्र, यह वही पूज्य आचार्य का प्रिय परशु है—

'शस्त्र-प्रयोग की परीक्षा (खुरली) के विवाद में मैंने गणों की सेना से युक्त कुमार कार्तिकेय को जीत लिया । इतने पर भी गुणों को प्यार करने वाले मेरे गुरु भगवान् शंकर ने प्रसन्न होकर मुझे गले लगाकर यह परशु मुझे दिया था' ॥१८०॥

इत्यादि अनेक प्रकार के भाव और रस से युक्त राम तथा परशुराम के पारस्परिक गम्भीर कथन में संलापक (नामक सात्त्वती वृत्ति का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२०·४८), सा० द० (६·१३१) । (२) नानाभावरसा मिथः, गभीरोक्तिः संलापकः, यह वाक्य-योजना है । खुरली—लक्ष्यभेद—परीक्षा; (Military exercise or practice आप्टे) ।

(ख) उत्थापक—

जहाँ एक पात्र दूसरे को पहले-पहल (आदौ) युद्ध के लिये उत्तेजित करे वहाँ उत्थापक (नामक सात्त्वती वृत्ति का अङ्ग) होता है ॥५३॥

यथा वीरचरिते—

आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैतृष्ण्यं नु कुतोऽद्य सम्प्रति मम त्वद्दर्शने चक्षुषः ।
त्वत्साङ्गत्यसुखस्य नास्मि विषयः किं वा बहुव्याहृतै-
रस्मिन्विश्रुतजामदग्न्यविजये बाहौ धनुर्जृम्भताम् ॥१८१॥

अथ साङ्घात्यः—

(८६) मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः साङ्घात्यः सङ्घभेदनम् ।

मन्त्रशक्त्या यथा मुद्राराक्षसे राक्षससहायादीनां चाणक्येन स्वबुद्धया भेदनम् । अर्थशक्त्या तत्रैव यथा पर्वतकाभरणस्य राक्षसहस्तगमनेन मलयकेतुसहोत्थायिभेदनम् । दैवशक्त्या तु यथा रामायणे रामस्य दैवशक्त्या रावणाद्विभीषणस्य भेद इत्यादि ।

जैसे वीरचरित (५·४९ बालि की राम के प्रति उक्ति) में—'हे राम' मुझे तुम आनन्द के लिये दिखलाई दिये हो या विस्मय के लिये अथवा दुःख के लिये (कहना कठिन है); किन्तु अब तुम्हारे दर्शन से मेरे नेत्रों की तृप्ति (वैतृष्ण्य) कैसे हो सकती है ? तुम्हारी सङ्गति के सुख का तो मैं पात्र नहीं हूँ । अतः व्यर्थ की बातों से क्या लाभ ? जमदग्नि के पुत्र (परशुराम) के दमन से प्रसिद्ध इस (तुम्हारे) हाथ में धनुष जृम्भित हो जाये (जृम्भताम् = अंगड़ाई ले)' ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० २०·४५), सा० द० (६·१३०) उदा० १८१ में पहले बालि राम को युद्ध के लिये उत्तेजित करता है अतः यहाँ उत्थापक है ।

(ग) सांघात्य—

जहाँ मन्त्रशक्ति अर्थशक्ति या दैवशक्ति आदि के द्वारा (प्रतिपक्षी के) संघ का भेदन किया जाता है, वहाँ सांघात्य (नामक सात्त्वती वृत्ति का अङ्ग) होता है ।

मन्त्रशक्ति से (संघभेदन का उदाहरण है), जैसे मुद्राराक्षस नाटक में चाणक्य ने अपनी बुद्धि से राक्षस के सहायक आदि में भेद (फूट) उत्पन्न कर दिया । अर्थशक्ति से (संघभेदन का उदाहरण है) जैसे वहीं पर्वतक के आभूषणों के राक्षस के हाथ में पहुँच जाने के कारण मलयकेतु के साथियों में भेद उत्पन्न हो गया । दैवशक्ति से (संघभेदन का उदाहरण है) जैसे रामायण में राम की दैवी शक्ति के द्वारा रावण से विभीषण का भेद कर दिया गया, इत्यादि ।

टिप्पणी—ना० शा० (२०·५०), सा० द० (६·१३१) । (२) मन्त्रशक्ति = मन्त्रणा, जो राजनीति का अङ्ग है ।

अथ परिवर्तक:—

(८७) प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात्परिवर्तक: ।।५५।।

प्रस्तुतस्योद्योगकार्यस्य परित्यागेन कार्यान्तरकरणं परिवर्तक: । यथा वीरचरिते-

'हेरम्बदन्तमुसलोल्लिखितैकभित्ति
वक्षोविशाखविशिखव्रणलाञ्छनं मे ।
रोमाञ्चकञ्चुकितमद्भुतवीरलाभाद
यत्सत्यमद्य परिरब्धुमिवेच्छति त्वाम् ।।१२८।।

राम:—भगवन्, परिरम्भणमिति प्रस्तुतप्रतीपमेतत् ।' इत्यादि ।

(८७ क) एभिरङ्गैश्चतुर्धेयं सात्त्वती

सात्त्वतीमुपसंहरन्नारभटीलक्षणमाह—

(८८)—आरभटी पुन: ।

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितै: ।।५६।।

(घ) परिवर्तक—

आरम्भ किये गये उत्थान (पौरुष, पराक्रम) के कार्य से भिन्न कार्य करने लगना परिवर्तक (नामक सात्त्वती का अङ्ग) है ।।५५।।

प्रस्तुत जो उद्योग (उत्थान, पौरुष) का कार्य है उसका त्याग करके अन्य कार्य करने लगना परिवर्तक (change of action) कहलाता है, जैसे वीरचरित (२.३८) में (राम के प्रति परशुराम की उक्ति)— सच कहता हूँ जिसका एक भाग गणेश के दाँत रूपी मूसल से खरोंचा गया है, जो कार्तिकेय के बाण के व्रण से चिह्नित है, वह मेरा हृदय आज (तुम जैसे) अदभुत वीर के मिल जाने के कारण रोमाञ्च रूपी कञ्चुक से युक्त होकर तुमसे गले मिलना चाहता है । राम—गले मिलना, यह तो प्रस्तुत के विपरीत है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२०.४६), सा० द० (६.१३२) । (२) प्रारब्धोत्थान०—प्रारब्धात् = समारब्धात्, उत्थानकार्यात्—पौरुषकार्यात् युद्धादे:, यदन्यस्य = तद्विरुद्धस्य प्रीत्यानुकूल्यादे: करणं सम्पादनं तत् परिवर्तक:, परिवर्तनमिति यावत् (प्रभा); Whose development is already begun (Haas) । दशरूपक, अभि० भा० तथा सा० द० के उदाहरणों के आधार पर प्रभा टीका का अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है, अर्थात् पौरुष कार्य को छोड़कर अन्य कार्य करना ही परिवर्तक है । ऊपर के उदाहरण में परशुराम युद्ध को छोड़कर राम से गले मिलना चाहता है, यही परिवर्तक है ।

सात्त्वती का उपसंहार करके आरभटी वृत्ति का लक्षण करते हैं—

४. आरभटी वृत्ति—

माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्ति आदि चेष्टाओं के द्वारा आरभटी वृत्ति होती है ।।५६।।

संक्षिप्तिका स्यात्संफेटो वस्तूत्थानावपातने ।

माया = मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशनम् तन्त्रबलादिन्द्रजालम् ।

तत्र—

(८९) संक्षिप्तवस्तुरचना संक्षिप्तिः शिल्पयोगतः ॥५७॥

पूर्वनेतृनिवृत्त्याऽन्ये नेत्रन्तरपरिग्रहः ।

मृद्वंशदलचर्मादिद्रव्ययोगेन वस्तूत्थापनं संक्षिप्तिः, यथोदयनचरिते किलिञ्ज-हस्तियोगः । पूर्वनायकावस्थानिवृत्त्यावस्थान्तरपरिग्रहमन्ये संक्षिप्तिकां मन्यन्ते । यथा बालिनिवृत्त्या सुग्रीवः, यथा च परशुरामस्यौद्धत्यनिवृत्त्या शान्तत्वापादनम् 'पुण्या ब्राह्मणजातिः—' इत्यादिना ।

इसमें—(क) संक्षिप्तिका, (ख) संफेट, (ग) वस्तूत्थान और (घ) अव-पातन (ये चार अङ्ग) होते हैं ।

माया का अर्थ है—मन्त्र की शक्ति से अविद्यमान वस्तु को दिखला देना; किन्तु तन्त्र की शक्ति से अविद्यमान वस्तु को दिखला देना इन्द्रजाल है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२०.६४—६५) ना० द० (३.१६२), सा० द० (६.१३२–१३४) । (२) ना० शा० के अनुसार जहाँ प्रचुरता से आरभट के गुण हों, जो बहुत प्रकार के कपट तथा वञ्चना से युक्त हो, दम्भ तथा अनृत वचन से युक्त हो, वह आरभटी वृत्ति होती है । आर अर्थात् अंकुश (प्रतोद) के समान उद्धत योद्धा ही आरभट कहलाते हैं । (आरेण प्रतोदकेन तुल्या भटा उद्धताः पुरुषा आरभटाः; ना० द०) यह आरभटी वृत्ति सब प्रकार (आङ्गिक, वाचिक, मानसिक) के व्यापारों से युक्त होती है तथा इसमें सभी प्रकार के (आङ्गिक वाचिक, सात्त्विक और आहार्य) अभिनय भी होते हैं (ना० द०) । इसके चारों अङ्गों का आगे निरूपण किया जा रहा है—

(क) संक्षिप्तिका—

उनमें—शिल्प के द्वारा संक्षिप्त रूप में किसी वस्तु की रचना कर देना संक्षिप्ति कहलाती है । अन्य आचार्य कहते हैं कि पूर्व नायक के हट जाने पर दूसरे नायक का आ जाना ही संक्षिप्ति है ।

मिट्टी, बाँस, पत्ते, चमड़ा आदि पदार्थों को जोड़कर किसी वस्तु को उत्पन्न कर देना संक्षिप्ति है; जैसे उदयन के चरित में चटाई (किलिञ्ज) के बने हाथी का प्रयोग है । अन्य आचार्य मानते हैं कि नायक की प्रथम अवस्था के हट जाने पर दूसरी अवस्था का आ जाना ही संक्षिप्ति है; जैसे बालि के हट जाने पर सुग्रीव नायक होता है और जैसे परशुराम के उद्धत भाव की निवृत्ति हो जाने पर 'ब्राह्मण' जाति पवित्र है (वीरचरित ४.२२) इत्यादि कथन के द्वारा (परशुराम में) शान्तभाव की उत्पत्ति दिखलाई गई है ।

अथ संफेटः—

(६०) संफेटस्तु समाघातः क्रुद्धसंरब्धयोर्द्वयोः ॥५८॥

यथा माधवाऽघोरघण्टयोर्मालतीमाधवे । इन्द्रजिल्लक्ष्मणयोश्च रामायणप्रतिबद्धवस्तुषु ।

अथ वस्तूत्थापनम्—

(६१) मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमिष्यते ।

यथोदात्तराघवे—

जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभि-
भास्वन्तः सकला रवेरपि रुचः कस्मादकस्मादमी ।
एतैश्चोग्रकबन्धरन्ध्ररुधिरैराध्मायमानोदरा
मुञ्चन्त्याननकन्दरानलमितस्तीव्राऽऽरवाः फेरवाः ॥१८३॥

इत्यादि ।

टिप्पणी—(१) द्र०, ना० शा० (२०.६८), सा० द० (६.१३५–१३६)। (२) नेत्रन्तरपरिग्रहः—धनञ्जय के अनुसार एक नायक के स्थान पर दूसरे नायक का आ जाना । इसका उदाहरण है बालि के स्थान पर सुग्रीव का आगमन । धनिक की व्याख्या के अनुसार नायक की एक अवस्था के हट जाने पर दूसरी अवस्था का आ जाना । इसका उदाहरण है—परशुराम की उद्धतावस्था के स्थान पर शान्तावस्था का आ जाना । इस अर्थ में धनञ्जय के मत का भी समावेश हो जाता है ।

(ख) संफेट—

क्रुद्ध तथा उत्तेजित दो व्यक्तियों का एक दूसरे पर प्रहार करना (समाघात) सफेट (नामक आरभटी वृत्ति का अङ्ग) है ॥५८॥

जैसे मालतीमाधव में माधव तथा अघोरघण्ट का और रामायण में वर्णित कथा-प्रसङ्गों में मेघनाद और लक्ष्मण का एक दूसरे पर प्रहार है ।

टिप्पणी—(१) द्र०, ना० शा० (२०.७१), सा० द० (६.१३४)। (२) समाघातः=परस्परमधिक्षेपः; रामायणप्रतिबद्धवस्तुषु=रामायणोक्तचरित्रेषु (प्रभा)।

(ग) वस्तूत्थापनम्—

माया आदि के द्वारा वस्तु को उपस्थित कर देना वस्तूत्थापन (नामक आरभटी वृत्ति का अङ्ग) है ।

जैसे उदात्तराघव नाटक में (अन्धकार को) जीतने वाली, दीप्तियुक्त सूर्य की किरणें भी अकस्मात् आकाश में व्याप्त होने वाले अन्धकार के समूह के द्वारा न जाने कैसे जीत ली गई हैं ? और क्यों ? भयानक रुण्ड-मुण्डों के छिद्रों से निकले रुधिर के द्वारा फूले उदर वाले सियार जोर से चिल्लाते हुए अपने मुखरूपी कन्दरा से इधर आग छोड़ रहे हैं । इत्यादि ।

टिप्पणी—द्र०, ना० शा० (२०.७०), सा० द० (६.१३४)।

अथाऽवपातः—

(९२) अवपातस्तु निष्क्रामप्रवेशत्रासविद्रवैः ॥५९॥

यथा रत्नावल्याम्—

कण्ठे कृताऽवशेषं कनकमयमधः श्रृङ्खलादाम कर्षन्
क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणवलत्किङ्किणीचक्रवालः।
दत्तातङ्को गजानामनुसृतसरणिः सम्भ्रमादश्वपालैः
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरातः ॥१८४॥

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादकृत्वा त्रपा—
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ॥१८५॥

यथा च प्रियदर्शिकायाम्*, प्रथमेऽङ्के विन्ध्यकेत्ववस्कन्दे।

(घ) अवपात—

(पात्रों के) निष्क्रमण, प्रवेश, त्रास तथा (आग लगने आदि के द्वारा की गई) भगदड़ (=विद्रव) आदि के वर्णन द्वारा अवपात (नामक आरभटी-वृत्ति का अङ्ग) होता है ।५९।

(जैसे रत्नावली (२.२) में (अश्वशाला से भागे हुए वानर को देखकर अन्तःपुर के लोगों की भगदड़ का वर्णन है) सुवर्ण की जंजीर की माला को गले में डालकर बची हुई को नीचे (पृथिवी पर) घसीटता हुआ, द्वारों को लाँघकर उछलकूद (हेला) से चञ्चल चरणों में बजते हुए घुंघरु समूह (किङ्किणी-चक्रवाल) वाला, हाथियों को भय-भीत करने वाला, अश्व-रक्षकों के द्वारा घबराहट के साथ पीछा किया जाता हुआ यह वानर अश्वशाला से भागकर राजा के भवन में प्रवेश कर रहा है।

(रत्ना० २.३, भागते वानर को देखकर) हिजड़े (वर्षवर) तो मनुष्यों में गिनती न होने के कारण लज्जा न करके छिप गये, यह बौना डर से कञ्चुकी के कञ्चुक में घुस रहा है, कोनों (पर्यन्त) का आश्रय लेने वाले किरातों ने अपने नाम के अनुकूल ही किया (किरं पर्यन्त भूमिम् अतन्ति इति किराताः), और कुबड़े लोग अपने लिये जाने की आशङ्का से और अधिक झुककर धीरे-धीरे जा रहे हैं।

और, जैसे प्रियदर्शिका के प्रथम अङ्क में विन्ध्यकेतु का आक्रमण होने पर (भगदड़ का वर्णन है)।

टिप्पणी—द्र०, ना० शा० (२०.६९), सा० द० (६.१३६--१३७)।

---

*प्रियदर्शनायाम्' इत्यपि पाठः।

उपसंहरति—

(९३) एभिरङ्गैश्चतुर्धेयम्—

(९४) —नार्थवृत्तिरतः परा ।

चतुर्थी भारती सापि वाच्या नाटकलक्षणे ॥६०॥

कैशिकीं सात्त्वतीं चार्थवृत्तिमारभटीमिति ।

पठन्तः पञ्चमीं वृत्तिमौद्भटाः प्रतिजानते ॥६१॥

सा तु लक्ष्ये क्वचिदपि न दृश्यते, न चोपपद्यते रसेषु, हास्यादीनां भारत्यात्मकत्वात्, नीरसस्य च काव्यार्थस्याभावात् । तिस्र एवैता अर्थवृत्तयः । भारती तु शब्दवृत्तिरामुखाङ्गत्वात्तत्रैव वाच्या ।

(आरभटी वृत्ति का) उपसंहार करते हैं—

इन अङ्गों के द्वारा यह (आरभटी वृत्ति) चार प्रकार की होती है ।

उद्भट के अनुयायियों के मत का निराकरण

इन (कैशिकी, सात्त्वती तथा आरभटी) से भिन्न कोई अर्थवृत्ति (नाम की वृत्ति) नहीं है । चतुर्थी भारती वृत्ति है, उसका नाटक के लक्षण में वर्णन किया जायेगा ॥६१॥

किन्तु उद्भट के अनुयायी (भारती वृत्ति के साथ) कैशिकी, सात्त्वती अर्थवृत्ति तथा आरभटी इनका निर्देश करते हुए पाँचवीं (अर्थवृत्ति नामक) वृत्ति को स्वीकार करते हैं ॥६१॥

वह (पञ्चमी वृत्ति) तो लक्ष्य ग्रन्थों (रूपकों) में कभी भी दिखाई नहीं देती और वह रसों में बन भी नहीं सकती क्योंकि सभी हास्य आदि रसों का स्वरूप भारती आदि (चार वृत्तियों) में ही समा जाता है (यदि पूर्वपक्षी कहें कि यह अर्थवृत्ति रसों का अनुसरण न करती हुई भी पञ्चमी वृत्ति है तो इस पर कहते हैं—) और, कोई नीरस वस्तु काव्यार्थ नहीं हो सकती । इसलिये ये तीनों (कैशिकी, सात्त्वती और आरभटी) ही अर्थवृत्तियाँ हैं (इनसे भिन्न अर्थवृत्ति नाम की कोई वृत्ति नहीं) । भारती नामक वृत्ति तो शब्द वृत्ति है, वह आमुख का अङ्ग है, इसलिये उसका वहीं (आमुख के प्रकरण में) वर्णन करना है ।

टिप्पणी—(१) उपर्युक्त कारिकाओं तथा धनिक की वृत्ति का व्याख्याकारों ने विविध प्रकार से अर्थ किया है । इस विषय में विद्वज्जन स्वयं निर्णय कर सकते हैं । (२) उद्भट के अनुयायियों (?) ने पाँच वृत्तियाँ मानी हैं—भारती, कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और अर्थवृत्ति, जैसा कि भावप्रकाशन (पृ० १२) में कहा गया है—

भारती सात्त्वती चैव कैशिक्यारभटीति च ।

औद्भटाः पञ्चमीमर्थवृत्तिं च प्रतिजानते ॥

वृत्तिनियममाह—

(६५) शृङ्गारे कैशिकी, वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च बीभत्से, वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥६२॥

इस पर धनञ्जय एवं धनिक का कथन है कि चार ही वृत्तियाँ हैं । अर्थवृत्ति नाम की कोई पृथक् अर्थवृत्ति नहीं अपितु कैशिकी, सात्त्वती और आरभटी ये तीनों ही अर्थवृत्तियाँ हैं तथा चौथी वृत्ति भारती है जो शब्दवृत्ति है । अपनी स्थापना की सिद्धि के लिये धनिक ने दो युक्तियाँ दी हैं—(i) कैशिकी आदि से भिन्न अथवृत्ति नामक कोई वृत्ति रूपकों में दृष्टिगोचर नहीं होती, (ii) सभी रूपक रसाश्रित होते हैं। जैसा कि अभी आगे (२.६२) बतलाया जा रहा है, सभी रसों का वर्णन भारती आदि चारों वृत्तियों के अन्तर्गत ही आ जाता है फिर वह पाँचवीं वृत्ति कहाँ रहेगी ? यदि कहो कि वह नीरस रूपक में रहेगी तो ठीक नहीं; क्योंकि नीरस वस्तु रूपक या काव्य में हो ही नहीं सकती । (३) भारत्यात्मकत्वात्–इसके स्थान पर 'भारत्याद्यात्मकत्वात् पाठ शुद्ध प्रतीत होता है, तभी यह सद् हेतु बन सकता है । भाव यह है कि काव्य के जितने रस हैं उनके क्षेत्र में इन चारों मे से कोई न कोई वृत्ति अवश्य रहती है फिर ऐसा कोई स्थल नहीं शेष रहता जिसमें अर्थवृत्ति नाम की अन्य वृत्ति मानी जा सके । (४) रसार्णवसुधाकर (१.२८६) में भी कैशिकी आदि को ही अर्थवृत्ति कहा गया है ।

आसां तु मध्ये वृत्तीनां शब्दवृत्तिस्तु भारती ।
तिस्रोऽर्थवृत्तयश्शेषाः तच्चतस्रो हि वृत्तयः ॥

रस तथा वृत्तियों का परस्पर सम्बन्ध

वृत्तियों के प्रयोग की व्यवस्था बतलाते हैं—

शृङ्गार रस में कैशिकी, वीर में सात्त्वती और रौद्र तथा बीभत्स रस में आरभटी का प्रयोग होता है । भारती वृत्ति का सभी रसों में प्रयोग होता है (क्योंकि यह शब्दवृत्ति है) ।

टिप्पणी—(१) द्र०, ना० शा० (२०.७२–७४), भा० प्र० (पृ० १२), ना० द० (३.१५५—१६२) प्रता० (२.१७–१८), सा० द० (६.१२२) । (२) यहाँ शृङ्गार से हास्य का, वीर से अद्भुत का, रौद्र से करुण का तथा बीभत्स से भयानक का भी ग्रहण होता है, क्योंकि जैसा आगे (४.४३–४५) कहा जायेगा हास्य आदि को क्रमशः शृङ्गार आदि से उत्पन्न ही कहा गया है । नाट्यशास्त्र (२०.७३—७४) में स्पष्टतः शृङ्गार आदि नव रसों के साथ कैशिकी आदि चारों वृत्तियों का सम्बन्ध दिखलाया गया है—

देशभेदभिन्नवेषादिस्तु नायकादिव्यापारः प्रवृत्तिरित्याह—

(९६) देशभाषाक्रियावेषलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः ।
लोकादेवावगम्यैता यथौचित्यं प्रयोजयेत् ॥६३॥

हास्यश्रृङ्गारबहुला कैशिकी परिचक्षिता ।
सात्त्वती चापि विज्ञेया वीराद्भुतशमाश्रया ॥
रौद्रे भयानके चैव विज्ञेयारभटी बुधैः ।
बीभत्से करुणे चैव भारती संप्रकीर्तिता ॥

किन्तु इस प्रकार का सम्बन्ध भी प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता; क्योंकि (i) ना० शा० का उपर्युक्त पाठ विवादग्रस्त है, (ii) उत्तरकालीन आचार्यों ने प्रायः इस प्रकार के सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया, (iii) ना० द० (३.१५६ वृत्ति) में 'बीभत्से करुणे चैव भारती' इस मत का निराकरण किया गया है । फलतः दश० तथा सा० द० में भारती वृत्ति को सर्वरसविषयक ही कहा गया है । किन्तु इन दोनों का भी एतद्विषयक विवेचन अधूरा ही है । अतः यह निर्धारित करना कठिन ही है कि नवों रसों में से किन-किन के साथ किस वृत्ति का सम्बन्ध है । हाँ, ना० शा० के पाठ-भेदों में से यदि निम्न पाठ ले लिये जायें तो एक स्पष्ट रूप-रेखा अवश्य तैयार हो सकती है—

हास्यश्रृङ्गारकरुणैर्वृत्तिः स्यात् कैशिकी रसैः ।
सात्त्वती चापि विज्ञेया वीराद्भुतशमाश्रया ॥
भयानके च बीभत्से रौद्रे चारभटी भवेत् ।
सर्वेषु रसभावेषु भारती संप्रकीर्तिता ॥

नाट्य-प्रवृत्तियाँ—

देश के भेद से नायकों का जो निम्न प्रकार का वेष आदि कार्य (व्यापार) होता है, वह प्रवृत्ति कहलाती है, यह बतलाते हैं—

देश के अनुसार (पात्रों की) भाषा, क्रिया और वेष आदि का होना ही प्रवृत्तियाँ कहलाती हैं इन्हें लोक से जानकर इनका यथोचित प्रयोग करना चाहिये ॥६३॥

टिप्पणी—यहाँ 'वृत्ति' के समान 'प्रवृत्ति' भी एक पारिभाषिक शब्द है । जैसा कि ऊपर कहा गया है नाटक आदि में नायक आदि का कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार ही वृत्ति कहलाता है । प्रवृत्ति भी नायक आदि का व्यापार ही है किन्तु यह व्यापार भिन्न प्रकार का है । देश के भेद से जो नायक आदि के भिन्न-भिन्न प्रकार से भाषा, वेष और आचार (क्रिया) होते हैं वे ही नाटक आदि में प्रवृत्ति कहलाते हैं; उदाहरणार्थ वाणी से परिहास करना एक वाचिक व्यापार है । वह कैशिकी (वचोहास्य

तत्र पाठ्यं प्रति विशेषः—

(९७) पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् ।
लिङ्गिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित् ।।६४।।

क्वचिदिति देवीप्रभृतीनां सम्बन्धः ।

नर्म) वृत्ति के अन्तर्गत है, किन्तु कौन पात्र किस भाषा में परिहास करे यह विचार करने पर देश आदि के भेद से जो भाषा-भेद होगा वह प्रवृत्ति के अन्तर्गत आयेगा। एक विशेष प्रदेश के रहने वाले एक वर्ग के सभी पात्र एक ही भाषा वेष और आचार का प्रकटन किया करते हैं अतः प्रवृत्ति को वर्गगत व्यापार भी कहा जा सकता है। नाटचशास्त्र (१३.३८ गद्य) में प्रवृत्ति का स्वरूप इस प्रकार दिखलाया गया है— 'प्रवृत्तिरिति कस्मात् ? उच्यते पृथिव्यां नानादेशवेषभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति ।' अर्थात् प्रवृत्ति वह है जो पृथिवी के भिन्न-भिन्न प्रदेशों के वेष, भाषा और आचार तथा कृषि आदि व्यवसायों (वार्ता) को प्रकट करती है। इस भिन्न भिन्न भाषा आदि का ज्ञान कवि लोक से प्राप्त करता है और उसी के अनुसार नाटक आदि में इनका निरूपण करता है। यहाँ धनञ्जय ने पात्रों के भाषा-प्रयोग और सम्बोधन-प्रकार को प्रवृत्ति के अन्तर्गत रक्खा है। नाटचशास्त्र के विस्तृत विषय का यहाँ अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया गया है। भा० प्र० (पृ० १२) में दश० का प्रवृत्ति-लक्षण ही दिया गया है। ना० द० (४.२९७–२९८) तथा सा० द० (६.१४४–१४९) में भाषा-प्रयोग एवं सम्बोधन-प्रकार का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए भी इन्हें 'प्रवृत्ति' नाम से नहीं कहा गया।

पाठ्य (भाषा)-सम्बन्धी प्रवृत्ति

यहाँ भाषा के विषय में यह विशेष बात है—

नीच-भिन्न अर्थात् मध्यम और उत्तम शिष्ट (कृतात्मनाम्) पुरुषों की भाषा संस्कृत होती है, (संन्यास आदि का) चिह्न धारण करने वाली तपस्विनियों की भाषा संस्कृत होती है और कहीं-कहीं महारानी, मन्त्री पुत्री तथा वेश्या की भी भाषा संस्कृत होती है ।।६४।।

'क्वचित्' (कहीं) इस शब्द का 'देवी' (महादेवी) शब्द से लेकर आगे के साथ सम्बन्ध है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१७.३१–६४), ना० द० (४.२९९), सा० द० (६.१५८, १६७, १६९)। (२) यहाँ 'कृतात्मनाम्' शब्द के अर्थ की तीन सम्भावनाएँ हैं—(i) यह एक स्वतन्त्र पद है इसका अभिप्राय है —'कृतात्मा—(devotee Haas) जनों की भाषा संस्कृत होती है। (ii) यहाँ 'कृतात्मनाम्' 'लिङ्गिनीनाम्' का विशेषण है जो आत्म-संयम करने वाली या व्रतधारण करने वाली संन्यासिनी आदि हैं उनकी भाषा संस्कृत होती है किन्तु जो कपटवेष धारण करने वाली (व्याजलिङ्गिनी) हैं उनकी भाषा प्राकृत ही होती है, मि० ना० शा० (१७·३६, ३८) तथा ना० द० (अव्याजलिङ्गिनाम्) (४·२९९)। (iii) यह नृणाम् का विशेषण

(६८) स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः सौरसेन्यधमेषु* च ।

प्रकृतेरागतं प्राकृतम् । प्रकृतिः संस्कृतं तद्भवं तत्समं देशीत्यनेकप्रकारम् सौरसेनी मागधी च स्वशास्त्रनियते ।

(६९) पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा ।।६५।।
यद्देशं नीचपात्रं यत्तद्देशं तस्य भाषितम् ।
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः ।।६६।।

है । भाव यह है कि नीच-भिन्न उन पुरुषों की भाषा संस्कृत होती है जो कृतात्मा (आत्मसंयमी, शिष्ट, सुशिक्षित या स्वस्थ) हैं । इसलिये मत्त ग्रहग्रस्त; दारिद्रय या ऐश्वर्य से मोहित या अशिक्षित मध्यम एवं उत्तम पुरुषों की भाषा भी संस्कृत नहीं होती, अपितु प्राकृत होती है । वस्तुतः देहलीदीपक न्याय से 'कृतात्मनाम् को नृणाम्' और लिङ्गिनीनाम्, दोनों का विशेषण मानना उचित प्रतीत होता है ।

स्त्रियों की भाषा तो प्रायः प्राकृत होती है और अधम पुरुष पात्रों की सौरसेनी भाषा होती है ।

प्रकृति से आने वाली भाषा प्राकृत है । प्रकृति संस्कृत है । उससे उत्पन्न (तद्भव) उसके समान (तत्सम) तथा देशी इत्यादि अनेक प्रकार की (प्राकृत) है । सौरसेनी और मागधी (दोनों) अपने-अपने शास्त्र (व्याकरण आदि) के द्वारा नियत हैं ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१७.३१ ६४), ना० द० (४.२९०, २९१), सा० द० (६.१५९, १६४) । (२) नाटचशास्त्र (१४·५) के अनुसार पाठच दो प्रकार का है—संस्कृत तथा प्राकृत । प्राकृत के तीन प्रकार हैं—समान शब्द, विभ्रष्ट और देशीगतम् (१७.३) । इनमें से देशी को देशभाषा भी कहा गया है । ये, देशभाषाएँ सात हैं—मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी अर्धमागधी, बाह्लीका, दाक्षिणात्या । इनके अतिरिक्त शकारी आदि उपभाषाएँ भी हैं । आगे चलकर इन देशी भाषाओं को अपभ्रंश नाम दिया गया है । (मि० ना० द० ४·२९२) । इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ जो स्त्रियों की भाषा प्राकृत कही गई है, उसका अर्थ है—तद्भव प्राकृत कहीं कहीं स्त्रियों की भाषा शौरसेनी भी कही गई है । ना० शा० ७·५२ तथा सा० द० ६·१५९) । (३) अधम पात्रों की भाषा शौरसेनी या सौरसेनी है । शौरसेनी भाषा कौन सी है । इसके उत्तर में धनिक ने बतलाया है कि शौरसेनी और मागधी का स्वरूप उनके व्याकरण आदि शास्त्रों द्वारा निश्चित ही है ।

पिशाच और अत्यन्त नीच आदि पात्रों की भाषा क्रमशः पैशाच (प्राकृत) तथा मागध (प्राकृत) होती है ।।६५।।

जो नीच पात्र जिस देश का होता है उसी देश की उसकी भाषा होती है । और कभी-कभी कार्यवश उत्तम आदि पात्रों में भी भाषा-परिवर्तन करना होता है ।।६६।।

---

* 'शूरसेनी' 'शौरसेनी' इत्यपि पाठौ ।

स्पष्टार्थमेतत् ।

आमन्त्र्यामन्त्रकौचित्येनामन्त्रणमाह—

(१००) भगवन्तो वरैर्वाच्या विद्वद्देवर्षिलिङ्गिनः ।
विप्रामात्याग्रजाश्चार्या नटीसूत्रभृतौ मिथः ॥६७॥

आर्याविति सम्बन्धः ।

(१०१) रथी सूतेन चायुष्मान्पूज्यैः शिष्यात्मजानुजाः ।
वत्सेति तातः पूज्योऽपि सुगृहीताभिधस्तु तैः ॥६८॥

अपिशब्दात्पूज्येन शिष्यात्मजानुजास्तातेति वाच्याः, सोऽपि तैस्तातेति सुगृहीतनामा चेति ।

इसका अर्थ स्पष्ट ही है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१७·३१-६४), ना० द० (४· ६१), सा० द० (६·१५६-१६४) (२) पिशाचा०—भाव यह है कि पिशाचों की भाषा पैशाची होती है, अत्यन्त नीच पात्रों की मागधी । किन्तु इनकी भाषा मागधी तभी होती है, जब इनके देश का निश्चय नहीं होता । यदि किसी अत्यन्त नीच पात्र के देश का ज्ञान होता है, तो उसकी बोली उसी देश की भाषा होती है=(यद्देशम् इत्यादि) । कार्यतः—प्रयोजन या परिस्थिति के अनुसार इस भाषा-विभाग में परिवर्तन भी हो जाते हैं जैसा कि ना० शा०, ना० द० और सा० द० में दिखलाया गया है ।

आमन्त्रण (सम्बोधन) सम्बन्धी प्रवृत्ति—

सम्बोध्य और सम्बोधन कर्ता के औचित्य के अनुसार सम्बोधन शब्द (आमन्त्रण) बतलाते हैं—

उत्तम पात्र (वरैः) विद्वान्, देव, ऋषि, सन्यासी आदि को 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करे और ब्राह्मण, अमात्य तथा बड़े भाई को आर्य कहकर । नटी और सूत्रधार भी एक दूसरे को आर्य शब्द से सम्बोधित करे ॥६७॥

नटी और सूत्रधार के साथ भी 'आर्य' शब्द का सम्बन्ध है, अर्थात् वे एक दूसरे को आर्य कहें ।

सारथि (सूत) रथ के स्वामी को 'आयुष्मान्' कहकर सम्बोधित करे और गुरुजन-शिष्य, पुत्र तथा छोटे भाई को 'वत्स' कहकर । शिष्य, पुत्र तथा छोटा भाई, पूज्य जनों को 'तात' या 'सुगृहीतनामा' शब्दों से सम्बोधित करे ॥६८॥

'पूज्योऽपि में अपि' (भी) शब्द से तात्पर्य यह है कि गुरुजन (पूज्य) भी शिष्य, पुत्र तथा छोटे भाई को 'तात' कहकर पुकारें और वे (तैः, शिष्य आदि) भी उस (पूज्य) को 'तात' या 'सुगृहीतनामा' कहकर सम्बोधित करें ।

(१०२) भावोऽनुगेन सूत्री च मार्षेत्येतेन सोऽपि च।

सूत्रधारः पारिपार्श्वकेन भाव इति वक्तव्यः। स च सूत्रिणा मार्ष इति।

(१०३) देवः स्वामीति नृपतिर्भृत्यैर्भट्टेति चाधमैः ॥६९॥
आमन्त्रणीयाः पतिवज्ज्येष्ठमध्याधमैः स्त्रियः।

विद्वद्देवादिस्त्रियो भर्तृवदेव देवरादिभिर्वाच्याः।

तत्र स्त्रियं प्रति विशेषः—

(१०४) समा हलेति, प्रेष्या च हञ्जे, वेश्याऽज्जुका तथा ॥७०॥
*कुट्टिन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या वा जरती जनैः।
विदूषकेण भवती राज्ञी चेटीति शब्द्यते ॥७१॥

पूज्या जरती अम्बेति। स्पष्टमन्यम्।

पारिपार्श्वक (अनुग) सूत्रधार (=सूत्री) को 'भाव' शब्द से सम्बोधित करे और उस (परिपार्श्विक) को यह (सूत्रधार) मार्ष शब्द से।

अर्थात् पारिपार्श्विक सूत्रधार को 'भाव' कहे और सूत्रधार पारिपार्श्विक को 'मार्ष'।

भृत्य (सेवक) राजा को 'देव' या 'स्वामी' शब्द से तथा अधम पात्र 'भट्ट' शब्द से सम्बोधित करें। ज्येष्ठ, मध्यम और अधम पात्र स्त्रियों को भी उनके पति के समान शब्दों से सम्बोधित करें ॥६९॥

अर्थात् विद्वान् और देव आदि की स्त्रियों को देवर आदि उसी प्रकार सम्बोधित करें जिस प्रकार उनके पति को करते हैं। (जैसे उत्तम जन विद्वान् आदि की पत्नी को 'भगवती' शब्द से तथा विप्र आदि की पत्नी को 'आर्या' शब्द से सम्बोधित करें।)

यहाँ स्त्री के (सम्बोधन के) विषय में यह विशेष बात है—

बराबर की स्त्री परस्पर 'हला' सेविका को 'हञ्जे' वेश्या को 'अज्जुका' शब्द से सम्बोधित करे। अनुचर जन 'कुट्टिनी' को 'अम्ब' शब्द से तथा सभी लोग पूज्य वृद्धा स्त्री को 'अम्ब' शब्द से पुकारें। और विदूषक रानी तथा सेविका (चेटी) को 'भवती' शब्द से पुकारे ॥७०।७१॥

सभी जन पूज्य वृद्धा को 'अम्ब' शब्द से पुकारें। अन्य स्पष्ट ही है।

टिप्पणी—द्र०, ना० शा० (१७.६५–९४), ना० द० (४.२९४—२९७), सा० द० (६.१४४–१५०) इन सभी मे सम्बोधन-प्रकार का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। साथ ही काव्य में कवियों को किस प्रकार के नाम रखने चाहियें इसका भी वर्णन किया गया है।

---

* 'कुट्टिन्यनुगतैः पूज्या अम्बेतिजरतीजनैः' इति पाठान्तरम्।

(१०५) चेष्टागुणोदाहृतिसत्त्वभावा—
नशेषतो नेतृदशाविभिन्नान्।
को वक्तुमीशो भरतो न यो वा
यो वा न देवः शशिखण्डमौलिः ॥७२॥

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य द्वितीयः प्रकाशः समाप्तः ॥

दिङ्मात्रं दर्शितमित्यर्थः। चेष्टा लीलाद्याः, गुणा विनयाद्याः, उदाहृतयः संस्कृतप्राकृताद्या उक्तयः, सत्त्वं निर्विकारात्मकं मनः, भावः सत्त्वस्य प्रथमो विकारस्तेन हावादयो ह्युपलक्षिताः।

इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके
नेतृप्रकाशो नाम द्वितीयः प्रकाशः समाप्तः।

द्वितीय प्रकाश का उपसंहार करते हुए कहते है—

भरतमुनि या चन्द्रकला को मस्तक पर धारण करने वाले शिव के अतिरिक्त कौन ऐसा है जो नायक की अवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टा, गुण, उदाहृति (उक्ति) सत्त्व और भाव आदि का पूर्णरूप से वर्णन करने में समर्थ हो सकता है ? ॥७२॥

॥ इस प्रकार धनञ्जयकृत दशरूपक का द्वितीय प्रकाश समाप्त हुआ ॥

भाव यह है कि यहाँ (उपर्युक्त विषयों का) दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। (कारिका में) चेष्टा=लीला इत्यादि (ऊपर २.३२ आदि)। गुण=विनय आदि (ऊपर २.१ तथा आगे), उदाहृति=संस्कृत और प्राकृत आदि की उक्तियाँ (ऊपर २.६४ आदि), सत्त्व=विकार रहित मन (ऊपर २.४ तथा, २.३०, ३३ आदि), भाव=सत्त्व का प्रथम विकार (२.३३), इस 'भाव' शब्द के द्वारा हाव इत्यादि का भी ग्रहण होता है (२.३४ तथा आगे)।

टिप्पणी—इस प्रकाश में नायक के स्वरूप-प्रकार-सहायक–सात्त्विक गुण तथा नायिका के भेद-सहायिका-यौवन के अलङ्कार और कैशिकी आदि वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों इत्यादि का विवेचन किया गया है।

इति द्वितीयः प्रकाशः

:०—:०:—०:

अथ तृतीयः प्रकाशः

बहुवक्तव्यतया रसविचारातिलङ्घनेन वस्तुनेतृरसानां विभज्य नाटकादिषूपयोगः प्रतिपाद्यते—

(१) प्रकृतित्वादथान्येषां भूयो रसपरिग्रहात् ।
सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥१॥

उद्दिष्टधर्मकं हि नाटकमनुद्दिष्टधर्माणां प्रकरणादीनां प्रकृतिः । शेषं प्रतीतम् ।

रूपक के तीन भेदक तत्त्वों वस्तु नेता (नायक) और रस में से वस्तु का प्रथम प्रकाश में तथा नायक का द्वितीय प्रकाश में विस्तारपूर्वक विवेचन किया जा चुका है । अब क्रम के अनुसार रस का विवेचन करना चाहिये । किन्तु रस का विवेचन अत्यन्त विस्तार से करना है, इसलिये अभी उसे छोड़कर यहाँ (तृतीय प्रकाश में) यह दिखलाते हैं कि नाटक आदि जो रूपक हैं, उनमें वस्तु, नेता और रस का पृथक्-पृथक् क्या उपयोग है । इसी सन्दर्भ में यहाँ रूपक के दस प्रकारों का भी वर्णन किया जा रहा है ।

(रस के विषय में) बहुत कुछ कहना है, अत. रस-विचार (के क्रम) का उल्लङ्घन करके वस्तु, नायक और रस का नाटक आदि में पृथक्-पृथक् उपयोग बताया जा रहा है । इनमें भी- -

प्रथमत: नाटक के विषय में कहा जाता है, क्योंकि (i) नाटक अन्य सभी रूपकों की प्रकृति (मूल) है, (ii) इसमें सभी रसों का आश्रय लिया जाता है (iii) इसमें रूपक के सम्पूर्ण लक्षण होते हैं ॥१।

क्योंकि नाटक के सभी धर्म बतलाये गये हैं और प्रकरण आदि के सभी धर्म (शब्दों द्वारा) नहीं कहे गये (अपि तु शेषं नाटकवत् कहकर छोड़ दिये गये हैं) अतः नाटक प्रकरण आदि की प्रकृति है । (कारिका का) शेष भाग स्पष्ट है ।

टिप्पणी--(१) नाटक लक्षण के लिये द्र०, ना० शा० (१८·१०–४३) । भा० प्र० (पृ० २२१–२४·) में दश० की उपर्युक्त कारिका को उद्धृत करके इसकी संक्षिप्त व्याख्या भी की गई है । ना० द० (१·४ तथा आगे), प्रता० (३·३५--३६), सा० द० (६.७—११) । (२) (i) प्रकृतित्वात्—प्रकृति=कारण, मूल रूप, आधार । भाव यह है कि सभी रूपकों में नाटक प्रतिनिधिभूत (Type) रूपक है । इसके सभी धर्मों (=विशेषताओं) का कथन किया गया है, अन्य प्रकरण आदि की सभी विशेषताओं का कथन नहीं किया गया अपितु उनके कुछ धर्मों का कथन करके यह कह दिया गया

(२) पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते ।
प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः ॥२॥

पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गो नाटचशाला तत्स्थप्रथमप्रयोगव्युत्थापनादौ पूर्वंरङ्गता तं विधाय विनिर्गते प्रथमं सूत्रधारे तद्वदेव वैष्णवस्थानकादिना प्रविश्यान्यो नटः काव्यार्थं स्थापयेत् । स च काव्यार्थस्थापानात् सूचनात्स्थापकः ।

है कि इसके धर्म नाटक के समान ही होते हैं (भा० प्र० पृ० २२१-२२२) । इसलिये नाटक को प्रकृति कहा जाता है और प्रकरण आदि को उसकी विकृति । वस्तुतः नाटक के लक्षण में वस्तु, नेता और रस का यथावश्यक परिवर्तन करके ही प्रकरण आदि के लक्षण बन जाते हैं । इसी बात को धनिक ने 'उद्दिष्टधर्मकम्' इत्यादि द्वारा स्पष्ट किया है, 'उद्दिष्टा साकल्येनोक्ता धर्मा यस्य तद् उद्दिष्टधर्मकम्' (प्रभा) (ii) भूयो रसपरिग्रहात्—नाट्य में जो आठ रस माने गये हैं वे सभी अङ्ग या अङ्गी रस के रूप में नाटक में हुआ करते हैं (भा० प्र० पृ० २२१) । इसमें शृङ्गार या वीर प्रधान (अङ्गी) रस हो सकता है और शेष रस अङ्ग—रूप में (आगे ३.३३) । (iii) सम्पूर्णलक्षणत्वात्—नाट्य के जो लक्षण प्रथम तथा द्वितीय प्रकाश में कहे गये हैं और जो रस आदि के विषय में आगे कहा जायेगा, वे सभी लक्षण पूर्णतः नाटक में ही घटित होते हैं अन्य रूपक में नहीं । उदाहरणार्थ अर्थप्रकृतियाँ, अवस्थाएँ, सन्धि, सन्ध्यङ्ग, विष्कम्भक आदि अर्थोपक्षेपक पूर्णतया नाटक में ही उपलब्ध होते हैं (भा० प्र०, पृ० २२२) ।

फलतः ऊपर (१·८) कहे गये दस रूपकों—१. नाटक, २. प्रकरण, ३. भाण, ४. प्रहसन, ५. डिम, ६. व्यायोग, ७. समवकार, ८. वीथी, ९. अङ्क, १०. ईहामृग—में से यहाँ प्रथमतः नाटक के विषय में कहा जाता है ।

नाटक

उस (नाटक) में

आरम्भ में पूर्वरङ्ग का कार्य करके सूत्रधार चला जाता है । फिर उसी के जैसा दूसरा नट (अभिनेता) प्रविष्ट होकर काव्य की स्थापना करता है । २॥

जिसमें पहले सामाजिकों का अनुरञ्जन (मनोरञ्जन) किया जाता है वह पूर्वरङ्ग कहलाता है, अर्थात् नाटचशाला । उस नाटचशाला में जो (अभिनय-सम्बन्धी) प्रथम प्रयोग व्युत्थापन इत्यादि किया जाता है वह भी पूर्वरङ्ग (पूर्वरङ्ग का कार्य) कहलाता है । उस कार्य को करके पहले सूत्रधार निकल जाता है । तब उस (सूत्रधार) जैसा ही दूसरा अभिनेता (नट) वैष्णवस्थानक नामक चाल से प्रविष्ट होकर काव्य-वस्तु की स्थापना करता है । और, वह काव्य वस्तु की स्थापना करने या सूचना देने के कारण स्थापक कहलाता है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (५.१६२), भा० प्र० (पृ० २००, २२८), सा० द० (६.२६)। भा० प्र० तथा सा० द० में यह कारिका भी ली गई है। (२) दशरूपक में विशेषकर रूपक के रचना-विधान का विवेचन किया गया है, नाट्य प्रयोग का नहीं। किन्तु इस प्रकार के सन्दर्भों में नाट्य-प्रयोग का उल्लेख कर दिया गया है। यहाँ पूर्वरङ्ग का स्वरूप नहीं बतलाया गया है। धनिक की व्याख्या में भी यह स्पष्ट नहीं। सा० द० (६.२२–२३) में केवल इतना कहा गया है कि नाट्य-मण्डप के विघ्नों की शान्ति के लिये अभिनेय वस्तु के प्रयोग से पहिले जो अभिनेता लोग मङ्गल आदि करते हैं वह पूर्वरङ्ग कहलाता है। ना० शा० (अ० १.३) में इसका विस्तृत वर्णन है तथा भा० प्र० (पृ० १९४) में संक्षिप्त और स्पष्ट वर्णन है। तदनुसार जहाँ गायक, वादक, नटी. नट, तथा सभापति और सामाजिक सभी का मनोरञ्जन किया जाता है वह 'रङ्ग' अर्थात् नाट्यशाला है। नाटक के प्रयोग से पहले वहाँ जो गीत वाद्य आदि का कार्य किया जाता है वही पूर्वरङ्ग कहलाता है। इसके प्रत्याहार आदि बारह अङ्ग होते हैं, जिनमें नान्दी तथा प्ररोचना आदि भी हैं। (३) सूत्रधार—वह प्रमुख नट जो रङ्गमञ्च पर किसी नाटक आदि के अभिनय का प्रबन्ध करता है (Stage manager)—सूत्र प्रयोगानुष्ठानं धारयतीति सूत्रधार:। (४) वैष्णवस्थानकादिना—वैष्णववेशादिना (प्रभा), दीर्घपादविक्षेपेण परिक्रमो वैष्णवस्थानकम् (इति कश्चित्)। वस्तुत: 'वैष्णवस्थानक' एक प्रकार की शरीर की अवस्था (कायसन्निवेश) है जो चलने के समय, चलने से पूर्व तथा चलने के पश्चात् भी होती है। ना० शा० (१०–५१) में काय-सन्निवेश की ६ अवस्थायें बतलाई गई हैं जिनमें, वैष्णवस्थानक भी एक है। इस अवस्था में दोनों पैर ढाई ताल (एक माप) के अन्तर से रहते हैं, उनमें एक समस्थित दूसरा कुछ तिरछा, अङ्गुलियाँ पार्श्वों की ओर उन्मुख रहती हैं, जानु (घुटने) कुछ मुड़े रहते हैं तथा शरीर सीधा (ना० शा० १०·५२–५३)। (५) तद्वद्—उस (सूत्रधार) के समान। स्थापक या सूत्रधार भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं या एक ही, यह विवाद का विषय है। दशरूपक, भा० प्र० (पृ० २२८) तथा सा० द० (६.२६) से तो यही प्रतीत होता है कि ये दो व्यक्ति होते थे। सा० द० (६.२६ वृत्ति) से यह भी विदित होता है कि कालान्तर में एक ही व्यक्ति दोनों के कार्य करने लगा था। अभि० भा० (५.१६२) के अनुसार तो सूत्रधार पूर्वरङ्ग का कार्य करके बाहर चला जाता था और फिर वही स्थापक के रूप में प्रवेश करता था।

(३) दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ।।३।।

स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा मर्त्यं च मर्त्यरूपो भूत्वा मिश्रं च दिव्य-मर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत् । वस्तु बीजं मुखं पात्रं वा ।

वस्तु यथोदात्तराघवे—

'रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरो--
स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम् ।
तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परां संपदं
प्रोद्वृत्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विषः ।।१६८।।

बीजं यथा रत्नावल्याम्—

'द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ।।१८७।।

वह (स्थापना) दिव्य और मर्त्य वस्तु (या बीज मुख या पात्र) को उस (देव और मनुष्य) के ही रूप में होकर तथा मिश्रित (वस्तु आदि) को उनमें से किसी एक के रूप में होकर सूचित करे ।।३।।

अर्थात् स्थापक देवता-सम्बन्धी (दिव्य) वस्तु को देव रूप में होकर तथा मानव-सम्बन्धी को मानव रूप में होकर और मिश्रित (दिव्यादिव्य = देवता और मानव के गुणों से मिश्रित जैसे राम आदि की कथा) वस्तु को देव या मानव में से किसी एक रूप में होकर सूचित करे । इस प्रकार वह कथावस्तु (वस्तु), बीज (बीज नामक अर्थ-प्रकृति) मुख या पात्र की सूचना दे ।

टिप्पणी—ना० शा० (५.१६--१६८), भा० प्र० (पृ० २८८), सा० द० (६.२७) । सा० द० में चारों प्रकार के सूचनीय अर्थ के उदाहरण भी दशरूपक के समान ही दिये गये हैं ।

वस्तु की सूचना, जैसे उदात्तराघव में —'पिता की आज्ञा को माला के समान सिर पर धारण करके राम वन को चले गये । राम की भक्ति के कारण भरत ने माता कैकेयी सहित समस्त राज्य को छोड़ दिया । राम ने अपने अनुचर सुग्रीव और विभीषण दोनों को बड़ी सम्पत्ति प्राप्त करा दी और उद्धत आचरण वाले रावण आदि समस्त शत्रुओं को नष्ट कर दिया ।'

टिप्पणी--इस पद्य में नाटक की कथावस्तु की संक्षेप में सूचना दी गई है ।

बीज की सूचना जैसे रत्नावली (१.६) में,'द्वीपादन्यस्मादपि' (उपर उदा०३) ।

टिप्पणी—रत्नावली की प्राप्ति रूप फल का बीज है---अनुकूल दैव से युक्त यौगन्धरायण का प्रयत्न । उसकी सूचना दी गई है ।

मुखं यथा—

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः ।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः ॥१८८॥

पात्रं यथा शाकुन्तले—

'तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥१८६॥

(४) रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।
ऋतुं कञ्चिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ॥४॥

रङ्गस्य प्रशस्तिं काव्यार्थानुगतार्थैः श्लोकैः कृत्वा—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया

मुख की सूचना; जैसे (?)—'जिसे उज्ज्वल और निर्मल चन्द्रहास (१. चन्द्रमा की चन्द्रिका, २. चन्द्रहास नामक रावण की तलवार) प्राप्त हो गया है, जो शुद्ध कान्ति वाला है तथा जिसने बन्धुजीव (१. दोपहरिया के पुष्प, २. बन्धुओं का जीवन) को धारण किया है ऐसा यह राम सदृश शरद् का समय गाढ़ अन्धकार वाले (रावण के पक्ष में—अत्यधिक अज्ञानान्धकार वाले) उग्र (१. प्रचण्ड, २. भयङ्कर) रावण—सदृश वर्षाकाल को नष्ट करके आ गया है'।

टिप्पणी—दशरूपक में 'मुख का स्वरूप नहीं बतलाया गया। सा० द० (६–२७ वृत्ति) के अनुसार 'श्लेष इत्यादि के द्वारा प्रस्तुत वस्तु की सूचना देने वाला वचन ही मुख कहलाता है (मुखं श्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेषः)। उपर्युक्त पद्य में शरत्काल का वर्णन किया जा रहा है, साथ ही श्लेष आदि के द्वारा प्रस्तुत कथा (राम द्वारा रावण का वध) की भी सूचना दी जा रही है।

पात्र की सूचना; जैसे शकुन्तला नाटक (१·५) में (नटी से नट कहता है)—मन को हरने वाले तुम्हारे गीत-राग के द्वारा मैं उसी प्रकार बलपूर्वक आकृष्ट हो गया हूँ जिस प्रकार अत्यन्त वेग वाले (दूर तक) ले जाने वाले हरिण के द्वारा यह राजा दुष्यन्त'।

टिप्पणी—इसके द्वारा हरिण का पीछा करते हुए दुष्यन्त के आगमन की सूचना दी जा रही है।

स्थापक काव्य के अर्थ को सूचित करने वाले मधुर श्लोकों के द्वारा रङ्ग (=रङ्ग में स्थित सामाजिकों) को प्रसन्न करके किसी ऋतु का प्रसङ्ग लेकर भारती वृत्ति का आश्रयण करे ॥४॥

अर्थात् काव्य-वस्तु से सम्बद्ध (अनुगत=अन्वित) अर्थ वाले श्लोकों के द्वारा रङ्ग की प्रशस्ति करके स्थापक 'औत्सुक्येन' इत्यादि के द्वारा भारती वृत्ति का आश्रयण करे। औत्सुक्येन० (रत्नावली १·२) प्रथम मिलन के अवसर पर उत्सुकता

तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवा पातु वः ॥१९०॥
इत्यादिभिरेव भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ।

सा तु—

(५) भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ।
भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः ।५।

पुरुषविशेषप्रयोज्यः संस्कृतबहुलो वाक्यप्रधानो नटाश्रयो व्यापारो भारती प्ररोचनावीथीप्रहसनाऽऽमुखानि चास्यामङ्गानि ।

के कारण शीघ्रता करती हुई, सहज लज्जा के कारण लौटती हुई फिर बन्धुवर्ग की स्त्रियों के अनेक प्रकार के वचनों से सामने लाई गई पति को सामने देखकर भय तथा आनन्द का अनुभव करती हुई तथा रोमाञ्चित हुई और हँसते हुए शिव द्वारा आलिङ्गित की गई वह पार्वती तुम्हारी (सामाजिकों की) रक्षा करें ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (५ १६५), भा० प्र० (पृ० २२८) प्रता०, (३–३७ वृत्ति), सा० द० (६·२८–२९) । (२) विद्वानों का विचार है कि इस कारिका की प्रथम पंक्ति नान्दी की ओर संकेत करती है (Haas) । (नान्दी का स्वरूप दश० में नहीं बतलाया गया, तदर्थ द्र० प्रता० ३·३७, सा० द० ६·२४–२५) । वस्तुतः नान्दी से इस पंक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता । नान्दी तो पूर्वरङ्ग का अङ्ग है (भा० प्र० पृ १९७, सा० द० ६·२३) । पूर्व रङ्ग का कार्य सूत्रधार करता है । उसके चले जाने पर स्थापक आता है और काव्यार्थ की स्थापना करता है । इस स्थापना में कई कार्य करने होते हैं । वह पहले रङ्गप्रशस्ति या रङ्गप्रसादन करता है—जय, आशीर्वाद आदि के क्रम से सामाजिकों के हृदय को प्रसन्न (निर्मल) कर देता है जिससे वह रसास्वादन के योग्य हो जाये (अभि० भा० ५·१६५) इस प्रशस्ति में वह यथासम्भव कथा की वस्तु, बीज, मुख अथवा पात्र को भी सूचित कर देता है । फिर काव्यार्थ की स्थापना करता है । इस स्थापना के लिये ही भारती वृत्ति का आश्रय लिया जाता है । (३) यहाँ 'रङ्गस्य प्रशस्तिं काव्यार्थानुगतैः श्लोकैः कृत्वा' इसके उदाहरण के रूप में ही 'औत्सुक्येन०' इत्यादिभिरेव, यह कहा गया है (इत्यादिभिः श्लोकैरेव कृत्वा) ।

भारती वृत्ति

वह (भारती वृत्ति) तो यह है—

प्रायः संस्कृत भाषा में नट द्वारा किया गया वाचिक व्यापार भारती वृत्ति कहलाता है जो प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख (चार) अङ्गों से युक्त होता है ॥५॥

अर्थात् जो नियत पुरुषों द्वारा किया जाता है, जिसमें प्रायः संस्कृत भाषा ही होती है, वाचिक व्यापार की प्रधानता होती है वह नट का कार्य भारती वृत्ति है । इसके चार अङ्ग हैं—१. प्ररोचना, २. वीथी, ३. प्रहसन, ४. आमुख ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

(६) उन्मखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना ।

प्रस्तुतार्थप्रशंसनेन श्रोतृणां: प्रवृत्त्युन्मुखीकरणं प्ररोचना । यथा रत्नावल्याम्—

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम् ।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन—
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥१६१॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२०·२६·२७), भा० प्र० (पृ० २२८), प्रता० (पृ० ६५), सा० द० (६·२६-३०) । संक्षेप में (i) पुरुष-विशेष अर्थात् नटों का वाचिक व्यापार ही भारती वृत्ति है, इसके अन्तर्गत कायिक या मानसिक व्यापार नहीं आता, इसलिये यह शब्दवृत्ति कहलाती है । साथ ही स्त्री-पात्रों (नटी आदि) का वाचिक व्यापार भी भारती वृत्ति के अन्तर्गत नहीं आता । (ii) वह वाचिक व्यापार प्रायः संस्कृत भाषा में हुआ करता है; यहाँ प्रायः शब्द इसलिये दिया गया है कि कहीं-कहीं रूपकों में 'प्राकृत' भाषा में भी भारती वृत्ति देखी जाती है (ना० द० ३-१५६ वृत्ति) । (३) कारिका में भेद (भेदैः) शब्द का अर्थ अङ्ग हैं नाम-निर्देश के क्रम से (अङ्गों के) लक्षण बतलाते हैं—

१. प्ररोचना—

उन (चार अङ्गों) में प्रशंसा के द्वारा (श्रोताओं को) उन्मुख करना प्ररोचना है ।

अर्थात् प्रस्तुत काव्यार्थ की प्रशंसा करके श्रोताओं की प्रवृत्ति उसकी ओर करा देना ही प्ररोचना है । जैसे रत्नावली (१ ५) में "(इस नाटिका का कर्त्ता) श्री हर्ष निपुण कवि है यह सभा भी गुणों का ग्रहण करने वाली है, वत्सराज उदयन का चरित लोक में मनोहर माना जाता है और (इस नाटिका के प्रस्तुतकर्ता) हम सब भी अभिनय में कुशल हैं । इनमें से एक एक वस्तु भी वाञ्छित फल-प्राप्ति का निमित्त हो सकती है, फिर यहाँ तो मेरे भाग्य के उत्कर्ष से सभी गुणों का समूह एकत्र हो गया है ।'

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२०·२८), भा० प्र० (पृ० १६७), ना० द० (३·१५६) सा० द० (६·३०) । (२) ना० शा०, भा० प्र० तथा ना० द० आदि में 'प्ररोचना' का पूर्वरङ्ग के अङ्गों में भी उल्लेख किया गया है । दोनों स्थलों पर लक्षण में भी समानता है । अभिनवगुप्ताचार्य का कथन है कि पूर्वरङ्ग का कार्य कर लेने के पश्चात् जो प्ररोचना की जाती है वह भारती वृत्ति का अङ्ग है (अभि० भा० २०·२८) ।

(७) वीथी प्रहसनं चापि स्वप्रसङ्गेऽभिधास्यते ॥६॥
वीथ्यङ्गान्यामुखाङ्गत्वादुच्यन्तेऽत्रैव. तत्पुनः ।
(८) सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाऽथ विदूषकम् ॥७॥
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ।
प्रस्तावना वा ।
(९) तत्र स्युः कथोद्घातः प्रवृत्तकम् ॥८॥
प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ।

---

२. **बीथी**, ३. **प्रहसनः** —

वीथी और प्रहसन का इनके प्रकरण में वर्णन किया जायेगा ।६॥ किन्तु (पुनः) वीथी के अङ्गों का यहीं वर्णन किया जा रहा है; क्योंकि वीथी के अङ्ग आमुख के भी अङ्ग होते हैं।

४. **आमुखः**—

जहाँ सूत्रधार (=स्थापक) विचित्र उक्ति के द्वारा नटी, पारिपार्श्विक (मार्ष) या विदूषक को प्रस्तुत अर्थ का आक्षेप करने वाला अपना कार्य बतलाता है वह आमुख या प्रस्तावना कहलाती है ॥८-८॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२०·३०-३१), भा० प्र० (पृ० २२६), ना० द० (३·१५७), प्रता० (३·२७), सा० द० (६·३१·३२)। यहाँ सूत्रधार=स्थापक (सा० द० वृत्ति ६·३१); क्योंकि वह सूत्रधार के समान ही होता है अथवा दूसरे मत के अनुसार सूत्रधार ही स्थापक के रूप में प्रविष्ट होता है। **मार्ष**—पारिपार्श्विक (सा० द० ३·३१)। **विदूषक** विदूषक का वेष धारण करने वाला नट (पारिपार्श्विक); यहाँ नाटक आदि में प्रसिद्ध विदूषक नहीं लिया जाता (ना० द० वृत्ति ३·१५७)।

आमुख या प्रस्तावना के अङ्ग

उस (आमुख या प्रस्तावना) में (क) कथोद्घात, (ख) प्रवृत्तक, (ग) प्रयोगातिशय, और वीथी में होने वाले १३ अङ्ग होते हैं ॥८-९॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२०·३१) भा० प्र० (पृ० २२६), प्रता० (३·२८-३३), सा० द० (६-३३)। (२) ना० शा० तथा सा० द० में आमुख के पाँच अङ्ग बतलाये गये हैं— उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवलगित। धनञ्जय का कथन है कि वीथी के जो १३ अङ्ग होते हैं वे आमुख के भी अङ्ग होते हैं। ना० शा० में कहे गये उद्घातक और अवलगित वीथी के अङ्ग हैं अतएव दश० में इन्हें आमुख के अङ्ग के रूप में पृथक् नहीं दिया गया। इस प्रकार दश० के अनुसार आमुख के कुल १६ अङ्ग हैं। इनमें तीन ऐसे हैं जो केवल आमुख के ही अङ्ग होते हैं और १३ ऐसे है जो वीथी तथा आमुख दोनों के समान रूप से अङ्ग होते हैं। भा० प्र० तथा प्रता० में इस आशय को स्पष्ट किया गया है।

तत्र कथोद्घात: –

(१०) स्वेतिवृत्तसमं *वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिण: ।
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधैव स: ॥९॥

वाक्यं यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायण:–द्वीपादन्यस्मादपि—' इति । वाक्यार्थं यथा वेणीसंहारे—'सूत्रधार:

निर्वाणवैरिदहना: प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनया: सह केशवेन ।
रक्तप्रसाधितभुव: क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुता: सभृत्या: ॥१९२॥

ततोऽर्थेनाह—'भीम:—

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशै:
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च न: प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशा:
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्रा: ॥१९३॥

(क) कथोद्घात -

उनमें से कथोद्घात यह है:—

जहाँ पात्र अपनी कथ.वस्तु से समानता रखने वाले सूत्रधार के वाक्य या वाक्यार्थ को लेकर प्रविष्ट हो जाता है वह दो प्रकार का कथोद्घात होता है ॥९·१०॥

वाक्य को लेकर (पात्र-प्रवेश); जैसे रत्नावली (१·६) में सूत्रधार के 'द्वीपादन्यस्मादपि' इस वाक्य को बोलता हुआ यौगन्धरायण प्रविष्ट होता है ।

वाक्यार्थ को लेकर (पात्र-प्रवेश); जैसे वेणीसंहार (१·७) में सूत्रधार कहता है—'शत्रुओं के शान्त हो जाने से जिनकी शत्रु-रूपी अग्नि बुझ गई है वे पाण्डुपुत्र श्रीकृष्ण सहित आनन्द करें; और, जिन्होंने पृथिवी को प्रसन्न एवं अलङ्कृत कर दिया है तथा झगड़ों (विग्रह) को शान्त कर दिया है, वे कुरुराज के पुत्र (कौरव) भृत्यों सहित स्वस्थ रहें सूचित अर्थ है—जिन्होने रुधिर से पृथिवी को अलङ्कृत कर दिया है, जिनके शरीर (विग्रह) नष्ट हो गये हैं, वे कौरव भृत्यों सहित स्वर्ग में स्थित (स्वस्थ) होवें । ।'

तब इसके अर्थ को लेकर भीम (यह कहते हुए प्रविष्ट होता है)—'लाक्षागृह में आग, विष मिला भोजन एवं सभा में प्रवेश के द्वारा हमारे प्राणों और धन पर प्रहार करके पाण्डुओं की वधू (द्रौपदी) के वस्त्र एवं केशों को खींचकर भी क्या मेरे जीते जी धृतराष्ट्र के पुत्र जीवित रह सकते हैं ?'

टिप्पणी—ना० शा० (२०·३५), भा० प्र० (पृ० २२९), प्रता० (३·२९) सा० द० (६·३५) ।

---

*'वाक्यं वाक्यार्थमथवा यत्र सूत्रिण:' इति पाठान्तरम् ।

अथ प्रवृत्तकम्—

(११) कालसाम्यसमाक्षिप्तप्रवेशः स्यात्प्रवृत्तकम् ॥१०॥

प्रवृत्तकालसमानगुणवर्णनया सूचितपात्रप्रवेशः प्रवृत्तकम् यथा—

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः ।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः ॥१८४॥

अथ प्रयोगातिशयः—

(१२) एषोऽयमित्युपक्षेपात्सूत्रधारप्रयोगतः ।
पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः ॥११॥

यथा 'एष राजेव दुष्यन्तः' इति ।

(ख) प्रवर्त्तकः—

जहाँ काल (ऋतु) के वर्णन की समानता के द्वारा (पात्र के) प्रवेश की सूचना दी जाती है वह प्रवृत्तक होता है ॥१०॥

अर्थात् प्रारम्भ हुए (प्रवृत्त) किसी काल (वसन्त आदि ऋतु) के समान गुणों के वर्णन द्वारा जहाँ पात्र का प्रवेश सूचित होता है, वह प्रवृत्तक है, जैसे 'आसादित०' इत्यादि (ऊपर उदा० १८८) ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२०.३०), भा० प्र० (पृ० २२९), प्रता० (३.३०), सा० द० (६.३७) । (२) यह भाव यह है किसी वसन्त आदि ऋतु के ऐसे गुणों का वर्णन किया जाता है जो किसी पात्र के गुण के समान ही होते हैं । इसी वर्णन के द्वारा पात्र-प्रवेश सूचित हो जाता है । यही प्रवृत्तक नामक आमुख का अङ्ग है । जैसे आसादित० इत्यादि में शरद् ऋतु के गुणों का वर्णन करते हुए राम के गुणों का भी वर्णन कर दिया गया है । इसी से राम के प्रवेश की सूचना दी गई है ।

(ग) प्रयोगातिशयः—

'यह वह है' इस प्रकार के सूत्रधार के वचन से सूचित होकर जहाँ पात्र का प्रवेश होता है वहाँ प्रयोगातिशय नामक (आमुख का अङ्ग) माना गया है ॥११॥

जैसे शाकुन्तल (१·५) में 'इस राजा दुष्यन्त के समान' [सूत्रधार की इस उक्ति से दुष्यन्त का प्रवेश सूचित होता है] ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२०.३६), भा० प्र० (पृ० २२९), प्रता० (३.३१) सा० द० (६.३६) । (२) ना० शा० तथा सा० द० का प्रयोगातिशय का लक्षण यह है—जहाँ सूत्रधार अपने आरम्भ किये हुए प्रस्तावना के प्रयोग को छोड़कर नाट्य प्रयोग का निर्देश कर देता है और उससे पात्र का प्रवेश हो जाता है, वहाँ प्रयोगातिशय होता है (सा० द० ६.३६) । यहाँ पात्र-प्रवेश से पहला अंश प्रस्तावना या आमुख है और बाद का अंश नाट्य है [ना० द० सूत्र १५८ वृत्ति]

अथ वीथ्यङ्गानि—

(१३) उद्घात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम् ।
वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ॥१२॥
असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश ।

तत्र—

(१४) गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ॥१३॥
यत्रान्योन्यं समालापो द्वेधोद्घात्यं तदुच्यते ।

गूढार्थं पद तत्पर्यायश्चेत्येवं माला प्रश्नोत्तरं चेत्येब वा माला द्वयोरुक्तिप्रत्युक्ती तद्द्विविधमुद्धात्यकम् । तत्राद्यं विक्रमार्वश्यां यथा–विदूषक:—भो वअस्स को एसो कामो जेण तुमं पि दूमिज्जसे सो किं पुरिसो आदु इत्थिअत्ति ('भो वयस्य क एष कामो येन त्वमपि दूयसे स किं पुरुषोऽथवा स्त्रीति ।') राजा—सखे ।

मनोजातिरनाधीनां सुखेष्वेव प्रवर्तते ।
स्नेहस्य ललितो मार्ग: काम इत्यभिधीयते ॥९५॥

वीथी के अङ्ग

वीथी के (१३) अङ्ग हैं:—(१) उद्घात्यक, (२) अवलगित, (३) प्रपञ्च, (४) त्रिगत, (५) छल (६) वाक्केलि (७) अधिबल, (८) गण्ड, (९) अवस्यन्दित, (१०) नालिका, (११) असत्प्रलाप, (१२) व्याहार, और (१३) मृदव ॥१२-१३॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८·११३-११४) भा० प्र० (पृ० २३०), प्रता० (३.३२-३३), सा० द० (६·२५५-२५६) । (२) ना० शा० तथा सा० द० में इन अङ्गों का प्रस्तावना के सन्दर्भ में वर्णन नहीं किया गया, अपितु वीथी नामक रूपक के प्रकरण में वर्णन किया गया है । सा० द० (६-३९) का यह भी कथन है कि प्रस्तावना (या आमुख) में उद्घात्यक तथा अवलगित इन दो वीथी के अङ्गों का प्रयोग तो हुआ ही करता है, वीथी के अन्य ११ अङ्गों का भी प्रयोग यथावसर किया जा सकता है ।

१. उद्घात्यक—

जहाँ (दो पात्रों) का परस्पर वार्तालाप या तो गूढार्थ पद तथा उसके पर्यायों को माला के रूप में होता है अथवा प्रश्न और उत्तर की माला के रूप में होता है, वह दो प्रकार का उद्घात्यक कहलाता है ॥१३-१४॥

अर्थात् जहाँ दो पात्रों की उक्ति और प्रत्युक्ति में (i) (एक पात्र द्वारा) गूढ अर्थ वाला पद कहा जाये और फिर (दूसरे पात्र द्वारा) उसका समानार्थक शब्द कहा जाये, इस प्रकार की माला (कई बार प्रयोग) अथवा (ii) प्रश्न हो फिर उत्तर दिया जाये, इस प्रकार की माला होती है; वह दो प्रकार का उद्घात्यक है ।

विदूषकः—एवं पि ण जाणे ('एवमपि न जानामि ।') राजा—वयस्य इच्छाप्रभवः स इति ।

विदूषकः—किं जो जं इच्छादि सो तं कामेदित्ति । (किं यो यदिच्छति स तत्कामयतीति ।) राजा—अथ किम् ।

विदूषकः—ता जाणिदं जह अहं सूअआरसालाए भोअणं इच्छामि ।' ('तज्ज्ञातं यथाऽहं सूपकारशालायां भोजनमिच्छामि ।'

द्वितीयं यथा पाण्डवानन्दे—

'का श्लाघ्या गुणिनां क्षमा परिभवः को यः स्वकुल्यैः कृतः

किं दुःखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते ।

को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः

कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरे छन्नस्थितैः पाण्डवैः ॥१९६॥

(i) उनमें से प्रथम उद्घात्यक विक्रमोर्वशी में है, जैसे विदूषक—हे मित्र, यह कामदेव कौन है, जिससे तुम भी दुःखी हो रहे हो ? वह पुरुष है या स्त्री ? राजा—मित्र जो मन से उत्पन्न होता है, चिन्ता-रहितों को (अनाधीनाम्) सुखों में ही प्रवृत्त हुआ करता है और स्नेह का सुन्दर मार्ग है, वह काम कहा जाता है । विदूषक—इस प्रकार भी मैं नहीं समझा । राजा—मित्र, जो इच्छा से उत्पन्न होता है । विदूषक—क्या ? जो जिसकी इच्छा करता है, उसकी कामना करता है । राजा—और क्या ? विदूषक—तो समझा, जैसे मैं भोजनशाला (सूपकार=पाचक, रसोइया) में भोजन की इच्छा करता हूँ' ।

(ii) द्वितीय उद्घात्यक यह है, जैसे पाण्डवानन्द में—'श्लाघनीय क्या है ? गुणी-जनों की क्षमा । तिरस्कार क्या है ? जो अपने परिवार वालों द्वारा किया जाता है । दुःख क्या है ? दूसरे की अधीनता । संसार में प्रशंसनीय कौन है ? जिसका आश्रय लिया जाता है (आश्रय देने वाला) । मृत्यु क्या है ? व्यसन (=आपत्ति या बुरी लत) । शोक रहित कौन होते हैं ? जिन्होंने शत्रुओं को जीत लिया । यह सब किन्होंने जान लिया है विराट नगर में गुप्त रूप से रहने वाले पाण्डवों ने' ।

टिप्पणी—ना० शा० (१८.११५–११६), भा० प्र० (पृ० २३०), प्रता० (पृ० ८५), सा० द० (६.३४) । ना० शा० के अनुसार लक्षण यह है—

पदानि त्वगतार्थानि ये नराः पुनरादरात् ।

योजयन्ति पदैरन्यैस्तदुद्घात्यकमुच्यते ॥

सा० द० में भी इसी का अनुसरण किया गया है ।

अथावलगितम्—

(१५) यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ॥१४॥
प्रस्तुतेऽन्यत्र वाऽन्यत्स्यात्तच्चावलगित द्विधा ।

तत्राद्यं यथोत्तरचरिते समुत्पन्नवनविहारगर्भदोहदायाः सीताया दोहदकार्येऽनुप्रविश्य जनापवादादरण्ये त्यागः । द्वितीयं यथा छलितरामे—'रामः—लक्ष्मण, तातवियुक्तामयोध्यां विमानस्थो नाहं प्रवेष्टुं शक्नोमि । तदवतीर्य गच्छामि ।

कोऽपि सिंहासनस्याधः स्थितः पादुकयोः पुरः ।
जटावानक्षमाली च चामरी च विराजते ॥१६७॥

इति भरतदर्शनकार्यसिद्धिः ।

अथ प्रपञ्चः—

(१६) असद्भूतं मिथः स्तोत्रं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ॥१५॥

---

(२) **अवलगित**

(i) जहाँ एक कार्य में समावेश करके (या एक कार्य के बहाने से) दूसरा कार्य सिद्ध किया जाता है, अथवा (ii) एक कार्य के प्रस्तुत होने पर दूसरा कार्य सिद्ध हो जाता है; वह दो प्रकार का अवलगित होता है ।१४-१५।

(i) उनमें से प्रथम है, जैसे उत्तररामचरित में सीता को वनविहार का गर्भ-दोहद (गर्भवती की इच्छा) उत्पन्न हुआ उस दोहद-कार्य के बहाने से (सीता को ले जाकर) लोकापवाद के कारण वन में छोड़ दिया गया ।

(ii) द्वितीय यह है, जैसे छलितराम नाटक में—'राम—हे लक्ष्मण, मैं पिता से विहीन अयोध्या में विमान पर बैठकर नहीं प्रवेश कर सकता, अतः उतर कर जाता हूँ ।

'यह कोई सिंहासन के नीचे पादुकाओं के सामने बैठा हुआ जटाधारी, अक्षमाला तथा चामर वाला व्यक्ति विराजमान है' ।

इस प्रकार भरत-दर्शन रूप कार्य की सिद्धि हो जाती है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८·११६), भा० प्र० (पृ० २३०), प्रता० (पृ० ८५), सा० द० (६·३८) । (२) यहाँ प्रथम प्रकार में तो दूसरा कार्य प्रयत्न-पूर्वक किया जाता है किन्तु द्वितीय प्रकार में दूसरा कार्य प्रसङ्ग से हो जाया करता है । दोहदकार्येऽनुप्रविश्य=दोहद कार्य में समावेश करके । भाव यह है कि प्रथम प्रकार में एक कार्य में दूसरा कार्य भी सम्मिलित कर लिया है ।

(३) **प्रपञ्च**—

(पात्रों द्वारा) एक दूसरे की हास्य उत्पन्न करने वाली मिथ्या प्रशंसा करना प्रपञ्च (नामक वीथी का अङ्ग) माना गया है ॥१५॥

असद्भूतेनार्थेन पारदार्यादिनैपुण्यादिना याऽन्योन्यस्तुतिः स प्रपञ्चः। यथा कर्पूरमञ्जर्याम्—भैरवानन्दः—

रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखण्डं च सेज्जा कोलो धम्मो कस्स णो होइ रम्मो।
('रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा मद्यं मांसं पीयते खाद्यते च।
भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या कौलो धर्मः कस्य न भवति रम्यः ॥१६८॥)

अथ त्रिगतम्—

(१७) श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजनं त्रिगतं त्विह।
नटादित्रितयालापः पूर्वरङ्गे तदिष्यते ॥१६॥

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

'मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां
शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीरः।'

असद्भूत बात अर्थात् परस्त्रीगमन (=पारदार्य) आदि में निपुणता इत्यादि के द्वारा जो एक दूसरे की प्रशंसा करना है, वही प्रपञ्च है। जैसे कर्पूरमञ्जरी (१·२३) में 'भैरवानन्द—जहाँ प्रचण्ड रण्डाएँ ही दीक्षा-प्राप्त धर्मपत्नियाँ हैं, मद्य और माँस खाया-पिया जाता है, भिक्षा का भोजन है, चर्म-खण्ड ही शय्या है ऐसा कौल धर्म किसे रमणीय न लगेगा ?

टिप्पणी—(१) ना० शा० (पृ० ४५६, १८·१२०), भा० प्र० (पृ० २३१) ना० द० (२.१४५), प्रता० (पृ० ८६), सा० द० (६·२५७)। (२) ना० द० के अनुसार किसी एक को लाभ प्राप्त कराने वाला स्तुति सहित मिथ्या हास्य प्रपञ्च है—प्रपञ्चः सस्तवं हास्यं मिथो मिथ्यैकलाभकृत्। यह लक्षण ना० शा० का अधिकांश में अनुसरण करता है। ना० द० में 'केचित्' (कोई) कहकर धनिक के मत को उद्धृत किया गया है। (३) 'असद्भूत' मिथ्या, असत्य (अभि० भा०), untrue (Haas)। यहाँ धनिक की दृष्टि से 'असद्भूत्' शब्द का क्या अर्थ है, यह सन्दिग्ध है। व्याख्याकारों ने इसका अर्थ निन्दनीय, अनुचित असत्कर्म आदि किया है। वस्तुतः धनिक का भाव यह प्रतीति होता है कि मिथ्या ही परदाराभिगमन आदि में निपुणता आदि बतलाकर जो हास्य उत्पन्न करने वाली परस्पर स्तुति की जाती है वह प्रपञ्च है।

(४) त्रिगत—

शब्द की समानता से अनेक अर्थों की योजना करना ही यहाँ त्रिगत कहलाता है। जो नट इत्यादि तीनों के वार्तालाप को त्रिगत कहा गया है वह तो पूर्वरङ्ग में अभीष्ट है ॥१६॥

जैसे विक्रमोर्वशी (१·३) में—'पुष्पों के रस से मतवाले भ्रमरों का यह शब्द है, कोयलों की गम्भीर ध्वनि है, देवगण के द्वारा सब ओर से सेवित कैलास पर किन्नरियां रमणीय और मधुर अक्षरों में गा रही हैं।

कैलासे सुरगणसेविते समन्ताद्
किन्नर्यः कलमधुराक्षरं प्रगीता ।।१९९।।

अथ छलनम्—

(१८) प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य *छलनाच्छलम् ।

यथा वेणीसंहारे—भीमार्जुनौ—

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत पुरुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ।।२००।।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १८, पृ० ४५८), भा० प्र० (पृ० २३१), ना० द० (२.१४६), प्रता० (पृ० ८६), सा० द० (६.२५७)। ना० द० में 'त्रिगत' के कई प्रकार के लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं। (२) 'त्रिगत, में त्रि=अनेक, अनेकम् अनेकम् अर्थं गतम् इति त्रिगतम् (अभि० भा०)। श्रुतिसाम्यात्=शब्द सारूप्यात् (अभि० भा०) अर्थात् ध्वनि की समानता से; जैसे ऊपर के उदाहरण में ध्वनि की समानता से यह भ्रमरों का शब्द है, कोयल की कूक है, किन्नरियों का गीत है, ये अर्थ लिये गये हैं। (३) नटादि०-पूर्वरङ्ग का अङ्ग भी 'त्रिगत' कहलाता है; किन्तु उसका स्वरूप इस वीथी के अङ्गभूत त्रिगत' से भिन्न है। वहाँ तो सूत्रधार, नटी और पारिपार्श्विक इन तीनों का वार्तालाप 'त्रिगत' कहलाता है।

(५) छलन—

(ऊपर से) प्रिय लगने वाले किन्तु (वस्तुतः) अप्रिय वाक्यों के द्वारा लुभाकर छलना ही छल कहलाता है।

जैसे वेणीसंहार (५.२६) में भीम और अर्जुन दुर्योधन के भृत्यों से कहते हैं—'द्यूत-कपट करने वाला, लाक्षागृह (जतुमय-शरण) को जलाने वाला, अत्यन्त अभिमानी राजा, दुःशासन आदि सौ अनुजों का अग्रज (गुरु), अङ्गराज कर्ण का मित्र, द्रौपदी के केश तथा वस्त्रों के हरण में निपुण, पाण्डओं को दास कहने वाला (पाण्डव जिसके दास हैं) वह दुर्योधन कहाँ है ? अरे मनुष्यों, बतलाओ, हम दोनों उसे देखने आये हैं'।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १८, पृ० ४५७), भा० प्र० (पृ० २३१), ना० द० (२.१४७), प्रता० (पृ० ८६), सा० द० (६.२५८)। ना० शा० के अनुसार लक्षण यह है—'अन्यार्थमेव वाक्यं छलमभिसन्धान-हास्य-रोष-करणम्'। इसी का स्पष्ट रूप ना० द० के इस लक्षण में है—'वचोऽन्यार्थं छलं हास्य-वञ्चना-रोष-कारणम्। सम्भवतः सा० द० (६.२५८.२५९) में इसे अन्ये तु कहकर दिखलाया गया है। दश० के लक्षण का क्या आधार है, यह विचारणीय ही है।

---

*छलनाछलम्' इत्यपि पाठः।

अथ वाक्केली—

(१६) विनिवृत्त्यास्य वाक्केली द्विस्त्रिः प्रत्युक्तितोऽपि वा ॥१७॥

अस्येति वाक्यस्य प्रक्रान्तस्य साकाङ्क्षस्य विनिवर्तनं वाक्केली द्विस्त्रिर्वा उक्ति-प्रत्युक्तयः, तत्राद्या यथोत्तरचरिते—वासन्ती—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥२०१॥

उक्तिप्रत्युक्तितो यथा रत्नावल्याम्-विदूषकः—भोदि मअणिए मं पि एदं चच्चरिं सिक्खावेहि । (भवति मदनिके, मामप्येतां चर्चरीं शिक्षय') मदनिका हदास ण क्खु एसा चच्चरी । दुवदिखण्डअं क्खु एदम् । (हताश न खल्वेषा चर्चरी द्विपदी-खण्डकं खल्वेतत् ।') विदूषकः—भोदि किं एदिणा खण्डेण मोदआ करीअन्ति । ('भवति, किमेतेन खण्डेन मोदकाः क्रियन्ते ?') मदनिका—णहि, पढीअदि क्खु एदम् ।' (नहि पठ्यते खल्वेतत् ।' इत्यादि ।

---

(६) वाक्केली—

(i) इस (आरम्भ किये हुये वाक्य) को रोक लेने से अथवा (ii) दो-तीन बार की उक्ति प्रत्युक्ति से वाक्केली (वीथी का अङ्ग) हुआ करती है ॥१७॥

कारिका में अस्य (इसका) वाक्य का, अर्थात् प्रारम्भ किये हुए (प्रक्रान्त = प्रस्तुत) आकांक्षा-युक्त (अपरिसमाप्त) वाक्य को रोक लेना (पूर्ण न करना), यह (एक प्रकार की) वाक्केली है । अथवा दो या तीन बार कथन-प्रतिकथन करना, यह (दूसरे प्रकार की) वाक्केली है ।

(i) इनमें से पहिली; जैसे उत्तररामचरित (३·२६) में ('वनदेवी वासन्ती सीता के साथ राम के बर्ताव का वर्णन करते हुए राम से कह रही है)—'तुम मेरा जीवन हो; तुम दूसरा हृदय हो, तुम नेत्रों में चन्द्रिका हो, तुम मेरे अङ्गों के लिये अमृत हो, इत्यादि सैकड़ों प्रिय वचनों से भोली (मुग्धा) सीता को फुसलाकर (अनुरुध्य) उसको ही तुमने···अथवा शान्त हो, इससे आगे कहने से क्या लाभ ?

(ii) उक्ति-प्रत्युक्ति से होने वाली वाक्केली; जैसे रत्नावली (१·१६-१७) में विदूषक—हे मदनिका, मुझे भी यह चर्चरी सिखा दो । मदनिका—मूर्ख, यह चर्चरी नहीं, यह तो द्विपदखण्डक है । विदूषक—अरी, क्या इस खण्ड (खांड) से लड्डू बनते हैं । मदनिका—नहीं यह तो पढ़ी जाती है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १८, पृ० ४५६), भा० प्र० (पृ० २३१–२३२), ना० द० (२.१४६), प्रना० (पृ० ८६), सा० द० (६.२५६) । (२) ना० शा० में 'एकद्विप्रतिवचना वाक्केली स्यात् प्रयोगेऽस्मिन्' यह लक्षण है । इसके आधार

अथाधिबलम्

(२०) अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाऽधिबलं भवेत् ।

यथा वेणीसंहारे—'अर्जुन:—

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डुपुत्रः ॥२०२॥

इत्युपक्रमे 'राजा—अरे नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः । किन्तु—

द्रक्ष्यन्ति न चिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ।
मद्गदाभिन्नवक्षोस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ॥२०३॥

इत्यन्तेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यवाक्यस्याधिक्योक्तिरधिबलम् ।

पर लक्षणकारों ने विविध लक्षण प्रस्तुत किये हैं । अभिनवगुप्ताचार्य के अनुसार अनेक प्रश्नों का एक उत्तर ही वाक्केली है । सा० द० के अनुसार हास्य उत्पन्न करने वाली दो-तीन बार की उक्ति-प्रयुक्ति ही वाक्केली है सा० द० का लक्षण दश० की द्वितीय वाक्केली के समान है । सा० द० में दश० की प्रथम वाक्केली को 'केचित्' कहकर और अभि० के वाक्केली के लक्षण को 'अन्ये' कहकर उद्धृत किया गया है । (६) 'त्वं जीवितम्' इत्यादि में 'तामेव' के पश्चात् 'निर्वासितवान्' यह होना चाहिये अतः वाक्य साकांक्ष है ।

(७) अधिबल—

(दो पात्रों का) स्पर्धा के कारण एक दूसरे की बात से बढ़कर बात कहना अधिबल कहलाता है ।

जैसे वेणीसंहार (५·२७) में 'अर्जुन--सकल० (उपर उदा० ५१) इत्यादि से आरम्भ करके 'राजा—अरे, मैं आपकी तरह से आत्मश्लाघा में निपुण नहीं हूँ किन्तु द्रक्ष्यन्ति (ऊपर उदा० ४६)' यहाँ तक के वर्णन में भीम और दुर्योधन (दोनों) की एक दूसरे से बढ़कर बात दिखाई गई है, अतः यह अधिबल (नामक वीथी का अङ्ग) है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १८, पृ० ४५७), भा० प्र० (पृ० २३२), ना० द० (२.१४३), प्रता० (पृ० ८६), सा० द० (६·२६०)। (२) ना० शा० तथा ना० द० का लक्षण इससे भिन्न है । ना० द० में दश० के लक्षण को 'केचित्तु' कहकर उद्धृत किया गया है । सा० द० आदि में दश० के लक्षण का ही अनुसरण किया गया है । (३) गर्भसन्धि के अङ्गों में (१.४०) भी अधिबल है, वह इससे भिन्न है ।

अथ गण्डः—

(२१) गण्डः प्रस्तुतसम्बन्धि भिन्नार्थं सहसोदितम् ॥ ८॥

यथोत्तरचरिते—'रामः—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो—

रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः ।

अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः

किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥२०४॥

(प्रविश्य) प्रतिहारी-देव उअत्थिदो । ('देव उपस्थितः ।') रामः—अयि कः ? प्रतिहारी—देवस्य आसण्णपरिचारओ दुम्मुहो । ('देवस्यासन्नपरिचारको दुर्मुखः ।') ।

अथावस्यन्दितम्—

(२२) रसोक्तस्यान्यथा व्याख्या यत्रावस्यन्दितं हि तत् ।

---

(८) गण्ड—

जब भिन्न अर्थ वाला होने पर भी प्रस्तुत से सम्बन्ध हो सकने वाला वाक्य अकस्मात् कह दिया जाता है तो वहाँ गण्ड (नामक वीथ्यङ्ग) होता है ॥१८॥

जैसे उत्तररामचरित (१·३८) में 'राम—(सीता को देखकर)—यह घर में लक्ष्मी है, यह मेरे नेत्रों के लिये अमृत की शलाका है, इसका यह स्पर्श शरीर में घना चन्दन रस है, इसकी यह भुजा गले में शीतल और कोमल मोतियों की माला है। इसकी क्या वस्तु प्रिय नहीं है ? यदि कुछ असह्य है तो इसका वियोग ही । (प्रविष्ट होकर) प्रतिहारी—देव, उपस्थित है । राम अरे, कौन ? प्रतिहारी-आपका निकट-वर्ती सेवक दुर्मुख' ।

टिप्पणी— (१) ना० शा० (अ० १८, पृ ४५८), भा० प्र० (पृ० २३२), ना० द० (२·१४४), प्रता० (पृ० ८६), सा० द० (६·२६०) । यहाँ प्रतिहारी का वचन अन्यार्थक है; अर्थात् वह दुर्मुख के आगमन की सूचना देने वाला है । किन्तु उसका राम के प्रस्तुत वचन से भी सम्बन्ध हो जाता है । राम ने जो कहा है 'यदि परमसह्यस्तु विरहः' इस कथन का 'उपस्थितः' (विरहः उपस्थितः) से सम्बन्ध जुड़ जाता है । अतः यहाँ गण्ड नामक वीथ्यङ्ग है ।

(९) अवस्यन्दित—

जहाँ सहज स्वभाव (रस) से कहे गये वाक्य की दूसरे प्रकार से व्याख्या कर दी जाती है, वह अवस्यन्दित (नामक वीथ्यङ्ग) है ।

यथा छलितरामे—सीता—जाद, कल्लं क्खु तुम्हेहिं अजुज्झाए गन्तव्वं तहिं सो राआ विणएण णमिदव्वो। (जात, कल्यं खलु युवाभ्यामयोध्यायां गन्तव्यं तहि स राजा विनयेन नमितव्यः।') लवः—अम्ब, किमावाभ्यां राजोपजीविभ्यां भवितव्यम्?) सीता=जाद, सो क्खु तुह्माणं पिदा। (जात, स खलु युवयोः पिता।') लवः-किमावयोः रघुपतिः पिता? सीता=(साशङ्कम्) जाद, ण क्खु परं तुह्मणं, सअलाए ज्जेव पुहवीए।' ('जात, न खलु परं युववोः, सकलाया एव पृथिव्याः।') इति।

अथ नालिका=

(२३) सोपहासा निगूढार्था नालिकैव प्रहेलिका॥१९॥

यथा मुद्राराक्षसे='चरः→हंहो बह्मण, मा कुप्प किं पि तुह उअज्झाओ जाणादि किं पि अह्मारिसा जणा जाणन्ति। (हंहो ब्राह्मण मा कुप्य, किमपि तवोपाध्यायो जानाति किमप्यस्मादृशा जना जानन्ति।) शिष्यः=किमस्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमपहर्तुमिच्छसि? चरः=यदि दे उवज्झाओ सव्वं जाणादि ता जाणादु

जैसे छलितराम नाटक में 'सीता—पुत्र, कल सवेरे (कल्य) तुम दोनों को अयोध्या जाना है, वहाँ उस राजा को नम्रता से प्रणाम करना। लव - माता, क्या हमको राजा के आश्रित होना पड़ेगा। सीता—पुत्र, वह तो तुम्हारे पिता हैं। लव—क्या रघुपति (राम) हमारे पिता हैं? सीता (आशङ्कापूर्वक)—पुत्र, केवल तुम्हारे ही नहीं समस्त पृथिवी के ही।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८ ११७), भा० प्र० (पृ० २३२), ना० द० (२·१५३), प्रता० (पृ० ८६), सा० द० (६.२६१) ना० शा० तथा ना० द० में इसका नाम 'अवस्यन्दित' है। (२) 'रसोक्तस्य' के स्थान पर भा० प्र० में 'यथोक्तस्य' ना० द० में 'स्वेच्छोक्तस्य' तथा सा० द० में 'स्वरसोक्तस्य' शब्द दिया गया है। अतः यहाँ 'रसोक्त का अर्थ है=बिना किसी अभिप्राय के, सहज स्वभाव से, संस्कारवश या भाववश कहा गया। रस=Sentiment (Haas)। (३) सीता ने सहज स्वभाव से ही 'राम तुम्हारे पिता हैं=यह कह दिया। फिर उसकी दूसरे प्रकार से व्याखया की।

(१०) नालिका—

उपहास से युक्त गूढ अर्थ वाली पहेली ही नालिका कहलाती है॥१९॥

जैसे मुद्राराक्षस (१.१८-१९) में 'चर हे ब्राह्मण, क्रोध न करो। कुछ तुम्हारे उपाध्याय जानते हैं, कुछ हम जैसे लोग भी जानते हैं। शिष्य—क्या हमारे उपाध्याय की सर्वज्ञता को छीनना चाहता है। चर—यदि तुम्हारे उपाध्याय सब कुछ जानते हैं तो जान लें कि चन्द्रमा किसे अच्छा नहीं लगता। शिष्य—इसके जानने से क्या लाभ?—इस सन्दर्भ में चाणक्य (समझ लेता है)—चन्द्रगुप्त से अप्रसन्न लोगों को जानता हूँ' (चर के द्वारा) यह कहा गया है।

दाव कस्स चन्दो अणभिप्पेदो त्ति । (यदि ते उपाध्यायः सर्वं जानाति तज्जानातु तावत् कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति ।' शिष्यः = किमनेन ज्ञातेन भवति ?' इत्युपक्रमे 'चाणक्यः = चन्द्रगुप्तादपरक्तान्पुरुषाञ्जानामि ।' इत्युक्तं भवति ।

अथाऽसत्प्रलापः =

(२४) असम्बद्धकथाप्रायोऽसत्प्रलापो * यथोत्तरः ।

ननु चासम्बद्धार्थत्वेऽसङ्गतिर्नाम वाक्यदोषः उक्तः । तन्न = उत्स्वप्नायितमदोन्मादशैशवादीनामसम्बद्धप्रलापितैव विभावः । यथा =

'अर्चिष्मन्ति विदार्य वक्त्रकुहराण्यासृक्कतो वासुके-
रङ्गुल्या विषकर्बु रान्गणयतः संस्पृश्य दन्ताङ्कु रान् ।
एकं त्रीणि नवाष्ट सप्त षडिति प्रध्वस्तसंख्याक्रमा
वाचः क्रौञ्चरिपोः शिशुत्वविकलाः श्रेयांसि पुष्णन्तु वः ।।२०५।।

यथा च=

'हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वया हृता ।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ।।२०६।।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८.११८), भा प्र० (पृ० १३२), ना० द० (२.१५०), प्रता० (पृ० ८६), सा० द० (६.२६१)। (२) प्रहेलिका=पहेली, (Enigmatical remark—Haas) । 'संवरणकार्युत्तरं प्रहेलिका (सा० द०)। प्रहेलिका परवितारणकारि यदुत्तरम् (अभि० भा०); अर्थात् जिसका उत्तर दूसरों को असमञ्जस में डाल देता है वह पहेली है । यहाँ चन्द्र का गूढ अर्थ चन्द्रगुप्त है ।

(११) असत्प्रलाप—

एक के बाद दूसरी (यथोत्तरः) असम्बद्ध बात से युक्त वर्णन असत्प्रलाप कहलाता है ।

यदि कोई शङ्का करे (ननु) कि असम्बद्ध अर्थ वाली बात होने पर तो असङ्गति नामक वाक्य-दोष बतलाया गया है। तो वह (शङ्का) ठीक नहीं, क्योंकि स्वप्न देखना, मद, उन्माद और शैशव आदि का तो असम्बद्धप्रलाप ही विभाव होता है; अर्थात् ये असम्बद्ध-प्रलाप द्वारा जाने जाते हैं । जैसे (शैशव के कारण होने वाला कार्तिकेय का असम्बद्ध-प्रलाप) वासुकि के प्रकाशमय मुख-छिद्रों को ओठ के कोनों पर से (आसृक्कतः, सृक्क=ओष्ठप्रान्त) फाड़कर विष के कारण रंग बिरगे दाँतों के अङ्कुरों को अङ्गुलि से छूकर एक, तीन नौ, आठ, सात, छह इस प्रकार गिनते हुए, क्रौञ्च के शत्रु कार्तिकेय की सख्या के क्रम से रहित तथा शिशुता के कारण टूटी-फूटी बातें तुम्हारे कल्याण की वृद्धि करें ।

और जैसे (विक्रमोर्वशीयम् ४.३३ में उर्वशी के विग्रह में उन्मत्त पुरुरवा का प्रलाप है) —'हे हंस मेरी प्रिया को लौटा दो, उसकी चाल तुमने चुरा ली है । और जिसके पास (चोरी के माल का) एक भाग पहिचान लिया जाता है उसे वह सब देना होता है जिसका दावा (अभियोग) किया जाता है । अथवा जैसे (यह

---

* 'यथोत्तरम्' इत्यपि पाठः ।

यथा वा—

'मुक्ता हि मया गिरायः स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियत् ।
हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ॥२०७॥

अथ व्याहारः—

(२५) अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकरं वचः ॥२०॥

यथा मालविकाग्निमित्रे लास्यप्रयोगावसाने—'(मालविका निर्गन्तुमिच्छति) विदूषकः—मा दाव उवएससुद्धा गमिस्ससि ।' (मा तावत् उपदेशशुद्धा गमिष्यसि') इत्युपक्रमे गणदासः—(विदूषकं प्रति) आर्य, उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः । विदूषकः—पढमं पच्चूसे बह्मणस्स पूआ भोदि सा तए लङ्घिदा (मालविका स्मयते) ।' ('प्रथमं प्रत्यूषं ब्राह्मणस्य पुजा भवति । सा तया लङ्घिता ।') इत्यादिना नायकस्य विश्रब्धनायिकादर्शनप्रयुक्तेन हास्यलोभकारिणा वचनेन व्याहारः ।

उन्मादपूर्ण कथन है—मैंने पर्वत खा लिये, मैंने आग से स्नान किया, मैं आकाश को पीता हूँ, विष्णु, शिव और ब्रह्मा मेरे पुत्र हैं । इसलिये मैं नाच रहा हूँ ।'

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८.११९), भा० प्र० (पृ० २३२), ना० द० (२.१४८), प्रता० (प्र० ८६), सा० द० (६.२६२) । (२) दश० का यह लक्षण ना० शा० के आधार पर नहीं है । इसका आधार क्या है ? यह चिन्तनीय है । भा० प्र०, ना० द० तथा सा० द० में असत्प्रलाप के कई प्रकार बतलाये गये हैं उनमें यह भी एक प्रकार है । सा० द० के असत्प्रलाप के लक्षण में प्रायः सभी पूर्वाचार्यों के लक्षणों का संग्रह हो जाता है । तदनुसार असत्प्रलाप तीन प्रकार का है—(i) असम्बद्ध वाक्य (मि०, दश० तथा प्रता०) (ii) असम्बद्ध उत्तर और (iii) न समझने वाले मूर्ख के हितकारी वचन कहना (मि०, ना० शा०, ना० द० तथा भा० प्र०) ।

(१२) **व्याहार**—

हास्य के लोभ को उत्पन्न करने वाला ऐसा वाक्य जिसका प्रयोजन कुछ और ही होता है, व्याहार (नामक वीथ्यङ्ग) है ॥२०॥

जैसे मालविकाग्निमित्र (२.५—१०) में, लास्य प्रयोग की समाप्ति पर (मालविका जाना चाहती है) विदूषक—अभी नहीं, शिक्षा में शुद्ध होकर जाओगी, इस सन्दर्भ में 'गणदास (विदूषक के प्रति)—आर्य कहिये, जो आपने क्रम-भेद देखा है । विदूषक—पहिले तो प्रातःकाल ब्राह्मण की पूजा होती है, उसका इसने उल्लङ्घन कर दिया (मालविका मुस्कराती है) ।

इत्यादि वचन नायक को आश्वस्त (विश्रब्ध) नायिका का दर्शन कराने के लिये प्रयुक्त हुआ है (अन्यार्थ है), किञ्च हास्य के लोभ को उत्पन्न करता है अतः यहाँ व्याहार (नामक वीथ्यङ्ग) है ।

अथ मृदवम्—

(२६) दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत् ।

यथा शाकुन्तले—

'मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामुपलक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥२०८॥

इति मृगयादोषस्य गुणीकारः ।

यथा च—

'सततमनिर्वृतमानसमायाससहस्रसङ्कुलक्लिष्टम् ।
गतनिद्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीषुरयम् ॥२०९॥

इति राज्यगुणस्य दोषीभावः ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १८, पृ० ४५८), भा० प्र० (पृ० २३२), ना० द० (२.१४२), प्रता० (पृ० ८६), सा० द० (६.२६३) । (२) दश० का यह लक्षण ना० शा० से भिन्न है । ना० द० में ना० शा० तथा दश० दोनों के आधार पर दो प्रकार का व्याहार बतलाया गया है भा० प्र० प्रता० तथा सा० द० में दश० का अनुसरण किया गया है । (३) अभि० भा० के अनुसार व्याहार शब्द की व्युत्पत्ति है—'विविधोऽर्थोऽभिनीयते येन' । ना० द० के अनुसार 'विविधोऽर्थ आह्रियतेऽनया (वाण्या) इति व्याहारः' ।

(१३) मृदव—

जहाँ दोष, गुण और गुण, दोष हो जाते हैं वह (कथन) मृदव (नामक वीथ्यङ्ग) है ।

जैसे शाकुन्तल (२.५) में (सेनापति मृगया के विषय में कहता है)—लोग मृगया (आखेट) को व्यर्थ ही व्यसन (बुरी आदत) बतलाते हैं । भला ऐसा विनोद कहाँ है ? इससे शरीर, चरबी (मेद) के छट जाने से कृश उदर वाला, हल्का और परिश्रम के योग्य हो जाता है, भय और क्रोध के समय भिन्न-भिन्न विकारों से युक्त जङ्गली जन्तुओं का चित्त भी दिखलाई दे जाता है । और, यह तो धनुर्धारियों का उत्कर्ष है कि उनके बाण चञ्चल लक्ष्य पर भी सफल हो जाते हैं' ।

यहाँ मृगया के दोषों को गुण बना दिया गया है ।

और जैसे (?)—'यह विजय की इच्छा वाला राजा ऐसा जीवन व्यतीत करता है कि जिसमें मन निरन्तर अशान्त (अनिर्वृत) रहता है, सहस्रों कठिनाइयों (आयास) से भरे रहने के कारण क्लेश रहता है, निद्रा नहीं आती तथा किसी का विश्वास नहीं होता' ।

उभयं वा—

सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दुःखं सदा ।
अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः ॥२१०॥

इति प्रस्तावनाङ्गानि ।

(२७) एषामन्यतमेनार्थं पात्रं वाक्षिप्य सूत्रभृत् ॥२१॥
प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत् ।

तत्र—

(२८) अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ॥२२॥
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ॥२३॥
तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

इस प्रकार राज्य के गुणों को दोष-रूप में बतलाया गया है। अथवा दोनों (अर्थात् एक साथ ही गुणों को दोष के रूप में तथा दोषों को गुण के रूप में कहा जाता है); जैसे—'जिन्हें सच्चरित के उदय का व्यसन होता है और इसलिये कष्ट उत्पन्न होते रहते हैं, वे सत्पुरुष सर्वत्र ही लोक-निन्दा से आशङ्कित रहते हैं और सदा दुःखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। किन्तु जिसकी बुद्धि कुछ नहीं समझती (अव्युत्पन्न-मतिः=मूर्ख), जो न तो अच्छे कर्म से न ही बुरे कर्म से व्याकुल होता है और जिसका हृदय भले बुरे के ज्ञान से शून्य है, वह साधारण (प्राकृतः) जन धन्य है'।

(यहाँ सज्जनता रूप गुण को दोष बना दिया गया है और मूर्खता रूप दोष को गुण बना दिया गया है)

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १८, पृ० ४५७), भा० प्र० (पृ० २३३), ना० द० (२.१५०), प्रता० (पृ० ८६), सा० द० (६.२६३)।

ये (१६) प्रस्तावना के अङ्ग हैं।

इनमें से किसी एक के द्वारा वस्तु या पात्र को सूचित करके सूत्रधार प्रस्तावना के अन्त में चला जावे और तब (नाटच) कथावस्तु (के अभिनय) की व्यवस्था करे ॥२१--२२॥

टिप्पणी—भा० प्र० (पृ० २३३)।

उस (नाटक) मे—

जिस (इतिवृत्त) में उत्कृष्ट (अधिगम्य=रमणीय, सेवन करने योग्य) गुणों से युक्त, धारोदात्त, प्रतापशाली कीर्ति का इच्छुक, अत्यन्त उत्साही, तीनों वेदों का रक्षक, पृथिवी का पालक, प्रसिद्ध वंश वाला कोई राजर्षि अथवा दिव्य जन नायक हो, ऐसे इतिहास-प्रसिद्ध (प्रख्यात) इतिवृत्त को आधिकारिक कथावस्तु बनाना चाहिये ॥२२--२३--२४॥

यत्रेतिवृत्ते सत्यवागसंवादकारिर्नीतिशास्त्रप्रसिद्धाभिगामिकादिदुर्णैर्युक्तो रामायणमहाभारतादिप्रसिद्धो धीरोदात्तो राजर्षिर्दिव्यो वा नायकस्तत्प्रख्यातमेवात्र नाटक आधिकारिकं वस्तु विधेयमिति ।

(२९) यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ॥२४॥
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।

अर्थात् जिस इतिवृत्त में सत्यवादिता, प्रवञ्चना न करना (?) तथा नीति शास्त्र में प्रसिद्ध सेवनीय (आभिगामिक) आदि गुणों से युक्त, रामायण महाभारत आदि में प्रसिद्ध धीरोदात्त राजर्षि अथवा दिव्य-जन नायक होता है, ऐसे इतिहास प्रसिद्ध (प्रख्यात) इतिवृत्त को ही यहाँ नाटक में आधिकारिक (प्रधान) कथावस्तु बनाना चाहिये ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८·१०), भा० प्र० (पृ० २३३), ना० द० (१·४), प्रता० (३·३५—३६), सा० द० (६ ७,९) । (२) उदात्त नायक का लक्षण (ऊपर २·४–५) । (३) प्रख्यात वृत्त का अभिप्राय है कि जो वृत्त रामायण आदि में प्रसिद्ध हो (सा० द०) । (४) यहाँ नाटक का दो प्रकार का नायक बतलाया गया है—राजर्षि तथा दिव्य । राजर्षि (राजा + ऋषि) का अर्थ है ऐसा क्षत्रिय जो अपने पवित्रता आदि गुणों से ऋषि-तुल्य हो गया हो । सा० द० में नाटक के तीन प्रकार के नायकों का निर्देश किया गया है—(i) राजर्षि जैसे शाकुन्तल का नायक दुष्यन्त आदि, (ii) दिव्य, जैसे श्रीकृष्ण इत्यादि दिव्य पुरुष; इन दोनों के इतिवृत्त महाभारत में हैं अतः ये प्रख्यात हैं । और (iii) दिव्याऽदिव्य; अर्थात् जो दिव्य पुरुष होते हुए भी मानव के समान व्यवहार करते हैं, जैसे उत्तररामचरित आदि में राम हैं, उनका इतिवृत्त रामायण-प्रसिद्ध है । इनके विपरीत नाट्य-दर्पणकार ने नाटक में (दिव्य) देव नायक को स्वीकार नहीं किया । उनका मत है कि नाटक तो राम के समान आचरण करना चाहिये, रावण के समान नहीं', इस प्रकार का सरस उपदेश देने के लिये होता है, और देवता तो अत्यन्त कठिन कार्य को भी इच्छा मात्र से कर लेते हैं । इसलिये उनके चरित का अनुसरण करना मनुष्यों के लिये असम्भव है और वह उपदेशप्रद नहीं हो सकता । (५) अभिगम्यगुणैः अभिरम्यगुणैः, उत्कृष्टगुणैर इति यावत् (प्रभा) Attractive pualities (Haas) । 'असंवादकारि' के स्थान पर 'अविसंवादकारि' (प्रवञ्चना न करने वाला) पाठ शुद्ध प्रतीत होता है ।

उस (प्रख्यात) इतिवृत्त में जो कुछ नायक के लिये अनुचित हो या रस के विरुद्ध हो, उसे छोड़ देना चाहिये अथवा उसकी अन्य रूप में कल्पना कर लेना चाहिये ॥२४॥

यथा छद्मना वालिवधो मायुराजेनोदात्तराघवे परित्यक्त: । वीरचरिते तु रावणसौहृदेन वाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृत: ।

(३०) आद्यन्तमेवं निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ॥२५॥
खण्डश: सन्धिसञ्ज्ञांश्च विभागानपि खण्डयेत् ।
चतु: षष्टिस्तु तानि स्युरङ्गानीति—

अनौचित्यरसविरोधपरिहारपरिशुद्धीकृतसूचनीयदर्शनीयवस्तुविभागफलानुसारेणोपक्लृप्तबीजबिन्दुपताकाप्रकरीकार्यलक्षणार्थप्रकृतिक पञ्चावस्थानुगुण्येन पञ्चधा विभजेत् । पुनरपि चैकैकस्य भागस्य द्वादश त्रयोदश चतुर्दशेत्येवमङ्गसंज्ञान् सन्धीनां विभागान्कुर्यात् ।

जैसे मायुराज ने उदात्तराघव नामक नाटक में (राम के) छल से वालिवध (की घटना) को छोड़ दिया है। महावीरचरित में (भवभूति ने) तो इस प्रकार परिवर्तित कर दिया है कि रावण की मित्रता के कारण बाली राम का वध करने के लिये आया था तब राम ने उसे मार दिया।

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० २३३–२३४), ना० द० (१·१५), सा० द० (६.५०)। (२) भा० प्र० में भी दश० की कारिका दी गई है। सा० द० में तनिक सा परिवर्तन करके दश० की कारिका तथा धनिक की टीका को ले लिया गया है। किन्तु नाट्यदर्पण में इस भाव को अधिक विस्तृत किया गया है, तदनुसार—

अयुक्तं च विरुद्धं च नायकस्य रसस्य वा ।
वृत्तं यत् यत् परित्याज्यं प्रकल्प्यमथवाऽन्यथा ॥

अर्थात् जो बात नायक के अथवा रस के लिये 'अनुचित' और 'विपरीत' हो उसका परित्याग कर देना चाहिये अथवा उसकी अन्य प्रकार से कल्पना कर लेनी चाहिये। यहाँ अनुचित और विरुद्ध दोनों का नायक और रस दोनों के साथ सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ धीरललित नायक के लिये परस्त्री समागम अनुचित है तथा धीरोद्धतता का धीरललितता से विरोध है। इसी प्रकार शृङ्गार में आलिङ्गन चुम्बन आदि का प्रत्यक्षत: दिखलाना अनुचित है और शृङ्गार का बीभत्स से विरोध है (ना० द० वृत्ति)। विचारणीय यह है कि क्या दश० की कारिका का तात्पर्य भी ना० द० के समान ही तो नहीं है।

(नाटककार) इस प्रकार (इतिवृत्त के) आदि और अन्त का निश्चय करके और उसको (सन्धि नामक) पाँच भागों में विभक्त करके उन सन्धि नामक भागों को भी खण्डों (सन्ध्यङ्गों) में विभक्त करे। इस प्रकार ये (आधिकारिक इतिवृत्त के) ६४ अङ्ग होते हैं ॥२५-२६॥

(भाव यह है कि) जब (नायक के) अनौचित्य और रस-विरोध के परिहार से वस्तु सिद्ध हो जाये और उनमें सूच्य एवं दृश्य का विभाग कर लिया जाये तब नाटककार उसमें फल के अनुसार बीज, बिन्दु पताका प्रकरी और कार्य नामक पाँच

(३१) अपरं तथा ।।२६।।
पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसन्धिभिः ।
अङ्गान्यत्र यथालाभमसन्धि प्रकरीं न्यसेत् ।।२७।।

अपरमपि प्रासङ्गिकमितिवृत्तमेकाद्यैरनुसन्धिभिर्न्यूनमिति प्रधानेतिवृत्तादेकद्वित्रिचतुर्भिरनुसन्धिभिर्न्यूनं पताकेतिवृत्तं न्यसनीयम् । अङ्गानि च प्रधानाविरोधेन यथालाभं न्यसनीयानि । प्रकरीतिवृत्तं त्वपरिपूर्णसन्धि विधेयम् ।

तत्रैवं विभक्ते—

(३२) आदौ विष्कम्भकं कुर्यादङ्कं वा कार्ययुक्तितः ।

अर्थप्रकृतियों की कल्पना करे । फिर इस प्रकार की कथावस्तु को पाँच कार्यावस्थाओं (आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम) के अनुकूल पाँचों भागों (मुख आदि पाँच सन्धियों) में विभक्त करें । और फिर भी एक-एक भाग के (प्रथम प्रकाश में बतलाये गये) बारह, तेरह या चौदह इत्यादि सभी सन्धियों के अङ्ग (सन्ध्यङ्ग) नाम के विभाग करना चाहिये ।

टिप्पणी— ना० शा० (१६,, १३६), भा० प्र० (पृ० २३४) ।

इसी प्रकार दूसरा जो पताकावृत्त है उसमें भी एक दो आदि अनुसन्धियों की न्यूनता रखनी चाहिये तथा इस (पताका वृत्त) में यथा प्राप्त सन्ध्यङ्ग (=अङ्ग) रखने चाहियें किन्तु प्रकरी (नामक प्रासङ्गिक इतिवृत्त) को तो सन्धि-रहित ही रखना चाहिये ।।२६-२७।।

दूसरा (अपरम् – आधिकारिक इतिवृत्त से भिन्न) जो पताका नामक प्रासङ्गिक इतिवृत्त है; वह एक आदि अनुसन्धि से न्यून होता है अर्थात् (जिसमें पाँचों सन्धियाँ होती हैं उस) प्रधानवृत्त की अपेक्षा पताका नामक इतिवृत्त में एक, दो, तीन या चार अनुसन्धियाँ कम रखनी चाहियें । और उसमें वे ही अङ्ग रखने चाहियें जो प्राप्त हों (बन सकें) तथा जिनका प्रधान इतिवृत्त से विरोध न हो । प्रकरी नामक जो प्रासङ्गिक इतिवृत है वह तो सन्धि से रहित (अपरिपूर्ण) ही रखना चाहिये ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१६·२८), भा० प्र० (पृ० २३४) । (२) **अनुसन्धि**—आधिकारिक वृत के समान पताका नामक प्रासङ्गिक वृत्त का भी सन्धियों में विभाजन किया जाता है । किन्तु पताकावृत्त की सन्धियाँ आधिकारिक वृत्त का अनुसरण करती हैं अतः वे अनुसन्धि कही जाती हैं जैसा कि ना० शा० (१६·२८) में कहा गया है :—

एकोऽनेकोऽपि वा सन्धिः पताकायां तु यो भवेत् ।
प्रधानार्थानुयायित्वादनुसन्धिः प्रकीर्त्यते ।।

तब इस प्रकार इतिवृत्त का विभाग कर लेने पर—

आरम्भ में (नाटककार) कार्य के औचित्य के अनुसार (कार्ययुक्तितः) विष्कम्भक अथवा अङ्क की रचना करे ।

इयमत्र कार्ययुक्तिः—

(३३) अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ॥२८॥
यदा सन्दर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा ।
(३४) यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥२९॥
आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः ।

स च—

(३५) प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ॥३०॥
अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः ।

इस विषय में कार्यंयुक्ति यह है—

जब (नाटककार) नीरस किन्तु (कथा-वस्तु के विकास के लिये) आवश्यक वस्तु-विस्तार को छोड़कर शेष भाग को (रङ्गमञ्च पर) दिखलाना चाहे; तब वह (उस नीरसवस्तु की सूचना देने के लिये) विष्कम्भक की रचना करे ॥२८-२९॥

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० २३४), सा० द० (६·६१) । (विष्कम्भक पाँच अर्थोपक्षेपकों में से एक है (ऊपर १·५८) । जब कथा के आरम्भ में ही कोई वस्तु नीरस होती है किन्तु कथा-सूत्र जोड़ने के लिये अपेक्षित होती है तब उसकी सूचना देने के लिये नाटक के आरम्भ में विष्कम्भक रखना आवश्यक हो जाता है। यह विष्कम्भक आमुख के पश्चात् हुआ करता है । जैसे रत्नावली में यौगन्धरायण द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक है ।

किन्तु जब आरम्भ से ही कथावस्तु सरस होती है तब तो (नाटक के) आदि में ही अङ्क रख दिया जाता है और उस अङ्क का आधार आमुख (प्रस्तावना) में सूचित पात्र-प्रवेश हुआ करता है ॥२९-३०॥

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० २३४), सा० द० (६·६२–६३) । (२) शाकुन्तल में आमुख के पश्चात् अङ्क की ही योजना की गई है वहाँ आरम्भ में विष्कम्भक नहीं रखा गया । (३) आमुखेन पात्राक्षपः संश्रयो यस्य स आमुखाक्षेप-संश्रय इत्यङ्कविशेषणम् (प्रभा) ।

और, वह—

जिसमें नायक का चरित प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत किया जाता है जो बिन्दु की व्याप्ति से युक्त होता है और अनेक प्रकार के प्रयोजन (अर्थ) संविधान तथा रसों का आश्रय होता है, वह अङ्क है ॥३०-३१॥

रङ्गप्रवेशे साक्षान्निर्दिश्यमाननायकव्यापारो बिन्दूपक्षेपार्थपरिमितोऽनेकप्रयोजन-संविधानरसाधिकरण उत्सङ्ग इवाङ्कः ।

जहाँ रङ्गमञ्च पर नायक का प्रवेश होने पर साक्षात् रूप से नायक के व्यापार (कार्यों) का निर्देश किया जाता है जो बिन्दु के उपक्षेप रूप अर्थ से परिच्छिन्न होता है (टि०) तथा अनेक प्रकार के प्रयोजन, संविधान एवं रसों का उत्सङ्ग (गोद) के समान आधार होता है, वह अङ्क है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८·१३–१८), भा० प्र० पृ० २३५), ना० द० (१·१६), प्रता० (३·-६), सा० द० (६·१२–१४) । (३) प्रत्यक्षनेतृचरितः—प्रत्यक्षं रङ्गप्रवेशेन साक्षात् निर्दिश्यमानं नेतृचरितं नायकव्यापारो यत्र; भाव यह है कि अङ्क में रङ्गमञ्च पर नायक का प्रवेश कराके उसके कार्यों का साक्षात् रूप से (दृश्य रूप में) चित्रण किया जाता है । नायक-व्यापार का अभिप्राय यह है कि नायक जो फल-प्राप्ति के लिये उपाय करता है (चरित) तथा उसे जो फल (उपभोग) प्राप्त होता है, उन दोनों का ही साक्षात् रूप से निर्देश करना चाहिये तभी सामाजिक को नाटक आदि से उपदेश प्राप्त हो सकता है (मि० प्रत्यक्षचरितसम्भोगः; ना० शा० १८·१७ तथा दृश्यार्थः, ना० द० १·१६) । (३) **बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः**—बिन्दुव्याप्तिः पुरस्कृता यत्र (=बिन्दूपक्षेपार्थपरिमितः—बिन्दोः उपक्षपरूपेण अर्थेन परिमितः; भाव यह है कि अङ्क में बिन्दु के व्याप्ति रूप व्यापार का ध्यान रक्खा जाता है । जहाँ कोई एक-एक प्रारम्भ आदि कार्यावस्था समाप्त हो जाती है अथवा कार्यावस्था तो समाप्त नहीं होती किन्तु ऐसी घटनाएँ आ जाती हैं जिनका एक दिन में अभिनय करना सम्भव नहीं होता और अङ्क को समाप्त करना पड़ता है, वहाँ समाप्त होने वाले अङ्क का अग्रिम अङ्क से सम्बन्ध जोड़ने के लिये पूर्व अङ्क के अन्त में बिन्दु की योजना करनी होती है । इस बिन्दु के उपक्षेप पर्यन्त ही अङ्क हुआ करता है अतः धनिक ने 'बिन्दु-उपक्षेपार्थ—परिमितः' कहा है । यहाँ अर्थ=संक्षिप्त वृत्त, कथांश, कथा का स्वल्प भाग उसी के द्वारा बिन्दु का उपक्षेप हुआ करता है अतः उसे 'बिन्दूपक्षेपार्थ' कहा गया है । (द्र० आगे ३·३७ बिन्दुरन्ते च) और उस उपक्षिप्त बिन्दु का अग्रिम अङ्क में विस्तार हुआ करता है । (मि०, सबिन्दुः; ना० द० १·१६) । प्रता० में 'बिन्दुव्यक्तिपुरस्कृतः, पाठ है । (४) **नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः**—अङ्क (i) अनेक प्रकार के अवान्तरप्रयोजनों (अर्थ), (ii) विशेष प्रकार के कथासन्निवेश या वस्तु संघटक (=संविधान) तथा (iii) अङ्ग एवं अङ्गी होने वाले रसों का का आश्रय होता है—नानाप्रकारार्थानाम् = अनेकावान्तरप्रयोजनानाम् संविधानानाम्=कथासन्निवेशविशेषादीनाम् रसानाम्= अङ्गभूतानाम् अङ्गिनो वा रसस्य (आश्रयः)=प्रता० टीका । अनेक-प्रकार-प्रयोजन-समपादनस्य रसस्य चाश्रयः (प्रभा) । ना० शा० (१८·१४ तथा आगे) में भी 'अर्थ एवं नानाविधान' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है । किन्तु वहाँ इनके अभिप्राय अस्पष्ट से हैं ।

अङ्क योजना के लिये कुछ आवश्यक बातें आगे दी जा रही हैं—

तत्र च—

(३६) अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः ॥३१॥
गृहीतमुक्तैः कर्तव्यमङ्गिनः परिपोषणम् ।

अङ्गिन इत्यङ्गिरसस्थायिनः संग्रहात्स्थायिनेति रसान्तरस्थायिनो ग्रहणम् । गृहीतमुक्तैः परस्परव्यतिकीर्णैरित्यर्थः ।

(३७) न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ॥३२॥
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः ।

कथासन्ध्यङ्गोपमादिलक्षणैर्भूषणादिभिः ।

और उस (अङ्क) में—

अनुभाव, विभाव, (अन्य रस के) स्थायी भाव तथा व्यभिचारी भावों का ग्रहण करते हुए तथा छोड़ते हुए, उनके द्वारा अङ्गी (प्रधान) रस का परिपोषण करना चाहिये ॥३१-३२॥

क्योंकि (कारिका में) 'अङ्गिनः' इस पद से अङ्गी रस के (साथ-साथ उसके) स्थायी भाव का भी ग्रहण हो जाता है इसलिये 'स्थायिना' इस पद से अन्य (अङ्गी से भिन्न) रस के स्थायी का ग्रहण होता है। 'गृहीतमुक्तैः' का अर्थ है—एक दूसरे को लाँघकर रक्खे गये (?)।

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० २३५)। (२) गृहीतमुक्तैः—पूर्व गृहीतः पश्चात् मुक्तः इति गृहीतमुक्तः तैः; अर्थात् किसी अनुभाव आदि का ग्रहण करके उससे प्रधान रस के स्थायी भाव को पुष्ट करे फिर उसको छोड़ दे। फिर दूसरे अनुभाव आदि का ग्रहण करे। धनिक के परस्पर व्यतिकीर्णैः पद का भी यही भाव प्रतीत होता है (वि+अति+कीर्णैः—लांघकर या बचाकर रक्खे गये)। किन्तु प्रभा टीका के अनुसार परस्पर व्यतिकीर्णैः परस्परं मिश्रितैः सापेक्षैर्वा। (३) अनुभाव आदि का स्वरूप देखिये आगे' (४, २, ३, ७,)।

अत्यधिक रस (पोषण) के द्वारा कथावस्तु को अत्यन्त विच्छिन्न नहीं कर देना चाहिये और न ही वस्तु, अलङ्कार तथा लक्षणों के द्वारा रस को तिरोहित कर देना चाहिये।

कथा सन्ध्यङ्ग (वस्तु), उपमा आदि अलङ्कार तथा भूषण आदि नाट्य-लक्षणों के द्वारा रस का तिरोधान न कर देना चाहिये।

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० २३५–२३६), ना० द० (१·१५), सा० द० (६·६४)। (२) विच्छिन्नता—कथावस्तु के प्रवाह का भङ्ग हो जाना (disconnection) वस्त्वलङ्कारलक्षणैः—ऐसा प्रतीत होता है कि धनिक के अनुसार वस्तु का अर्थ है—कथा तथा कथावस्तु के विभाग जो सन्ध्यङ्ग कहलाते हैं अलङ्कार से उपमा आदि अलङ्कारों का ग्रहण होता है। लक्षण का अभिप्राय है—भूषण, अक्षरसंघात

(३८) एको रसोऽङ्गीकर्तव्यो वीरः शृङ्गार एव वा ॥३३॥
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम् ।

ननु च रसान्तरस्थायिनेत्यनेनैव रसान्तराणामङ्गत्वमुक्तम्, तन्न-यत्र रसान्तरस्थायी स्वानुभावविभावव्यभिचारियुक्तो भूयसोपनिबध्यते तत्र रसान्तराणामङ्गत्वम्, केवलस्थाय्युपनिबन्धे तु स्थायिनो व्यभिचारितैव ।

इत्यादि ३६ नाटचलक्षण (सा० द० १७१–१७५) । भावप्रकाशन के अनुसार आक्रन्द आदि नाटचालङ्कारों का भी यहाँ ग्रहण होता है । (३) कारिका का भाव यह है कि रस और वस्तु दोनों का सन्तुलन ही वाञ्छनीय है । यहाँ अवलोक टीका का पाठ सन्देहास्पद है ।

नाटक में एक रस वीर अथवा शृङ्गार को अङ्गी (प्रधान) रखना चाहिये, अन्य सभी रसों को अङ्ग रूप में, और निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस रखना चाहिये ।

(शङ्का) कारिका ३१ में 'स्थायिना' (रसान्तरस्थायिना) इस पद के द्वारा ही अन्य रस (प्रधान रस) के अङ्ग होते हैं, यह कह दिया गया है (फिर यहाँ कहने की क्या आवश्यकता है ?) (समाधान) ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं (तन्न); क्योंकि जहाँ किसी अन्य रस का स्थायी भाव अपने अनुभाव, विभावों और व्यभिचारी भावों के साथ भली भाँति (भूयसा) दिखलाया जाता है (उपनिबध्यते) वहाँ तो अन्य रस (प्रधान रस के) अङ्ग होते हैं (यह 'बात अङ्गमन्ये रसाः सर्वे' में कही जा रही है) । किन्तु जहाँ (अन्य रस के) स्थायी का अनुभाव आदि के विना (=केवल) ही निरूपण किया जाता है वहाँ तो वह अन्य रस का स्थायी (प्रधान रस का) व्यभिचारी भाव ही हो जाता है (यह बात का० ३१ में 'स्थायिना' पद द्वारा कही गई थी) ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८.४३), भा० प्र० (पृ० २३६), ना० द० (१.१५), प्रता० (३.३–४), सा० द० (६.१०) । (२) 'ननु०' इत्यादि शङ्का का आशय यह है कि ३१वीं कारिका में 'स्थायिना' शब्द के द्वारा यह कहा गया है कि प्रधान (अङ्गी) रस का अन्य रसों के स्थायी भावों द्वारा पोषण करना चाहिये । इस कथन से स्पष्ट है कि अन्य रस प्रधान रस के अङ्ग होते हैं फिर यही बात 'अङ्गमन्ये०' इत्यादि द्वारा कहना पुनरुक्ति मात्र ही है । 'तन्न०' इत्यादि समाधान का अभिप्राय यह है:—३१वीं कारिका में तो (अन्य रसों के) केवल स्थायी भावों को प्रधान रस का पोषक (अङ्ग) कहा गया है । केवल स्थायी भाव का अभिप्राय है—अनुभाव आदि से रहित स्थायी भाव । वह वस्तुतः प्रधान रस का व्यभिचारी भाव ही हो जाता है वह पहले किसी रस का स्थायी भाव था इसीलिये उसे स्थायी कह दिया जाता है । इसके विपरीत 'अङ्गमन्ये०' इत्यादि में अन्य रसों को प्रधान रस का अङ्ग बतलाया जा रहा है । जब कोई स्थायी भाव अनुभाव आदि से पुष्ट होता है तभी

(३६) दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम् ॥३४॥
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम् ।
*अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत् ॥३५॥

अङ्के नैवोपनिबध्नीत, प्रवेशकादिभिरेव सूचयेदित्यर्थः ।

(४०) नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च ।

अधिकृतनायकवधं प्रवेशकादिनापि न सूचयेत्, आवश्यकं तु देवपितृकार्याद्यवश्यमेव क्वचित्कुर्यात् ।

(४१) एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम् ॥३६॥
पात्रैस्त्रिचतुरैङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ।

वह रस कहलाता है और अनुभाव आदि से युक्त अन्य रसों के स्थायी-भाव जब प्रधान रस का पोषण करते हैं तब अन्य रस प्रधानरस के अङ्ग कहे जाते हैं। इस प्रकार पुनरुक्ति नहीं है ।

अङ्कों में अदर्शनीय वस्तु—

दूर की यात्रा, वध, युद्ध, राज्य-विप्लव और देश-विप्लव आदि घेरा डालना (=संरोध), भोजन. स्नान, रतिक्रीडा, अनुलेपन, वस्त्रग्रहण इत्यादि को प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखलाना चाहिये ॥३४--३५॥

अर्थात् अङ्कों के द्वारा इन्हें नहीं दिखलाना चाहिये प्रवेशक आदि के द्वारा ही सूचित कर देना चाहिये ।

अधिकारी नायक के वध का कहीं भो निर्देश न करना चाहिये और आवश्यक वस्तु का त्याग न करना चाहिये ।

भाव यह है कि आधिकारिक वृत के नायक का वध प्रवेशक आदि के द्वारा भी न सूचित करना चाहिये । किन्तु देव-पितृ कार्य आदि जो आवश्यक वस्तु हैं उनका अवश्य ही कहीं न कहीं निर्देश करना चाहिये ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८.३८), भा० प्र० (पृ० २३६), ना० द० (१.२१-२२), सा० द० (६.१६-१८) । (२) अधिकारिवधम्—आधिकारिक इतिवृत्त के नायक का वध, प्रधान नायक का वध । क्वापि—कहीं भी, न तो अङ्क में, न प्रवेशक आदि में ।

अङ्कों में वर्णनीय वस्तु एवं पात्र—

इस प्रकार (नाटककार को) ऐसा अङ्क रखना चाहिये जो एक प्रयोजन के लिये किये गये एक दिन के कार्यों से युक्त हो, जिसमें नायक उपस्थित हो, जो तीन या चार पात्रों से युक्त हो और, उन पात्रों का (अङ्क के) अन्त में (रङ्गमञ्च से) निकल जाना दिखला दिया जाये ।

'*अस्त्रस्य' इत्यपि पाठः ।

एकदिवसप्रवृत्तैकप्रयोजनसम्बद्धमासन्ननायकमबहुपात्रप्रवेशमङ्कं कुर्यात्, तेषां पात्राणामवश्यमङ्कस्यान्ते निर्गमः कार्यः ।

(४२) पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत् ।।३७।।
एवमङ्काः प्रकर्तव्याः प्रवेशादिपुरस्कृताः ।
(४३) पञ्चाङ्कमेतदवरं दशाङ्कं नाटकं परम् ।।३८।।

अर्थात् जो एक दिन में होने वाले एक प्रयोजन से सम्बद्ध हो, जिसमें नायक उपस्थित हो, बहुत से पात्रों का प्रवेश न किया गया हो; ऐसा अङ्क रखना चाहिये और, उन (अङ्क के) पात्रों का अङ्क के अन्त में अवश्य ही निष्क्रमण कर देना चाहिये।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८.२१-२४; २८), भा० प्र० (पृ० २३६), सा० द० (६ १४,१५, १६)। (२) पाश्चात्य नाटच-समीक्षा के अनुसार जो नाटक में अन्वितित्रय–(i) कालान्विति (unity of time) (ii) कार्यान्विति (unity of action) (iii) स्थानान्विति (unity of place) मानी गई हैं, उनका भारतीय नाटचशास्त्र में स्पष्टतः विवेचन नही किया गया। फिर भी इस प्रकार के नाटच-सम्बन्धी नियमों में उनकी कुछ झलक देखी जा सकती है। (३) आसन्ननायक—(ना० शा० १८.२८ सन्निहितनायक)—अङ्क में नायक के उपायानुष्ठान (चरित) और फल-भोग को साक्षात् रूप से दिखलाना चाहिये (मि०, अभि० भा०)।

इस (अङ्क) में पताकास्थानक होने चाहियें और अन्त में बीज के समान ही बिन्दु रखना चाहिये। इस प्रकार पात्र-प्रवेश आदि करते हुए अङ्कों की रचना करनी चाहिये ।।३७--३८।।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८.१६), भा० प्र० (पृ० २३६)। (२) पताका-स्थानक, बिन्दु तथा बीज का लक्षण ऊपर। (१, का० १४, १७) दिया जा चुका है। (३) बिन्दुरन्ते च बीजवत्—यह कथन दुरूह सा है। अन्ते च बीजवत्—अन्ते बीज-परामर्शयुक्तं कुर्याद् इत्यर्थः (प्रभा); At the end, the Expantion (Bindu) Just like the Germ (Bija) at the beginning ?—Haas. वस्तुतः इसका भाव यह प्रतीत होता है कि समस्त कथावस्तु में अनुस्यूत जो बीज रूप अर्थ है उसका परामर्श तो अङ्क के अन्त में आवश्यक है ही; कथा-प्रवाह को अविच्छिन्न बनाये रखने के लिये बीज के समान बिन्दु भी वहाँ अवश्य होना चाहिये।

नाटय में अङ्कों की संख्या—

यह नाटक न्यून से न्यून पाँच अङ्कों का और अधिक से अधिक दस अङ्कों का होना चाहिये ।।३८।।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८.९), भा० प्र० (पृ० २३७), ना० द० (१.१७), सा० द० (६. ८)। (२) पाँच से लेकर दस अङ्कों तक के नाटक संस्कृत

इत्युक्तं नाटकलक्षणम्

(४४) अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्य लोकसंश्रयम् ।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥३९॥
धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम् ।
शेषं नाटकवत्सन्धिप्रवेशकरसादिकम् ॥४०॥

कविबुद्धिविरचितमितिवृत्तं लोकसंश्रयम्—अनुदात्तम् अमात्याद्यन्यमं धीर—प्रशान्तनायकं विपदन्तरितार्थसिद्धि कुर्यात् प्रकरणे । मन्त्री अमात्य एव । सार्थवाहो वणिग्विशेष एवेति स्पष्टमन्यत् ।

साहित्य में हैं; जैसे विक्रमोर्वशीय पाँच अङ्कों का है, वेणीसंहार छह अङ्कों का है, अभिज्ञानशाकुन्तल सात अङ्कों का है । इसी प्रकार ८, ९ अङ्कों वाले नाटक भी हैं । बालरामायण दस अङ्कों का नाटक है ।

इस प्रकार नाटक का लक्षण कहा गया ।

प्रकरण

प्रकरण में लोक-स्तर का कवि-कल्पित (उत्पाद्य) इतिवृत्त तथा अमात्य, विप्र और वणिक में से कोई एक नायक रखना चाहिये, जो धीर-प्रशान्त हो एवं धर्म काम और अर्थ (त्रिवर्ग) में तत्पर हो किन्तु उसकी कार्य-सिद्धि विघ्नों से युक्त हो (सापायम्) । प्रकरण में शेष शेन्धि, प्रवेशक और रस नाटक के समान ही रखने चाहियें ॥३९--४०॥

प्रकरण का इतिबृत्त कवि-बुद्धि-कल्पित (=उत्पाद्य) तथा लोकसंश्रय अर्थात् अनुदात्त रखना चाहिये और अमात्य आदि में से कोई एक, जो धीरप्रशान्त हो, जिसकी कार्यसिद्धि आपत्तियों से व्यवहित हो (अर्थात् सिद्धि-प्राप्ति में विघ्न हों) नायक रखना चाहिये, मन्त्री अमात्य ही होता है और सार्थवाह विशेष प्रकार का वणिक् (व्यापारी) ही होता है (टि०) । अन्य स्पष्ट ही है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८.४४-५७), भा० प्र० (पृ० २४१), ना० द० (२.११७), प्रता० (३.३८), सा० द० (६.२२४-२२५) । प्रकरण का प्रसिद्ध उदाहरण मृच्छटिक है । उसका नायक चारुदत्त विप्र है, धीरप्रशान्त है, धर्म तथा काम में तत्पर । उसकी कार्यसिद्धि शकार की दुश्चेष्टाओं से विघ्नयुक्त है इसी प्रकार मालतीमाधव नामक प्रकरण का नायक अमात्य है तथा पुष्पदूषितक नामक प्रकरण का नायक वणिक् है । (३) ना० द० (२.११७ वृत्ति) में यह सिद्ध किया गया है कि प्रकरण में सेनापति और अमात्य धीरोदात्त नायक होते हैं धीरप्रशान्त नहीं । किन्तु दश० तथा सा० द० आदि के अनुसार ये धीरप्रशान्त ही होते हैं । (४) **लोकसंश्रयम्**—लौकिक, लोक-सामान्य का, लोक स्तर का—लोकः संश्रयो तस्य तत् (वृत्तम्) । धनिक ने इसका अर्थ 'अनुदात्त' किया है । इसका अभिप्राय है कि प्रकरण का नायक उदात्त कोटि का नहीं होता । ना० शा० (१८.४९) में भी उदात्तनायक और दिव्यचरित का

(४५) नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा ।
क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ।।४१।।
कुलजाभ्यन्तरा, बाह्या वेश्या. नातिक्रमोऽनयोः ।
आभिः प्रकरणं त्रेधा, सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ।।४२।।

वेशो भृतिः सोऽस्या जीवनमिति वेश्या तद्विशेषो गणिका । यदुक्तं—
'अभिरभ्यर्थिता वेश्या रूपशीलगुणान्विता ।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि ।।'

एवं च कुलजा, वेश्या, उभयमिति त्रेधा प्रकरणे नायिका । यथा वेश्यैव तरङ्गदत्ते, कुलजैव पुष्पदूषितके, द्वे अपि मृच्छकटिकायामिति । कितवद्यूतकारादिधूर्तसङ्कुलं तु मृच्छकटिकादिवत्सङ्कीर्णप्रकरणमिति ।

प्रकरण में निषेध किया गया है । (५) ना० शा० (१८.४८) में अमात्य से पृथक् 'सचिव' (मन्त्री) तथा वणिक् से पृथक् 'सार्थवाह' का ग्रहण किया गया है । दश० में ऐसा नहीं किया गया । इसीलिये धनिक ने 'मन्त्री अमात्य एव' इत्यादि कहा है भाव यह है कि मन्त्री का भी अमात्य' शब्द से ही ग्रहण हो जाता है ।

प्रकरण के नायक की नायिका तो दो प्रकार की होती है—कुलीन नारी तथा गणिका । किसी प्रकरण में अकेली कुलीन नारी ही होती है। किसी में अकेली वेश्या और किसी में कुलीन नारी और वेश्या दोनों ही (यही सङ्कीर्ण है) । इनमें कुलीन नारी आभ्यन्तर (Indoors) और वेश्या बाह्य (out doors) नायिका होती है, इनका व्यतिक्रम नहीं होता (टि०) । इन तीन प्रकार की नायिकाओं के द्वारा (आभिः) प्रकरण तीन प्रकार का हो जाता है । उन तीन प्रकारों में जो संकीर्ण (प्रकरण) है, वह धूर्त पात्रों) (जुआरी, शकार आदि) से युक्त होता है ।।४१--४२।।

वेश है भृति (पालन-पोषण); वह वेष ही इसका जीवन है अतः वह वेश्या कहलाती है । उस (वेश्या) का एक भेद ही गणिका है। जैसा कि कहा गया है—इन (?) के द्वारा प्रार्थित, रूप, शील आदि गुणों से युक्त वेश्या गणिका संज्ञा को,प्राप्त करती है (=गणिका कहलाती है) तथा जन-सभाओं में स्थान प्राप्त करती हैं ।

इस प्रकार कुलीन नारी या वेश्या अथवा दोनों—यह तीन प्रकार की नायिका प्रकरण में होती है । जैसे तरङ्गदत्त नामक प्रकरण में केवल वेश्या ही नायिका हैं, पुष्पदूषितक में कुलीन नारी ही और मृच्छकटिक में वे दोनों (प्रकार की) नायिकाएँ हैं । मृच्छकटिक आदि जैसा सङ्कीर्ण प्रकरण तो कितव, जुआरी आदि धूर्तों से युक्त होता है ।

अथ नाटिका—

(४६) लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये।

अत्र केचित्—

'अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसंज्ञाश्रिते काव्ये॥

इत्यमुं भारतीयं श्लोकम् 'एको भेदः प्रख्यातो नाटिकाख्य इतरस्त्वप्रख्यात प्रकरणिकासंज्ञया नाटीसंज्ञया द्वे काव्ये आश्रिते' इति व्याचक्षाणाः प्रकरणिकामपि मन्यन्ते। तदसत्। उद्देशलक्षणयोरनभिधानात्। समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात्।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८.५०--५३), भा प्र० (पृ० २४२), ना० द० (२.११८), सा० द० (६.२२६--२२७)। (२) **नातिक्रमेणऽयोः**—नायिका के भेद से प्रकरण तीन प्रकार के होते हैं—जहाँ नायिका (i) कुलीन नारी हो, (ii) वेश्या हो: (iii) कुलीन नारी तथा वेश्या दोनों हों। इनमें से पहिले दोनों शुद्ध प्रकरण कहलाते हैं और तीसरा संकीर्ण प्रकरण कहलाता है; क्योंकि इसमें दो प्रकार की नायिकाओं का संकर होता है। इस तृतीय भेद में कुलीन नारी को आभ्यन्तरा (घर के अन्दर रहने वाली, गृहिणी) और वेश्या को बाह्या (घर के बाहर रहने वाली, गृह-कार्यों से सम्बन्ध न रखने वाली) रखना चाहिये। यह नियम अनिवार्य है, इसका भङ्ग नहीं होना चाहिये। (३) **संकीर्णं धूर्तसङ्कुलम्**—नायिका के भेद से जो प्रकरण के तीन भेद किये गये हैं उनमें तृतीय संकीर्ण प्रकरण कहलाता है। वह जुआरी, शकार आदि धूर्तों से युक्त होता है। धनिक की वृत्ति में अन्वय इस प्रकार होगा—संकीर्णप्रकरणं तु कितवद्यूतकारादिधूर्तसङ्कुलं मृच्छकटिकादिवत् अथवा मृच्छकटिकादिवत् सङ्कीर्ण०। ना० द० (२.११८ वृत्ति), प्रता०—टीका (तृतीयं धूर्तसङ्कुलम्) तथा सा० द० (तत्र भेदस्तृतीयकः कितवद्यूतकारादिविटसङ्कुलः (६.२२६-२२७) आदि के अनुशीलन से यह अर्थ सङ्गत है। (४) 'पुष्पदूषितक' के स्थान पर ना० द० में पुष्पदूतिक, सा० द० में पुष्पभूषित पाठ है। अभि० भा० (पृ० ४३२) में पुष्पदूषितक पाठ ही है यह प्रकरण अनुपलब्ध है।

नाटिका

यहाँ (रूपक के) अन्य संकीर्ण भेदों की निवृत्ति के लिये नाटिका का भी लक्षण किया जा रहा है।

कुछ (व्याख्याकार) सङ्कीर्ण रूपकों में (अत्र) प्रकरणिका नामक भेद को भी मानते हैं। वे 'अनयोश्च०' [अर्थात् इन दोनों नाटक और प्रकरण की संघटना के योग से प्रयोक्ताओं को नाटीसंज्ञक काव्य में एक भेद जानना चाहिये प्रख्यात अथवा अप्रख्यात] इत्यादि भरतमुनि (१८.५७) के श्लोक की इस प्रकार व्याख्या करते हैं—'एक भेद प्रसिद्ध है जो नाटिका कहलाता है और दूसरा अप्रसिद्ध है जो प्रकरणिका कहलाता है। इस तरह दो प्रकार के काव्य नाटी संज्ञा के आधार हैं।'

वस्तुरसनायकानां प्रकरणाभेदात् प्रकरणिकायाः । अतोऽनुद्दिष्टाया नाटिकाया यन्मुनिना लक्षणं कृतं तत्रायमभिप्रायः—शुद्धलक्षणसङ्करादेव तल्लक्षणे सिद्धे लक्षणकरणं सङ्कीर्णानां नाटिकैव कर्तव्येति नियमार्थं विज्ञायते ।

किन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि प्रकरणिका का न तो नामनिर्देश किया गया है (उद्देश) और न लक्षण ही बतलाया गया है । यदि कोई कहे कि नाटिका और प्रकरणिका का समान लक्षण है तब तो दोनों में भेद नहीं होगा । वस्तुतः प्रकरणिका के वस्तु, रस और नायक का प्रकरण से कोई भेद नहीं होता, अतः वह प्रकरण से भिन्न नहीं (?) [क्योंकि वस्तु नायक तथा रस ही रूपकों के भेदक तत्त्व हैं] ।

इस प्रकार जिसका (दस रूपकों में) नाम निर्देश नहीं किया गया था उस नाटिका का जो भरतमुनि ने लक्षण किया है. इसका यह अभिप्राय है कि शुद्ध रूपकों (नाटक और प्रकरण) के लक्षणों के संकर (मिश्रण) से ही उस (नाटिका) का लक्षण सिद्ध है फिर उसका लक्षण इस नियम के लिये किया गया है—संकीर्ण रूपकों में विशेषतः नाटिका की ही रचना करनी चाहिये (अन्यों की नहीं) ।

टिप्पणी—(१) यद्यपि नाटिका दस रूपकों में नहीं आती तथापि भरत ने इसका (१८.५७ तथा आगे) लक्षण किया है । ना० शा० का अनुसरण करते हुए दश० में भी इसका लक्षण दिया गया है । (२) नाटिका संकीर्ण रूपक है । जैसा कि ऊपर (१.७ टि०) कहा जा चुका है, नाटक आदि दस शुद्ध रूपक हैं । उनमें से किसी दो या अधिक के लक्षण जिसमें होते हैं वह संकीर्ण रूपक कहलाता है । ऐसे सङ्कीर्ण रूपक अनेक प्रकार के हो सकते हैं । नाटिका में नाटक तथा प्रकरण दोनों के लक्षणों का संकर होता है । (३) अन्यनिवृत्तये—धनञ्जय का विचार है कि भरतमुनि ने नाटिका का लक्षण इसलिये किया है कि सङ्कीर्ण रूपकों में नाटिका ही अधिक वाञ्छनीय है, अन्य सङ्कीर्ण रूपक इतने वाञ्छनीय नहीं । अभिनवगुप्ताचार्य का मत इससे भिन्न है । तदनुसार भरतमुनि ने नाटक और प्रकरण के संकर से बनने वाले सङ्कीर्ण रूपक (नाटिका) का लक्षण करके अन्य सङ्कीर्ण रूपकों का भी दिग्दर्शन करा दिया है (४) 'अनयोश्च०' इत्यादि ना० शा० के श्लोक के आधार पर किन्हीं (२) व्याख्याकारों ने नाटिका और प्रकरणिका दो पृथक्-पृथक् सङ्कीर्ण नाटक जाते थे । धनिक ने उनके मत का खण्डन किया है । किन्तु आगे चलकर ना० द० (१.३) में नाटिका और प्रकरणिका दोनों को पृथक्-पृथक् माना गया है और इन्हें रूपकों में जोड़कर १२ रूपक मान लिये गये हैं । सा० द० में भी १८ उपरूपकों में नाटिका और प्रकरणिका दोनों को पृथक्-पृथक् गिनाया गया है कहना न होगा कि धनञ्जय ने नाटिका को सङ्कीर्ण रूपक माना है । यह 'डोम्बी' इत्यादि नृत्य काव्यों से नितान्त भिन्न है । सा० द० आदि में सङ्कीर्ण रूपकों तथा डोम्बी इत्यादि नृत्यों को समान रूप से उपरूपकों के अन्तर्गत कैसे रख दिया है, यह चिन्तनीय है । (५) बन्धयोगात्—इतिवृत्तादिसाम्यात् (प्रभा) ।

(नाटिका में) उस (नाटक और प्रकरण के) संकर को दिखलाते हैं—

तमेव सङ्करं दर्शयति—

(४७) तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः ।।४७।।

प्रख्यातो धीरललितः शृङ्गारोऽङ्गी सलक्षणः

उत्पाद्येतिवृत्तत्वं प्रकरणधर्मः, प्रख्यातनृपनायकादित्वं तु नाटकधर्म इति ।

एवं च नाटकप्रकरणनाटिकातिरेकेण वस्त्वादेः प्रकरणिकायामभावादङ्कपात्र-भेदाद् यदि भेदस्तत्र (तदा)—

(४८) स्त्रीप्रायचतुरङ्कादिभेदकं यदि चेष्यते ।।४४।।

एकद्वित्र्यङ्कपात्रादिभेदेनानन्तरूपता ।

तत्र नाटिकेतिस्त्रीसमाख्ययौचित्यप्राप्तं स्त्रीप्रधानत्वम्, कैशिकीवृत्त्याश्रयत्वाच्च तदङ्गसंख्ययाऽल्पावमर्शत्वेन चतुरङ्कत्वमप्यौचित्यप्राप्तमेव ।

नाटिका में प्रकरण (के लक्षण) से वस्तु ली जाती है (अर्थात् वह कवि-कल्पित होती है) । इसका नायक नाटक (के लक्षण) से लिया जाता है । वह राजा होता है । वह प्रख्यात तथा धीरललित होता है । नाटिका में अपने लक्षणों सहित शृङ्गार रस अङ्गी (प्रधान) होता है ।।४३-४४।।

कल्पित इतिवृत्त होना, यह प्रकरण की विशेषता (धर्म) है और प्रख्यात राजा नायक होता है, इत्यादि नाटक की विशेषता है (ये दोनों विशेषताएँ नाटिका में भी होती हैं) ।

टिप्पणी—ना० शा० (१८·५८), भा० प्र० (पृ० २४३), ना० द० (२.१२१), सा० द० (६·२६६) ।

इस प्रकार प्रकरणिका में नाटक, प्रकरण तथा नाटिका से भिन्न वस्तु आदि नहीं होती । फिर भी यदि अङ्कों की संख्या और पात्रों के भेद से (दोनों में) भेद माना जाये तब तो—(रूपकों के अनेक भेद हो जायेंगे, यह बतलाते हैं)—

स्त्री-पात्रों का बाहुल्य, चार अङ्क होना इत्यादि को यदि (प्रकरणिका और नाटिका का) भेदक माना जाये तब तो एक, दो या तीन अङ्क तथा पात्र आदि के भेद से (रूपकों के) अनन्त प्रकार हो जायेंगे ।।४४-४५।।

यहाँ (i) नाटिका इस स्त्री-वाची नाम (समाख्या) से तथा (ii) नाटिका कैशिकी वृत्ति का आश्रय होती है, इस हेतु से भी नाटिका में स्त्री पात्रों की प्रधानता मानना उचित है । उस (कैशिकी वृत्ति) के (नर्म आदि चार) अङ्गों की संख्या के अनुसार एवं अवमर्श सन्धि के अत्यल्प होने के कारण भी नाटिका में चार अङ्क होते हैं, यह मानना उचित है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (स्त्रीप्राया चतुरङ्का १८·५६), भा० प्र० (पृ० २४४), ना० द० (२·१२१), सा० द० (६.२६६) । (२) कारिका का भाव यह है कि नाटिका में स्त्री-पात्रों का बाहुल्य होता है, चार अङ्क होते हैं, यह ठीक है । किन्तु

विशेषस्तु—

(४९) देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥४५॥
गम्भीरा मानिनी कृच्छ्रात्तद्वशान्नेतृसङ्गमः ।

प्राप्या तु—

(५१) *नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा ॥४६॥

तादृशीति नृपवंशजत्वादिधर्मातिदेशः ।

(५१) अन्तः पुरादिसम्बन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः ।
अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम् ॥४७॥

केवल अङ्कों की संख्या और पात्रों के भेद से रूपकों के भेद नहीं होते, अपितु वस्तु नायक और रस के भेद से रूपकों के भेद हुआ करते हैं, । (३) स्त्रीपाया (स्त्रीप्रधानत्व) =स्त्री पात्रों का बाहुल्य, प्रथम तो 'नाटिका' यह स्त्रीवाचक शब्द ही सूचित करता है कि नाटिका में स्त्री-पात्रों का बाहुल्य होता है, दूसरे नाटिका में कैशिकी वृत्ति की प्रधानता होने के कारण शृङ्गार रस की प्रमुखता होती है और इसलिये स्त्री पात्रों की अधिक हुआ करती है । (४) चतुरङ्कत्वम् =नाटिका में चार अङ्क होते हैं. (i) यहाँ कैशिकी वृति का आश्रय लिया जाता है, जिसके (नर्म आदि) चार अङ्ग होते हैं अत: उन अङ्गों की संख्या के अनुसार नाटिका में चार अङ्क होते हैं । (ii) कथा-वस्तु के पाँच भाग (सन्धियां) होते हैं अत: सामान्यत: रूपक में पांच अङ्क होने चाहियें । किन्तु नाटिका में अवमर्श सन्धि अत्यन्त संक्षिप्त होती है । अत: अवमर्श सन्धि और निर्वहण सन्धि से सम्बद्ध इतिवृत्त को एक अङ्क में रख दिया जाता है । इस प्रकार चार ही अङ्क होते हैं ।

नाटिका में (तत्र) विशेष बातें ये हैं:—

उस (नाटिका) में देवी (महारानी) ज्येष्ठा होती है, वह राजवंशोत्पन्ना होती है, प्रगल्भा, गम्भीरा तथा मानिनी होती है । उसके अधीन होने के कारण (प्राप्य नायिका के साथ) नायक का मिलन बड़ी कठिनाई से होता है ॥४५-४५॥

प्राप्तव्या तो—

नायिका उसी प्रकार की (अर्थात् राजवंशोत्पन्ना) तथा मुग्धा होती है । वह दिव्य गुणों वाली और अत्यधिक मनोहर होती है ॥४६॥

'तादृशी' (वैसी) शब्द के द्वारा राजवंश में उत्पन्न होना इत्यादि विशेषताओं की समानता दिखलाई गई हैं ।

अन्तःपुर आदि से सम्बन्ध होने के कारण वह (प्राप्य नायिका) नायक के निकट होती है । उसके विषय में सुनकर तथा उसे देखकर (श्रुतिदर्शनैः)

---

*प्राप्यान्या' इत्यपि पाठः ।

नेता तत्र प्रवर्त्तेत देवीत्रासेन शङ्कितः ।

तस्यां मुग्धनायिकायामन्तः पुरसंबन्धसङ्गीतकमबन्धादिना प्रत्यासन्नायां नायकस्य देवीप्रतिबन्धान्तरित उत्तरोत्तरो नवावस्थानुरागो निबन्धीयः ।

(५२) कैशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिव नाटिका ।।४८।।

प्रत्यङ्कोपनिबद्धाभिहितलक्षणकैशिक्यङ्गचतुष्टयवती नाटिकेति ।

अथ भाणः—

(५३) भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा ।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ।।४९।।
सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।
सूचयेद्वीरश्रृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवैः ।।५०।।

नायक का उसके प्रति (तस्याम्) उत्तरोत्तर नवीन अनुराग होता है । और, वह नायक देवी के भय से शङ्कित हुआ उस नायिका की ओर प्रवृत्त हुआ करता है ।।४७-४८।।

अर्थात् मुग्धा नायिका अन्तःपुर में वास अथवा सङ्गीत आदि के सम्बन्ध से नायक के निकट होती है। उसके प्रति नायक का ऐसा अनुराग (नाटिका में)दिखलाना चाहिये, जिसके बीच में देवी की बाधा हो (देवी—रूप विघ्न से व्यवहित हो) और जो उत्तरोत्तर नया होता जाता हो ।

और, यह नाटिका जिस प्रकार चार अङ्कों से युक्त होती है, उसी प्रकार कैशिकी वृत्ति के चार अङ्गों (नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ) से युक्त होती है ।

अर्थात् नाटिका के प्रत्येक अङ्क में उपर्युक्त लक्षण वाले कैशिकी वृत्ति के चारों अङ्गों में से एक-एक दिखाया जाता है ।

टिप्पणी—(१) नाटिका-लक्षण—ना० शा० (१८·५७–६०) भा० प्र० (पृ० २४३-२४४), ना० द० (२·१२१-१२३) सा० द० (६·२६९-२७२)। (२) कैशिकी वृत्ति और उसके अङ्ग (द्र० ऊपर २·४८--५२)। (३) हर्षकृत रत्नावली तथा प्रियदर्शिका आदि नाटिका के उदाहरण हैं। नाटिका का एक प्रकार 'सट्टक' भी माना जाता है । इसमें प्रवेशक और विष्कम्भक नहीं होते । अङ्कों के स्थान पर चार बार यवनिकापात दिखलाया जाता है और प्राकृतभाषा का ही प्रयोग होता है; जैसे राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी एक सट्टक है । (मि०, भा० प्र० पृ० २४४)।

भाण वह (रूपक) है, जिसमें (i) कोई कुशल एवं बुद्धिमान् विट (द्र० टि०) अपने द्वारा अनुभूत या किसी दूसरे के द्वारा अनुभूत धूर्त-चरित का वर्णन करता है; (ii) वह आकाशभाषित के द्वारा सम्बोधन एवं उक्ति प्रत्युक्ति करता है; (iii) शौर्य के वर्णन (संस्तव) द्वारा वीर रस की तथा विलास (सौभाग्य)

भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्कं वस्तु कल्पितम् ।
मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च ।।५१।।

धूर्तश्चौरद्यूतकारादयस्तेषां चरितं तत्रैक एव विटः स्वकृतं परकृतं वोपवर्णयति स भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद्भाणः । एकस्य चोक्तिप्रत्युक्तय आकाशभाषितैराशङ्कितोत्तरत्वेन भवन्ति । अस्पष्टत्वाच्च वीरशृङ्गारौ सौभाग्यशौर्यवर्णनया सूचनीयौ ।

के वर्णन द्वारा शृङ्गार रस की सूचना देता है; (iv) उसमें अधिकतर भारती वृत्ति होती है; (v) एक अङ्क होता है; (vi) कथावस्तु कल्पित होती है, (vii) अपने अङ्गों सहित मुख और निर्वहण दो सन्धियाँ होती है और (viii) लास्य के दस अङ्ग होते हैं।

(कारिका में) धूर्त से अभिप्राय है चोर, जुआरी इत्यादि । जहाँ अपने द्वारा किये गये (अनुभूत=कृत) अथवा दूसरे के द्वारा किये गये उन (धूर्तों) के चरित का अकेला विट ही वर्णन करता है, वह (रूपक) भारती वृत्ति की प्रधानता होने के कारण भाण कहलाता है। एक ही व्यक्ति की उक्ति प्रत्युक्तियाँ आकाशभाषित (नामक नाटचोक्ति) के द्वारा (क्या कहा ? मैं यहाँ हूँ, इत्यादि) उत्तर की आशङ्का करके बन जाती हैं। और, यहाँ अस्पष्ट होने के कारण विलास (सौभाग्य) तथा शौर्य की वर्णना द्वारा ही क्रमशः शृङ्गार तथा वीररस की सूचना दी जाती है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८·१०७-११०); भा० प्र० (पृ० २४४-२४५), ना० द० (२· १२९-१३०), प्रता० (३.३९-४०), सा० द० (६·२२७·२३०)। (२) भारतीवृत्तिप्रधानत्वात् भाणः,—भारती वृत्ति शब्द-वृत्ति है । इसमें वाचिक अभिनय की प्रधानता होती है । विशेष रूप से वाचिक व्यापार (=भणन) के कारण ही यह रूपक भाण कहलाता है। ना० द० के अनुसार—'भण्यते व्योमोक्त्या नायकेन स्वपरवृत्तं प्रकाश्यतेऽत्रेति भाणः, (३) अस्पष्टत्वात्—भाण में किसी वीर-रसप्रधान या शृङ्गार-प्रधान चरित्र का वर्णन नहीं होता अतः ये रस स्पष्टतः नहीं दिखलाये जाते; अपि तु विलास-वर्णन के द्वारा शृङ्गार रस की सूचना दी जाती है और शौर्य वर्णन द्वारा वीर रस की। अस्पष्टत्वात्=शृङ्गारवीरप्रधानचरितस्यादर्शनाद् भाणे। (४) आकाश-भाषित का लक्षण (ऊपर १·६७), भारतीवृत्ति (ऊपर ३·५ तथा आगे। (५) विट द्र० (ऊपर २·९), ना० शा० (३५·५५) तथा सा० द० (३·४१) (६) सा० द० में 'लीलामधुकर' नामक भाण उदाहरण के रूप में दिखलाया गया है।

लास्याङ्गानि—

(५५) गेयं पदं स्थितं पाठचमासीनं पुष्पगण्डिका ।
प्रच्छेदकस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ॥५३॥
उत्तमोत्तमक चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च ।
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशकल्पनम्* ॥५२॥

शेषं स्पष्टमिति ।

लास्य के अङ्ग—

(१) गेयपद, (२) स्थितपाठ, (३) आसीन, (४) पुष्पगण्डिका, (५) प्रच्छेदक, (६) त्रिगूढ, (७) सैन्धव, (८) द्विगूढक, (९) उत्तमोत्तमक और (१०) उक्तप्रत्युक्त—इन दस प्रकार के अङ्गों का लास्य में निर्देश किया गया है ॥५२–५३॥

शेष स्पष्ट है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८·११९–१३५), भा० प्र० (पृ० २४५-२४६), सा० द० (६·२१२–२२३) । (२) लास्याङ्गों के प्रयोग से नाटच मे विशेष हृदयाह्लादकता (व्यञ्जना-वैचित्र्य) आ जाया करती है, इसीलिये इनका रूपक में विधान किया गया है (अभि० भा० १९·१२०) । (३) विविध ग्रन्थों में निरूपित लास्याङ्गों के स्वरूप में अन्तर है । सा० द० के अनुसार इनका संक्षिप्त स्वरूप यह है :—

(१) **गेयपद**—सामाजिकों के सामने बैठकर वीणा आदि वाद्य के साथ अभिनय-शून्य (शुद्ध) गाना ही गेयपद है ।

(२) **स्थितपाठच**—काम-पीड़ित नायिका का बैठकर प्राकृत भाषा में गाना स्थितपाठच है ।

(३) **आसीन**—शोक या चिन्ता से युक्त नारी का विना किसी वाद्य के और विना आङ्गिक अभिनय के ही बैठकर गाना आसीन है ।

(४) **पुष्पगण्डिका**—आतोद्य (वाद्य) के साथ पुरुष के वेष में स्त्री का विविध छन्दों में गाना पुष्पगण्डिका है ।

(५) **प्रच्छेदक**—अपने प्रियतम को अन्य नायिका में आसक्त मानकर प्रेम-विच्छेद से उत्पन्न क्रोध के साथ स्त्री का वीणा-सहित गायन ही प्रच्छेदक है ।

(६) **त्रिगूढ**—स्त्रीवेशधारी पुरुषों का मधुर अभिनय त्रिगूढ है ।

(७) **सैन्धव**—जब कोई पात्र रसोचित सङ्केत को भूलकर (भ्रष्टसङ्केतः, अभि० भा०) वीणा आदि वाद्य की क्रिया से युक्त होकर प्राकृत वचन कहता है, वह सैन्धव है ।

(८) **द्विगूढ**—मुख तथा प्रतिमुख से युक्त, चतुरस्रपद तथा रस-भाव आदि से पूर्ण गीत द्विगूढ है (यहाँ मुख प्रतिमुख एवं चतुरस्रपद का अर्थ विवादास्पद है) ।

(९) **उत्तमोत्तमक**—कोप, प्रसाद तथा अधिक्षप से युक्त, उत्तरोत्तर रस का आश्रय, हाव-हेला से युक्त, विचित्र श्लोक-रचना से मनोहर गायन उत्तमोत्तमक है ।

(१०) **उक्तप्रत्युक्त**—उक्ति-प्रत्युक्ति से युक्त, उपालम्भपूर्ण, झूठ से युक्त तथा विलास से युक्त गीत उक्त-प्रत्युक्त है ।

---

* लक्षणम् इति पाठान्तरम् ।

अथ प्रहसनम्—

(५५) तद्वत्प्रहसनं त्रेधा शुद्धवैकृतसङ्करैः ।

तद्वदिति—भाणवद्वस्तुसन्धिसन्ध्यङ्गलास्यादीनामतिदेशः ।

तत्र शुद्धं तावत्—

(५६) पाखण्डिविप्रप्रभृतिचेटचेटीविटाकुलम् ॥५४॥
चेष्टितवेषभाषाभिः शुद्धं हास्यवचोन्वितम् ।

पाखण्डिनः=शाक्यनिर्गन्थप्रभृतयः, विप्राश्चात्यन्तमृजवः, जातिमात्रोपजीविनो वा प्रहसनाङ्गिहास्यविभावाः । तेषां च यथावत्स्वव्यापारोपनिबन्धनं चेटचेटीव्यवहार-युक्तं शुद्धं प्रहसनम् ।

विकृतं तु—

(५७) कामुकादिवचोवेषैः षण्डकञ्चुकितापसैः ॥५४॥
विकृतं,

---

४. प्रहसनं—

उस (भाण) के समान ही प्रहसन होता है। वह शुद्ध, वैकृत और सङ्कर के भेद से तीन प्रकार का है ॥५४-५५॥

(कारिका में) तद्वत् (उसके समान) भाण के समान, इस प्रकार वस्तु सन्धि, सन्ध्यङ्ग और लास्य आदि की (भाण के साथ) समानता दिखलाई गई है (अतिदेशः) ।

उनमें से शुद्ध प्रहसन है—

जो पाखण्डी, विप्र इत्यादि तथा चेट चेटी और विट से भरा होता है, उनके चरित, वेष तथा भाषा से युक्त होता है (?) तथा हास्य-वचनों से व्याप्त होता है, वह शुद्ध प्रहसन है ।

पाखण्डी=बौद्ध और निर्ग्रन्थ (नग्न या जैन), इत्यादि विप्र अर्थात् अत्यन्त सरल स्वभाव वाले अथवा केवल जाति से जीविका चलाने वाले ब्राह्मण । ये प्रहसन के अङ्गी (प्रधान) रस हास्य के विभाव होते हैं । जहाँ इनके अपने चरित (व्यापार) का यथोचित निरूपण किया जाता है और जो चेट चेटी आदि के व्यवहार से युक्त होता है, वह शुद्ध प्रहसन है ।

विकृत प्रहसन—

जो कामुक आदि की भाषा और वेष को धारण करने वाले नपुंसक, कञ्चुकी तथा तपस्वी पात्रों से युक्त होता है, वह विकृत प्रहसन है ॥५५॥

कामुकादयो भुजङ्गचारभटाद्याः । तद्वेषभाषादियोगिनो यत्र षण्डकञ्चुकितापसवृद्धादयस्तद्विकृतम्, स्वस्वरूपप्रच्युतविभावत्वात् ।

(५७ क) सङ्कराद्वीथ्या सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ।

वीथ्यङ्गैस्तु सङ्कीर्णत्वात् सङ्कीर्णम् ।

(५८) रसस्तु भूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव तु ॥५६॥

इति स्पष्टम् ।

कामुक इत्यादि का अर्थ है कामुक (भुजङ्ग) दूत (चार) और योद्धा इत्यादि । उनके वेश-भाषा आदि को धारण करने वाले नपुंसक, कञ्चुकी, तपस्वी तथा वृद्ध आदि जहाँ होते हैं, वह विकृत प्रहसन है, क्योंकि वहाँ जो (कामुक आदि) विभाव हैं, वे अपने-अपने (नपुंसक आदि) रूप को छोड़कर इन विभावों के रूप में आते हैं (यह विकृति = परिवर्तन है) ।

सङ्कीर्ण प्रहसन—

वीथी (के अङ्गों) से मिश्रित तथा धूर्तों से भरा हुआ प्रहसन सङ्कीर्ण कहलाता है ।

वीथी के अङ्गों से सङ्कीर्ण होने के कारण यह सङ्कीर्ण कहलाता है ।

प्रहसन में ६ प्रकार का हास्य प्रचुरता से रखना चाहिये ॥५६॥

यह स्पष्ट ही है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८· १०१–१०७), भा० प्र० (पृ० २४७), ना० द० (२·१३१–१३३), प्रता०, (३·४१–४४), सा० द० (६· २६४--२६८) । (२) ना० शा० तथा ना० द० में प्रहसन के दो भेद किये गये हैं–शुद्ध तथा सङ्कीर्ण । सा० द० में कहा गया है कि भरतमुनि के अनुसार विकृत का भी सङ्कीर्ण में ही अन्तर्भाव हो जाता है । (३) प्रहसन के लक्षण तथा भेदों के स्वरूप के विषयों में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं । दश० का पाठ भी अत्यन्त स्पष्ट नहीं है । दश० के अनुसार यह कहा जा सकता है कि जो भाण के समान वस्तु, सन्धि सन्ध्यङ्ग और लास्याङ्गों से युक्त होता है, जिसमें ६ प्रकार के हास्य का प्रचुरता से निरूपण किया जाता है वह प्रहसन नामक रूपक है । हास्य के ६ प्रकार हैं—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित अपहसित अतिहसित (आगे ४·७६-७७) । प्रहसन के तीन प्रकार हैं (i) शुद्ध—जिसमें पाखण्डी आदि में से किसी एक के चरित्र का वर्णन किया जाता है अर्थात् पाखण्डी विभाव होते हैं और उनके प्रति चेट, चेटी विट आदि के हास्यवचनपूर्ण व्यवहार दिखलाये जाते हैं । जैसे कन्दर्पकेलि (सा० द०) सागर-कौमुदी (भा० प्र०) शुद्ध प्रहसन हैं । (ii) विकृत—जिसमें नपुंसक, कञ्चुकी तपस्वी आदि कामुक आदि का वेष धारण करके उनकी भाषा में ही उनके चरित को प्रकट करते हैं, जैसे कलिकेलि (भा० प्र०) । (iii) सङ्कीर्ण—जो वीथी के अङ्गों से युक्त होता है तथा जिसमें अनेक धूर्तों का चरित वर्णित होता है, जैसे धूर्तचरितम् (सा० द०) सैरन्ध्रिका (भा० प्र०) । (४) चेष्टितम्—वृत्तं (ना० द० २–१३), चरित ।

अथ डिमः—

(५६) डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्याद् वृत्तयः कैशिकीं विना ।
नेतारो देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः ॥७५॥
भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः ।
रसैरहास्यश्रृङ्गारैः षड्भिर्दीप्तैः समन्वितः ॥५८॥
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।
चन्द्रसूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि ॥५६॥
चतुरङ्कश्चतुस्सन्धिर्निर्विमर्शो डिमः स्मृतः ।

'डिम सङ्घाते' इति नायकसङ्घातव्यापारात्मकत्वाद् डिमः । तत्रेतिहासप्रसिद्धमितिवृत्तम्, वृत्तयश्च कैशिकीवर्जास्तिस्रः, रसाश्च वीररौद्रबीभत्साद्भुतकरुणभयानकाः षट्, स्थायी तु रौद्रो न्यायप्रधानः, विमर्शरहिता मुखप्रतिमुखगर्भनिर्वहणाख्याश्चत्वारः सन्धयः साङ्गाः, मायेन्द्रजालाद्यनुभावसमाश्रयाः (य)। शेषं प्रस्तावनादि नाटकवत् । एतच्च—

'इदं त्रिपुरदाहे तु लक्षणं ब्रह्मणोदितम् ।
ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः ॥'

इति भरतमुनिना स्वयमेव त्रिपुरदाहेतिवृत्तस्य तुल्यत्वं दर्शितम् ।

---

५. डिम--

डिम नामक रूपक में कथावस्तु प्रसिद्ध (प्रख्यात) होती है । इसमें कैशिकी को छोड़कर अन्य वृत्तियाँ (सात्त्वती, आरभटी और भारती) होती हैं । देव, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस, महासर्प, भूत प्रेत पिशाच आदि १६ उद्धत नायक (पात्र) होते हैं । यह हास्य और श्रृङ्गार से भिन्न ६ दीप्त रसों से युक्त होता है। इसमें न्यायप्रधान रौद्र रस अङ्गी होता है । यह माया, इन्द्रजाल, युद्ध, क्रोध और उद्भ्रान्ति (उत्तेजना) आदि चेष्टाओं से तथा चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण से युक्त होता है । चार अङ्कों वाला, विमर्श सन्धि के अतिरिक्त चार सन्धियों वाला यह रूपक डिम कहा गया है ॥५७–५६॥

'डिम संघाते' यह धातु है । इस रूपक में (सोलह) नायकों के समुदाय का चरित दिखलाया जाता है अतः यह डिम कहलाता है । इसमें (i) इतिहास आदि में प्रसिद्ध इतिवृत्त होता है । (ii) कैशिकी को छोड़कर शेष तीन वृत्तियाँ होती हैं । (iii) वीर, रौद्र, बीभत्स अद्भुत, करुण और भयानक से ६ रस होते हैं । (iv) जिसमें न्याय की प्रधानता होती है ऐसा रौद्र प्रधान (अङ्गी) रस होता है । (v) विमर्श के अतिरिक्त मुख, प्रतिमुख, गर्भ और निर्वहण नामक चार सन्धियां अङ्गों सहित होती हैं तथा (vi) इसमें माया इन्द्रजाल इत्यादि अनुभावों का आश्रय लिया जाता है । (iiv) शेष प्रस्तावना आदि नाटक के समान ही होते हैं । और, यह बात भरतमुनि (४·१०) ने स्वयं ही त्रिपुरदाह के इतिवृत्त की समानता के द्वारा इस प्रकार दिखलाई है—ब्रह्मा ने त्रिपुरदाह में यह लक्षण बतलाया है इसी से त्रिपुरदाह को डिमसञ्ज्ञक कहा गया है ।'

अथ व्यायोगः—

(६०) ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः ॥६॥
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः ।
अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा ॥६१॥
एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः ।

व्यायुज्यन्तेऽस्मिन्बहवः पुरुषा इति व्यायोगः । तत्र डिमवद्रसाः षट् हास्य-श्रृङ्गाररहिताः । वृत्त्यात्मकत्वाच्च रसानामवचनेऽपि कैशिकीरहितेतरवृत्तित्वं रसवदेव

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८.८४.८८), भा० प्र० (पृ० २४७-२४८), ना० द० (२.१३४-१३५), प्रता० (३.४५-४७), सा० द० (६.२४१-२४४) । (२) दीप्तः-वीर आदि दीप्त रस माने जाते हैं । अभि० भा० के अनुसार इस शब्द से यह प्रकट किया गया है कि डिम में शान्त रस नहीं होता, वीर आदि दीप्त रस ही होते हैं । (३) न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि—'न्याय्य' शब्द का अर्थ है न्याययुक्त । धनिक ने इसे 'न्यायप्रधान शब्द से कहा है । भाव यह है कि डिम में रौद्र रस की प्रधानता होती है और उसका स्थायी भाव जो क्रोध है वह न्यायपूर्ण (उचित) हुआ करता है । जैसे त्रिपुरदाह में शिव का क्रोध न्यायपूर्ण है (मि०, न्यायमार्गीणनायकः भा० प्र०) । (४) भा० प्र० में त्रिपुरदाह के समान वृत्रोद्धरण, तारकोद्धरण दो अन्य डिमो का भी नामोल्लेख किया गया है ।

३. व्यायोग—

व्यायोग की (i) कथावस्तु प्रसिद्ध (ख्यात) होती है । (ii) उसमें प्रख्यात तथा उद्धत नायक का आश्रय लिया जाता है । (ii) वह गर्भ एवं विमर्श सन्धि से रहित होता है । (iv) उसमें डिम के समान ६ दीप्त रस हुआ करते हैं । [(v) कैशिकी के अतिरिक्त वृत्तियाँ होती हैं ।] (vi) उसमें ऐसे युद्ध का वर्णन होता है जो स्त्री के निमित्त नहीं किया जाता; जैसे 'जामदग्न्यजय' (नामक व्यायोग) में है । (vii) उसमें एक दिन के चरित को दिखलाने वाला एक अङ्क होता है । (viii) अधिक संख्या में पुरुष पात्र होते हैं ॥६०-६१॥

जिसमें बहुत से पुरुष पात्र प्रयुक्त किये जाते हैं वह व्यायोग कहलाता है (यह व्यायोग शब्द की व्युत्पत्ति है) । उसमें डिम के समान हास्य और श्रृङ्गार से भिन्न ६ रस होते हैं । और, रस वृत्त्यात्मक हुआ करते हैं, इसलिये यद्यपि (कारिका में व्यायोग की वृत्तियों का) निर्देश नहीं किया गया तथापि रसों के अनुसार ही कैशिकी को छोड़कर अन्य वृत्तियाँ इसमें होती हैं, यह प्रकट हो जाता है । इसमें ऐसे युद्ध का

लभ्यते । अस्त्रीनिमित्तश्चात्र संग्रामो यथा परशुरामेण पितृवधकोपात्सहस्रार्जुनवधः कृतः शेषं स्पष्टम् ।

अथ समवकारः—

(६१) कार्यं समवकारेऽपि आमुखं नाटकादिवत् ॥६२॥
ख्यातं देवासुरं वस्तु निर्विमर्शास्तु सन्धयः ।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नेतारो दैवदानवाः ॥६३॥
द्वादशोदात्तविख्याताः फलं तेषां पृथक्पृथक् ।

वर्णन होता है जिसका निमित्त स्त्री न हो, जैसे परशुराम ने अपने पिता के वध के क्रोध से सहस्रार्जुन को मार दिया था । शेष स्पष्ट ही है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८.९०-९३), भा० प्र० (पृ० २४८), ना० द० (२–१२५), प्रता० (३.४८), सा० द० (६.२३१–२३३) । (२) ना० द० के अनुसार व्यायोग में नायिका तथा दूती आदि प्रात्र नहीं होते । कैशिकी वृत्ति के न होने से उसमें स्त्री-पात्र स्वल्प होते हैं । (३) वृत्यात्मकत्वाच्च रसानाम्—क्योंकि भारती आदि जो शब्दवृत्ति एवं अर्थवृत्ति हैं, वे नायकों के नाट्यगत व्यापार ही हैं और दश० के अनुसार रस वाक्यार्थ के रूप में होता है अतः रस वृत्त्यात्मक हैं वृत्तियों के स्वरूप में हुआ करते हैं । इसलिये जहाँ रस हैं वहाँ वृत्तियाँ होती हैं । व्यायोग में भी रसों के अनुसार वृत्तियाँ होती हैं । यहाँ हास्य तथा श्रृङ्गार रस नहीं होते और श्रृङ्गार में कैशिकी वृत्ति हुआ करती है अतः वह व्यायोग में नहीं होती । (४) किन्हीं आचार्यों का मत है कि व्यायोग में समवकार के समान १२ नायक होते हैं (द्र० अभि० भा०, ना० द०) । इसका नायक राजर्षि या दिव्य होता है (ना० शा० तथा सा० द०) । (५) व्यायोग का उदाहरण है—सौगन्धिकाहरण (सा० द०) ।

७. अथ समवकार—

समवकार में भी नाटक आदि के समान (i) आमुख रखना चाहिये । (ii) इसमें देव तथा असुरों की प्रसिद्ध कथा होती है । (ii) विमर्श को छोड़कर अन्य चार सन्धियाँ होती हैं । (iv) कैशिकी की अल्पता के साथ चारों वृत्तियाँ होती हैं । (v) इतिहास-प्रसिद्ध उदात्त प्रकृति के देव एवं दानव बारह नायक होते हैं, उन सबके प्रयोजन भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं । (vi) उन सभी में वीर रस की प्रचुरता होती है जसे कि समुद्रमन्थन (नामक समवकार) में है । (vii) यह तीन अङ्कों का होता है । (viii) इसमें तीन कपट, तीन श्रृङ्गार

बहुवीररसाः सर्वे यद्वदम्भोधिमन्थने ॥६४॥
अङ्कैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिशृङ्गारस्त्रिविद्रवः ।
द्विसन्धिरङ्कः प्रथमः कार्यो द्वादशनालिकः* ॥६५॥
चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ नालिका †घटिकाद्वयम् ।
वस्तुस्वभावदैवारिकृताः स्युः कपटास्त्रयः ॥६६॥
नगरोपरोधयुद्धे वाताग्न्यादिकविद्रवाः ।
धर्मार्थकामैः शृङ्गारो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥६७॥
वीथ्यङ्गानि यथालाभं कुर्यात्प्रहसने यथा ।

समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः। तत्र नाटकादिवदामुखमिति समस्तरूपकाणामामुखप्रापणम् । विमर्शवर्जिताश्चत्वारः सन्धयः, देवासुरादयो द्वादश नायकः, तेषां च फलानि पृथक्पृथग्भवन्ति यथा समुद्रमन्थने वासुदेवादीनां लक्ष्म्यादिलाभाः, वीरश्चाङ्गी, अङ्गभूताः सर्वे रसाः त्रयोऽङ्काः, तेषां प्रथमो द्वादशनालिकानिर्वृत्तेतिवृत्त

और तीन विद्रव होते हैं। (ix) प्रथम अङ्क में (मुख तथा प्रतिमुख) दो सन्धियां रखनी चाहियें तथा इसकी कथा १२ नाड़ी (२४ घड़ी) की होनी चाहिये। शेष दो अङ्क क्रमशः (द्वितीय) चार नाड़ी (८ घड़ी) और (तृतीय) दो नाड़ी (४ घड़ी) के होने चाहियें। नाड़ी (नालिका) दो घड़ी की होती है। (x) समवकार में तीन कपट होते हैं—वस्तु स्वभावकृत, दैवकृत और अरिकृत। इसमें नगरोपरोध, युद्ध तथा वायु एवं अग्नि आदि द्वारा किये गये (तीन) विद्रव (उपद्रव) होते हैं। धर्म, अर्थ काम से युक्त (तीन प्रकार का) शृङ्गार होता है। (xi) इसमें बिन्दु (नामक अर्थप्रकृति) और प्रवेशक (नामक अर्थोपक्षेपक) नहीं होता। (xii) प्रहसन के समान ही यथायोग्य वीथी के अङ्ग भी हुआ करते हैं ॥६२–६७॥

जिसमें अनेक प्रयोजन भली भाँति निबद्ध किये जाते हैं वह समवकार है (यह समवकार शब्द की व्युत्पत्ति है)। इसमें भी नाटक आदि के समान आमुख होता है (कारिका के) इस वचन से सभी रूपकों में आमुख होना प्रकट होता है। समवकार में विमर्श को छोड़कर अन्य चार सन्धियाँ होती हैं। देव, असुर इत्यादि १२ नायक होते हैं, उनके प्रयोजन भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं, जैसे समुद्र-मन्थन में विष्णु आदि को लक्ष्मी आदि की प्राप्ति होती है। उसमें वीररस अङ्गी (प्रधान) होता है और अन्य सभी रस अङ्ग होते हैं। तीन अङ्क होते हैं। उनमें प्रथम अङ्क का इतिवृत्त १२ नाड़ी में समाप्त हुआ करता है। द्वितीय और तृतीय अङ्क क्रम से चार नाड़ी और दो नाड़ी के होते हैं। नाड़ी (नालिका) दो घड़ी (घटिका) की होती हैं। प्रत्येक अङ्क में क्रमशः कपट (प्रथम में वस्तुस्वभावकृत, द्वितीय में दैवकृत और तृतीय में अरिकृत) तथा नगर का घेरा, युद्ध एवं वायु और अग्नि आदि के विद्रवों में से कोई एक विद्रव

*'नाडिकः' इति पाठान्तरम् ।
†'नाडिका' इति पाठान्तरम् ।

प्रमाणः। यथासंख्यं चतुर्द्विनालिकावन्त्यो, नालिका च घटिकाद्वाद्वयम्। प्रत्यङ्कं च यथासंख्यं कपटाः, तथा नगरोपरोधयुद्धवाताग्न्यादिविद्रवाणां मध्य एकैको विद्रवः कार्यः। धर्मार्थकामश्रृङ्गाराणामेकैकः श्रृङ्गारः प्रत्यङ्कमेव विधातव्यः। वीथ्यङ्गानि च यथालाभं कार्याणि। बिन्दुप्रवेशकौ नाटकोक्तावपि नविधातव्यौ। इत्ययं समवकारः।

दिखलाया जाता है। धर्म श्रृङ्गार, अर्थ शृंगार और काम शृगार में से एक-एक श्रृङ्गार प्रत्येक अङ्क में दिखलाना चाहिये और वीथी के अङ्गों की भी यथायोग्य योजना करनी चाहिये। यद्यपि नाटक में बिन्दु और प्रवेशक का विधान किया गया है तथापि समवकार में वे नहीं रक्खे जाते। यही समवकार का स्वरूप है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८.६२–७७), भा० प्र० (पृ० २४९–२५०), ना० द० (२.१२६–१२९), प्रता० (३.४९–५२), सा० द० (६.२३४–२४०)। (२) सर्वेषां नायकानामर्थाः=प्रयोजनानि समवकीर्यन्ते=एकत्रीभवन्ति, अत्रेति समवकार इत्यर्थः (प्रभा)। (३) त्रिकपट–कपट – वञ्चना (अभि० भा०), सत्य सा प्रतीत होने वाला मिथ्या-कल्पित प्रपञ्च (ना० द०)। तीन प्रकार के कपट की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई हैं। संक्षेप में क्रूर प्राणी आदि से उत्पन्न होने वाला वस्तुस्वभावकृत कपट है, दैवयोगात् वायु आदि से उत्पन्न होने वाला दैवकृत है और किसी अपकारी द्वारा किया गया शत्रुकृत है। (४) त्रिविद्रव—विद्रवाः=उपद्रवाः (प्रभा), अनर्थ, जिससे लोग डरकर भागते हैं। (अभि० भा०, ना० द०), कपटजन्य पलायन ही विद्रव है (प्रता० टीका)। इसके तीनों भेदों की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। धनञ्जय ने ना० शा० के वचन को ही कुछ हेर-फेर करके रख दिया है। अभिनवगुप्ताचार्य ने अचेतनकृत (वायु आदि से किया गया), चेतनकृत (हाथी आदि से किया गया) और उभयकृत (नगरोपरोध से किया गया),—ये तीन भेद किये गये हैं। ना० द० तथा सा० द० में अभि० भा० का ही अनुसरण किया है। त्रिश्रृङ्गार-श्रृङ्गार=श्रृङ्गार का विषय प्रमदा (अभि० भा०) अथवा श्रृङ्गारः का प्रसिद्ध अर्थ रतिभाव ही ग्राह्य है। (अभि० भा० के अनुसार धर्मे श्रृङ्गारः= =धर्मश्रृङ्गारः, यह विग्रह है और सप्तमी विभक्ति (धर्मे) के द्वारा हेतु तथा फल दोनों प्रकट किये गये हैं। भाव यह है कि जहाँ रतिभाव (या प्रमदा) की प्राप्ति धर्म के द्वारा होती है और उसका फल भी धर्म का आचरण होता है वह धर्मश्रृङ्गार है; जैसे पति-पत्नी-संयोग धर्मश्रृङ्गार है। यह व्रत तथा तप आदि से प्राप्त होता है और इसका फल है परस्त्रीत्याग आदि करते हुए गृहस्थ धर्म का पालन करना। अर्थश्रृङ्गार है वेश्या आदि से संयोग। यह पुरुष को धन (अर्थ) के द्वारा प्राप्त होता है और वेश्या की अर्थ-प्राप्ति इसका फल है। परस्त्री से संयोग कामश्रृङ्गार जो कामवश किया जाता है और केवल सुख-भोग (काम) ही उसका फल है। (द्र० अभि० भा० तथा ना० द०) (५) समवकार का उदाहरण है समुद्रमन्थन या अमृतमन्थन (भा० प्र०)।

अथ वीथी—

(६२) वीथी तु कैशिकीवृत्तौ सन्ध्यङ्गैस्तु भाणवत् ॥६८॥
रसः सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम् ।
युक्ता प्रस्तावनाख्यातैरङ्गैरुद्घात्यकादिभिः ॥६९॥
एवं वीथी विधातव्या द्व्येकपात्रप्रयोजिता ।

वीथीवद्वीथी मार्गः अङ्गानां पङ्क्तिर्वा भाणवत्कार्या । विशेषस्तु रसः शृङ्गारोऽपरिपूर्णत्वाद् भूयसा सूच्यः, रसान्तराण्यपि स्तोकं स्पर्शनीयानि । कैशिकी वृत्ती रसौचित्यादेवेति । शेषं स्पष्टम् ।

---

८. वीथी—

वीथी तो कैशिकी वृत्ति में होती है । इसमें सन्धि के अङ्ग तथा अङ्क भाण के समान होते हैं (अर्थात् मुख और निर्वहण दो सन्धियाँ होती हैं और एक अङ्क होता है) इसका (प्रधान) सूच्य रस शृङ्गार होता है किन्तु अन्य रसों का भी स्पर्श करना चाहिये । यह प्रस्तावना के उद्घात्यक आदि अङ्गों से युक्त होती है । इस प्रकार एक या दो पात्रों के द्वारा प्रयुक्त वीथी की योजना करनी चाहिये ॥६८-६९॥

वीथी के समान होने से यह वीथी कहलाती है । वीथी का अर्थ है—मार्ग अथवा अङ्गों की पंक्ति । वीथी में अङ्गों की योजना भाण की तरह करनी चाहिये, (भाण से) भेद यह है कि यहाँ पूर्ण वर्णन न होने के कारण शृङ्गार रस को ही बहुशः सूचित करना होता है, तथा अन्य रसों का भी अल्पमात्रा में स्पर्श किया जाता है । (शृङ्गार) रस के अनुकूल होने से ही यहाँ कैशिकी वृत्ति होती है । शेष स्पष्ट है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८.१११-११३), वीथ्यङ्ग, ११४...), भा० प्र० (पृ० २५१), ना० द० (२.१४०-१४१), प्रता० (३.५३-५४), सा० द० (६.२५३-२५४), वीथ्यङ्ग २५५···) । (२) विशेषस्तु=किन्तु भेद यह है । भाण में वीर और शृङ्गार दोनों को सूचित किया जाता है किन्तु वीथी में केवल शृङ्गार को । (३) अपरिपूर्णत्वात् =पूर्ण न होने के कारण, भाव यह है कि यहाँ शृङ्गार का पूर्णतया वर्णन नहीं किया जाता अतः उसको बहुत से उपायों द्वारा सूचित करना होता है । (४) एक पात्र के आकाशभाषित द्वारा या दो पात्रों की उक्ति-प्रत्युक्ति द्वारा वीथी में वस्तु-विवरण किया जाता है (सा० द०) । (५) (ना० द०) के अनुसार वीथी में वक्रोक्ति-वैचित्र्य हुआ करता है—वक्रोक्तमार्गेण गमनाद् वीथीव वीथी । वकुलवीथी और इन्दुलेखा इत्यादि वीथी रूपक हैं (भा० प्र०) ।

अथाङ्कः—

(६३) उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्धया प्रपञ्चयेत् ॥७०॥
रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः ।
भाणवत्सन्धिवृत्यङ्गैर्युक्तिः स्त्रीपरिदेवितैः ॥७१॥
वाचा युद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ ।

उत्सृष्टिकाङ्क इति नाटकान्तर्गताङ्कव्यवच्छेदार्थम् । शेषं प्रतीतमिति ।

---

९. उत्सृष्टिकाङ्क—

उत्सृष्टिकाङ्क (नामक रूपक) में (i) कवि को इतिहास-प्रसिद्ध इतिवृत्त अपनी बुद्धि से विस्तृत कर लेना चाहिये । (ii) इसमें करुण अङ्गी (स्थायी) रस होता है और (iii) साधारण जन नायक होते हैं । (iv) भाण के समान (मुख तथा निर्वहण) सन्धि, (भारती) वृत्ति तथा उनके अङ्गों की योजना (युक्तिः) होती है । (v) यह स्त्रियों के विलाप से युक्त होता है । (vi) इसमें वाग्युद्ध का वर्णन करना चाहिये तथा जय-पराजय का भी ॥७०-७१॥

नाटक के अङ्क से भेद दिखलाने के लिये उत्सृष्टिकाङ्क कहा जाता है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८.९३-९६), भा० प्र० (पृ० २५१-२५३), ना० द० (२.१३६-१३७), प्रता० (३.५५), सा० द० (६.२५०-२५२) । (२) ······ **व्यवच्छेदार्थम्**—यह एक अङ्क का रूपक है अतः इसे अङ्क भी कहा जा सकता है; किन्तु नाटक आदि में जो अङ्क होते हैं उनसे इसका भेद दिखलाने के लिये इसे उत्सृष्टिकाङ्कः कहते हैं (धनिक) । वस्तुतः इसके तथा नाटक आदि के अङ्क के रचना विधान में अन्तर है । (अङ्कलक्षणम्) उल्लङ्घ्य सृष्टिर्यस्य स उत्सृष्टिकः, स चासौङ्कश्च इति उत्सृष्टिकाङ्कः (मि०, प्रता० टीका) । अथवा उत्क्रान्ता विलोमरूपा सृष्टिर्यत्रेत्युत्सृष्टिकाङ्कः (सा० द०) । अभि० भा० तथा ना० द० के अनुसार तो यह उत्सृष्टिकाङ्कः इसलिये कहलाता है; क्योंकि इसमें शोकग्रस्त नारियों का विशेष रूप से चित्रण होता है—उत्सृष्टिकाः शोचन्त्यः स्त्रियः । ताभिरङ्कितत्वाद् उत्सृष्टिकाङ्कः । (३) **भाणवत् सन्धिवृत्यङ्गैर्युक्तिः**—यहां अङ्ग के स्थान पर 'अङ्क' वाञ्छनीय प्रतीत होता है जिससे भाण के समान एक अङ्क होता है, यह अर्थ भी प्रकट हो सके ।

अथेहामृग:

(६४) मिश्रमीहामृगे वृत्तं चतुरङ्कं त्रिसन्धिमत् ।।७२।।
नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत् ।।७३।।
दिव्यस्त्रियमनिछन्तीमपहारादिनेच्छत: ।
शृगाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत् ।।७४।।
संरम्भं परमानीय युद्धं व्याजान्निवारयेत् ।
वधप्राप्तस्य कुर्वीत वधं नैव महात्मनः ।।७५।।

मृगवदलभ्यां नायिकां नायकोऽस्मिन्नीहते इतीहामृगः। ख्याताख्यातं वस्तु। अन्त्य: =प्रतिनायको विपर्यासाद्विपर्ययज्ञानादयुक्तकारी विधेय: । स्पष्टमन्यत् ।

---

१०. ईहामृग—

ईहामृग नामक रूपक में (i) इतिवृत्त मिश्रित (अंशतः ख्यात, अंशत: कल्पित) होता है, (ii) जो चार अङ्कों तथा तीन सन्धियों (मुख, प्रतिमुख, निर्वहण) में विभक्त होता है, (iii) विना किसी नियम के नर तथा देव नायक और प्रतिनायक होते हैं जो इतिहास -प्रसिद्ध तथा धीरोद्धत होते हैं (iv) इनमें से अन्तिम (प्रतिनायक) भूल (भ्रान्ति) से अनुचित कार्य किया करता है। (v) वह न चाहती हुई दिव्य स्त्री को अपहरण आदि द्वारा प्राप्त करना चाहता है, इस प्रकार का वर्णन करके कवि को कुछ मात्रा में शृङ्गाराभास प्रदर्शित करना चाहिये । (vi) युद्ध को चरमसीमा के वेग (सरम्भ) तक पहुँचाकर किसी बहाने से रोक देना चाहिये तथा (vii) वध की अवस्था तक पहुँचे हुए वीर का (महात्मनः) वध नहीं करना चाहिये ।।७२–७५।।

इसमें मृग के समान नायक किसी अलभ्य नायिका को चाहता है इसलिये यह ईहा मृग कहलाता है। इसकी कथावस्तु अंशतः इतिहास-प्रसिद्ध तथा अंशतः कल्पित होती है। (कारिका में) अन्त्य: =प्रतिनायक; उसे विपर्यास अर्थात् मिथ्याज्ञान के कारण अनुचित कार्य करने वाला दिखलाना चाहिये। अन्य स्पष्ट ही है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (१८.८०–८३), भा० प्र० (पृ० २५३), ना० द० (२.१३८–१३९), प्रता० (३.५६–५७), सा० द० (६,२४५–२५०)। ना० द० तथा सा० द० में कुछ अधिक विशद विवेचन है। (२) अभि० भा० तथा ना० द० के अनुसार जिसमें केवल स्त्री के लिये मृग के समान ईहा होती है, वह ईहामृग कहलाता है—ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्था यत्र स ईहामृगः । (३) ईहामृग एक अङ्क या चार अङ्क का होता है। (ना० द०, सा० द०)। (४) शृङ्गाराभास—जहाँ अनुचित रति का वर्णन होता है वहाँ रत्याभास तथा शृङ्गाराभास होता है। ईहामृग में प्रतिनायक ऐसी नायिका की प्राप्ति के लिये चेष्टा करता है जो उससे प्रेम नहीं

(६५) इत्थं विचिन्त्य दशरूपकलक्ष्ममार्ग-
मालोक्य वस्तु परिभाव्य कविप्रबन्धान् ।
कुर्यादयत्नवदलङ्कृतिभिः प्रबन्धं
वाक्यैरुदारमधुरैः स्फुटमन्दवृत्तैः ॥७६॥

स्पष्टम् ।

इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके रूपकलक्षणप्रकाशो नाम तृतीयः प्रकाशः समाप्तः ।

करती वह रति उभयनिष्ठ नहीं अतः शृङ्गाराभास है (द्र०, सा० द० ३.२६२)। (५) वधप्राप्तस्य०—चाहे कथावस्तु के मूलभूत आख्यान में वीर का वध वर्णित हो तथापि यहाँ नहीं दिखलाना चाहिये (Haas)। नेपथ्य में भी वध का वर्णन न करना चाहिये (ना० द०)। (६) ईहामृग का उदाहरण है—कुसुमशेखर (भा० प्र०) या कुसुमशेखर-विजय (सा० द०)।

इस प्रकार दस रूपकों के लक्षणों के मार्ग का भली-भाँति विचार करके, वस्तु का निरीक्षण करके तथा कवियों की रचनाओं का अनुशीलन करके (परिभाव्य) किसी कवि को अकृत्रिम (अयत्नवद्) अलङ्कारों से युक्त, उदार (स्पष्ट अर्थ वाले) एवं मधुर वाक्यों तथा स्पष्ट और सरल छन्दों के द्वारा रूपक (प्रबन्ध) की रचना करनी चाहिये ॥७६॥

यह स्पष्ट ही है।

टिप्पणी—**अयत्नवद०**—'अयत्नवत्' के दो अर्थ हो सकते हैं—(i) यह कुर्यात् का क्रियाविशेषण है अयत्नवत् कुर्यात् = विना आयास के प्रबन्ध-रचना करे; अर्थात् रचना में स्वाभाविकता हो, सहज प्रतिभा का उच्छलन हो; one may produce without effort (Haas), अयत्नवत् = अनायासेन = अक्लिष्टम् इत्यर्थः। क्लिष्ट—रचनायामायाससंभवात् (प्रभा)। (ii) यह अलङ्कृति का विशेषण है—यत्नपूर्वक लाये गये अलङ्कारों के विना = स्वाभाविक (अकृत्रिम) अलङ्कारों से युक्त। इसके द्वारा कवियों को कृत्रिम अलङ्कारों की भरमार करने के प्रति सचेत किया गया है।

इस प्रकार इस तृतीय प्रकाश में नाटक आदि दस रूपकों के लक्षणों का विशद निरूपण किया गया है। प्रसङ्गानुसार नाटक का वस्तु-सन्निवेश, भारती वृत्ति उसके प्रस्तावना इत्यादि अङ्ग तथा अङ्क का स्वरूप आदि भी दिखलाये गये हैं।

इति तृतीयः प्रकाशः समाप्तः ।

———

अथ चतुर्थः प्रकाशः

अथेदानीं रसभेदः प्रदर्श्यते—

(१) विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥१॥

वक्ष्यमाणस्वभावैर्विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकैः काव्योपात्तैरभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरताम् = निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः। तेन रसिकाः सामाजिकाः, काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवद् आयुर्घृतमित्यादिव्यपदेशवत्।

वस्तु, नायक और रस ये तीन रूपकों के भेदक तत्त्व हैं। इनमें से वस्तु तथा नायक का विस्तारपूर्वक वर्णन प्रथम तथा द्वितीय प्रकाश में किया गया है। चतुर्थ प्रकाश में क्रम-प्राप्त रस का विवेचन किया जाता है।

अब यहाँ रस के भेद दिखलाये जाते हैं—

विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा आस्वादन के योग्य किया गया स्थायी भाव ही रस कहलाता है ॥१॥

(श्रव्य काव्य) के श्रोताओं तथा (अभिनय के) दर्शकों के हृदय में विशेष रूप से विद्यमान रति आदि स्थायी भाव होता है, जिसका लक्षण आगे कहा जायेगा। वह (स्थायी) आगे बतलाये गये स्वरूप वाले, काव्य में वर्णित अथवा अभिनय द्वारा प्रदर्शित विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव और सात्त्विक भावों के द्वारा आस्वादन के योग्य अर्थात् अत्यधिक आनन्दमय अनुभूति के रूप में कर दिया जाता है तथा रस कहलाता है। इस प्रकार सामाजिक (श्रोता तथा दर्शक) ही रसिक (= रस युक्त, रस का आस्वादन करने वाले) हैं। काव्य तो केवल उस प्रकार की आनन्दानुभूति के उद्बोधन का कारण होने से रसवत् (रसयुक्त, सरस काव्य इत्यादि) कहलाता है; जिस प्रकार (लोक में) 'आयुर्घृतम्' इत्यादि व्यवहार हुआ करता है।

टिप्पणी—(१) इसका आधार यह रस-सूत्र है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' (ना० शा० अ० ६. पृ० २७२)। तुलनार्थ द्र०, भा० प्र० (षष्ठोऽधिकारः), का० प्र० (४.२७-२८), ना० द० (३.१६३), प्रता० (पृ० १५१), सा० द० (३.१)। (२) आयुर्घृतम् इत्यादिव्यपदेशवत्—यह माना जाता है कि

तत्र विभावः—

(२) ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत् ।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ।।२।।

'एवमयम्' 'एवमियम्' इत्यतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशिष्टरूपतया ज्ञायमानो विभाव्यमानः सन्नालम्बनत्वेनोद्दीपनत्वेन वा यो नायकादिरभिमतदेशकालादिर्वा स विभावः । यदुक्तम्—'विभाव इति विज्ञातार्थ इति', तांश्च यथास्वं यथावसरं च रसेषूपपादयिष्यामः ।

घृत आयुवर्द्धक है । यहाँ घृत आयु वृद्धि का हेतु है । फिर भी औपचारिक रूप से यह कह दिया जाता है–आयुर्घृतम् अर्थात् घृत आयु ही है । इसीप्रकार काव्य या नाट्य सामाजिक के रसास्वादन का हेतु हुआ करता है । वह सहृदयों के हृदय में आनन्दानुभूति को उद्भावित करता है । यह आनन्दमय अनुभूति ही रस है, और अनुभूति चेतन का धर्म है । अतः रस सामाजिक के हृदय में रहा करता है । वह अचेतन काव्य में नहीं रह सकता । इस प्रकार औपचारिक रूप से ही ऐसा व्यवहार हुआ करता है कि यह काव्य सरस (रसवत्) है ।

विभाव

उनमें विभाव का स्वरूप यह है—

उन (रस के उद्भावकों में विभाव वह है जो स्वयं जाना हुआ होकर (स्थायी) भाव को पुष्ट करता है । वह आलम्बन और उद्दीपन के भेद से दो प्रकार का होता है ।।२।।

टिप्पणी—ना० शा० (अ० ७. पृ० ३४६, ३४७), भा० प्र० (पृ० ४), ना० द० (३.१६४), प्रता० (पृ० १५८) सा० द० (३. २८-२९) ।

'यह (दुष्यन्त आदि) ऐसा है, अथवा 'यह (शकुन्तला आदि) ऐसी है' इस प्रकार जो नायक आदि या अभीष्ट देशकाल आदि काव्य के अतिशयोक्ति रूप वर्णन के द्वारा विशिष्ट रूप वाले हो जाने के कारण आलम्बन के रूप में अथवा उद्दीपन के रूप में जाने जाते हैं (ज्ञायमानः=विभाव्यमानः) वे विभाव कहलाते हैं । जैसा कि (भरतमुनि ने ना० शा० पृ० ३४६) कहा है 'विभाव अर्थात् जाना हुआ अर्थ' । जिस रस के जो विभाव होते हैं (यथास्वम्) उनका यथावसर रसों (के प्रकरण) में प्रतिपादन करेंगे ।

टिप्पणी—(१) अतिशयोक्तिरूप०=अतिशयोक्तिरूपेण काव्यव्यापारेण आहिता या विशिष्टरूपता तया; यहाँ 'अतिशयोक्ति' का अर्थ इस नाम का अलङ्कार नहीं है अपि तु अनूठी उक्ति या लोकोत्तर वर्णन' है । इस अर्थ में अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग होता है (भामह ··) । कवि का कर्म काव्य-व्यापार यही है कि वह लोक के पदार्थों का लोक से ऊपर उठकर अतिशयोक्ति द्वारा वर्णन करता है । इसीलिये इस काव्य-व्यापार के द्वारा इतिहास आदि में प्रसिद्ध दुष्यन्त

अमीषां चानपेक्षितबाह्यसत्त्वानां शब्दोपधानादेवासादिततद्भावानां सामान्यात्मनां स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामालम्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता ।

तदुक्तं भर्तृहरिणा—

'शब्दोपहितरूपांस्तान्बुद्धेर्विषयतां गतान् ।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन्साधनत्वेन मन्यते ॥' इति ।

षट्सहस्रीकृतापयुक्तम्—'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते' इति ।

आदि एक विशिष्ट (=लोकोत्तर) रूप धारण कर लेते हैं और वे काव्य में आलम्बन आदि के रूप में जाने जाते हैं (विभाव्यमानः) । (२) 'एवम् अयम्' यहाँ अयम् (= यह) दुष्यन्त आदि नायक के लिये है । 'एवम्' (=ऐसा है) का अभिप्राय है कि यह शकुन्तला आदि के प्रति अनुराग-युक्त है जैसा कि काव्य में वर्णित इसकी वाक्-काय-चेष्टाओं से प्रकट हो रहा है (मि० काव्य प्र० शङ्कुकमत) । और, यह शकुन्तला आदि ऐसी हैं (एवम् इयम्) कि जिसके प्रति दुष्यन्त आदि के मन में अनुराग है । (२) विशिष्ट = इतिहास या लोक में प्रसिद्ध दुष्यन्त आदि की अपेक्षा भिन्न, लोकोत्तर ।

और, ये (नायक आदि) बाह्य सत्ता की अपेक्षा किये बिना ही शब्द की उपाधि के द्वारा अपने-अपने रूप में प्रकट होते हैं, सामान्य रूप वाले होकर सभी सहृदयों (भावक) के द्वारा अपने आपसे सम्बन्ध रखते हुए से समझे जाते हैं । इस प्रकार सहृदयों के चित्त में साक्षात् रूप से स्फुरित होते हुए आलम्बन आदि हो जाते हैं । इसलिये वहाँ नायक आदि का अभाव नहीं होता (न वस्तुशून्यता) ।

भर्तृहरि ने भी कहा है (?) 'शब्द के द्वारा जिनका स्वरूप प्रस्तुत कर दिया जाता है अतएव जो बुद्धि द्वारा ग्राह्य (विषय) हो जाते हैं, उन कंस आदि को बोद्धा प्रत्यक्ष के समान (कर्म आदि) कारक के रूप में समझ लेता है' ।

षट्सहस्री के कर्ता (भरत) ने भी कहा है—'इन (विभाव आदि) से सामान्य-गुण के सम्बन्ध के द्वारा रसों की निष्पत्ति हो जाती है' (ना० शा० ६—'के मध्य पृ० ३४८)

टिप्पणी—अमीषां···न वस्तुशून्यता—यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि काव्य में वर्णित नायक आदि तो वस्तुतः इस समय विद्यमान नहीं फिर वे सहृदय के भावोद्बोधन में आलम्बन आदि कैसे हो सकते हैं ? इसका समाधान करते हुए धनिक ने कहा है—अमीषाम्' इत्यादि । भाव यह है—(i) यह ठीक है कि काव्यगत नायक आदि की इस समय बाह्य जगत् में सत्ता नहीं । किन्तु इससे कोई दोष नहीं आता; क्योंकि उन्हें रस का आलम्बन बनाने के लिये उनकी बाह्य जगत् में सत्ता अपेक्षित नहीं है (अनपेक्षित-बाह्य-सत्त्वानाम्) (ii) वस्तुतः उनकी बुद्धिगत

तत्रालम्बनविभावो यथा —

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः

शृङ्गारैकनिधिः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो

निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥२११॥

(बौद्धिक) सत्ता अपेक्षित है और वे साक्षात् रूप से सहृदय (भावक) के चित्त में स्थित रहते ही हैं (साक्षाद् भावकचेतसि विपरिवर्तमानानाम्)। कैसे ? (iii) काव्य के शब्दों द्वारा उनके अपने-अपने रूप उपस्थित हो जाया करते हैं (शब्दरूपाद् उपधानाद्=उपाधेः आसादितः प्राप्तः तत्तद्भाव नायकदेशकालादिरूपता यैः तथाभूतानाम्)। किन्तु प्रश्न यह है कि यदि शब्दों के द्वारा शकुन्तला आदि के रूप में नायिका आदि उपस्थित हो जायें तब भी वे सहृदय सामाजिकों का आलम्बन आदि नहीं हो सकते। इसके उत्तर में कहा गया है—सामान्यात्मनाम् अर्थात् शब्दों से सामान्य नायिका आदि के रूप में ही उनका बोध होता है और प्रत्येक भावक को वह नायिका आदि अपने आप से सम्बन्ध रखती सी प्रतीत हुआ करती है (स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावितानाम्)। इस प्रकार काव्यगत नायक आदि बाह्य जगत् में विद्यमान न होते हुए भी सामाजिकों के आलम्बन आदि हो जाया करते हैं क्योंकि शब्दों द्वारा ज्ञात होकर भी कोई पदार्थ साक्षात् रूप से चित्त में विद्यमान रहता है। **शब्दोपहित०**—बुद्धि में स्थित अर्थ को भी मानव साक्षात् रूप से विद्यमान सा समझ लेता है, इस मन्तव्य के समर्थन में भर्तृहरि की यह कारिका उद्धृत की गई है। इसका सन्दर्भ अज्ञात है (३) **षट्सहस्री**—जैसा कि शारदातनय (भा० प्र० दशम अधिकार पृ० २८७) ने बताया है, नाट्यशास्त्र की दो पाठ-परम्परायें मानी जाती हैं। उनमें से एक वृहद् पाठ है जिसमें १२००० श्लोक हैं तथा जो द्वादश-सहस्री कहलाता है। दूसरा लघु पाठ है, जिसमें ६००० श्लोक हैं तथा जो षट्सहस्री कहलाता है। दोनों के कर्त्ता भरत माने जाते हैं। षट्सहस्रीकार=भरत।

उनमें आलम्बन विभाव यह है, जैसे (विक्रमोर्वशीय १.८, पुरूरवा की उक्ति में वर्णित उर्वशी आलम्बन विभाव है)—'इस (उर्वशी) के रचना-कार्य में क्या कान्तिदायक चन्द्रमा प्रजापति है ? अथवा जिसका शृंगार ही प्रधान रस है, वह कामदेव ही स्वयं इसका स्रष्टा है ? या पुष्पों का निधानभूत मास अर्थात् मधुमास वसन्त इसका निर्माता है ? क्योंकि वेद के अभ्यास से कुण्ठित (जड़), सुन्दर विषयों में औत्सुक्यरहित (व्यावृत्त) पुरातन मुनि ब्रह्मा इस रमणीय रूप के निर्माण में कैसे समर्थ हो सकता है ?'

उद्दीपनविभावो यथा —

'अयमुदयति चन्द्रश्चन्द्रिकाधौतविश्वः परिणतविमलिम्नि व्योम्नि कर्पूरगौरः ।
ऋजुरजतशलाकास्पर्धिभिर्यस्य पादैर्जगदमलमृणालीपञ्जरस्थं विभाति' ॥२१२॥

(३) अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः ।

स्थायिभावाननुभावयन्तः सामाजिकवान् सभ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रसपोषकारिणोऽनुभावाः एते चाभिनयकाव्ययोरप्यनुभावयतां साक्षाद्भावकानामनुभवकर्मतयानुभूयन्त इत्यनुभवनमिति चानुभावा रसिकेषु व्यपदिश्यन्ते । विकारो भावसंसूचनात्मक इति तु लौकिकरसापेक्षया, इह तु तेषां कारणत्वमेव । यथा ममैव—

'उज्जृम्भाननमुल्लसत्कुचतटं लोलभ्रमद्भ्रूलतं
स्वेदाम्भःस्नपिताङ्गयष्टिविगलद्व्रीडं सरोमाञ्चया ।
धन्यः कोऽपि युवा स यस्य वदने व्यापारिताः सस्पृहं
मुग्धे दुग्धमहाब्धिफेनपटलप्रख्याः कटाक्षच्छटाः ॥'२१३॥

इत्यादि यथारसमुदाहरिष्यामः ।

उद्दीपन विभाव वह है (?) जैसे 'कर्पूर के समान गौर वर्ण वाला, चाँदनी से समस्त संसार को धो डालने वाला यह चन्द्रमा निर्मल आकाश में उदित हो रहा है । और, सीधी रजत-शलाकाओं से स्पर्धा करने वाली इसकी किरणों से यह संसार स्वच्छ मृणाल के पिंजरे में रखा हुआ शोभायमान है ।'

अनुभाव—

(रति आदि) भावों को सूचित करने वाला विकार (शरीर आदि का परिवर्तन) अनुभाव है ।

सामाजिकों को (रति आदि) स्थायी भाव का अनुभव कराने वाले तथा रस को पुष्ट करने वाले भ्रू विक्षेप सहित कटाक्ष आदि अनुभाव हैं । क्योंकि ये अभिनय (दृश्य काव्य) तथा काव्य (श्रव्य) में अनुभावित होने वाले (अनुभावयताम्) रसिकों को साक्षात् अनुभव के कर्म के रूप में अनुभूत होते हैं इसलिये ये रसिकों में अनुभवन या अनुभाव कहलाते हैं । भाव को सूचित करने वाला विकार अनुभाव है, यह कथन लौकिक रस की दृष्टि से है । यहाँ (नाट्य या काव्य से आस्वादित रस में) तो वे (अनुभाव) रस के निमित्त ही हुआ करते हैं ।

(अनुभाव का उदाहरण है) जैसे यह मेरा (धनिक) ही पद्य—'हे मुग्धे, रोमाञ्चयुक्त ऊपर मुख किये जम्भाई लेकर, स्तनतट को ऊपर उभार कर, भ्रूलता को चञ्चलता से घुमाकर, स्वेद जल के द्वारा भीगे शरीर से लाज को बहाकर तुमने स्पृहापूर्वक जिसके मुख पर क्षीर-सागर के फेन पटल के समान श्वेत कटाक्षों की छटा बिखेरी है, वह अनोखा (कोऽपि = कोई) धन्य है' ।

इत्यादि । इन अनुभावों के रस के अनुसार, आगे उदाहरण देंगे ।

(४) हेतुकार्यात्मनोः सिद्धिस्तयोः संव्यवहारतः ॥३॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७.५, पृ०३४७), भा० प्र० (पृ० ४), ना० द० (३.१६४) प्रता० (पृ० १५६), सा० द० (३.१३२-१३३)। (२) यहाँ धनञ्जय ने केवल यह कहा है कि रति आदि भाव को सूचित करने वाले विकार अनुभाव कहलाते हैं। भाव यह है कि जब दुष्यन्त आदि के चित्त में शकुन्तला तथा उद्यान आदि के द्वारा रति आदि भाव उद्बुद्ध एवं उद्दीप्त हो जाता है तो दुष्यन्त आदि के शरीर में भुजोत्क्षेप (भुज फड़कना) आदि विकार हुआ करते हैं जो उसके हृदय में स्थित रति आदि को सूचित करते हैं, वे ही अनुभाव कहलाते हैं; क्योंकि ये भाव के पश्चात् उत्पन्न होते हैं (अनु पश्चाद् भवन्ति इति)। धनिक का कथन है कि इस प्रकार यहाँ लौकिक रस की दृष्टि से ही अनुभावों को भाव-सूचक विकार (=रति आदि का कार्य) कहा गया है। काव्यरसिकों द्वारा आस्वादित रस की दृष्टि से तो अनुभाव रस के कारण होते हैं, कार्य (विकार) नहीं। उस दृष्टि से काव्य-नाट्य में वर्णित या अभिनीत कटाक्ष आदि ही अनुभाव है। और, अनुभाव शब्द की व्युत्पत्ति है:—(i) सामाजिकान् स्थायिभावान् अनुभावयन्ति इति'—जो सामाजिकों को स्थायी भावों का अनुभव कराते हैं। काव्य-नाट्य में अनुभावों का वर्णन पढ़कर या अभिनय देखकर सामाजिकों को दुष्यन्त आदि के रति भाव का अनुभव हो जाता है। इसी से ये अनुभाव रस-पोषण के निमित्त हो जाया करते हैं। अथवा (ii) काव्यनाट्ययोः···अनुभूयन्ते इति अनुभावाः—जिनका अनुभव किया जाता है वे अनुभाव हैं। (द्र० अनुवाद)। यहाँ भावकानां साक्षाद् अनुभवकर्मतया अनुभूयन्ते' यह अन्वय है। धनिक द्वारा की गई अनुभाव शब्द की ये दोनों व्युत्पत्तियाँ रस-स्वरूप के विश्लेषण में विशेष महत्त्व रखती है। (iii) लौकिक रस का अभिप्राय है—लोक में दुष्यन्त आदि के हृदय में होने वाले रति आदि भाव। काव्य-नाट्य का रस उस लौकिक रति आदि भाव से विलक्षण है अतः यह अलौकिक रस कहलाता है। प्रायः उसके लिये केवल 'रस' शब्द का प्रयोग होता है और रति आदि को लौकिक रस या भाव कहा जाता है।

ये दोनों। (विभाव तथा अनुभाव) क्रमशः (लौकिक रस के प्रति) कारण एवं कार्य होते हैं अतः इनका स्वरूप लौकिक व्यवहार से हो सिद्ध है।

तयोर्विभावानुभावयोर्लौकिकरसं प्रति हेतुकार्यभूतयोः सव्यवहारादेव सिद्धत्वान्न पृथग्लक्षणमुपयुज्यते । तदुक्तम्—विभावानुभावौ लोकसंसिद्धौ लोकयात्रानुगामिनौ लोकस्वभावोपगतत्वाच्च न पृथग्लक्षणमुच्यते' इति ।

अथ भावः—

(५) सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम् ।

अनुकार्याश्रयत्वेनोपनिबध्यमानैः सुखदुःखादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावनं वासनं भावः । तदुक्तम्—'अहो ह्यनेन रसेन गन्धेन वा सर्वमेतद्भावितं वासितम्' इति ।

(कारिका में) तयोः (उन दोनों का) विभाव तथा अनुभाव का; विभाव तथा अनुभाव क्रमशः लौकिक रस (रति आदि भाव) के कारण एवं कार्य होते हैं । वे लोक-व्यवहार से ही जान लिये जाते हैं अतः उनका पृथक् लक्षण करना आवश्यक नहीं । जैसा कि कहा है (ना० शा० अ० ७ पृ० ३४८) विभाव और अनुभाव लोक में प्रसिद्ध ही हैं ये लोक-व्यवहार का अनुसरण करते हैं और लोक के स्वभाव से ही इनका ज्ञान हो जाने के कारण इनका पृथक् लक्षण नहीं बतलाया गया' ।

टिप्पणी—(१) यहाँ ना० शा० अ० ७ श्लोक ६ तथा उससे पूर्व के गद्य का भावमात्र उद्धृत किया गया है । (२) लोक में जो रति आदि भाव के उत्पादक नायिका आदि तथा उद्दीपक चन्द्रिका आदि कारण हैं, वे ही काव्य-नाटच में क्रमशः आलम्बन एवं उद्दीपन विभाव कहलाते हैं । इसी प्रकार लोक में रति आदि भाव की उत्पत्ति के पश्चात् जो रति आदि के कार्यरूप कटाक्ष इत्यादि होते हैं वे ही काव्य-नाटच में अनुभाव कहलाते हैं । ये दोनों लोक से जान लिये जाते हैं, अतः इनका लक्षण करना आवश्यक नहीं समझा गया ।

भाव—

(रस का स्वरूप बतलाते हुए व्यभिचारी भाव तथा स्थायी भाव का उल्लेख किया गया है अतः) अब यहाँ भाव का स्वरूप बतलाते हैं ।

सुख दुःख आदि भावों के द्वारा (सहृदय के चित्त को) भावित कर देना भाव कहलाता है ।

जिन सुख दुःख आदि भावों का अनुकार्य (दुष्यन्त आदि) में वर्णन किया जाता है उनके द्वारा सहृदय (रसिक, भावक) के चित्त को भावित करना या वासित करना भाव कहलाता है । जैसा कि (ना० शा० अ० ७, पृ० ३४४) कहा गया है—'अहो इस रस या गन्ध से सब भावित = वासित (गन्धयुक्त) हो गया है' ।

यत्तु 'रसान्भावयन्भावः' इति कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भावः' इति च तत् अभिनयकाव्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनम् । ते च स्थायिनो व्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणाः ।

(६) पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः ॥४॥
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम् ।

जो (ना० ना० ७ २–३, पृ० ३४६) यह कहा गया है कि रसों को भावित करने के कारण ये भाव कहलाते हैं' अथवा 'कवि के आन्तरिक भाव को प्रकट करने के कारण ये भाव कहलाते हैं', वह तो नाट्य (अभिनय) और काव्य के लिये प्रयुक्त होने वाले भाव शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त बतलाया गया है।

वे भाव स्थायी तथा व्यभिचारी (दो प्रकार के) होते हैं जिनका आगे वर्णन किया जा रहा है।

टिप्पणी (१) ना० शा० (अ० ७, पृ० ३४२–३४६), भा० प्र० (पृ० १३) सा० द० (३.१८१) । (२) **तद्भावभावनम्**—उस भाव से भावित कर देना, तद्भाव-भावनं नाम तन्मयत्वेनावस्थानम् (प्रता० टीका पृ० १६०); यहाँ सुख-दु.ख आदि भावों का उल्लेख किया गया है तथा भावक के चित्त का प्रकरण है इसलिये धनिक ने यह अर्थ किया है—सुख-दुःख आदि भावों से भावक के चित्त को भावित कर देना । भा० प्र० (पृ० १३) में भी यही कहा गया है—

रामाद्याश्रयदुःखादेरनुभूतेस्तदात्मता ।
सामाजिकस्य मनसो या स भाव इति स्मृतः ।।

(३) ना० शा० के निम्न दो श्लोकों में प्रतिपादित मत को धनिक ने 'रसान् भावयन्' इत्यादि के द्वारा उद्धृत किया है; जैसे 'नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान्' (७·२) तथा 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते' (७·३) । धनिक के अनुसार ना० शा० के इन स्थलों पर उस 'भाव' शब्द के प्रयोग का निमित्त (प्रवृत्ति-निमित्त) बतलाया गया है जिसका 'भावात्मकोऽभिनयः' या 'भावात्मकं काव्यम्' आदि में प्रयोग होता है । क्योंकि अभिनय रसों रसनयोग्य रति आदि भावों) का बोध कराता है (भावयति) अतः भाव (=भावात्मक) कहलाता है। इसी प्रकार काव्य कवि के हृदयगत भाव को प्रकट करता है अतः भाव (=भावात्मक) कहलाता है । इसके विपरीत दशरूपक के 'भाव' के लक्षण में यह बतलाया गया है कि स्थायी भाव तथा व्यभिचारी भाव इन दोनों को भाव क्यों कहा जाता है । तदनुसार काव्य में वर्णित या नाट्य में अभिनीत सुख-दुःख आदि (अथवा रति एवं चिन्ता आदि) सहृदय के चित्त को भावित करते हैं—तन्मय करते हैं—अतः ये भाव कहलाते हैं ।

सात्त्विक भाव

अन्य जो सात्त्विक (भाव) हैं यद्यपि ये अनुभाव (भावों के पश्चात् होने वाले) ही हैं तथापि पृथक् रूप से भाव कहलाते हैं; क्योंकि उनकी 'सत्त्व' से ही उत्पत्ति हुआ करती है । 'सत्त्व' का अर्थ है किसी भाव से भावित होना (तन्मय होना) ॥४–५॥

परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्त्वं यदाह—'सत्त्वं नाम मनः-प्रभवं तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते। एतदेवास्य सत्त्वं यतः खिन्नेन प्रहर्षितेन चाश्रुरोमाञ्चादयो निर्वर्त्यन्ते। तेन सत्त्वेन निर्वृत्ताः सात्त्विकास्त एव भावास्तत उत्पद्यमानत्वादश्रुप्रभृतयोऽपि भावाः। भावसंसूचनात्मकविकाररूपत्वाच्चानुभावा इति द्वैरूप्यमेषाम्।' इति।

दूसरे के हृदय में स्थित दुःख और हर्ष की भावना में प्रायः उसी प्रकार के हृदय वाला हो जाना 'सत्त्व' कहलाता है। जैसा कि कहा गया है (ना० शा० अ० ७ श्लोक ९३-९४ के बीच गद्य, पृ० ३७३-३७५) 'सत्त्व मन से उत्पन्न होने वाला (विशेष धर्म) है। वह मन के एकाग्र (समाहित) होने से उत्पन्न होता है। इस (नट?) का सत्त्व यही है कि इसके द्वारा (दूसरे के दुःख या हर्ष में) दुःखी होकर या हर्षित होकर अश्रु एवं रोमाञ्च आदि उत्पन्न किये जाते हैं। उस सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण वे (नट के दुःख, हर्ष आदि) ही भाव वस्तुतः सात्त्विक होते हैं। किन्तु उन से उत्पन्न होने के कारण अश्रु इत्यादि भी सात्त्विक भाव कहलाते हैं। दूसरी ओर, ये अश्रु आदि (दुःख आदि) भाव से उत्पन्न होते हैं (विकार) तथा उनकी सूचना देते हैं अतः अनुभाव भी कहलाते हैं। इस प्रकार इन (अश्रु आदि) के (सात्त्विक भाव तथा अनुभाव) दोनों रूप होते हैं।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७·९३–९४ पृ० ३७४–३७६), भा० प्र० (पृ० १३--१४), प्रता० (पृ० १५९--१६०), सा० द० (३· १३४, १३५)। (२) धनिक ने ना० शा० की 'सात्त्विक' शब्द की व्याख्या को स्पष्ट करने का प्रयास किया है और यहाँ कुछ परिवर्तन के साथ ना० शा० को उद्धृत किया है। ना० शा० में अभिनय के सन्दर्भ में 'सात्त्विक' शब्द की व्याख्या की गई है नट (अभिनेता) 'सत्त्व' के द्वारा ही अश्रु आदि का अभिनय कर सकता है अतः ये सात्त्विक कहलाते हैं। सामान्यतः 'सत्त्व' शब्द का अर्थ है—मन या निर्मल मन (भा० प्र०, पृ० ८ तथा ऊपर २.३३ टि०), और, सभी भावों का अभिनय मन के बिना नहीं किया जा सकता तथापि अश्रु आदि भावों को सात्त्विक भाव कहने का कारण यह है कि ये सत्त्वविशेष से उत्पन्न होते हैं। वह 'सत्त्व' (विशेष) मन की एक अवस्था है जो एकाग्रता से उत्पन्न होती है इस अवस्था में मन दूसरे के सुख दुःख में तद्रूप (तन्मय) सो जाया करता है। यही 'तद्भावभावनम्' उसके सुख दुःख आदि से भावित होना है। इस सत्त्व के आधार पर ही अभिनेता (नट) अनुकार्य दुष्यन्त आदि से सुख दुःख की भावना में अपने अन्तःकरण को तन्मय कर लेता है। अथवा कहिये कि वह भी सुखी और दुःखी सा हो जाता है तभी वह रोमाञ्च या अश्रु आदि को प्रकट कर सकता है। अभिनेता के मन में जो सुख दुःख की भावना होती है वह सत्त्व--जन्य होती है अतः वस्तुतः ये आरोपित सुख दुःख ही सात्त्विक होते हैं (सात्त्विकास्त एव भावाः)। इनके

ते च—

(७) स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू ॥५॥
अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ, स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियाङ्गता ।
प्रलयो नष्टसंज्ञत्वम्, शेषाः सुव्यक्तलक्षणाः ॥६॥

यथा—

वेवइ से अदवदनी रोमञ्चिअ गत्तिए ववइ ।
विललुल्लु तु वलअ लहु वाहोअल्लीए रणत्ति ।
गुहऊ सामलि होई खण विमुच्छइ विअग्घेण ।
मुद्धा मुहअल्ली तुअ पेम्मेण सावि ण धिज्जइ ॥२१४॥
('वेपते स्वेदवदना रोमाञ्चं गात्रे वपति ।
विलोलस्ततो वलयो लघु बाहुवल यां रणति ।
मुखं श्यामलं भवति क्षणं विमूर्च्छति विदग्धेन ।
मुग्धा मुखवल्ली तव प्रेम्णा सापि न धैर्यं करोति' ॥)

द्वारा ही नट अश्रु, रोमाञ्च आदि को प्रकट करता है, अतः उसके अश्रु रोमाञ्च इत्यादि सात्त्विक भावों से उत्पन्न होने के कारण सात्त्विक भाव कहलाते हैं (ततः उत्पद्यमानत्वाद् अश्रुप्रभृतयोऽपि भावाः सात्त्विका इति शेषः)। ये अश्रु इत्यादि भाव वस्तुतः अनुभाव ही हैं, क्योंकि ये अनुभावों के समान ही हृदय में स्थित हर्ष, दुःख आदि भावों के विकार होते हैं और उनकी सूचना देते हैं।

और वे—

(सात्त्विक भाव) आठ हैं—स्तम्भ, प्रलय, रोमाञ्च, स्वेद, वैवर्ण्य (रङ्ग फीका पड़ जाना), वेपथु (कम्पन); अश्रु तथा वैस्वर्य (स्वरभङ्ग, आवाज बदल जाना)। इनमें अङ्गों का क्रिया रहित (निष्क्रिय) हो जाना स्तम्भ है, चेतना (=संज्ञा) का नष्ट हो जाना (सुध-बुध खो देना) प्रलय है। शेष के स्वरूप स्पष्ट ही हैं ॥५-६॥

जैसे (कोई सखी नायिका की काम-वेदना का वर्णन करती हुई नायक से कहती है) 'तुम्हारे प्रेम के कारण वह (नायिका) भी धैर्य धारण नहीं करती; वह काँपती है, उसके मुख पर पसीना आता है, शरीर पर रोमाञ्च हो जाता है, फिर चञ्चल वलय (कंकण) भुज-लता में मन्द-मन्द रणन करता है, उसका मुख काला पड़ गया है, वह वैदग्ध्य के साथ क्षण भर को मूर्च्छित हो जाती है और उसकी मुख-लता भी मुग्ध सी है'।

टिप्पणी—ना० शा० (७·९४, पृ० ३७५); भा० प्र० (पृ० १४), प्रता० (पृ० १६०), सा० द० (३·१३५–१४०)।

अथ व्यभिचारिणः, तत्र सामान्यलक्षणम्—

(८) विशेषादाभिमुख्येन चरन्ती व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥७॥

यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला उद्भवन्ति विलीयन्ते च तद्वदेव रत्यादौ स्थायिनि सत्येवाविर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरन्तो वर्तमाना निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावाः।

व्यभिचारी भाव

अब व्यभिचारी भाव बतलाये जाते हैं। व्यभिचारी भाव का सामान्य-लक्षण है—

विविध प्रकार से (स्थायी भाव के) अभिमुख (अनुकूल) चलने वाले भाव व्यभिचारी भाव कहलाते हैं; जो स्थायी भाव में इसी प्रकार प्रकट होकर विलीन होते रहते हैं, जिस प्रकार सागर में तरङ्गें ॥७॥

अर्थात् जिस प्रकार सागर के होने पर ही तरङ्गें उत्पन्न होती हैं और विलीन होती हैं, उसी प्रकार रति आदि स्थायी भाव के होने पर ही उसको लक्ष्य करके (=उसके पोषण के लिये) जिनका आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है, वे निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (पृ० ३५५, ३५६), भा० प्र० (पृ० २५--२६), ना० द० (३· १६४), प्रता० (पृ० १६१), सा० द० (३·१४०)। (२) यहाँ प्रथम पंक्ति में व्युत्पत्तिलभ्य अथ के आधार पर व्यभिचारी भाव का स्वरूप दिखलाया गया है। इस पं ना० शा० की छाया है। वि और अभि दो उपसर्गों से युक्त√चर् धातु से व्यभिचारी शब्द निष्पन्न होता है—'विविधम् आभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः,। पाठान्तर के अनुसार 'विविधानां रसानाम् आभिमुख्येन चरन्तीति दश० तथा सा०·द० आदि में 'विविध' या 'विविधानां' के स्थान पर 'विशेषाद्' शब्द रक्खा गया है अतः इसका भी वही अभिप्राय प्रतीत होता है। इस प्रकार यहां 'विशेषाद्' का अर्थ होगा—विविध प्रकार से अथवा विविध रसों के; आभि—मुख्य=अनुकूल, लक्ष्य करके, पोषण के लिये (आभिमुख्यं पोषकत्वम्, ना० द०)। दश० की कारिका की दूसरी पंक्ति में, रस-प्रक्रिया में व्याभिचारी भावों का जो कार्य होता है उसके आधार पर व्यभिचारी भाव का स्वरूप बतलाया गया है। भाव यह है कि सागर में लहरों के समान स्थायी भाव में उत्पन्न होकर तथा विलीन होकर जो निर्वेद आदि भाव रति आदि स्थायी भाव को विविध प्रकार से पुष्ट करते हैं—उसे रसरूपता की ओर ले जाते हैं, वे व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। के तिरिक्त इनके व्यभिचारी भाव नाम का आधार यह है कि ये किसी यी भाव के साथ नियत नहीं होते (ना० द०); अर्थात् (i) किसी स्थायी भाव

तें च—

(९) निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता-
स्त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः ।
व्रीडापस्मारमोहाः सुमतिरलसतावेगतर्कावहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ॥८॥

तत्र निर्वेदः—

(१०) तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।
तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः ॥९॥

के होने पर भी कोई व्यभिचारी भाव कभी होता है कभी नहीं, (ii) एक ही व्यभिचारी भाव कभी किसी स्थायी भाव के साथ होता है कभी किसी दूसरे के साथ ही। इन्हें सञ्चारी भाव भी कहते हैं क्यों कि ये स्थायी भाव को रसरूपता की ओर ले जाते हैं 'सञ्चारयन्ति भावस्य गतिं सञ्चारिणोऽपिते' (रसार्णवसुधाकर द्वितीय विलास, तथा मि० ना० शा०, पृ० ३५५--३५६)।

और वे—

व्यभिचारी भाव ३३ होते हैं—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, श्रम, धृति, जडता, हर्ष, दैन्य, औग्र्य, चिन्ता, त्रास, ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, सुप्त, निद्रा, विबोध, व्रीडा, अपस्मार, मोह, सुमति, अलसता, वेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य तथा चपलता ॥८॥

टिप्पणी--(१) ना० शा० (७.६३, पृ० ३७४), भा० प्र० (पृ० १५), का० प्र० (४.३१--३४), ना० द० (३.१८२), प्रता० (पृ० १६१), सा० द० (३.१४१)। (१) विद्वानों का विकार है कि ३३ व्यभिचारी भाव (त्रिंशद् एते त्रयश्च) कहना उपलक्षण मात्र है, अन्य भी व्यभिचारी भाव हो जाया करते हैं; जैसे तृष्णा, मैत्री, मुदिता, श्रद्धा, दया, उपेक्षा इत्यादि (ना० द०)। इसके अतिरिक्त रति आदि जो स्थायी भाव हैं वे भी अन्य रसों व्यभिचारी भाव हो जाया करते हैं; जैसे श्रृङ्गार और वीर रस में 'हास्य' हास्य करुण और शान्त में रति; वीर में क्रोध; करुण और श्रृङ्गार में भय; भयानक और शान्त में जुगुप्सा; रौद्र एवं हास्य में उत्साह तथा प्रायः सभी रसों में विस्मय व्यभिचारी हो जाता है (काव्यप्रकाश-उद्योत तथा सा० द० ३.१७२--१७३)।

इन निर्वेद इत्यादि ३३ व्यभिचारी भावों के लक्षण तथा उदाहरणों का क्रमशः निरूपण करते हैं—

(१) निर्वेद—

तत्त्वज्ञान, आपत्ति, ईर्ष्या आदि के कारण अपना तिरस्कार करना निर्वेद कहलाता है। इसमें चिन्ता, अश्रु, निःश्वास, वैवर्ण्य, उच्छ्वास और दीनता (अनुभाव) हुआ करते हैं ॥९॥

तत्त्वज्ञानान्निर्वेदो यथा—

'प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
सम्प्रीणिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्प स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥२१५॥

आपदो यथा—

'राज्ञो विपद्बन्धुवियोगदुःखं देशच्युतिर्दुर्गममार्गखेदः ।
आस्वाद्यतेऽस्याः कटुनिष्फलायाः फलं मयैतच्चिरजीवितायाः ॥२१६॥

ईर्ष्यातो यथा—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटाञ्जीवत्यहो रावणः ।
धिग्धिक्शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनपरैः पीनैः किमेभिर्भुजैः ॥२१७॥

वीरश्रृङ्गारयोर्व्यभिचारी निर्वेदो यथा—

'ये बाहवो न युधि वैरिकठोरकण्ठपीठोच्छलद्रुधिरराजिविराजितांसाः ।
नापि प्रियापृथुपयोधरपत्रभङ्गसंक्रान्तकुङ्कुमरसाः खलु निष्फलास्ते ॥२१८॥

तत्त्वज्ञान से होने वाला निर्वेद यह है, जैसे (वैराग्यशतक ७१), 'सकल मनोरथ प्रदान करने वाली सम्पदाएँ प्राप्त कर लीं तो क्या ? शत्रुओं के सिर पर पैर रख दिया तो क्या ? मित्र आदि प्रियजनों को धन सम्पत्ति से तृप्त कर दिया तो क्या ? शरीरधारियों के शरीर कल्पपर्यन्त स्थित रहे तो क्या ?

आपत्ति से होने वाला निर्वेद यह है, जैसे—'मेरे द्वारा इस कटु तथा निष्फल चिर जीवन का यह फल भोगा जा रहा है कि राजा से विपत्ति, बन्धुओं के वियोग का दुःख, देश का त्याग तथा दुर्गम मार्ग में गमन की पीड़ा हो रही है।'

ईर्ष्या से होने वाला निर्वेद यह है; जैसे (महानाटक ९.५५)—मेरा यही अपमान है कि मेरे शत्रु हैं। उन (शत्रुओं) में भी वह तपस्वी (राम) और वह भी मेरे समीप ही राक्षस योद्धाओं को मार रहा है। अहो ! फिर भी रावण (मैं) जीवित है। इन्द्रजित् (मेघनाद) को धिक्कार है। जगाये हुए कुम्भकर्ण से क्या (लाभ) ? स्वर्ग रूपी छोटे गाँव (ग्रामटिका) को लूटने में तत्पर मेरी इन शक्तिशाली भुजाओं से भी क्या (लाभ) ?

वीर तथा श्रृङ्गार का व्यभिचारी भाव होने वाला निर्वेद यह है जैसे—'जो भुजाएँ न तो युद्ध में शत्रु के कठोर कण्ठ-स्थल से छलकते हुए रुधिर की धार से स्कन्ध-प्रदेश (अंस) पर सुशोभित हुईं, न ही प्रिया के विशाल स्तनों की पत्र-रचना के कुंकुम रस से युक्त हुई; निश्चय ही वे निष्फल हैं।'

आत्मानुरूपं रिपुं रमणीं वाऽलभमानस्य निर्वेदादियमुक्तिः। एवं रसान्तराणामप्यङ्गभाव उदाहार्यः।

रसानङ्गः स्वतन्त्रो निर्वेदो यथा—

'कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्मादिदं श्रूयताम्।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकरणी मार्गस्थितस्यापि मे ॥११६॥

विभावानुभावरसाङ्गानङ्गभेदादनेकशाखो निर्वेदो निदर्शनीयः।

अथ ग्लानिः—

(११) रत्याद्यायासतृट्क्षुद्भिर्ग्लानिर्निष्प्राणतेह च।
वैवर्ण्यकम्पानुत्साहक्षामाङ्गवचनक्रियाः ॥

अपने अनुरूप शत्रु अथवा रमणी को न प्राप्त कर सकने वाले व्यक्ति की यह निर्वेद के कारण कही गई उक्ति है। (यहाँ निर्वेद नामक भाव वीर तथा शृङ्गार का अङ्ग होकर आया है) इसी प्रकार जहाँ निर्वेद अन्य रसों का अङ्ग हुआ करता है उसका भी उदाहरण दिया जा सकता है।

किसी रस का अङ्ग न होने वाला स्वतन्त्र निर्वेद यह है, (जैसे पथिक के प्रश्न के प्रत्युत्तर में शाखोटक वृक्ष का निर्वेद प्रकट हो रहा है)—'अरे तुम कौन हो? बतलाता हूँ—मुझे भाग्य का मारा शाखोटक (सेहुण्ड) वृक्ष जानो। तुम तो वैराग्ययुक्त से बोल रहे हो। हाँ, आपने ठीक जान लिया। किन्तु यह (वैराग्य) किस कारण से है? सुनिये—यहाँ (मार्ग के) वाम भाग में जो वट वृक्ष है, पथिक जन उसका सब प्रकार (छाया, आरोहण आदि) से आश्रय लेते हैं; किन्तु मार्ग में स्थित होते हुए भी मेरी छाया भी दूसरे का उपकार नहीं कर सकती।'

इस प्रकार विभाव, अनुभाव, रस के अङ्ग तथा स्वतन्त्र (अनङ्ग=अङ्ग न होने वाला) आदि भेद से निर्वेद के अनेक प्रकार दिखलाये जा सकते हैं।

टिप्पणी—ना० शा० (७.२८-३०, पृ० ३५६), भा० प्र० (पृ० १५), ना० द० (३.१८३) प्रता० (पृ० १७३), सा० द० (३.१४२)। (२) विभावानुभाव०—यहाँ तत्त्वज्ञान आदि निर्वेद के विभाव हैं (मि० ना० द०)। इनके आधार पर होने वाले प्रकार ऊपर दिखलाये गये हैं। इसी प्रकार अनुभावों के अनुसार भी निर्वेद के अनेक प्रकार हो जाते हैं। चिन्ता, अश्रु आदि इसके अनुभाव हैं।

(२) ग्लानि—

रति आदि की थकान, प्यास (तृट) और भूख से होने वाली जो निष्प्राणता (शक्तिहीनता) है, वह ग्लानि कहलाती है। इसमें रंग फीका पड़ना, अनुत्साह, शरीर, वचन और क्रिया को क्षीणता आदि (अनुभाव) होते हैं ॥१०॥

निधुवनकलाभ्यासादिश्रमतृट्क्षुद्वमनादिभिर्निष्प्राणतारूपा ग्लानिः । अस्यां च वैवर्ण्यकम्पानुत्साहादयोऽनुभावाः । यथा माघे—

'लुलितनयनताराः क्षामवक्त्रेन्दुबिम्बा
रजनय इव निद्राक्लान्तनीलोत्पलाक्ष्यः ।
तिमिरमिव दधानाः स्रंसिनः केशपाशा-
नवनिपतिगृहेभ्यो यान्त्यमूर्वारवध्वः ॥

शेषं निर्वेदवदूह्यम् ।

अथ शङ्का—

(१२) अनर्थप्रतिभा शङ्का परक्रौर्यात्स्वदुर्नयात् ।
कम्पशोषाभिवीक्षादिरत्र वर्णस्वरान्यता ॥११॥

तत्र परक्रौर्याद्यथा रत्नावल्याम्—

'ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं
द्वयोर्दृष्ट्वाऽऽलापं कलयति कथामात्मविषयाम् ।

अर्थात् बार-बार की रतिक्रीडा से होने वाली थकान, प्यास, भूख तथा वमन आदि से उत्पन्न होने वाली शक्तिहीनता ही ग्लानि है । इसमें वैवर्ण्य (=रंग फीका पड़ना), कम्पन, अनुत्साह आदि अनुभाव होते हैं । जैसे—माघकाव्य (११.२०) में—'रात्रियों के समान चञ्चल नेत्र-तारिकाओं वाली, क्षीण मुखचन्द्र से युक्त, निद्रा से क्लान्त नीलकमल जैसे नेत्रों वाली, अन्धकार जैसे खुले केशों को धारण करती हुईं ये वारवनिताएँ राजा के भवनों से जा रही हैं '।

(विभाव आदि के भेद से ग्लानि के विविध प्रकार इत्यादि) निर्वेद के समान समझने चाहियें ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७.३१-३२, पृ० ३५७), भा० प्र० (पृ० १४), ना० द० (३.१८४), प्रता० (पृ० १७४), सा० द० (३.१७०)। (२) 'लुलितनयन-ताराः' इत्यादि 'रजनयः' (रात्रियाँ) के भी विशेषण हैं; जैसे-चञ्चल हैं नयन के तारों के समान तारे जिसमें (लुलिताः नयनताराः इव ताराः यासु) इत्यादि ।

(३) शङ्का—

दूसरे की क्रूरता या अपने दुर्व्यवहार के कारण होने वाली जो अनर्थ की आशङ्का है, वह शङ्का कहलाती है । इसमें कम्प, शोष (सूखना), इधर-उधर देखना (अभिवीक्षा), रंग बदल जाना (वर्णान्यता) और स्वर-भेद (स्वरान्यता) आदि (अनुभाव) होते हैं ॥११॥

उनमें दूसरे की क्रूरता से होने वाली शङ्का यह है, जैसे रत्नावली (३.४) (राजा उदयन रत्नावली की अवस्था का वर्णन करते हैं)—'मुझे जान लिया गया है' इस प्रकार (सोचकर) वह लज्जा के कारण सबसे मुँह छिपाती है, दो के वार्तालाप

सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरा ।।२२१।।

स्वदुर्नयाद्यथा वीरचरिते—

'दूराद्‌वीयो धरणीधराभं यस्ताटकेयं तृणवद्वयधूनोत् ।
हन्ता सुबाहोरपि ताडकारिः स राजपुत्रो हृदि बाधते माम् ।।२२२।।

अनया दिशाऽन्यदनुसर्तव्यम् ।

अथ श्रमः—

(१३) श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः स्वेदोऽस्मिन्मर्दनादयः ।

अध्वतो यथोत्तररामचरिते—

'अलसलुलितमुग्धान्यध्वसञ्जातखेदा—
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि ।
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ।।२२३।।

को देखकर उसे अपनी चर्चा समझने लगती है, सखियों के मुस्कराने पर अत्यधिक लज्जित हो जाती है, इस प्रकार प्रिया (सागरिका) हृदय में स्थित आतङ्क से व्याकुल रहती है' ।

अपने दुर्व्यवहार से होने वाली शङ्का, जैसे महावीरचरित (२. १) में रावण का मन्त्री (माल्यवान् कहता है) 'जिसने पर्वत के सदृश ताड़का-पुत्र (मारीच) को तिनके के समान बहुत दूर फेंक दिया, जो सुबाहु का मारने वाला है तथा ताड़का का शत्रु (संहारक) है, वह राजपुत्र (राम) मुझे हृदय में व्यथित कर रहा है' ।

इसी प्रकार और भी समझना चाहिये ।

टिप्पणी—ना० शा० (७.३३–३५, पृ० ३५७–३५८), भा० प्र० (पृ० १६), ना० द० (३.१८६), प्रता० (पृ० १७४), सा० द० (३.१६१) ।

(४) श्रम—

मार्ग (अध्व) और रति आदि से होने वाली जो थकान है वह श्रम है । इसमें स्वेद और मर्दन (अङ्गों को मलना) आदि अनुभाव होते हैं ।

मार्ग से उत्पन्न होने वाला श्रम यह है, जैसे उत्तररामचरित (१.२४) में राम सीता से कहते हैं, (यह वही स्थान है) जहाँ मार्ग में चलने से उत्पन्न थकान के कारण आलस्ययुक्त शिथिल तथा मनोहर, मेरे गाढ़ आलिङ्गनों के द्वारा दबाये गये, परिमृदित मृणाली के समान दुर्बल अङ्गों को मेरे वक्षःस्थल पर रखकर तुम सो गईं थीं' ।

रतिश्रमो यथा माघे—

'प्राप्य मन्मथरसादतिभूमिं दुर्वहस्तनभराः सुरतस्य।
शश्रमुः श्रमजलार्द्रललाटश्लिष्टकेशमसितायतकेश्यः ॥२२४॥

इत्याद्युत्प्रेक्ष्यम्।

अथ धृतिः—

(१४) सन्तोषो ज्ञानशक्त्यादेर्धृतिरव्यग्रभोगकृत् ॥१२॥

ज्ञानाद्यथा भर्तृहरिशतके—

'वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥२२५॥

शक्तितो यथा रत्नावल्याम्—

'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः।
सम्यक्पालनपालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः।

रति से उत्पन्न श्रम जैसे माघ (१०.८०) में 'जिनको स्तन-भार वहन करना कठिन था, जिनके केश काले तथा लम्बे थे, वे रमणियाँ काम के रस से सुरत की हद (अतिभूमि) को पहुँचकर पसीने से भीगे ललाट पर चिपके केशों से युक्त होती हुई, थक गईं।'

इत्यादि समझना चाहिये।

टिप्पणी—ना० शा० (७.४७, पृ० ३६०), भा० प्र० (पृ० १८), ना० द० (३.१८९), प्रता० (पृ० १७६), सा० द० (३.१४६)।

(५) धृति—

ज्ञान और शक्ति आदि से होने वाला जो सन्तोष है, वह धृति कहलाता है। वह व्यग्रता रहित भोग कराने वाली है, (=व्यग्रतारहित भोग उसका अनुभाव है) ॥१२॥

ज्ञान से होने वाली धृति; जैसे भर्तृहरि के वैराग्यशतक (५६) में (सम्पत्ति शाली से कोई सन्तुष्ट जन कहता है)—'हम तो वल्कल वस्त्रों से सन्तुष्ट हैं और तुम लक्ष्मी से। हम दोनों की तृप्ति समान ही है, कोई विशेष भेद नहीं है। वस्तुतः वही दरिद्र होता है जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है, मन के सन्तुष्ट होने पर कौन धनी और कौन दरिद्र' ?

शक्ति से उत्पन्न होने वाली धृति; जैसे रत्नावली (१.९) में (विदूषक के प्रति राजा उदयन की उक्ति में धृति प्रकट होती है)—जिसमें सब शत्रुओं को जीत लिया गया है ऐसा राज्य है, समस्त (राज्य का) भार योग्य मन्त्री पर रख दिया गया है; जिनके सब उपद्रव शान्त कर दिये गये हैं तथा जो भली-भाँति पालन के द्वारा समृद्ध

प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥२२६॥

इत्याद्यूह्यम् ।

अथ जडता—

(१५) अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र ॥१३॥

इष्टदर्शनाद्यथा—

'एवमालि निगृहीतसाध्वसं शङ्करो रहसि सेव्यतामिति ।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत्प्रमुखवर्तिनि प्रिये ॥२२६॥'

अनिष्टश्रवणाद्यथोदात्तराघवे—'राक्षसः—

तावन्तस्ते महात्मानो निहताः केन राक्षसाः ।
येषां नायकतां यातास्त्रिशिरःखरदूषणाः ॥२२८॥

द्वितीयः—गृहीतधनुषा रामहतकेन । प्रथमः—किमेकाकिनैव ? । द्वितीयः—

हुई हैं ऐसी प्रजाएँ हैं प्रद्योत की पुत्री (वासवदत्ता) पत्नी है, वसन्त ऋतु का (रमणीय) समय है और तुम (जैसा मित्र) है इस प्रकार कामदेव (मदनमहोत्सव) नाम होने से ही चाहे सन्तोष को प्राप्त कर ले किन्तु मैं तो समझता हूँ कि यह मेरा ही उत्सव है।'

इत्यादि समझना चाहिये।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७.५६–५७, पृ० ३६३), भा० प्र० (पृ० २०) ना० द० (३.१६६), प्रता० (पृ० १७८), सा० द० (३.१६८) । (२) अव्यग्रभोगकृत् =अव्यग्रतापूर्वक भोग कराने वाली, धैर्य होने पर व्यग्रता नहीं रहती ।

(६) जडता

इष्ट या अनिष्ट वस्तु के देखने या सुनने से (कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का) ज्ञान न रहना (अप्रतिपत्ति) जडता है । उसमें अपलक नेत्रों से देखना, चुप रहना आदि (अनुभाव होते) हैं ॥१३॥

इष्ट के दर्शन से होने वाली जडता, जैसे (कुमारसम्भव ८·५)—'जब प्रियतम (शिव) सम्मुख उपस्थित हुए तो पार्वती (सा) व्याकुल हो गई तथा सखियों के इस उपदेश का स्मरण न कर पाई कि—"हे सखी, भय तथा संकोच को दबाकर इस प्रकार एकान्त मे शङ्कर के साथ व्यवहार करना" ।

अनिष्ट के श्रवण से होने वाली जडता, जैसे उदात्तराघव नाटक में—"राक्षस-त्रिशिर, खर और दूषण जिनके नायक थे, उन शक्तिशाली (=महात्मानः) बहुसंख्यक (तावन्तः=उतने) राक्षसों को किसने मार दिया ? द्वितीय—धनुष धारण किये हुये दुष्ट (हतक=मर जाना, मरा) ने । प्रथम—क्या अकेले (राम) ने ही । द्वितीय—विना देखे कोई विश्वास करता है ? देखो हमारी उतनी सेना के 'केवल ये रुण्ड

अदृष्ट्वा कः प्रत्येति ? पश्य तावतोऽस्मद्बलस्य—

सद्यश्छिन्नशिरः श्वभ्रमज्जत्कङ्कुलाकुलाः ।
कबन्धाः केवलं जातास्तालोत्ताला रणाङ्गणे ॥२२९॥

प्रथमः—सखे यद्येवं तदाहमेवंविधः किं करवाणि ।' इति ।

अथ हर्षः—

(१६) प्रसत्तिरुत्सवादिभ्यो हर्षोऽश्रुस्वेदगद्गदाः ।

प्रियागमनपुत्रजननोत्सवादिविभावैश्चेतः प्रसादो हर्षः । तत्र चाश्रुस्वेदगद्गदादयोऽनुभावाः यथा—

'आयाते दयिते मरुस्थलभुवामुत्प्रेक्ष्य दुर्लङ्घ्यतां
गेहिन्या परितोषबाष्पकलितामासज्य दृष्टिं मुखे ।
दत्त्वा पीलुशमीकरीरकवलान्स्वेनाञ्चलेनादरा—
दुन्मृष्टं करभस्य केसरसटाभाराग्रलग्नं रजः ॥२३०॥

निर्वेदवदितरदुन्नेयम् ।

(कबन्ध) ही समर-भूमि में बचे हैं, जो तुरन्त कटे हुए सिरों वाले, गड्ढों में गिरते हुए, कङ्क नामक पक्षियों से घिरे हुए हैं, ताड़ के समान ऊँचे है । प्रथम-मित्र, यदि ऐसा है तो मैं इस दशा में क्या करूँ ?

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७·६६ पृ० ३६६), भा० प्र० (पृ० २१), ना० द० (३.२१३), प्रता० (पृ० १८०), सा० द० (३.१४८) । (२) कुछ ग्रन्थों में जडता के स्थान पर 'जाड्य' कहा गया है । (३) अप्रतिपत्ति—अज्ञान, कर्तव्य का ज्ञान न होना, किंकर्तव्य-विमूढता ।

(७) हर्ष

उत्सव आदि से होने वाली जो प्रसन्नता है, वह हर्ष कहलाती है । इसमें अश्रु, स्वेद और गद्गद होना आदि (अनुभाव) होते हैं ।

प्रिय का आगमन तथा पुत्र-जन्म के उत्सव आदि विभावों से उत्पन्न होने वाली चित्त की प्रसन्नता ही हर्ष है । इसमें अश्रु, स्वेद गद्गद होना आदि अनुभाव होते हैं । जैसे (?)

'जब प्रियतम (घर लौटकर) आया तो गृहिणी ने मरुस्थल की भूमि को पार करने की कठिनाई को समझकर (प्रियतम के) मुख पर सन्तोष के आँसुओं से भरी दृष्टि डाली और (मरुभूमि को पार करने वाले) ऊँट के बच्चे को (करभ) पीलु, शमी तथा करीर की पत्तियों के ग्रास देकर उसकी केसर-सटा (गर्दन के बाल) पर लगी हुई धूल को आदरपूर्वक अपने आंचल से पोंछ दिया' ।

अन्य बातें निर्वेद के समान समझ लेनी चाहियें ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७.६१ पृ० ३६४), भा० प्र० (पृ० २०), ना० द० (३.२०३), प्रता० (पृ० १७९), सा० द० (३.१६५) । (२) प्रसत्तिः=प्रसाद, प्रसन्नता; चित्त की प्रफुल्लता ।

अथ दैन्यम्—

(१७) दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं कार्ष्ण्यामृजादिमत् ॥१४॥

दारिद्र्यन्यक्कारादिविभावैरनौजस्कता चेतसो दैन्यम् । तत्र च कृष्णतामलिन-वसनदर्शनादयोऽनुभावाः । यथा—

'वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो ।
यत्नात्सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां सुतवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ॥२३१॥

शेषं पूर्ववद् ।

अथौग्र्यम्—

(१८) दुष्टेऽपराधदौर्मुख्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥१५॥

---

(८) दैन्य

दुर्गति आदि के कारण निस्तेज हो जाना ही दैन्य है । यह (मुख की) मलिनता (कार्ष्ण्य=कालिमा) तथा वस्त्रों की अस्वच्छता (अमृजा) आदि (अनुभावों) से युक्त होता है ॥१४॥

दरिद्रता तथा अपमान (न्यक्कार=नीचा दिखाना) आदि विभावों से जो चित्त में ओजस्विता का अभाव हो जाता है वह दैन्य कहलाता है । इसमें (मुख का) कालापन, वस्त्रों तथा दाँतों की मलिनता इत्यादि अनुभाव होते हैं । जैसे (भोज प्रबन्ध २५५, किसी वृद्धा के दरिद्रता से उत्पन्न दैन्य का वर्णन है) 'यह वृद्ध और अन्धा पति है जो खटिया पर पड़ा है, घर की थूणी मात्र शेष है, वर्षा का समय निकट है, पुत्र की कुशल वार्ता भी नहीं मिली, बड़े यत्न से तेल का एक-एक बिन्दु करके जोड़ी गई घड़िया फूट गई । इन बातों से व्याकुल हुई सास पुत्र-वधू को गर्भभार से अलसाई देखकर बहुत समय तक रोती रही' ।

शेष पहिले के समान ही है ।

टिप्पणी—ना० शा० (७.४६, पृ० ३६१), भा० प्र० (पृ० १८), ना० द० (३.२०६), प्रता० (पृ० १७६), सा० द० (३.१४५) ।

(९) उग्रता

अपराध, दुर्मुखता (जली कटी बात करना), क्रूरता आदि के कारण जो दुष्ट के प्रति क्रोध (प्रचण्डता) होता है, वह उग्रता कहलाती है । उसमें पसीना, सिर को हिलाना, धमकाना (तर्जन) और पीटना (ताडना) आदि अनुभाव होते हैं ॥१५॥

यथा वीरचरिते—'जामदग्न्यः—

उत्कृत्योत्कृत्य गर्भानपि शकलयतः क्षत्रसन्तानरोषा—
दुद्दामस्यैकविंशत्यवधि विशसतः सर्वतो राजवंश्यान् ।
पित्र्यं तद्रक्तपूर्णह्रदसवनमहानन्दमन्दायमान–
क्रोधाग्नेः कुर्वतो मे न खलु न विदितः सर्वभूतैः स्वभावः ॥२३२॥

अथ चिन्ता—

(१६) ध्यानं चिन्तेहितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

यथा—

'पक्ष्माग्रग्रथिताश्रुबिन्दुनिकरैर्मुक्ताफलस्पर्धिभिः
कुर्वन्त्या हरहासहारि हृदये हारावलीभूषणम् ।
बाले बालमृणालनालवलयालङ्कारकान्ते करे
विन्यस्याननमायताक्षि सुकृती कोऽयं त्वया स्मर्यते ॥२३३॥

जैसे वीरचरित (२,४८) में परशुराम (=जामदग्न्य) राम से कहते हैं—'क्षत्रियों की सन्तान के प्रति रोष के कारण गर्भ-पिण्डों को भी काट-काट कर खण्ड-खण्ड करने वाले, राजवंश में उत्पन्न जनों का इक्कीस बार नाश करने वाले और उनके रक्त से भरे हुए सरोवर में स्नान (सवन) करने के अत्यधिक आनन्द से क्रोध की अग्नि को शान्त करके पितृ-तर्पण करने वाले उत्कट तेज से युक्त (उद्दाम) मेरा स्वभाव समस्त प्राणियों ने नहीं जाना है, ऐसा नहीं'।

(१०) चिन्ता

टिप्पणी—ना० शा० (७.८१' पृ० ३७०), भा० प्र० (पृ० २३), ना० द० (३.२०२), प्रता० (पृ० १८४), सा० द० (३.१४६)।

(१०) चिन्ता

इष्ट वस्तु की प्राप्ति न होने के कारण जो (उसका) ध्यान किया जाता है वह चिन्ता कहलाती है। यह शून्यता (बुद्धि तथा इन्द्रियों की विकलता) श्वास (की अधिकता) तथा ताप आदि (अनुभाव) उत्पन्न करने वाली होती है।

जैसे (कोई सखी नायिका से कहती है ?)—'हे विशाल नेत्रों वाली सुन्दरी, पलकों के अग्रभाग पर फैले, मोतियों से स्पर्धा करने वाले अश्रु-बिन्दुओं के समूह से अपने हृदय पर महादेव के हास के समान हार का आभूषण रचती हुई, मृदु मृणाल-नाल के कङ्कण नामक अलङ्कार से शोभित हाथ पर अपना मुख रखकर तुम किस पुण्यवान् की याद कर रही हो'?

यथा वा—

'अस्तमितविषयसङ्गा मुकुलितनयनोत्पला बहुश्वसिता ।
ध्यायति किमप्यलक्ष्यं बाला योगाभियुक्तेव ॥२३४॥

अथ त्रासः—

(२०) गर्जितादेर्मनःक्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः ॥१६॥

यथा माघे—

'त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरू-
र्वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य ।
क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतो-
र्लीलाभिः किमु सति कारणे रमण्यः ॥२३५॥

अथासूया—

(२१) परोत्कर्षाक्षमाऽसूया गर्वदौर्जन्यमन्युजा ।
दोषोक्त्यवज्ञे भ्रुकुटिमन्युक्रोधेङ्गितानि च ॥१७॥

अथवा जैसे—(रूप आदि) विषयों का सम्पर्क त्याग कर नेत्र-कमल को बन्द किये, बहुत श्वास लेती हुई यह बाला योगिनी (योगाभियुक्त=योग में स्थित) के समान किसी अलक्ष्य (वस्तु) का ध्यान कर रही है' ।

टिप्पणी—ना० शा० (७.५०, पृ० ३६१), भा० प्र० (पृ० १८), ना० द० (३.१६०), प्रता० (पृ० १७७), सा० द० (३.१५१) ।

(११) त्रास

(बादल की) गर्जना आदि से होने वाला मन का क्षोभ त्रास कहलाता है । इसमें कम्पन आदि (अनुभाव) होते हैं ॥१६॥

जैसे माघ (जल-विहार वर्णन, ८. २४) **में**—'उस सुन्दर उरुओं वाली एक सुन्दरी के उरु से चलती हुई मछली टकरा गई, इससे डरती हुई वह अत्यधिक अङ्ग-भङ्गिमाएँ (विभ्रम) प्रकट करने लगी । अहो, रमणियाँ तो बिना कारण के केवल लीलाओं से भी बलात् क्षुब्ध हो जाया करती हैं फिर यदि कारण हो तो (उनके क्षोभ का) क्या कहना ?'

टिप्पणी—ना० शा० (७.६१, पृ० ३७३-३७४), भा० प्र० (पृ० २४), ना० द० (३.२०८), प्रता० (पृ० १८६), सा० द० (३.१६४) ।

(१२) असूया

दूसरे की उन्नति को न सह सकना ही असूया है । यह गर्व दुर्जनता तथा क्रोध से उत्पन्न होती है । और, इसमें (दूसरे का) दोष-कथन, अनादर, भौंहें चढ़ाना मन्यु तथा क्रोध की चेष्टाएँ आदि (अनुभाव) होते हैं ॥१७॥

गर्वेण यथा वीरचरिते—

'आर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः प्रत्युत
द्रुह्यन्दारथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया ।
उत्कर्षं च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चात्मनः
स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो दृप्तः कथं मृष्यते ॥२३६॥

दौर्जन्याद्यथा—

'यदि परगुणा न क्षम्यन्ते यतस्व गुणार्जने
नहि परयशो निन्दाव्याजैरलं परिमार्जितुम् ।
विरमसि न चेदिच्छाद्वेषप्रसक्तमनोरथो
दिनकरकरान् पाणिच्छत्रैर्नुदञ्छ्रममेष्यसि ॥२३७॥

मन्युजा यथाऽमरुशतके—

'पुरस्तन्व्या गोत्रस्खलनचकितोऽहं नतमुखः
प्रवृत्तो वैलक्ष्यात्किमपि लिखितुं दैवहतकः ।
स्फुटो रेखान्यासः कथमपि स तादृक्परिणतो
गता येन व्यक्तिं पुनरवयवैः सैव तरुणी ॥२३८॥

गर्व से उत्पन्न होने वाली असूया; जैसे वीरचरित (२·९) में (माल्यवान् रावण की राम के प्रति असूया का वर्णन करता है)—'जनक से सीता के लिये याचना करने पर भी स्वामी (रावण) की फल-प्राप्ति न हुई, प्रत्युत द्रोही एवं विरुद्ध कार्य करने वाले दशरथ-पुत्र (राम) ने उस कन्या को पा लिया। इस प्रकार शत्रु का उत्कर्ष, अपने मान और यश का ह्रास और स्त्री-रत्न का चला जाना—इन सबको संसार का स्वामी गर्वीला रावण कैसे सहन करेगा ?'

दुर्जनता से होने वाली असूया; जैसे (सुभाषितावली ४५३, महेन्द्र कवि का पद्य) 'यदि तुम दूसरे के गुणों को सहन नहीं कर सकते तो गुणों के अर्जन के लिये यत्न करो। निन्दा के बहाने से तो दूसरों का यश साफ (समाप्त) नहीं किया जा सकता। यदि इच्छा-द्वेष में लगे मनोरथ वाले तुम (पर-निन्दा से) नहीं रुकते हो तब तो हाथों के छत्र से सूर्य की किरणों को रोकते हो अतः (व्यर्थ ही) थक जाओगे'।

मन्यु से उत्पन्न असूया; जैसे अमरुशतक (५१.५२) में (कोई नायक कुपित प्रिया को मनाने में असफल होकर अपने मित्र से कहता है)—'उस कृशाङ्गी के समक्ष अपने मुख से दूसरी नायिका का नाम निकल जाने (गोत्र-स्खलन) से मैं चकित हो गया और लज्जा (वैलक्ष्य) से नीचा मुख करके भाग्य का मारा मैं कुछ योंही रेखा खींचने लगा। किन्तु वह रेखा-न्यास भी स्पष्ट रूप से इस प्रकार का हो गया कि वही तरुणी अपने समस्त अङ्गों में प्रकट हो उठी।

ततश्चाभिज्ञाय स्फुरदरुणगण्डस्थलरुचा
मनस्विन्या रोषप्रणयरभसाद् गद्गदगिरा ।
अहो चित्रं स्फुटमिति निगद्याश्रुकलुषं
रुषा ब्रह्मास्त्रं मे शिरसि निहितो वामचरणः ॥२३९॥

अथामर्षः—

(२२) अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥१८॥

यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥२४०॥

यथा वा वेणीसंहारे—

'युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थितं
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि ।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवा-
नद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव ॥२४१॥

तब उसे पहचान कर मानिनी के कपोल फड़कने लगे, उनकी कान्ति लाल हो गई, क्रोध और प्रणय के आवेग से उसकी वाणी गद्गद हो गई । और उस मानिनी ने अश्रु जल से मलिन होते हुए 'स्पष्ट ही यह अनोखा चित्र है' यह कहते हुए क्रोध-पूर्वक ब्रह्मास्त्र जसे आपने वामचरण को मेरे सिर रख दिया' ।

टिप्पणी—ना० शा० (७. ३६-३७, पृ० ३५८–३५९), भा० प्र० (पृ० १६) ना० द० (३.१८७), प्रता० (पृ० १७५), सा० द० (३.१६६)

(१३) अमर्ष—

धिक्कार (अधिक्षेप abuse) तथा अपमान आदि से उत्पन्न होने वाला अभिनिवेश अमर्ष कहलाता है । उसमें स्वेद, सिर हिलाना, तर्जना तथा ताडना आदि (अनुभाव) होते हैं ॥१८॥

जैसे वीरचरित (३८) में ऊपर उदा० ७२ ।

और, जैसे वेणीसहार (१.१२) में (भीमसेन सहदेव के द्वारा युधिष्ठिर से कहला रहा है)—मैं आपकी आज्ञा के उल्लंघन के जल में डूब गया हूँ, मैंने आपकी आज्ञा में स्थित रहने वाले अनुजों के बीच में भी निन्दा प्राप्त कर ली है । अब में क्रोधपूर्वक गदा उठाकर उसे रुधिर से लाल करता हुआ कौरवों का नाश करने वाला हूँ । आज एक दिन के लिये आप मेरे बड़े भाई नहीं हैं और न मैं आपका आज्ञाकारी (विधेय) हूँ ।'

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७.७८-७९. पृ० ३६९-३७०). भा० प्र० (पृ० २२); ना० द० (३.१९७), प्रता० (पृ० १८३), सा० द० (३.१५६) । (२) अभिनिविष्टता = अभिनिवेशः, असहनमिति यावत् (प्रभा), Resoluteness

अथ गर्वः —

(२३) गर्वोऽभिजनलावण्यबलैश्वर्यादिभिर्मदः ।
कर्माण्याधर्षणावज्ञा सविलासाङ्गवीक्षणम् ॥१६॥

यथा वीरचरिते—

'मुनिरयमथ वीरस्तादृशस्तत्प्रियं मे
विरमतु परिकम्पः कातरे क्षत्रियासि ।
तपसि विततकीर्तेर्दर्पकण्डूलदोष्णः,
परिचरणसमर्थो राघवः क्षत्रियोऽहम् ॥२४२॥

यथा वा तत्रैव—

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥२४३॥

(Haas), determination of purpose (Apte) यह शब्द यहाँ अस्पष्ट सा है। ना० द० में अमर्ष का रूप अधिक स्पष्ट है—'तिरस्कार आदि के कारण उत्पन्न होने वाली बदला लेने की इच्छा अमर्ष है (क्षेपादेः प्रतिकारेच्छाऽमर्षः)। काव्यानुशासन (२.४५) में भी 'प्रतिचिकीर्षारूपोऽमर्षः' यही कहा गया है। ना० द० में प्रतिकारेच्छा (=अमर्ष) और क्रोध का यह अन्तर बतलाया गया है कि अपकारी के प्रति अपकार करने की इच्छा अमर्ष है और दूसरे के द्वारा अपकार न किये जाने पर भी दूसरे को हानि पहुंचाने का भाव क्रोध है।

(१४) गर्व

उच्चकुल, सौन्दर्य, बल, ऐश्वर्य आदि से उत्पन्न होने वाला मद ही गर्व है। दूसरे को तंग करना (आधर्षण = annoying), तिरस्कार करना तथा विलासपूर्वक (शान के साथ) अपने अङ्गों को देखना आदि इसके (अनुभाव) होते हैं ॥१६॥

जैसे वीरचरित (२.२७) में (परशुराम से डरी हुई सीता से प्रति राम की उक्ति)—'यह (मुनि परशुराम) ऐसा वीर है, यह मेरे लिये प्रसन्नता की बात है। हे भीता, काँपना छोड़ दो तुम तो क्षत्रिया ही और मैं भी तपस्या में कीर्ति का प्रसार करने वाले तथा दर्प से भुजाओं में खुजलाहट वाले (इस परशुराम की) सेवा में (दोनों प्रकार से) समर्थ रघुवंशी राम हूँ।'

और जैसे वहीं (महावीरचरित २.१०) ऊपर २.६ उदा० ८३।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७.६७, पृ० ३६६), भा० प्र० (पृ० २२); ना० द० (३.२१०), प्रता० (पृ० १८०); सा० द० (३.१५४)। (२) कर्माणि=कार्य, विकार अर्थात् अनुभाव।

अथ स्मृतिः—

(२४) सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरत्र च ।
ज्ञातत्वेनार्थभासिन्यां भ्रूसमुन्नयनादयः ॥२०॥

यथा—

'मैनाकः किमयं रुणद्धि गगने मन्मार्गमव्याहतं
शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद्भीतो महेन्द्रादपि ।
तार्क्ष्यः सोऽपि समं निजेन विभुना जानाति मां रावण—
मा: ! ज्ञातं, स जटायुरेष जरसा क्लिष्टो वधं वाञ्छति ॥२४४॥

यथा वा मालतीमाधवे—'माधवः'—मम हि प्राक्तनोपलम्भसंभावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतीयमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः प्रियतमा-स्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसंतानस्तन्मयमिव करोति वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम् ।

---

(१५) स्मृति;

समान वस्तु के ज्ञान या चिन्ता आदि के कारण संस्कार (के उद्बुद्ध होने) से स्मृति उत्पन्न होती है यह स्मृति "मैंने पहले यह जानी थी" (ज्ञात) इस रूप में किसी वस्तु का भास कराती है । इसमें भौंहों को ऊँचा उठाना आदि (अनुभाव) होते हैं ॥२०॥

जैसे [महानाटक ३.७६, पृ० १२८ (Haas) में सीता-हरण करके आकाश-मार्ग से जाता हुआ रावण जटायु को देखकर सोचता है]—'क्या आकाश में मेरे अबाधित मार्ग को यह मैनाक पर्वत रोक रहा है ? किन्तु उसकी ऐसी शक्ति कहाँ ? वह तो इन्द्र के भी वज्रपात से डरा हुआ है । फिर क्या यह गरुड़ (तार्क्ष्य) है ? किन्तु वह भी अपने स्वामी (विष्णु) के सहित मुझ रावण को जानता है । 'अच्छा समझा, यह वह जटायु है जो बुढापे से दुःखी हुआ (मेरे द्वारा) अपना वध चाहता है ।'

और, जैसे मालतीमाधव (५.१०) में माधव—जो (स्मृति) पहले ज्ञान (उपलम्भ) से अपना जन्म पाने वाले संस्कार के निरन्तर प्रबुद्ध होने के कारण प्रतीत हो रही है, अन्य ज्ञानों के द्वारा जिसका प्रवाह नहीं रोका गया है, ऐसी यह प्रियतमा (मालती) की स्मृति रूपी ज्ञान की उत्पत्ति की परम्परा (सन्तान) मेरी चेतना को वृत्ति के समान रूप वाली करती हुई मालतीमय (तन्मय) ही कर रही है ।

'लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
प्रत्युप्तेव च वज्रसारघटितेवान्तर्निखातेव च।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि—
श्चिन्तासंततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया ॥२४५॥

अथ मरणम्—

(२५) मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते।

यथा—

'संप्राप्तेऽवधिवासरे क्षणमनु त्वद्वर्त्मवातायनं
वारंवारमुपेत्य निष्क्रियतया निश्चित्य किञ्चिच्चिरम्।
संप्रत्येव निवेद्य केलिकुररीं सास्रं सखीभ्यः शिशो–
र्माधव्याः सहकारकेण करुणः पाणिग्रहो निर्मितः ॥२४६॥

यह प्रिया (मालती) लीन सी, प्रतिबिम्बि सी, चित्रित सी, खोद (उत्कीर्ण) कर बनाई सी, जड़ी गई सी, (प्रत्युप्ता), वज्रलेप से रची गई सी, अन्तःकरण में गड़ी सी, कामदेव के (चेतोभुवः) पाँच बाणों के द्वारा कील दी गई सी, चिन्ता, सन्तान रूपी तन्तुओं से मजबूती के साथ सिली सी हमारे चित्त में लगी है।,

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७.४९, पृ० ३६१), भा० प्र० (पृ० १८) ना० द० (३.२०६), प्रता० (पृ० १७६), सा० द० (३.१४५)। (२) प्राक्तनेति०—प्राक्तनेन उपलम्भेन अनुभवेन सम्भावितं आत्मजन्म स्वोत्पत्तिर्यस्य तथाभूतस्य संस्कारस्य। (३) वृत्तिसारूप्यतः—सांख्य-योग के अनुसार चित्त (बुद्धि) का विषय रूप में जो परिणाम होता है, वही वृत्ति होती है। चैतन्य (पुरुष) जो कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुआ करता है, वह बुद्धि से अपना विवेक न करता हुआ अपने आपको ही वृत्ति से युक्त या वृत्ति के सदृश समझ लेता है। यही वृत्ति-सारूप्य है (वृत्तिसारूप्यमितरत्र, योगसूत्र १.४)। यहाँ मालती-विषयक स्मृति (वृत्ति) हो रही है, अतः माधव का चैतन्य मालतीमय हो रहा है।

(१६) मरण

मरण का लक्षण नहीं कहा; क्योंकि (i) वह प्रसिद्ध ही है तथा (ii) वह अनर्थ रूप होता है।

जैसे किसी प्रोषितपतिका की दूती घर लौटने वाले नायक से कह रही है)—(आगमन की) अवधि का दिवस आने पर प्रतिक्षण बार-बार तुम्हारे आने के मार्ग की खिड़की पर आकर निष्क्रिय होकर देर तक कुछ निश्चय करके अभी-अभी क्रीड़ा की कुररी (एक पक्षिणी) को आँसुओं के साथ सखियों को समर्पित करके उसने अल्प आयु वाली माधवी (लता) का सहकार (आम्र) के साथ करुण पाणिग्रहण कर दिया।'

इत्यादिवच्छृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम् ।

अन्यत्र कामचारो यथा वीरचरिते---'पश्यन्तु भवन्तस्ताड़काम्---

हृन्मर्मभेदिपतदुत्कटकङ्कपत्रसंवेगतत्क्षणकृतस्फुरदङ्गभङ्गा ।

नासाकुटीरकुहरद्वयतुल्यनिर्यदुद्बुद्बुदध्वनदसृक्प्रसरा मृतैव ।।२४७।।

अथ मदः--

(२६) हर्षोत्कर्षो मदः पानात्स्खलदङ्गवचोगतिः ।।२१।।

निद्रा हासोऽत्र रुदितं ज्येष्ठमध्याधमादिषु ।

इत्यादि के समान शृङ्गार के आश्रय (रतिभाव के आश्रय प्रिया अथवा प्रिय) को लक्ष्य करके (आलम्बनत्वेन) जो मरण होता है उसमें केवल मरण की तैयारी का ही वर्णन करना चाहिये (साक्षात् मरण का नहीं)। अन्य रसों में इच्छानुसार (मरण की तैयारी या साक्षात् मरण का) वर्णन किया जा सकता है। जैसे वीरचरित (१.३९) में [ताड़का के साक्षात् मरण का वर्णन किया गया है]--'आप ताड़का को देखें, हृदय मर्म का भेदन करने वाले गिरते हुए (राम के) तेज बाणों ने वेगपूर्वक तत्काल ही उसका अङ्ग-भङ्ग कर दिया है। उसके नासिकारूपी कुटीर के दोनों छिद्रों (कुहर) से समान रूप से बुदबुदों से भरी शब्द करती हुई रुधिर की धारा बह रही है, लो यह मर ही गई।'

टिप्पणी--(१) ना० शा० (७. ८६-९०, पृ० ३७२-३७३, भा० प्र० (पृ० २४), ना० द० (३. १९८), प्रता० (पृ० १८५), सा० द० (३. १५५)। (२) शृङ्गाराश्रय०--शृङ्गारस्य य आश्रयः प्रियो वा प्रिया वा तादृशालम्बनत्वेन नाम तादृशशृङ्गाराश्रयमुद्दिश्य मरणे (प्रभा)। व्यवसाय=उद्योग, निश्चय, तैयारी; भाव यह है कि शृङ्गार के वर्णन में साक्षात् मरण का वर्णन नहीं किया जाता अपितु मरण की तैयारी का ही वर्णन किया जाता है। अतः ना० द० में मृत्युसङ्कल्पो मरणम्, तथा प्रता० में 'मरणं मरणार्थस्तु प्रयत्नः परिकीर्तितः' ऐसा कहा गया है। ना० शा० आदि में जो मरण के प्रकार तथा अभिनय आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है वह शृङ्गार से अन्य रसों के सन्दर्भ में समझना चाहिये।

(१७) मद

(मद्य) पान से उत्पन्न होने वाली हर्ष की ऐसी अधिकता, जिसमें शरीर, वाणी और चाल लड़खड़ाने लगते हैं, मद कहलाती है इसमें उत्तम, मध्यम तथा अधम जनों में क्रमशः निद्रा, हंसना तथा रुदन (अनुभाव) हुआ करते हैं ।।२१।।

यथा माघे—

'हावहारि हसितं वचनानां कौशलं दृशि विकारविशेषाः ।
चक्रिरे भृशमृजोरपि बध्वाः कामिनेव तरुणेन मदेन ॥२४८॥

इत्यादि ।

अथ सुप्तम्—

(२७) सुप्तं निद्रोद्भवं तत्र श्वासोच्छ्वासक्रिया परम् ॥२२॥

यथा

'लघुनि तृणकुटीरे क्षेत्रकोणे यवानां
नवकलमपलालस्रस्तरे सोपधाने ।
परिहरति सुषुप्तं हालिकद्वन्द्वमारात्
कुचकलशमहोष्माबद्धरेखस्तुषारः ॥२४९॥

अथ निद्रा—

(२८) मनस्संमीलनं निद्रा चिन्तालस्यक्लमादिभिः ।
तत्र जृम्भाङ्गभङ्गाक्षिमीलनोत्स्वप्नतादय*: ॥२३॥

जैसे माघ (१.१३) में—'कामी युवक के समान मद ने भोली (मुग्धा) वधू में भी हाव से मनोहर हँसी, वचनों का कौशल तथा दृष्टि में विशेष प्रकार के विकार अत्यधिक मात्रा में उत्पन्न कर दिये' । इत्यादि ।

टिप्पणी—ना० शा० (७.३८-४६, पृ० १५६, ३६०), भा० प्र० (पृ० १६-१८), ना० द० (३.१८८), प्रता० (पृ० १७५), सा० द० (३.१४६-१४७) ।

(१८) सुप्त

निद्रा से उत्पन्न होने वाला भाव सुप्त कहलाता है। उसमें श्वास तथा उच्छ्वास क्रिया (अनुभाव) मुख्यरूप से (परम्) होती है ॥२२॥

जैसे (सुभाषितावलि १८४०, कमलायुध नामक कवि का पद्य—Haas) 'जौं के खेत के एक कोने में बनी हुई छोटी झोंपड़ी में नये धानों के पुआल के तकिये सहित बिस्तरे पर सोई हुई हालिक की जोड़ी (दम्पती) को—स्तनकलश की अत्यधिक उष्णता के कारण रेखा-बद्ध तुषार निकट से ही बचा रहा है (समीप में स्थिर होकर भी उस पर प्रभाव नहीं डाल रहा)' ।

टिप्पणी—ना० शा० (७.७५.७६, पृ० ३६८-३६९), भा० प्र० (पृ० २३), ना० द० (३.२०१), प्रता० (पृ० १८२), सा० द० (३.१५२) । सा० द० में इसे 'स्वप्न' कहा गया है तथा स्वरूप में भी भेद है ।

(१९) निद्रा

चिन्ता, आलस्य और थकान आदि के कारण मन का सम्मीलन (बाह्य इन्द्रियों से सम्बन्ध न होना) ही निद्रा है। उसमें जम्भाई, अंगड़ाई (अङ्गभङ्ग), आखें मुंदना तथा सोते में बड़बड़ाना (उत्स्वप्न) आदि (अनुभाव) होते हैं ॥२३॥

---

*'उच्छ्वसनादयः' इति पाठान्तरम् ।

यथा—

'निद्रार्धमीलितदृशो मदमन्थराणि
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।
अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥२५०॥

यथा च माघे—

'प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति ।
मुहुरविशदवर्णा निद्रया शून्यां
ददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥२५१॥

अथ विबोधः—

(२९) विबोधः परिणामादेस्तु जृम्भाक्षिमर्दने ।

जैसे (सुभाषितावलि १२८०; कोई नायक किसी नायिका की निद्रावस्था का वर्णन करते हुए कहता है)—'आधे मुंदे नेत्रों वाली उस मृगनयनी के मद के कारण मन्द-मन्द कहे गये, न अर्थयुक्त और न ही निरर्थक, वे मधुर अक्षर अब भी मेरे हृदय में कुछ गुनगुना रहे हैं।

और, जैसे माघ (११.४) में 'किसी (पहरेदार) ने अपना पहरा समाप्त करके नींद लेने की इच्छा करते हुए (दूसरे पहरेदार को) पग-पग पर (प्रतिपदम्) यह आवाज लगाई—'जागो जागो'। किन्तु वह मनुष्य निद्रा के कारण अस्पष्ट अक्षरों वाला सूना-सूना (अर्थशून्य) सा उत्तर देते हुए भी भीतर (मन) से नहीं जागता'।

टिप्पणी——(१) ना० शा० (७.७१–७२, पृ० ३६७-३६८), भा० प्र० (पृ० २२), ना० द० (३.२००), प्रता० (पृ० १८२), सा० द० (३.१५७)। (२) मनः सम्मीलनम्—मन का बाह्य इन्द्रियों से सम्बन्ध न होना; मनः निमीलनं बाह्येन्द्रिय सम्बन्धविरहः (प्रता० टीका)। (३) ना० द० (३.२१) के अनुसार निद्रा और सुप्त का अन्तर यह है कि निद्रा में मन की वृत्ति रहती है केवल बाह्य इन्द्रियों से उसका सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु सुप्त में मन की वृत्ति भी रुक जाती है।

(२०) विबोध

परिणाम (टि०) आदि से विबोध (=जागरण) उत्पन्न होता है। उसमें जम्भाई लेना, आँखे मलना आदि (अनुभाव) होते हैं।

यथा माघे—

'चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां
चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः ।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणा-
मशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ॥२५२॥

अथ व्रीडा—

(३०) दुराचारादिभिर्व्रीडा धाष्टर्याभावस्तमुन्नयेत् ।
साचीकृताङ्गवरणवैवर्ण्याधोमुखादिभिः ॥२४॥

यथाऽमरुशतके—

'पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठाश्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम् ।

जैसे माघ (११.१३) में—'बाद में सोकर भी पहले ही जग जाने वाली तरुणियाँ अपने शरीर को नहीं हिलातीं तथा चिरकालीन रति की थकान से निद्रा के आनन्द को प्राप्त करने वाले अपने प्रियतमों की भुजाओं के दृढ़ आलिङ्गन को भी, भङ्ग नहीं करतीं (कहीं उनकी निद्रा-भङ्ग न हो जाये ?)'।

टिप्पणी–(१) ना० शा० (७.७७, पृ० ३६६), भा०, प्र० (पृ० २३), ना० द० (३.२१५) प्रता० (पृ० १८३), मा० द० (३.१५१)। (२) काव्यानुशासन आदि में इसे प्रबोध कहा गया है। (३) परिणाम—परिणामोऽवस्थान्तरप्राप्तिस्तस्या च निद्रापगमावस्थया विबोधो जायत इत्यभिप्रायः (प्रभा), अर्थात् निद्रा भङ्ग होने की अवस्था। Coming to an end of (sleep)—Haas. वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ ना० शा० में विबोध के कारणों का उल्लेख करते हुए 'आहार-परिणाम' को सबसे पहले रक्खा गया है। भारतीय स्वास्थ्य-विज्ञान के अनुसार भोजन को भी निद्रा का एक कारण माना जाता है। ना० शा० (पृ० ३६७) में निद्रा के कारणों में आहार' का भी निर्देश है। यह भी माना जाता है कि आहार का परिपाक हो जाने पर निद्रा टूट जाती है तथा जागरण हो जाता है जागरण के अन्य भी कारण होते हैं जैसे तीव्र शब्द या स्पर्श इत्यादि। उनमें से परिणाम भी एक है। परिणाम=आहार-परिणाम, भोजन का परिपाक।

(२१) अथ व्रीडा

अनुचित आचरण आदि के कारण जो धृष्टता (प्रगलभता) का अभाव होता है, वह व्रीडा कहलाती है। इसे एक ओर मोड़कर (साचीकृत) अङ्गों को छिपाना, रंग का फीका पड़ना, मुख नीचा कर लेना आदि (अनुभावों) के द्वारा प्रकट करना चाहिये ॥२४॥

जैसे अमरुशतक (४१) में (पति के आचरण से लज्जित होने वाली नायिका का वर्णन है)—'जब पति आँचल खींचता है तो वह विनय युक्त होकर मुख नीचा कर लेती है, पति बलात् आलिङ्गन करना चाहता है तो वह चुपके से अपने अङ्ग

न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना ।
ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः ॥२५३॥

अथापस्मारः—

(३१) आवेशो ग्रहदुःखाद्यैरपस्मारो यथाविधिः (धि) ।
भूपातकम्पप्रस्वेदलालाफेनोद्गमादयः ॥२५॥

यथा माघे—

'आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम् ।
फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥२४५॥

हटा लेती है। इस प्रकार मुस्कराते हुए मुख वाली सखियों पर दृष्टि डालते हुए भी वह कुछ कह नहीं सकती, वह नववधू इस प्रथम परिहास के अवसर पर मन ही मन में उद्विग्न होती है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (५८-५९, पृ० ३६३-६४), भा० प्र० (पृ० १९) ना० द० (३.२०७), प्रता० (पृ० १७८), सा० द० (३.१६५)। प्रता० में व्रीडा का लक्षण अधिक स्पष्ट है 'चेतः संकोचनं व्रीडानङ्गरागस्तवादिभिः'। (२) साचीकृत—मोड़ा हुआ, एक ओर झुकाया हुआ (turned aside), दुराचार=अकार्य (काव्यानुशासन), जो किसी पर करने योग्य न हो, व्रीडा नाम—अकार्यकरणात्मिका (ना० शा०)।

(२२) **अपस्मार**

ग्रह (के प्रभाव) तथा आपत्ति इत्यादि से उत्पन्न होने वाला चित्त-विक्षेप (आवेश) ही अपस्मार कहलाता है। इसमें यथायोग्य (यथा-विधि) भूमि पर गिरना, काँपना, पसीना आना, मुंह में लाला (राल) तथा झाग (फेन) निकलना आदि अनुभाव होते हैं।॥२५॥

जैसे माघ (३.७२) में—भूमि पर पड़े हुए, जोर से शब्द करते हुए, चञ्चल भुजाओं के समान बड़ी-बड़ी तरंगों वाले, फेनयुक्त सागर (पतिम् आपगानाम्) को कृष्ण (असौ) ने अपस्मार रोग वाला समझा।'

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७.७३-७४, पृ० ३६८), भा० प्र० (पृ० २३), ना० द० (३.१८५), प्रता० (पृ० १८२), सा० द० (३.१५३)। (२) आवेशः=विक्षेप, madness (Haas) मन की ऐसी दशा जिसमें कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रहता, व्यक्ति पागल सा हो जाता है, (मिरगी का रोग), वैकल्याम्=कृत्याकृत्याविवेचकत्वम् (न० द०), मनः क्षेपः (सा० द०)। (३) यथाविधिः—(पाठान्तर यथाविधि)=प्रारब्धानुसारेण (प्रभा), properly speaking (haas) वस्तुतः यथाविधि पाठ ही उचित प्रतीत होता है। यथाविधि=यथायोगम्; अर्थात् भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होने वाले अपस्मार में यथायोग्य भूपात इत्यादि अनुभाव हुआ करते हैं।

अथ मोहः—

(३२) मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेशानुचिन्तनैः ।
तत्राज्ञानभ्रमाघातघूर्णनादर्शनादायः ॥२६॥

यथा कुमारसम्भवे—

'तीव्राभिषङ्गप्रभवेन वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥२५५॥

यथा चोत्तररामचरिते—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥२५६॥

अथ मतिः—

(३३) भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्मतिः ।

---

(२३) मोह

भय, दुःख आवेश (चित्त-विक्षेप) तथा अनुचिन्तन आदि के कारण होने वाली मूर्च्छा (विचित्तता=perplexity) ही मोह कहलाता है। उसमें अज्ञान, भ्रान्ति, टकराना (आघात), चक्कर खाना, दिखाई न देना इत्यादि (अनुभाव) होते हैं ॥२६॥

जैसे कुमारसम्भव (३.७३) में इन्द्रियों की वृत्ति को रोक देने वाले अचानक आने वाले तीव्र आघात (अभिषङ्ग) से उत्पन्न हुए, मोह के द्वारा थोड़ी देर के लिये रति को अपने पति (कामदेव) की मृत्यु (व्यसन) का ध्यान न रहा। इस प्रकार मानों मोह ने उसका उपकार ही किया।

और 'जैसे उत्तररामचरित (१.३५) में (सीता को लक्ष्य करके राम कहते हैं)—'यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि सुख है या दुःख. यह मूर्च्छा है या निद्रा, यह विष का प्रसार है या मद। तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में मेरी इन्द्रियों को बिल्कुल मूढ़ कर देने वाला कोई ऐसा विकार (भाव) हो रहा है जो अन्तःकरण को जड़ बना रहा है और संताप भी उत्पन्न कर रहा है।'

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७. ५२–५३, पृ० ३६२), भा० प्र० (पृ० १६), ना० द० (३. १६६), प्रता० (पृ० १७७), सा० द० (३.१५०)। (२) विचित्तता—अचेतनता, मूर्च्छा मूर्च्छन, (प्रता०), अचैतन्य (ना० द०); इस अवस्था में चेतना बिलकुल समाप्त नहीं हो जाती अपितु सुध-बुध नहीं रहा करती, मोहः चित्तस्य शून्यत्वम् (भा० प्र०)।

(२४) मति

शास्त्र आदि से उत्पन्न होने वाला तत्त्वज्ञान (अर्थ का निश्चय) ही मति कहलाता है। यह भ्रान्ति-नाश तथा (शिष्य के प्रति) उपदेश आदि (अनुभावों) से युक्त होती है।

यथा किराते—

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥२५७॥

यथा च—

'न पण्डिताः साहसिका भवन्ति श्रुत्यापि ते संतुलयन्ति तत्त्वम् ।
तत्त्वं समादाय समाचरन्ति स्वार्थं प्रकुर्वन्ति परस्य चार्थम् ॥२५८॥

अथालस्यम्—

(३४) आलस्यं श्रमगर्भादिर्जाड्यं जृम्भासितादिमत् ॥१७॥

यथा ममैव—

'चलति कथञ्चित्पृष्टा यच्छति वचनं कथञ्चिदालीनाम् ।
आसितुमेव हि मनुते गुरुगर्भभरालसा सुतनुः ॥२५९॥

जैसे किरातार्जुनीय (२.३०) में 'बिना विचारे कोई कार्य न करना चाहिये, भले बुरे का विचार न करना (अविवेक) बड़ी-बड़ी आपत्तियों का कारण होता है। निश्चय ही गुणों से मुग्ध हुई सम्पत्तियाँ विचार कर कार्य करने वाले व्यक्ति को स्वयं ही वरण कर लेती हैं'।

और, जैसे (?) 'बुद्धिमान् व्यक्ति सहसा कार्य करने वाले नहीं होते। वे तो किसी बात को केवल सुनकर भी तत्त्व का तुलनात्मक विचार कर लेते हैं और तत्त्व का ग्रहण करके आचरण करते हैं। इस प्रकार अपने कार्य की सिद्धि (अर्थ) कर लेते हैं और दूसरे के भी'।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७.८२, पृ० ३७१), भा० प्र० (पृ० २३), ना० द० (३. १६३), प्रता० (तत्त्वमार्गानुसन्धानार्थनिर्धारणं मतिः, पृ० १८४) सा० द० (नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः ३. १६३) (२) शास्त्रादेः—शास्त्र इत्यादि मति के विभाव (उत्पत्ति के कारण) माने जाते हैं। यहाँ 'आदि शब्द से ऊहा-पोह (मनन), नीति मार्ग का अनुसरण इत्यादि का ग्रहण होता है। भ्रान्ति-छेद तथा उपदेश आदि इसके अनुभाव हैं (ना० शा०)। यहाँ 'आदि' शब्द से सन्तोष, धैर्य इत्यादि का ग्रहण करना चाहिये। (मि०, सा० द०)।

(२५) आलस्य

परिश्रम या गर्भ-धारण आदि से उत्पन्न होने वाली शिथिलता आलस्य है। यह जम्भाई लेना, बैठे रहना (आसित) आदि (अनुभावों) से युक्त होता है ॥२७॥

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—'वह किसी प्रकार (कठिनाई से) चलती है, सखियों के द्वारा पूछे जाने पर किसी प्रकार उत्तर भी दे देती है। किन्तु गर्भ के अत्यधिक भार से अलसाई हुई वह सुन्दरी बैठे रहना ही पसन्द करती है'।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७. ४८, पृ० ३६१), भा० प्र० (पृ० १८), ना० द० (३. २१४), प्रता० (पृ० १७६), सा० द० (३.१५५)। (२) यद्यपि 'श्रम' भी एक

अथावेगः—

(३५) आवेगः सम्भ्रमोऽस्मिन्नभिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगो*
वातात्पांसूपदिग्धस्त्वरितपदगतिर्वर्षजे पिण्डिताङ्गः ।
उत्पातात्स्रस्तताङ्गेष्वहितकृते शोकहर्षानुभावा
वह्नेर्धूमाकुलास्यः करिजमनु भयस्तम्भकम्पापसाराः ॥२८॥

अभिसरो राजविद्रवादिः, तद्धेतुरावेगो यथा ममैव—

आगच्छागच्छ सज्जं कुरु वरतुरगं सन्निधेहि द्रुतं मे
खड्गः क्वासौ कृपाणीमुपनय धनुषा किं किमङ्गप्रविष्टम् ।
संरम्भोन्निद्रितानां क्षितिभृति गहनेऽन्योन्यमेवं प्रतीच्छन्
वादः स्वप्नाभिदृष्टे त्वयि चकितदृशां विद्विषामाविरासीत् ॥२६०॥

व्यभिचारी भाव है तथापि यह आलस्य नामक व्यभिचारी भाव का विभाव हो जाता है, इसमें कोई दोष नहीं। हाँ, कोई व्यभिचारी भाव एक दूसरे का व्यभिचारी भाव नहीं हो सकता, क्योंकि व्यभिचारी भाव तो किसी स्थायी भाव का ही हुआ करता है। (ना० द०)।

(२६) आवेग

आवेग का अर्थ है—सम्भ्रम (हड़बड़ाहट या घबराहट)। [यह अनेक कारणों से हुआ करता है और प्रत्येक के अनुभाव भी भिन्न-भिन्न होते हैं, जैसे] (१) किसी राजा के आक्रमण आदि (अभिसर) से उत्पन्न होने वाले आवेग में शस्त्र तथा हाथी आदि की योजना की जाती है, (२) आँधी (वात) से उत्पन्न होने वाले में धूलि से सना (उपदिग्ध=लिप्त) व्यक्ति तेज चाल से चलता है, (३) वर्षा से उत्पन्न होने वाले आवेग में व्यक्ति अङ्गों को समेटता है, (४) (उलका-पात आदि) उत्पात से होने वाले (आवेग) में अङ्ग शिथिल हो जाते हैं, (५) शत्रु (अहित) द्वारा उत्पन्न होने वाले (आवेग) में शोक होता है, मित्र (हित) द्वारा होने वाले में हर्ष होता है, (६) अग्नि से होने वाले में व्यक्ति धूम से व्याकुल मुख वाला हो जाता है, तथा (७) हाथी से उत्पन्न होने वाले के पश्चात् भय, स्तब्धता, कम्प तथा भागना आदि अनुभाव हुआ करते हैं।

टिप्पणी—(१) इसमें स्रग्धरा वृत्त है। (२) ना० शा० (७.६३–६५, पृ० ३६५–३६६), भा० प्र० (पृ० २०), ना० द० (३, १६२), प्रता० (पृ० १७६–१८०), सा० द० (३.१४३–१४५)। (३) अभिसरः=आक्रमण, अभियान (attack-Haas); उत्पात=बिजली कड़कना, उल्का-पात चन्द्र-सूर्य का ग्रहण इत्यादि। (ना० शा०)।

अभिसार का अर्थ है—राजा का अभियान आदि, उसके निमित्त से होने वाला आवेग यह है जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—हे 'राजन् गहन पर्वत (क्षितिभृत्) पर सोये हुए तुम्हारे शत्रु जब तुम्हें स्वप्न में देख लेते हैं, तो घबराहट से उनकी निद्रा भङ्ग हो जाती है, नेत्र चकित हो जाते हैं और एक दूसरे को लक्ष्य करके उनका इस

---

*'मायाभियोगो' इति पाठान्तरम्।

इत्यादि ।

'तनुत्राणं तनुत्राणं शस्त्रं शस्त्रं रथो रथः ।

यथा वा –

'प्रारब्धां तरुपुत्रकेषु सहसा संत्यज्य सेकक्रिया-
मेतास्तापसकन्यकाः किमिदमित्यालोकयन्त्याकुलाः ।
आरोहन्त्युटजद्रुमांश्च वटवो वाचंयमा अप्यमी
सद्यो मुक्तसमाधयो निजवृषीष्वेवोच्चपादं स्थिताः ॥२६२॥

वातावेगो यथा –'वातहृतं वसनमाकुलमुत्तरीयम्' इत्यादि ।

वर्षजो यथा—

'देवे वर्षत्यशनपचनव्यापृता वह्निहेतो—
र्गेहाद् गेहं फलकनिचितैः सेतुभिः पङ्कभीताः ।
नीध्रप्रान्तानविरलजलान्पाणिभिस्ताडयित्वा
शूर्पच्छत्रस्थगितशिरसो योषितः सञ्चरन्ति ॥२४३॥

उत्पातजो यथा—

'पौलस्त्यपीनभुजसम्पदुदस्यमान—
कैलाससम्भ्रमविलोलदृशः प्रियायाः ।

प्रकार का वार्तालाप होने लगता है—"आओ, आओ, उत्तम घोड़े को तैयार करो शीघ्र ही मेरे पास आ जाओ, यह खड्ग कहाँ है ? कटारी लाओ, धनुष से (क्या) लाभ ?, अरे क्या (शत्रु) प्रविष्ट हो गया" । इत्यादि ।

इसी प्रकार 'कवच-कवच, शस्त्र-शस्त्र, रथ-रथ, इस प्रकार की श्रेष्ठ योद्धाओं की उत्कट उक्तियाँ चारों ओर (विष्वक्) सुनाई पड़ती थीं ।'

अथवा जैसे [तपोवन में किसी राजा की सेना या किसी भयानक व्यक्ति के आ जाने पर तपस्वियों के सम्भ्रम का वर्णन है]—'ये तापस कन्याएँ पुत्र-तुल्य वृक्षों में प्रारम्भ की गई सेचन-क्रिया को 'एक दम छोड़कर 'यह क्या है ? इस प्रकार व्याकुल होकर देखती हैं । ये ब्रह्मचारी कुटी के वृक्षों पर चढ़ रहे हैं । और, मौनी तपस्वी (वाचंयम = a sage who maintains rigid silence-Apte) भी तुरन्त समाधि को छोड़कर अपने आसनों पर ही ऊँचे पैर करके खड़े हो गये हैं ।'

आँधी से उत्पन्न होने वाला आवेग वह है, जैसे—'वायु से आहत यह उत्तरीय वस्त्र इधर-उधर उड़ रहा है (आकुलम्)', इत्यादि ।

वर्षा के उत्पन्न होने वाला आवेग; 'मेघ बरसने पर भोजन पकाने में व्यस्त नारियाँ निरन्तर जल वाले छप्पर से छोर को हाथों से हटाकर सिर को सूप (छाज) के छाते के ढके हुए, कीचड़ से डरी हुईं 'तख्तों के बने बाँधों से, आग लाने के लिये, एक घर से दूसरे घर जा रही हैं,

उत्पात से होने वाला आवेग है; जैसे—'चन्द्रशेखर (महादेव) की ऐसी स्थिति (आसितम् = आसनम्) तुम्हारा कल्याण करे, जिसमें रावण (पौलस्त्य)

श्रेयांसि वो दिशतु निह्नुतकोपचिह्न—
मालिङ्गनोत्पुलकमासितमिन्दुमौलेः ।।२६४।।

अहितकृतस्त्वनिष्टदर्शनश्रवणाभ्यां तद्यथोदात्तराघवे—'चित्रमायः—(ससम्भ्रमम्) भगवन् कुलपते रामभद्र परित्रायतां परित्रायताम् (इत्याकुलतां नाटयति)' इत्यादि ।

पुनः चित्रमायः—

मृगरूपं परित्यज्य विधाय विकटं वपुः ।
नीयते रक्षसाऽनेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ।।२६५।।

रामः—

वत्सस्याभयवारिधेः प्रतिभयं मन्ये कथं राक्षसात्
त्रस्तश्चैष मुनिर्विरौति मनसश्चास्त्येव मे सम्भ्रमः ।
मा हासीर्जनकात्मजामिति मुहुः स्नेहाद् गुरुर्याचिते
न स्थातुं न च गन्तुमाकुलमतेर्मूढस्य मे निश्चयः ।।२६६।।

इत्यन्तेनानिष्टप्राप्तिकृतसम्भ्रमः ।

इष्टप्राप्तिकृतो यथाऽत्रैव—(प्रविश्य पटाक्षेपेण सम्भ्रान्तो वानरः) वानरः—महाराअ, एदं खु पवणणन्दणागमणेण पहरिस'—(महाराज, एतत्खलु पवननन्दनागमनेन प्रहर्ष—) इत्यादि 'देवस्स हिअआणन्दजणणं विअलिदं महुवणम् ।' (देवस्य हृदयानन्दजननं विदलितं मधुवनम्' ।) इत्यन्तम् ।

की पुष्ट भुजाओं के बल द्वारा कैलास पर्वत के उठाये जाने की घबराहट से चञ्चल दृष्टि वाली प्रिया (पार्वती) के कोपचिह्न छिप गये हैं, जो (पार्वती के) आलिङ्गन से पुलकित है' ।

अहितकृत आवेग तो अनिष्ट (वस्तु) के दर्शन या श्रवण आदि से होता है; जैसा कि उदात्तराघव में—चित्रमाय (घबराहट के साथ)—भगवन्. कुल के स्वामी राम, रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये, (इस प्रकार व्याकुलता का अभिनय करता है) इत्यादि । फिर चित्रमाय—मृग के रूप को छोड़कर भयावना रूप बनाकर यह राक्षस युद्ध में लक्ष्मण (के जीवन) को संशय में डाल रहा है ।'

'राम—निर्भयता के सागर वत्स लक्ष्मण को राक्षस से भय हो सकता है, यह कैसे मानूँ ? यह मुनि (चित्रमाय) डरकर चिल्ला रहा है, इसलिये मेरे मन में घबराहट है ही । दूसरी ओर गुरु (?) ने बार-बार स्नेहपूर्वक यह अनुरोध किया था कि जनकपुत्री को (अकेला) न छोड़ना । इस प्रकार मेरी बुद्धि आकुल है, मैं किंकर्त्तव्यविमूढ हूँ, मेरा न ठहरने का निश्चय हो रहा है, न ही जाने का ।'

यहाँ तक अनिष्ट-प्राप्ति से होने वाला संभ्रम है ।

इष्टप्राप्ति से होने वाला संभ्रम; जैसे यहीं (उदात्तराघव में ही)—'(घबराया वानर पटपरिवर्तन के साथ प्रवेश करके सुग्रीव से कहता है) वानर—पवनपुत्र (हनुमान) के आगमन के आनन्द से…इत्यादि से लेकर महाराज के हृदय में आनन्द उत्पन्न करने वाला मधुवन उजाड़ दिया', यहाँ तक ।

यथा वा वीरचरिते—

'एह्येहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र
चुम्बामि मूर्धनि चिरस्य परिष्वजे त्वाम् ।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥२६७॥

वह्निजो यथाऽमरुशतके—

'क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन्केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥२६८॥

यथा वा रत्नावल्याम्—

'विरम विरम वह्ने मुञ्च धूमाकुलत्वं
प्रसरयसि किमुच्चैर्रचिषां चक्रवालम् ।
विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियायाः
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि ॥२६९॥

अथवा जैसे वीरचरित (१.५५) में—

"पूर्ण चन्द्रमा के समान, रघुकुल को आनन्द देने वाले वत्स राम, आओ, आओ, बहुत समय के पश्चात् तुम्हारे मस्तक का चुम्बन कर लूँ, तुम्हें गले लगा लूँ अथवा हृदय में रखकर रात दिन तुम्हें साथ रक्खूँ या तुम्हारे दोनों चरण-कमलों की वन्दना करूँ"।

अग्नि से उत्पन्न होने वाला सम्भ्रम; जैसे अमरुशतक (२) में 'वह (त्रिपुर दहन के अवसर की) शिव के बाणों की अग्नि तुम्हारे पापों को भस्म करे; जिस (अग्नि) को अश्रुपूर्ण नेत्रकमल वाली त्रिपुर-युवतियों के द्वारा, तत्काल अपराध करने वाले कामी के समान, हाथ छूने पर झटक दिया गया (क्षिप्तः), बलात् आँचल पकड़ते हुए भी ताडित किया गया, केशों को पकड़ते हुए हटा दिया गया, चरणों में गिरते हुए को सम्भ्रम (भय या आदर) से नहीं देखा गया तथा आलिङ्गन करते हुए दुत्कारा गया'।

अथवा जैसे रत्नावली (४.१६) में (सागरिका को बचाने के लिये अग्नि में प्रविष्ट होते हुए उदयन की उक्ति)—'हे अग्नि शान्त हो जाओ, शान्त हो जाओ धूम की आकुलता को छोड़ दो। तुम ऊँची लपटों के समूह को क्यों फैला रही हो? जिस मुझको प्रलय काल की अग्नि के समान तेज वाली प्रिया के विरह की अग्नि ने नहीं जलाया उसका तुम क्या करोगी'?

करिजो यथा रघुवंशे—

'स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन ।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥२७०॥

करिग्रहणं व्यालोपलक्षणार्थम् । तेन व्याघ्रशूकरवानरादिप्रभवा आवेगाः व्याख्याताः ।

अथ वितर्कः—

(३६) तर्को विचारः सन्देहाद् भ्रूशिरोङ्गुलिनर्तकः ।

यथा—

किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
सद्यः स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा ।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ॥२७१॥

हाथी से उत्पन्न होने वाला आवेग है, जैसे रघुवंश (५.४९) में 'उस (बिगड़े हाथी) ने क्षण-भर में सैनिक शिविर में ऐसी गड़बड़ी मचा दी (तुमुलं चकार) कि वह (शिविर) बन्धन को तोड़कर भाग जाने वाले अश्वों से सूना हो गया, वहाँ टूटी धुरी वाले रथ इधर-उधर पड़े थे, योद्धा लोग स्त्रियों की रक्षा में व्याकुल (विहस्त) थे'।

(दश० की कारिका में) 'करिज' (हाथी से उत्पन्न) शब्द का ग्रहण (पशुजन्य) विनाश (व्यालोप) को उपलक्षित करने के लिये है। इसके द्वारा व्याघ्र, शूकर, वानर आदि से होने वाले आवेगों को भी बतला दिया गया है।

(२७) वितर्क—

सन्देह से उत्पन्न होने वाला विचार ही तर्क कहलाता है, यह भौंहों सिर तथा अङ्गुलियों में चञ्चलता उत्पन्न करने वाला होता है (अर्थात् इसमें भौंहें चलाना इत्यादि अनुभाव होते हैं)।

जैसे (?) (वनवास के निमित्त का विचार करते हुए लक्ष्मण कहते हैं)—'क्या वह (विनय आदि से युक्त) भरत लोभ से आक्रान्त हो गया और उसने कैकेयी द्वारा (मात्रा) ऐसा करा दिया? अथवा मेरी मझली माता ही स्त्रियों की (स्वाभाविक) क्षुद्रता को प्राप्त हो गई? नहीं, मेरे ये दोनों प्रकार के विचार मिथ्या हैं; वह मेरा ज्येष्ठ भ्राता (गुरुः) भरत तो आर्य राम का अनुज है और वह मेरी माता (कैकेयी) पिता (महाराज दशरथ) की धर्मपत्नी है। इसलिये मैं समझता हूँ कि यह अनुचित कार्य विधाता ने किया है'।

अथवा ।

'कः समुचिताभिषेकाद्रामं प्रच्यावयेद् गुणज्येष्ठम् ।
मन्ये ममैव पुण्यैः सेवावसरः कृतो विधिना' ॥२७२॥

अथावहित्था—

(३७) लज्जाद्यैर्विक्रियागुप्ताववहित्थाङ्गविक्रिया ।

यथा कुमारसम्भवे—

'एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥२७३॥

अथ व्याधिः—

(३८) व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः ॥२९॥

अथवा (राम-वनवास के अवसर पर ही लक्ष्मण का तर्क है) गुणों में उत्कृष्ट राम को उचित राज्याभिषेक से कौन वञ्चित कर सकता है ? मैं समझता हूँ कि मेरे पुण्यों से ही विधाता ने मुझे (राम की) सेवा का अवसर दिया है ।

टिप्पणी—ना० शा० (७.९२, पृ०३७४), भा० प्र० (पृ० २५), ना० द० (३.२०६), प्रता० (पृ० १८), सा० द० (३.१७१) ।

(२८) अवहित्था—

लज्जा आदि के कारण (मुख-राग आदि) अङ्ग-विकार को छिपाना ही अवहित्था कहलाती है । इसमें अन्य अङ्गों का विकार आदि (अनुभाव) होते हैं ।

जैसे कुमारसम्भव (६.८४) में 'देवर्षि नारद के इस प्रकार कहने पर पास में बैठी पार्वती नीचा मुख करके लीला-कमल के पत्तों को गिनने लगी' ।

टिप्पणी—(१) ना० द० (७.८०, पृ० ३७०), भा० प्र० (पृ० २२), ना० द० (३.२१२), प्रता० (पृ० १८४), सा० द० (३.१५८) । (२) अवहित्था का अभिप्राय है आकार को छिपाना । अनुराग आदि का भाव मन में उदित होने पर जो मुख—राग, भ्रू—विकार आदि होने लगते हैं उन विकारों को लज्जा भय आदि के कारण छिपाना ही अवहित्था है । लज्जा, भय, गौरव, कुटिलता, धृष्टता आदि इसके विभाव होते हैं । अपने आकार को छिपाने के लिये व्यक्ति किसी अन्य कार्य में लग जाता है, कोई और बात कहने लगता है, किसी ओर देखने लगता है इस प्रकार की अङ्ग—विक्रिया ही अवहित्था के अनुभाव हैं (ना० शा० तथा ना० द०) ।

(२९) व्याधि—

सन्निपात इत्यादि व्याधियाँ कहलाती हैं । इनका अन्य स्थलों (आयुर्वेद आदि के ग्रन्थों) में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है ॥२९॥

दिङ्मात्रं तु यथा—

'अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुषु कृतं चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता
दत्तं दैन्यमशेषतः परिजने तापः सखीष्वाहितः।
अद्य श्वः परनिर्वृतिं व्रजति सा श्वासैः परं खिद्यते
विश्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तया ॥२७४॥

अथोन्मादः—

(३९) अप्रेक्षाकारितोन्मादः सन्निपातग्रहादिभिः।
अस्मिन्नवस्था* रुदितगीतहासासितादयः ॥३०॥

यथा—'आः ! क्षुद्रराक्षस, तिष्ठ, तिष्ठ, क्व मे प्रियतमामादाय गच्छसि' इत्युपक्रमे 'कथम्—

दिग्दर्शनमात्र तो यह है, जैसे (अमरुशतक ११०, कोई दूती नायक के पास जाकर विरह-सन्तप्ता नायिका का उपालम्भपूर्वक वर्णन करती है)—'उस विरहिणी ने निरन्तर बहने वाली अश्रु-धारा बन्धुजनों को अर्पित कर दी है, दीनता पूर्णतः परिजनों को दे दी है, अपना सन्ताप सखियों के पास रख दिया है। इस प्रकार उसने वियोग से उत्पन्न होने वाला दुःख बाँट दिया है तुम निश्चिन्त रहो। वह तो आज या कल पर-निर्वाण को प्राप्त हो जायेगी। उसे तो केवल श्वास ही दुःख दे रहे हैं।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७.८३, पृ० ३७१), भा० प्र० (पृ० २३), ना० द० (३.१९४); प्रता० (पृ० १८५), सा० द० (३.१६४)। (२) सामान्यतः सन्निपात का अर्थ है—साथ मिलना। किन्तु आयुर्वेद के अनुसार वात-पित्त-कफ तीनों के एक साथ विकृत होने को सन्निपात कहा जाता है। वात, पित्त और कफ में से किसी एक के विकृत होने पर ही रोग उत्पन्न हो जाया करता है। अतः तीनों के एक साथ विकृत होने से जो रोग उत्पन्न होता है वह अधिक कष्टसाध्य हुआ करता है। इस प्रकार सन्निपात आदि किसी व्याधि (रोग) के निमित्त हुआ करते हैं। उनसे उत्पन्न होने वाले ज्वर आदि व्याधि कहलाते हैं (द्र०, ना० शा०, ना० द० तथा सा० द०)। दशरूपक में सन्निपात आदि से उत्पन्न होने वाली (ज्वर आदि) व्याधि के लिये सन्निपात आदि शब्द का प्रयोग कर दिया गया है।

(३०) उन्माद—

सन्निपात तथा ग्रह (के प्रभाव) आदि से उत्पन्न होने वाली जो विना सोचे समझे कार्य करना है वह उन्माद कहलाता है। उसमें रोना गाना, हँसना तथा बैठे रहना (आसित) आदि अवस्थाएँ (अनुभाव) हुआ करती हैं ॥३०॥

जैसे (विक्रमोर्वशीय नाटक ४.७ उर्वशी के वियोग में उन्मत्त पुरूरवा की उक्ति)—'अरे नीच राक्षस, ठहर ठहर। मेरी प्रियतमा को लेकर कहाँ जाता है? इस सन्दर्भ में—'क्या? यह नवीन मेघ उमड़ा है, यह गर्वयुक्त राक्षस नहीं है। यह

---

* 'स्थान०' इति पा०।

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥२७५॥ इत्यादि ।

अथ विषादः—

(४०) प्रारब्धकार्यासिद्धयादेर्विषादः सत्त्वसंक्षयः ।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥३१॥

यथा वीरचरिते—'हा आर्ये ताडके, किं हि नामैतत् अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि, ग्रावाणः प्लवन्ते ।

नन्वेष राक्षसपतेः स्खलितः प्रतापः
प्राप्तोऽद्भुतः परिभवो हि मनुष्यपोतात् ।
दृष्टः स्थितेन च मया स्वजनप्रमाथो
दैन्यं जरा च निरुणद्धि कथं करोमि ॥२७६॥

दूर तक फैला हुआ इन्द्रधनुष है उसका धनुष नहीं है । यह भी तेज (पटु) धारा की वर्षा है, बाणों की धारा नहीं है । कसौटी पर कनक-रेखा के समान स्निग्ध यह विद्युत् है, मेरी प्रिया उर्वशी नहीं है । इत्यादि ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७.८४–८५, पृ० ३७२), भा० प्र० (पृ० २४), ना० द० (३.२०५), प्रता० 'उन्मादस्तुल्यवर्तित्वं चेतनाचेतनेष्वपि' (पृ० १८५), सा० द० (३.१६०) । (२) यहाँ सन्निपात आदि उन्माद के विभाव है । इसी प्रकार इष्टजन-वियोग; विभव-नाश आदि भी इसके विभाव होते हैं । (ना० शा०) । ऊपर के उदारण में इष्टजन-वियोग ही इसका विभाव है । रोना आदि इसके अनुभाव हैं । असम्बद्ध-प्रलाप भी इसका अनुभाव होता है । (ना० शा०) ऊपर के उदाहरण में यही अनुभाव है ।

(६१) विषाद—

प्रारम्भ किये गये कार्य में असफलता आदि के कारण उत्साह (सत्त्व) का क्षीण हो जाना ही विषाद कहलाता है । यह निःश्वास, उच्छ्वास, हृदय का सन्ताप तथा सहायक की खोज आदि (अनुभावों) का जनक होता है ॥३१॥

जैसे वीरचरित (१.४०) में (रावण का विषाद है ।) 'हाय, आर्या ताडका यह क्या हो रहा है ? जल में तुम्बी डूब रही है और पाषाण तर रहे हैं' ।

सचमुच यह राक्षसपति (रावण) का प्रताप क्षीण हो गया है क्योंकि उसको मनुष्य के बच्चे से अद्भुत पराभव प्राप्त हुआ है, मैंने यहाँ रहते हुए ही स्वजनों का नाश देख लिया और दीनता तथा बुढ़ापा मुझे (कुछ करने से) रोक रहे हैं, कैसे करूँ' ?

अथौत्सुक्यम्—

(४१) कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसम्भ्रमैः ।
*तत्रोच्छ्वासत्वराश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमाः ॥३२॥

यथा कुमारसम्भवे—

'आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः ॥२७७॥

यथा वा तत्रैव—

पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादनिनयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥२७८॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७.६८–६९, पृ० ३६७), भा० प्र० (पृ० २२), ना० द० (३.२०४), प्रता० (पृ० १८१), सा० द० (३-१६७)। (२) सत्त्वसंक्षयः सत्त्व=चित्त (निर्मल चित्त या निर्विकार चित्त) उसकी क्षीणता, चित्त का अनुत्साहित तथा सन्तप्त हो जाना, मि० विषादस्तान्तिः, तान्तिः—अनुत्साहाक्रान्तश् चित्तसन्तापः' (ना० द०) तथा 'विषादश्चेतसो भङ्गः' (प्रता०) अर्थात् दिल टूट जाना ।

(३२) औत्सुक्य (उत्सुकता)

रमणीय वस्तु की अभिलाषा, गाढ अनुराग (रति) तथा घबराहट के कारण जो समय (विलम्ब) को न सह सकना है वह औत्सुक्य कहलाता है। उसमें उच्छ्वास, जल्दबाजी, दीर्घ श्वास, हृदय का सन्ताप, पसीना और भ्रम आदि (अनुभाव) होते हैं ॥३२॥

जैसे कुमारसम्भव (७.२२) में 'निश्चल (स्तिमित) तथा दीर्घ नेत्रों वाली पार्वती दर्पण में अपने सुन्दर रूप को देखकर महादेव जी के पास जाने के लिये शीघ्रता करने लगी। वस्तुतः स्त्रियों की साज-सज्जा का फल यही है कि प्रियतम उसको देखे'।

अथवा जैसे वही (कुमारसम्भव ६.९५) 'पार्वती से मिलन के लिये उत्सुक महादेव (पशुपति) ने भी वे दिन अत्यन्त कठिनता से व्यतीत किये। ये (कामसम्बन्धी) भाव जब धीर एवं संयमी (विभु) को भी प्रभावित करते हैं तो फिर किस दूसरे असंयमी (अवश) व्यक्ति को विकृत न कर देंगे?'

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७.७०, पृ० ३५७), भा० प्र० (पृ० २१), ना० द० (३.२११), प्रता० (पृ० १८१), सा० द० (३.१५९)। (२) रम्येच्छारति०—यहाँ दो प्रकार का पदच्छेद किया जा सकता है (i) रम्येच्छा+अरति (Hass) अरति=रति का अभाव (lack of the pleasures of love) इसके कारण भी औत्सुक्य होता है। (ii) रम्येच्छा+रति; रति=अनुराग, प्रेम। ना० द० में अभिष्वङ्ग (Intence attachment, affection) औत्सुक्य का निमित्त माना गया है। इसी आधार पर यहाँ रति (=गाढ़ अनुराग) पदच्छेद अधिक उचित प्रतीत होता है।

---

* तत्रोच्छ्वासत्वनि श्वास०' इति पाठान्तरम् ।

अथ चापलम्--

(४२) मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापलं त्वनवस्थितिः ।
तत्र भर्त्सनापारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥३३॥

यथा विकटनितम्बायाः--

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
बालामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥२७९॥

यथा वा--

'विनिकषणरणत्कठोरदंष्ट्राक्रकचविशङ्कटकन्दरोदराणि ।
अहमहमिकया पतन्तु कोपात् सममधुनैव किमत्र मन्मुखानि ॥२८०॥
अथवा प्रस्तुतमेव तावत्सुविहितं करिष्ये ।' इति ।

अन्ये च चित्तवृत्तिविशेषा एतेषामेव विभावानुभावस्वरूपानुप्रवेशान्न पृथग्वाच्याः ।

---

(३३) चपलता—

मात्सर्य, द्वेष तथा राग आदि से होने वाली चित्त की अस्थिरता चपलता कहलाती है। उसमें डाँटना, कठोरता दिखलाना तथा स्वच्छन्द आचरण इत्यादि (अनुभाव) होते हैं ॥३३॥

जैसे विकटनितम्बा (नामक कवयित्री) के इस पद्य में (सुभाषितावलि ७३५)—'हे भ्रमर, दूसरी पुष्पलताओं पर अपने चञ्चल मन को बहलाओ जो तुम्हारे उपमर्द (मर्दन, मसलन) को सहन कर सकें। इस नवमल्लिका की कली को, जो अभी छोटी है, जिसमें पराग (रजस्) नहीं उत्पन्न हुआ है, बिना अवसर के ही व्यर्थ में क्यों बिगाड़ रहे हो?'

अथवा जैसे (रावण की इस उक्ति में ?)—'(दाँत) पीसने के कारण, शब्द करती हुई कठोर दाढ रूपी आरों (क्रकच) से भीषण कन्दरा के समान मध्यभाग (उदर) वाले ये मेरे मुख 'मैं खाऊँ' 'मैं खाऊँ' यह कहते हुए क्या एक साथ क्रोधपूर्वक अभी इन (वानरों) पर गिर जायें ?

अथवा प्रस्तुत कार्य को ही भली भाँति करूँगा।

टिप्पणी--ना० शा० (७.६०, पृ० ३६४), भा० प्र० (पृ० २०), ना० द० (३.१९१) के अनुसार 'चापलं साहसम्, साहसम् = अविमृश्यकारिता (बिना विचारे काम करना), प्रता० (पृ० १७९), सा० द० (३.१६६)।

(उपर्युक्त भावों के अतिरिक्त) जो अन्य चित्तवृत्तियाँ हैं, उनका इन्हीं के विभाव तथा अनुभाव में अन्तर्भाव हो जाता है अतः उनका पृथक् कथन नहीं करना चाहिये।

अथ स्थायी—

(४३) विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥३४॥

टिप्पणी—'ना० शा० (७६३ पृ० ३७४) में भी व्यभिचारी भावों की संख्या ३३ कही गई है । किन्तु भानुदत्त आदि कतिपय आचार्यों ने इनके अतिरिक्त 'छल' आदि को भी व्यभिचारी भाव माना है । इसी प्रकार ना० द० (३.१८२) से क्षुधा, तृष्णा, मैत्री, मुदिता आदि का भी व्यभिचारी भाव के रूप में उल्लेख किया गया है । साथ ही जैसा कि ऊपर (४,८ टि०) कहा गया है, किसी रस का स्थायी भाव भी दूसरे रस में व्यभिचारी भाव हो जाया करता है । इसीलिये विश्वनाथ कविराज ने ३३ व्यभिचारी भावों के निरूपण को उपलक्षण मात्र बतलाया है; अर्थात् इन ३३ भावों के अतिरिक्त और भी व्यभिचारी भाव हो सकते हैं दूसरी, ओर, साहित्य-शास्त्र में एक ऐसी भी परम्परा प्रतीत होती है, जिसके अनुसार व्यभिचारी भाव ३३ ही हैं, अधिक नहीं । धनिक भी इस मत के मानने वाले प्रतीत होते हैं । प्रस्तुत सन्दर्भ का भाव यह है कि व्यभिचारी भाव विशेष प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं । निर्वेद इत्यादि ३३ भावों के अतिरिक्त इस प्रकार की और भी चित्तवृत्तियाँ हो सकती हैं, जो रस के पोषण में सहायक हुआ करती हैं । फिर भी उनका पृथक् कथन करना आवश्यक नहीं । कारण यह है कि उनमें से कुछ चित्तवृत्तियाँ उक्त ३३ व्यभिचारी भावों के विभाव रूप में होंगी, कुछ इनके अनुभाव रूप में ही । इसलिये उनका इन्ही में अन्तर्भाव हो जायेगा । द्रष्टव्य—

अन्येऽपि यदि भावाः स्युश्चित्तवृत्तिविशेषतः ।
अन्तर्भावस्तु सर्वेषां द्रष्टव्यो व्यभिचारिषु ॥

भा० प्र० पृ० २५ पं० ६—७

स्थायी भाव

जो रति आदि भाव अपने से प्रतिकूल अथवा अनुकूल किसी प्रकार के भावों के द्वारा विच्छिन्न नहीं होता और लवणाकार (नमक की खान या समुद्र) के समान अन्य सभी भावों को आत्मसात् कर लेता है, वह स्थायी भाव कहलाता है ॥३४॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (७.८ तथा ८ से पहिले गद्य; पृ० ३४६—३५०) भा० प्र० (पृ० २६), काव्यानुशासन (२.१८), ना० द० (३.१८१ वृत्ति), प्रता० (पृ० १५७), सा० द० (३.१७४) । (२) ये भाव स्थायी इसलिये कहलाते हैं क्योंकि ये स्थितिशील हैं—स्थित रहने वाले हैं (स्थायी यस्मादवस्थितः ना० शा० पृ० ३७६) । साथ ही ये प्रधान भी होते हैं—बह्वाश्रयत्वात् स्वामिभूताः स्थायिनो भावाः (ना० शा० पृ० ३४६) । इस प्रकार इनकी दो विशेषताएँ हैं—(i) स्थितिशीलता और (ii) प्रधानता । दशरूपक में इन्हें इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—(i) स्थायी भाव वह है जो प्रतिकूल या अनुकूल भावों के द्वारा विच्छिन्न नहीं होता है । (i) जिस प्रकार लवणाकर में जो भी वस्तु गिर जाती है वही तद्रूप (लवण) हो जाती है, इसी प्रकार सभी व्यभिचारी भाव आदि स्थायी भाव के रूप में ही घुल-

सजातीयविजातीयभावान्तरैरतिरस्कृतत्वेनोपनिबध्यमानो रत्यादिः स्थायी । यथा बृहत्कथायां नरवाहनदत्तस्य मदनमञ्जूषायामनुरागः, तत्तदवान्तरानेकनायिकानुरागैरतिरस्कृतः स्थायी । यथा च मालतीमाधवे श्मशानाङ्के वीभत्सेन मालत्यनुरागस्यातिरस्कारः—'मम हि प्राक्तनोपलम्भसम्भावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात्

मिल जाते हैं। इस पर धनिक की व्याख्या है—जिस रति आदि भाव का काव्य में इस प्रकार उपनिबन्धन किया जाता है कि वह सजातीय या विजातीय भावों के द्वारा तिरस्कृत नहीं होता, वही रति आदि भाव स्थायी भाव है। रति आदि से उपरक्त चित्त में अविरोधी भावों तथा व्यभिचारियों का सम्बन्ध होता है, यह सभी सहृदयों के अनुभव से सिद्ध है। इस प्रकार स्थायी भाव का स्वरूप यह है :—एक तो वह काव्य में इस प्रकार उपनिबद्ध किया जाता है कि सजातीय या विजातीय भावों से उसके सातत्य में विच्छेद नहीं होता, जैसे बृहत्कथा आदि के उदाहरण से स्पष्ट है (स्थितिशीलता)। दूसरे, वह सहृदय के मन में (रसास्वादन के समय) उद्बुद्ध रहता है। अन्य सभी भाव उसी में विलीन होते रहते हैं (प्रधानता)। (३) अभिनवगुप्त के अनुसार इनकी स्थितिशीलता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के मन में जन्म से ही ये विशेष प्रकार के भाव रहते हैं। वासना रूप में रहने वाले ये भाव किसी निमित्त से उद्बुद्ध हो जाया करते हैं और अपना कार्य करके विलीन से हो जाते हैं किन्तु ये कभी नष्ट नहीं होते। इनकी प्रधानता यह है कि ये भाव पुरुषार्थ-चतुष्टय से सम्बन्ध रखते हैं (द्र० अभि० भा०, पृ० २८२–२८३)। (४) आगे चलकर स्थायी भाव का स्वरूप परिष्कृत हुआ तथा 'पुष्ट होकर या अभिव्यक्त होकर जो भाव रसरूपता को प्राप्त हो जाते हैं वे ही स्थायी भाव हैं', इस बात पर अधिक बल दिया जाने लगा जैसे—प्रकृष्यमाणो यो भावो रसतां प्रतिपद्यते । स एव भावः स्थायीति भरतादिभिरुच्यते ॥ भा० प्र० (पृ० २६)।

किञ्च 'रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते । (उद्धृत सा० द० ३.१७२)। सा० द० के स्थायी भाव के लक्षण में दश० की छाया है, फिर भी इसी पहलू पर अधिक बल दिया गया है—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमा ।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः ॥

यहाँ 'आस्वादाङ्कुरकन्दः' यह शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

(काव्य आदि में) वर्णित (उपनिबध्यमान) ऐसा रति आदि भाव ही स्थायी भाव कहलाता है, जिसका अन्य सजातीय या विजातीय भावों से अभिभव (तिरस्कार) नहीं होता। (सजातीय भावों से अभिभव न होने का उदाहरण है) जैसे बृहत्कथा में जो मदनमञ्जूषा के प्रति नरवाहनदत्त के अनुराग का वर्णन किया गया है उसका अन्य (नायकों) के अनेक नायिकाओं के प्रति वर्णित अवान्तर अनुरागों से तिरस्कार नहीं होता, अतः वहाँ (नरवाहनदत्त निष्ठ) रति स्थायी भाव है और (विजातीय भावों

प्रतीयमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः, प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसन्तान-स्तन्मयमिव करोत्यन्तर्वृत्तित्तसारूप्यतश्चैतन्यम्' इत्यादिनोपनिबद्धः । तदनेन प्रकारेण विरोधिनामविरोधिनां च समावेशो न विरोधी ।

तथाहि—विरोधः सहानवस्थानं बाध्यबाधकभावो वा । उभयरूपेणापि न तावत्तादात्म्यमस्यैकरूपत्वेनैवाविर्भावात् । स्थायि नां च भावादीनां* यदि विरोधस्त-

---

से अभिभव न होने का उदाहरण है) जैसे मालतीमाधव में श्मशान के वर्णन-सम्बन्धी (पञ्चम तथा षष्ठ) अङ्क में बीभत्स के वर्णन से मालती के प्रति होने वाले (माधव के) अनुराग का तिरस्कार नहीं होता । जैसा कि इस (सन्दर्भ) में वर्णन किया गया है— (५.६ के बाद) जो (स्मृति की धारा) पूर्व अनुभव (उपलम्भ) से उत्पन्न होने वाले संस्कार के निरन्तर प्रबुद्ध होने के कारण प्रकट हो रही है जिसका अन्य विजातीय प्रतीतियों (प्रत्यय) से प्रवाह नहीं रोका जा रहा है; ऐसी यह प्रियतम की स्मृति-रूप ज्ञान की उत्पत्ति की धारा मेरी चेतना को अन्तःकरण की वृत्ति के सारूप्य से मालतीमय (तन्मय) बना रही है । इस प्रकार विरोधी या अविरोधी भावों का एकत्र समावेश (स्थायीभाव का विच्छेदक) नहीं होता ।

टिप्पणी—(१) विरुद्धैः=विजातीयैः; अविरुद्धैः—सजातीयैः । एक रति भाव (अनुराग) दूसरे रति भाव का सजातीय है, किन्तु जुगुप्सा आदि भाव रति भाव के विजातीय है; जैसे ऊपर के उदाहरणों में नरवाहनदत्त का मदनमञ्जूषा के प्रति जो अनुराग है, अन्य नायकों के अनुराग उसके सजातीय हैं । किन्तु मालतीमाधव से माधव का जो मालती के प्रति अनुराग है, बीभत्स (जुगुप्सा) उसका विजातीय भाव है । (२) न विरोधी=विच्छेदक नहीं; ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि सजातीय और विजातीय भावों के द्वारा स्थायी भाव का विच्छेद नहीं होता । इस प्रकार सजातीय या विजातीय भावों को अङ्गी स्थायी भाव का अङ्ग बनाकर काव्य में समाविष्ट किया जा सकता है, उनके समावेश में कोई दोष नहीं होता ।

कैसे ? यह 'तथा हि······चाङ्गत्वायोगात्' में बतलाया गया है—

विरोध का अभिप्राय है—(दो भावों का) साथ न रह सकना (सहानवस्थान) अथवा एक-दूसरे का बाध करना (बाध्य-बाधक—भाव) । इन दोनों रूपों में ? एक स्थायी भाव का (अस्य) किसी अन्य स्थायी भाव से विरोध (तादात्म्यम्=विरुद्धत्वम्, विच्छेदकत्व, विरोध) नहीं हो सकता; क्योंकि सभी भावों की एक (रस के) रूप में ही प्रतीति हुआ करती है । यदि स्थायी भावों तथा व्यभिचारी भावों का परस्पर विरोध माना जाये, तो वह सहानवस्थान (रूप विरोध) नहीं हो सकता; क्योंकि यह सभी सहृदयों के अनुभव से सिद्ध होता है कि रति आदि भाव से उपरक्त चित्त में अविरोधी व्यभिचारियों का इसी प्रकार सम्बन्ध हो जाता है जिस प्रकार माला के सूत्र से

---

*विभावादीनाम्' इति पाठान्तरम् ।

त्रापि न तावत् सहानवस्थानम्—रत्याद्युपरक्ते चेतसि स्रक्सूत्रन्यायेनाविरोधिनां व्यभिचारिणां चोपनिबन्धः समस्तभावकस्वसंवेदनसिद्धः। यथैव स्वसंवेदनसिद्धस्तथैव काव्यव्यापारसंरम्भेणानुकार्येप्यावेश्यमानः स्वचेतःसम्भेदेन तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुः सम्पद्यते। तस्मान्न तावद्भावानां सहानवस्थानम्। बाध्यबाधकभावस्तु भावान्तरैर्भावान्तरतिरस्कारः। स च न स्थायिनामविरुद्धव्यभिचारिभिः स्थायिनोऽविरुद्धत्वात् तेषामङ्गत्वात्-प्रधानविरुद्धस्य चाङ्गत्वायोगात्।

अनेक पुष्पों का (स्रक्सूत्रन्यायेन)। और जिस प्रकार यह अपने अनुभव से सिद्ध होता है उसी प्रकार काव्य-व्यापार के उपाय (संरम्भ) द्वारा अनुकार्य (राम आदि) में भी उस (रति आदि भाव से युक्त चित्त में अविरोधी व्यभिचारियों के सम्बन्ध) का वर्णन किया जाता है तथा सहृदय से अपने चित्त के साथ तन्मयता (सम्भेद = मिश्रण) हो जाने के कारण वह उस प्रकार की आनन्दमयी अनुभूति के आविर्भाव का निमित्त बन जाता है इसलिये सञ्चारी भावों का (स्थायी भाव के साथ) सहानवस्थान रूप विरोध तो होता नहीं।

बाध्यबाधकभाव विरोध भी नहीं हो सकता, क्यों? बाध्य-बाधक-भाव का अर्थ है—एक भाव के द्वारा दूसरे भाव का तिरस्कार। और, स्थायी भावों का अपने अविरोधी व्यभिचारी भावों के साथ बाध्य-बाधक-भाव विरोध (सः) हो नहीं सकता क्योंकि वे स्थायी भाव के विरोधी नहीं होते अपितु उसके अङ्ग होते हैं। जो प्रधान का विरोधी होता है वह तो उसका अङ्ग ही नहीं बन सकता

टिप्पणी—(१) विरोध—सहानवस्थान + बाध्यबाधकभाव। (२) भावों के विरोध में दो सम्भावनाएँ हैं (i) या तो स्थायी भावों का परस्पर विरोध हो अथवा (ii) किसी स्थायी भाव का व्यभिचारी भावों के साथ विरोध हो। ऊपर (i) 'तथाहि—भावात्' इत्यादि में यह बतलाया है कि दो स्थायी भावों में न तो सहानवस्थान रूप विरोध हो सकता है और न ही बाध्य-बाधक-भाव रूप विरोध। कारण यह है कि रस-रूप से जो स्थायी भाव का आस्वादन किया जाता है, उसमें एक (मिश्रित) रूप में ही आस्वादन होता है (जिसे पानक रस न्याय भी कहा जाता है)। वहाँ दो भावों की पृथक् प्रतीति नहीं होती। फिर उनका किसी प्रकार का विरोध कैसे हो सकता है? (ii) 'स्थायिनां च चाङ्गत्वायोगात्' में यह बतलाया गया है कि किसी स्थायी भाव का अविरोधी व्यभिचारियों के साथ भी न तो सहानवस्थान रूप विरोध हो सकता है और न ही बाध्य-बाधक-भाव रूप विरोध (द्र० अनुवाद)। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस सन्दर्भ में स्थायी भाव का अपने से अविरुद्ध व्यभिचारियों के साथ समावेश दिखलाया गया है। जो व्यभिचारी भाव किसी स्थायी भाव का विरोधी होता है, वह तो स्थायी भाव का अङ्ग हो ही नहीं सकता (प्रधानविरुद्धस्य चाङ्गत्वायोगात्)। धनिक ने अङ्गी रस के साथ

आनन्तर्यविरोधित्वमप्यनेन प्रकारेणाऽपास्तं भवति । तथा च मालतीमाधवे श्रृङ्गारानन्तरं बीभत्सोपनिबन्धेऽपि न किञ्चिद्वैरस्यम् । तदेवमेव स्थिते विरुद्धरसैकालम्बनत्वमेव विरोधे हेतुः । स त्वविरुद्धरसान्तरव्यवधानेनोपनिबध्यमानो न विरोधी ।

यथा—'अण्णहुणाहुमहेलिअहुजुहुपरिमलुसुअन्धु ;
मुहुकन्तह अगत्थणहअङ्ग ण फिट्टइ गन्धु ॥२८१॥
(नितान्तास्फुटत्वादस्य श्लोकस्य च्छाया न लिख्यते ।

इत्यत्र बीभत्सरसस्याङ्गभूतरसान्तरव्यवधानेन श्रृङ्गारसमावेशो न विरुद्धः । प्रकारान्तरेण वैकाश्रयविरोधः परिहर्तव्यः ।

उसके समावेश का प्रकार नहीं बतलाया । ध्वन्यालोक (३.२४), का० प्र० (७.६३) तथा सा० द० (७.३०) आदि से विदित होता है कि यदि विरुद्ध व्यभिचारी आदि का बाध्य रूप में निबन्धन किया जाता है तो कोई विरोध नहीं होता अपितु गुण होता है ।

इस प्रकार यहाँ किसी स्थायी भाव का विरोधी तथा अविरोधी स्थायी भाव के साथ एवं अविरोधी व्यभिचारी भावों के साथ अङ्गाङ्गिभाव से समावेश दिखलाया गया है । किन्तु जिन स्थायी भावों का विरोध (बाध्य-बाधक-भाव) सहृदय जनों के अनुभव से सिद्ध है, उनका तो अङ्गाङ्गिभाव हो नहीं सकता । अतः अब यह दिखलाते हैं कि वस्तुतः विरोधी भावों का काव्य में कैसे उपनिबन्धन किया जाना चाहियेः—

इसी प्रकार (रसों) के आनन्तर्य विरोध का परिहार किया जा सकता है । जैसे मालती-माधव में श्रृङ्गार के अनन्तर बीभत्स की योजना की गई है फिर भी वहाँ किसी प्रकार की विरसता नहीं होती । अब ऐसा (कि भावों में सहानवस्थान इत्यादि विरोध नहीं हो सकता) सिद्ध हो जाने पर (स्थित) केवल विरुद्ध रसों का एक आलम्बन होना (आलम्बनैक्य) ही विरोध का निमित्त हो सकता है । किन्तु वहाँ भी यदि किसी अविरोधी रस को बीच में रखकर विरुद्ध रसों की योजना की जाती है तो कोई विरोध नहीं होता । जैसे अण्णहु इत्यादि प्राकृत पद्य में है (इस पद्य की व्याख्या स्पष्ट नहीं) ।

यहाँ पर बीभत्स रस का अङ्ग जो अन्य (?) रस है उसे बीच में रखकर श्रृङ्गार रस का समावेश किया गया है, अतः कोई विरोध नहीं होता । अथवा आश्रयैक्यविरोध (विरोधी रसों का एक आश्रय में होना) का अन्य प्रकार से परिहार किया जा सकता है ।

टिप्पणी—(१) रस-विरोध तथा उसके परिहार के विशेष विवरण के लिये द्र० ध्वन्यालोक ३.१८–३०); काव्यप्रकाश (७.६०–६५), सा० द० (७.२९–३१) । (२) रसों का विरोध तीन प्रकार का होता हैः—(i) **आनन्तर्य या नैरन्तर्य** विरोध— जो रस एक साथ बिना किसी व्यवधान के नहीं रह सकते, उनका नैरन्तर्य विरोध

ननु यत्रैकतात्पर्येणेतरेषां विरुद्धानामविरुद्धानां च न्यग्भूतत्वेनोपादानं तत्र भवत्वङ्गत्वेनाऽविरोधः, यत्र तु समप्रधानत्वेनानेकस्य भावस्योपनिबन्धनं तत्र कथम् ?

होता है, जैसे शान्त (शम) और शृङ्गार (रति) दोनों एक व्यक्ति में अव्यवहित रूप से नहीं रह सकते अतः इनका नैरन्तर्य विरोध है। इस विरोध को दूर करने के लिये दोनों के बीच में किसी अन्य रस का वर्णन करना चाहिये, जैसे नागानन्द में शान्त और शृङ्गार के बीच में अद्भुत रस का उपनिबन्धन किया गया है। यहाँ धनिक ने जो शृङ्गार के अनन्तर बीभत्स के उपनिबन्धन में अविरोध दिखलाया है, वस्तुतः वह आनन्तर्य विरोध का उदाहरण नहीं। बीभत्स और शृङ्गार का आलम्बनैक्य विरोध माना जाता है, आनन्तर्य विरोध नहीं। (ii) आलम्बनैक्य विरोध—जो दो रस (स्थायी भाव) एक ही आलम्बन (विभाव) के निमित्त से नहीं हो सकते, उनका आलम्बनैक्य विरोध होता है; जैसे शृङ्गार और बीभत्स का। अतः मालती आदि किसी एक ही आलम्बन विभाव के प्रति रति और जुगुप्सा दोनों भावों का उपनिबन्धन दोषयुक्त है। हाँ, मालती के प्रति रति भाव और श्मशान आदि के प्रति जुगुप्सा भाव हो सकता है। इस प्रकार आलम्बन का भेद करने से आलम्बनैक्य विरोध दूर हो जाता है (सा० द०)। धनिक की टीका के अनुसार इस विरोध के परिहार का उपाय है—बीच में अविरोधी रस की योजना कर देना, जो कि ऊपर प्राकृत के उदाहरण से दिखलाया गया है। (iii) आश्रयैक्य विरोध—जिसमें किसी भाव की उत्पत्ति होती है वह आश्रय कहलाता है। जो दो रस (स्थायी भाव) एक ही आश्रय में नहीं हो सकते उनका आश्रयैक्य विरोध होता है; जैसे एक ही नायक में वीर और भयानक का उपनिबन्धन करना विरोधी होगा, क्योंकि वीर का स्थायी भाव 'उत्साह' और भयानक का स्थायी भाव 'भय' दोनों एक जगह एक साथ नहीं रह सकते। ध्वन्यालोक आदि के अनुसार आश्रयैक्य विरोध के परिहार का उपाय है—दोनों विरोधी रसों की भिन्न-भिन्न आश्रयों में योजना करना, जैसे वीर और भयानक का आश्रयैक्य विरोध है अतः वीर का नायक में तथा भयानक का प्रतिनायक में उपनिबन्धन कर देना चाहिये। धनिक ने इसके परिहार का उपाय नहीं बतलाया; केवल 'प्रकारान्तरेण···परिहर्तव्यः' यह कह दिया है। वस्तुतः आलोक टीका का यह अंश अस्पष्ट सा हो गया है। (३) बीभत्सरसस्य अङ्गभूतरसान्तर०—बीभत्स का अङ्ग प्रायः भयानक रस हुआ करता है। प्रकारान्तरेण०=अङ्गाङ्गिभावकल्पनया (प्रभा)। वस्तुतः आश्रयैक्य विरोध के परिहार का जो उपाय अभी ऊपर बतलाया गया है, उसी में टीका का तात्पर्य प्रतीत होता है।

(शङ्का) मान लिया कि जहाँ एक के तात्पर्य से (एक रस को प्रधान करके) दूसरे विरुद्ध और अविरुद्ध भावों को अङ्ग रूप में (न्यग्भूतत्वेन=दबाकर, गौण रूप से) रक्खा जाता है, वहाँ तो उन (विरोधी तथा अविरोधी भावों) के अङ्ग हो जाने के कारण विरोध न होगा; किन्तु जहाँ समान रूप में प्रधान रखकर (समप्रधानत्वेन) अनेक भावों की योजना की जाती है, वहाँ (अविरोध) कैसे होगा ? जैसे (?)—

१. यथा—'एक्कत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो ।
पेम्मेण रणरसेन अ भडस्स डोलाइअं हिअअम् ॥२८२॥
[एकतो रोदिति प्रियाऽन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः ।
प्रेम्णा रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ॥]

इत्यादौ रत्युत्साहयोः । २. यथा वा—

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥२८३॥

इत्यादौ रतिशमयोः । ३. यथा च—

'इयं सा लोलाक्षी त्रिभुवनललामैकवसतिः
स चायं दुष्टात्मा स्वसुरपकृतं येन मम तत् ।
इतस्तीव्रः कामो गुरुरयमितः क्रोधदहनः
कृतो वेषश्चायं कथमिदमिति भ्राम्यति मनः ॥२८४॥

इत्यादौ तु रतिक्रोधयोः ।

४. 'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः स्त्रीहस्तरक्तोत्पल-
व्यक्तोत्तंसभृतः पिनद्धशिरसा हृत्पुण्डरीकस्रजः ।

---

१. 'एक ओर प्रियतमा रो रही है और दूसरी ओर रणभेरी का निर्घोष हो रहा है । इस प्रकार प्रेम और समर के उत्साह से योद्धा का हृदय दोलायित हो रहा है ।'

इत्यादि में रतिभाव और उत्साह भाव की समान रूप से प्रधानता है ।

२. अथवा जैसे—(शृङ्गारशतक ३६) 'मात्सर्य को छोड़कर, विचार करके आर्यजन मर्यादापूर्वक यह बतलायें कि पर्वतों के नितम्बों का सेवन करना चाहिये या काम-भाव से मुसकराती हुई विलासिनियों के' ?

इत्यादि में रति और शम भाव की समान रूप से प्रधानता है । और, जैसे—(रावण की इस उक्ति में ?)

३. 'इधर तो तीनों लोकों के सौन्दर्य की एकमात्र (बस्ती) यह चञ्चल नेत्रों वाली सीता (सा) है और इधर वह दुष्ट आदमी है जिसने मेरी बहन का वह (नाक काटना आदि) अपकार किया है । इधर तो तीव्र काम का भाव है और उधर महान् क्रोध की अग्नि । और, मैंने यह (संन्यासी का) वेष बनाया है । अतः मेरा मन चकरा रहा है कि यह सब कैसे हो रहा है' ।

इत्यादि में रतिभाव और क्रोध की समानरूप से प्रधानता है । और जैसे—

४. (मालती० ५.१८, श्मशान वर्णन)—'ये पिशाच-नारियाँ—जो आँतों से मांगलिक माला (प्रतिसर) बनाये हुए हैं, स्त्रियों के कर रूपी लाल कमलों के (कर्ण) आभूषण धारण किये हुए हैं हृदयरूपी कमलों की माला सिर पर बाँधे हैं, रुधिर की

एताः शोणितपङ्ककुङ्कुमजुषः संभूय कान्तैः पिब—
न्त्यस्थिस्नेहसुरां कपालचषकैः प्रीताः पिशाचाङ्गनाः ॥२८५॥

इत्यादावेकाश्रयत्वेन रतिजुगुप्सयोः ।

५. एकं ध्याननिमीलनान्मुकुलितं चक्षुर्द्वितीयं पुनः
पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनतटे शृङ्गारभारालसम् ।
अन्यद दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं
शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥२८६॥

इत्यादौ शमरतिक्रोधानाम् ।

६. 'एकेनाक्ष्णा प्रविततरुषा वीक्षते व्योमसंस्थं
भानोर्बिम्बं सजललुलितेनापरेणात्मकान्तम् ।
अह्नश्छेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी
द्वौ सङ्कीर्णौ रचयति रसौ नर्तकीव प्रगल्भा ॥२८७॥

इत्यादौ च रतिशोकक्रोधानां समप्राधान्येनोपनिबन्धस्तत्कथं न विरोधः ?

पङ्क का कुङ्कुम लगाये हुए हैं—अपने प्रियतमों के साथ मिलकर कपाल के प्यालों में अस्थि-स्नेह (चर्बी) रूपी मदिरा पान कर रही हैं' ।

इत्यादि में एक आलम्बन (=आश्रय) के निमित्त से होने वाले रति और जुगुप्सा भाव की समान रूप से प्रधानता है । और जैसे—(?)

५. 'एक (नेत्र) तो ध्यान में मुंद जाने के कारण कली के समान स्थित (मुकुलित) है, दूसरा नेत्र पार्वती के मुख-कमल तथा स्तन-छोर पर लगा हुआ शृङ्गार के भार से अलसाया है । तीसरा नेत्र दूर तक धनुष को खींचने वाले कामदेव के प्रति उत्पन्न क्रोध की अग्नि से प्रज्वलित हो रहा है । इस प्रकार समाधि के समय भिन्न-भिन्न भावों से युक्त शिव के तीनों नेत्र तुम्हारी रक्षा करें' ।

इत्यादि में शम, रति तथा क्रोध की समानरूप से प्रधानता है । तथा जैसे—

६. (सुभाषितावलि, १९१६, शार्ङ्ग० ३५९६ चन्द्रक कवि का पद्य) 'दिन की समाप्ति पर प्रियतम के वियोग की आशङ्का करने वाली चक्रवाकी क्रोध-भरे एक नेत्र के द्वारा आकाश में स्थित सूर्य बिम्ब को देखती है और आँसुओं से भरे दूसरे कम्पित नेत्र के द्वारा अपने प्रियतम को देखती है । इस प्रकार एक निपुण नर्तकी के समान दो सङ्कीर्ण भावों को प्रकट कर रही है' ।

इत्यादि में रति, शोक और क्रोध की समप्रधान रूप में योजना की गई है । फिर भी इनका विरोध क्यों नहीं है ?

टिप्पणी—(१) ननु······कथं न विरोधः—यह पूर्वपक्षी की शङ्का है । आशय यह है कि जहाँ एक रस (स्थायी भाव) प्रधान होता है, अन्य उसके अङ्ग होते हैं वहाँ स्थायी भाव का विरोधी तथा अविरोधी भावों के साथ अविरोध हो सकता है, किन्तु जहाँ दो या अधिक भावों की समान रूप से प्रधानता होती है

अत्रोच्यते—अत्राप्येक एव स्थायी, तथा हि—१. 'एक्कतो रुअइ पिआ' इत्यादौ स्थायीभूतोत्साहव्यभिचारिलक्षणवितर्कभावहेतुसन्देहकारणतया करुणसंग्रामतूर्ययोरुपादानं वीरमेव पुष्णातीति भटस्येत्यनेन पदेन प्रतिपादितम्। न च द्वयोः समप्रधानयोरन्योन्यमुपकार्योपकारकभावरहितयोरेकवाक्यभावो युज्यते। किञ्चोपक्रान्ते संग्रामे सुभटानां कार्यान्तरकरणेन प्रस्तुतसंग्रामौदासीन्येन महदनौचित्यम्। अतो भर्तुः संग्रामैकरसिकतया शौर्यमेव प्रकाशयन् प्रियतमाकरुणो वीरमेव पुष्णाति।

(समप्राधान्य) वहाँ उनमें अङ्गाङ्गिभाव नहीं हो सकता। अतः वहाँ विरोध होगा ही। पूर्वपक्षी की ओर से ऐसे ६ उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें विरोधी भावों के परस्पर समप्राधान्य की सम्भावना है। (२) **एकतात्पर्येण**—एक (भाव या रस) में तात्पर्य मानकर, एक की प्रधानता के अभिप्राय से। **एकाश्रयत्वेन**—एक ही निमित्त से, पूर्व उदाहरणों में दो भावों के आलम्बन (निमित्त) का भेद है किन्तु यहाँ रति और जुगुप्सा दोनों का आलम्बन एक ही पिशाचाङ्गना है। **रतिशोकक्रोधानाम्**—वस्तुतः यहाँ दो भावों का ही वर्णन है, जैसा कि पद्य से भी प्रकट होता है—द्वौ सङ्कीर्णौ रचयति रसौ'। वे दो भाव हैं—रति और क्रोध। शोक को तो भावी विप्रलम्भ (रति) का ही अङ्ग कहा जा सकता है।

पूर्वपक्षी की शङ्का का समाधान करते हुए धनिक यह दिखलाते हैं कि उपर्युक्त ६ उदाहरणों में अनेक भावों का सम-प्राधान्य नहीं है :—

(समाधान) इस विषय में कहना यह है कि उपर्युक्त उदाहरणों में (अत्र) भी एक-एक स्थायी भाव ही (प्रधान) है। (अतः यहाँ समप्राधान्य मानना उचित नहीं) जैसे कि—

१. 'एकतो रोदिति प्रिया' इत्यादि में उत्साह स्थायी भाव है, वितर्क उसका व्यभिचारी भाव है, उस (वितर्क) का निमित्त सन्देह है और सन्देह के उत्पादक के रूप में रुदन (करुण) तथा रण-भेरी का वर्णन किया गया है। यह रुदन और रण-भेरी का वर्णन वीर (उत्साह) को ही पुष्ट करता है, यह बात 'भटस्य' (योद्धा के) इस शब्द के प्रयोग से प्रकट होती है। दूसरी बात यह भी है कि जिन दो भावों का सम-प्राधान्य होता है उनमें परस्पर उपकार्य-उपकारक-भाव (एक दूसरे का उपकार करना, अङ्गाङ्गिभाव) नहीं हुआ करता। अतः उनकी एकवाक्यता भी नहीं बन सकती (जिन भावों में अङ्गाङ्गिभाव होता है, वे परस्पर साकांक्ष होते हैं अतः उनका ही एकवाक्य में वर्णन किया जा सकता है, यहाँ दोनों का एकवाक्य में वर्णन है इससे सिद्ध होता है कि दोनों में अङ्गाङ्गिभाव है)। इसके अतिरिक्त संग्राम आरम्भ हो जाने पर श्रेष्ठ योद्धाओं का अन्य कार्य करना और प्रस्तुत (कर्त्तव्य) संग्राम से उदासीन रहना नितान्त अनुचित होगा। इसलिये यहाँ प्रियतमा का करुण-विप्रलम्भ (रति-भाव) पति की एकमात्र संग्राम-रसिकता को दिखलाकर उसकी शूरता को ही प्रकट करता है तथा वीररस को ही पुष्ट करता है।

२. एवं 'मात्सर्यम्' इत्यादावपि चिरप्रवृत्तरतिवासनाया हेयतयोपादानाच्छमैक-परत्वम् 'आर्याः समर्यादम्' इत्यनेन प्रकाशितम् । ३. एवम् इयं' सा लोलाक्षी इत्यादा-वपि रावणस्य प्रतिपक्षनायकतया निशाचरत्वेन मायाप्रधानतया च रौद्रव्यभिचारि-विषादविभाववितर्कहेतुतया रतिक्रोधयोरुपादानं रौद्रपरमेव । ४. 'अन्त्रैः कल्पितमङ्गल-

---

टिप्पणी—(१) **स्थायीभूत**=यहाँ रुदन तथा रण-भेरी के वर्णन से सन्देह उत्पन्न होता है जो (सन्देह) पद्य में 'दोलायित' पद द्वारा प्रकट किया गया है सन्देह से वितर्क उत्पन्न होता है । इस प्रकार करुण तथा रण-भेरी का वर्णन सन्देह का कारण है और सन्देह है वितर्क का हेतु । पद का अर्थ यह है—स्थायीभूतो य उत्साहस्तस्य व्यभिचारिलक्षणो यो वितर्कभावः, तस्य हेतुः यः सन्देहः तत्कारणतया । **एकवाक्य-भावः**=एकवाक्यता, अङ्गाङ्गिभावः (प्रभा) । **प्रियतमाकरुणः**—प्रिया में होने वाला करुण भाव । यहाँ करुण का अभिप्राय करुणविप्रलम्भ है । अतो···पुष्णाति—इस प्रकार यहाँ रति और उत्साह का समप्राधान्य नहीं है, अपितु उत्साह (वीर) की प्रधानता है और रति (करुण-विप्रलम्भ) उसी को पुष्ट करता है ।

इसी प्रकार अग्रिम उदाहरणों में भी दो भावों का सम-प्राधान्य नहीं हैं अपितु एक भाव की ही प्रधानता है :—

२. इसी प्रकार मात्सर्य, इत्यादि में भी चिरकाल से होने वाली रतिवासना का हेय (त्याज्य) रूप में ग्रहण किया गया है और यहाँ एकमात्र शम के वर्णन में ही तात्पर्य है । यह बात 'आर्याः समर्यादम्' इन दोनों शब्दों द्वारा प्रकट हो रही है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि श्रेष्ठजनों से मर्यादा का ध्यान रखते हुए यह पूछा जा रहा है 'रमणियों के नितम्ब सेवनीय हैं या पर्वत की उपत्यकायें' अतः स्पष्ट ही कवि का तात्पर्य पर्वत की उपत्यकाओं के सेवन से है । इसलिये यहाँ शम भाव की प्रधानता है, रति और शम का सम-प्राधान्य नहीं ।

३. इसी प्रकार 'इयं सा लोलाक्षी' इत्यादि में भी केवल रौद्र रस में ही तात्पर्य है (रौद्रपरम् एव) क्योंकि यहाँ रावण प्रतिपक्ष नायक है और वह निशाचर होने के कारण माया-प्रधान है । रौद्र रस का व्यभिचारी भाव विषाद है और विषाद का विभाव (निमित्त) वितर्क है । उस वितर्क के हेतु के रूप में रति और क्रोध दोनों का वर्णन किया गया है ।

टिप्पणी—(१) भाव यह है कि परस्पर विरुद्ध रति और क्रोध दो भावों के होने से यह वितर्क उत्पन्न होता है कि क्या करें (कथम् इदम्) इस वितर्क से विषाद की उत्पत्ति होती है । यह विषाद रौद्र रस का व्यभिचारी भाव है । इस प्रकार रति भाव की योजना रौद्र रस को ही पुष्ट करने के लिये है । यहाँ रौद्र रस की प्रधानता है, दोनों का समप्राधान्य नहीं । (२) **रौद्र···हेतुतया**—रौद्रस्य व्यभिचारी विषादस्तस्य विभावः आलम्बनविभावः सीता तद्विषयकः कथम्पदव्यङ्ग्यो यो वितर्कस्तद्धेतुतया

प्रतिसराः' इत्यादौ हास्यरसैकपरत्वमेव । ५. 'एकं ध्याननिमीलनात्' इत्यादौ शम्भोर्भावान्तरैरनाक्षिप्ततया शमस्थस्यापि योग्यन्तरशमाद्वैलक्षण्यप्रतिपादनेन शमैकपरतैव 'समाधिसमये' इत्यनेन स्फुटीकृता । ६. 'एकेनाक्ष्णा' इत्यादौ तु समस्तमपि वाक्यं भविष्यद्विप्रलम्भविषयम् । इति न क्वचिदनेकतात्पर्यम् ।

(प्रभा), वस्तुतः रौद्रस्य व्यभिचारी विषादः, तस्य विभावः वितर्कः, तस्य हेतुतया; एक व्यभिचारी भाव दूसरे का विभाव हो जाया करता है, यह ऊपर (पृ० २९१) कहा जा चुका है ।

४. 'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलपरिसराः' उदाहरण में एकमात्र हास्य रस में ही तात्पर्य है ।

टिप्पणी—घृणित उपकरणों से सज-धज कर पिशाचिनियाँ अपने प्रियतमों के साथ पान-गोष्ठी सुख का अनुभव कर रही है, इस वर्णन से पिशाचिनियों के विकृत आकार, वेष तथा चेष्टाएँ प्रकट होती हैं जो हास्य रस के विभाव हैं। अतः यहाँ हास्य रस की ही प्रधानता है, जुगुप्सा और रति दोनों हास्य रस के ही पोषक हैं। इस प्रकार इन दोनों भावों का समप्राधान्य नहीं ।

५. 'एकं ध्याननिमीलनात्' इत्यादि में यह प्रतिपादन किया गया है (प्रतिपादनेन) कि शम भाव में स्थित शिव को अन्य (रति आदि) भाव विक्षिप्त नहीं कर सकते अतः उनका शम-भाव अन्य योगियों से विलक्षण है। इस प्रकार यहाँ एकमात्र शम-भाव (के वर्णन) में तात्पर्य है । यही बात 'समाधिसमये' (समाधि के समय में) इस पद से स्पष्ट की गई है [इस प्रकार यहाँ शम की प्रधानता है, शम, रति तथा क्रोध तीनों का सम-प्राधान्य नहीं है] ।

६. 'एकेनाक्ष्णा' इत्यादि उदाहरण में तो समस्त वाक्य का (चक्रवाकी) के भावी विप्रलम्भ में ही तात्पर्य है [यहाँ क्रोध तथा शोक रतिभाव के अङ्ग हैं और रतिभाव की ही प्रधानता है, यहाँ रति शोक तथा क्रोध का सम-प्राधान्य नहीं] ।

इस प्रकार ऊपर के उदाहरणों में कहीं भी अनेक भावों के वर्णन में तात्पर्य नहीं है (और सम-प्राधान्य नहीं है) ।

टिप्पणी—ऊपर अश्लिष्ट पदों के प्रयोग के विषय में यह बतलाया गया है कि वहाँ एक ही भाव में तात्पर्य होता है अनेक में नहीं। अतः वहाँ दो अर्थों की प्रधानता ही नहीं हो सकती । फिर सम-प्राधान्य कैसे होगा और दो भावों के विरोध की आशङ्का भी कैसे होगी ?

अब यह बतलाते हैं कि जहाँ श्लेष आदि के द्वारा अनेक अर्थों में तात्पर्य होता है, वहाँ भी अनेक भावों का सम-प्राधान्य तथा परस्पर-विरोध नहीं हुआ करता :—

यत्र तु श्लेषादिवाक्येष्वनेकतात्पर्यमपि तत्र वाक्यार्थभेदेन स्वतन्त्रतया चार्थद्वयपरतेत्यदोषः। यथा—

'श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित—
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः।
विभ्राणां मुखमिन्दुसुन्दररुचं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात्॥२८८॥इत्यादौ।

किन्तु जहाँ श्लेष आदि से युक्त वाक्यों में अनेक अर्थों में तात्पर्य होता है, वहाँ वाक्यार्थ का भेद करके स्वतन्त्र रूप से ही दो अर्थ हुआ करते हैं, इसलिये कोई दोष नहीं। जैसे—(१) सुन्दर हाथों वाले (अथवा हाथ में सुदर्शन चक्र धारण करने वाले) (२) चरण कमल के सौन्दर्य (ललित) से (अथवा चरण-कमल की ललित नामक गति से) लोक को आक्रान्त करने वाले (३) चन्द्रमा जैसे (अथवा चन्द्रमा रूपी) नेत्र को धारण करने वाले (अर्थात् चन्द्रमा जिनका एक नेत्र है, सूर्य तथा चन्द्रमा विष्णु के दो नेत्र माने जाते हैं) विष्णु ने (१) श्लाघनीय समस्त शरीर वाली (२) समस्त अङ्गों की लीला से तीनों लोकों को जीतने वाली (३) चन्द्रमा के समान सुन्दर कान्ति-युक्त मुख को धारण करने वाली जिस रुक्मिणी को, उचित रूप में ही, अपने शरीर से उत्कृष्ट देखा, वह रुक्मिणी तुम्हारी रक्षा करे, इत्यादि में।

टिप्पणी—(१) श्लेषादि—यहाँ 'आदि' शब्द के द्वारा समासोक्ति तथा अन्योक्ति इत्यादि का ग्रहण होता है। (२) श्लेष आदि के स्थल में दो स्थितियाँ हुआ करती हैं—(i) कभी तो दोनों में उपमानोपमेय-भाव होता है और (ii) कभी दोनों अर्थ एक-दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं। पहिली स्थिति में तो उपमेय की प्रधानता होती है अतः सम-प्राधान्य का अवसर ही नहीं है। दूसरी स्थिति में भिन्न-भिन्न दो वाक्यार्थ होते हैं। उन दोनों का अपना अर्थ स्वतन्त्र होता है। वहाँ एक वाक्य का अर्थ दूसरे का अङ्ग नहीं होता। एक वाक्य में एक ही अर्थ प्रधान होता है, अनेक नहीं। फिर अनेक अर्थों के सम-प्राधान्य का प्रश्न ही नहीं उठता। उदाहरणार्थ 'श्लाघ्याशेषतनुम्' इत्यादि में श्लेष द्वारा विष्णु के शरीर की अपेक्षा रुक्मिणी के शरीर के सौन्दर्य की उत्कृष्टता दिखलाई गई है। इसका रुक्मिणी के प्रति भक्ति भाव (रति) में तात्पर्य है। यहाँ हरि (विष्णु) के तीन विशेषण हैं सुदर्शनकरः, चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोकः, चन्द्रात्मचक्षुः दधत्। इनके श्लेष द्वारा दो अर्थ होते हैं (द्र० अनुवाद)। एक अर्थ में विष्णु का पराक्रम तथा वैभव आदि प्रकट होता है और दूसरे अर्थ में विष्णु का सौन्दर्य। इस प्रकार यहाँ उत्साह और रति दो भिन्न-भिन्न भावों में तात्पर्य है तथापि इन दोनों का सम-प्राधान्य नहीं है; क्योंकि यहाँ वाक्यभेद के द्वारा दो अर्थ किये जाते हैं। यह नियम है कि एक बार उच्चरित शब्द एक अर्थ का बोध कराता है (सकृद् उच्चरितः शब्दः सकृद् अर्थं गमयति) अतः दो अर्थों को प्रकट करने के लिये वाक्य-भेद की कल्पना करनी होती है। इस प्रकार यहाँ सम-प्राधान्य न होने के कारण भावों का परस्पर-विरोध नहीं होता।

तदेवमुक्तप्रकारेण रत्याद्युपनिबन्धे सर्वत्राविरोधः। यथा वाऽश्रूयमाणरत्यादिपदेष्वपि वाक्येषु तत्रैव तात्पर्यं तथाग्रे दर्शयिष्यामः।

ते च

(४४) रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाटचेषु नैतस्य ॥३५॥

इस प्रकार उपर्युक्त रीति से रति आदि भावों के वर्णन में कहीं भी विरोध नहीं होता। और, जिन वाक्यों में रति आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता वहाँ भी उन (रति आदि) भावों के वर्णन में ही तात्पर्य होता है, यह बात आगे दिखलायेंगे।

टिप्पणी—यथा वाश्रूयमाण०–यहाँ दो प्रकार का पदच्छेद किया जाता है—(१) यथा वा श्रूयमाण० इत्यादि; भाव यह है कि यदि रति आदि पदों का काव्य में प्रयोग किया गया हो तो भी भाव-वर्णन में ही तात्पर्य होता है। रति आदि शब्दों के प्रयोग का रस-योजना से किसी प्रकार का विरोध नहीं है। इस प्रकार रस, स्थायी और व्यभिचारी भाव के शब्द द्वारा कथन (स्वशब्दवाच्यत्व) को जो दोष माना जाता है, वह धनिक को अभिमत नहीं है। ना० द० (३.१८० वृत्ति) में भी स्वशब्दवाच्यत्व को दोष नहीं माना गया है। (२) यथा वा+अश्रू यमाण० इत्यादि; इस पदच्छेद के अनुसार ही अनुवाद किया गया है। अभिप्राय यह है कि रति आदि पदों का प्रयोग किया जाये अथवा न किया जाये दोनों स्थितियों में काव्य का तात्पर्य भावों के उपनिबन्धन, या कहिये रस-योजना में ही होता है।

और, वे स्थायी भाव हैं :—

(१) रति, (२) उत्साह, (३) जुगुप्सा, (४) क्रोध, (५) हास, (६) विस्मय, (७) भय तथा (८) शोक। कुछ आचार्य शम को भी (नवम) स्थायी भाव कहते हैं; किन्तु उस (शम) को पुष्टि रूपकों में नहीं होती ॥३५॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (६.१५, १७) में इन आठ भावों का निर्देश किया गया है किन्तु पाठान्तर के अनुसार वहाँ 'शम' भाव का भी निर्देश माना जाता है (अभि०)। का० प्र० (४.२९) 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः', भा० प्र० (पृ० २६) 'तस्मादष्टाविति मतं स्थायिनो नाट्यवेदिनाम्'; ना० द० (३.१८२) में 'शम' भाव का भी निर्देश किया गया है तथा अन्यत्र (३.१७७) शान्त रस का भी। साथ ही वहाँ बलपूर्वक यह कहा गया है कि नाट्य में भी शान्त रस होता है। प्रता० (पृ० १५८) में नव रस तथा भावों का उल्लेख है। इसी प्रकार सा० द० (३.१८२) में भी (२) यहाँ धनञ्जय ने 'शम' शब्द का प्रयोग किया है। अतः 'शम' नामक स्थायी भाव निर्वेद (व्यभिचारी भाव २.९) से भिन्न है। मम्मट ने शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद माना है। निर्वेद का अर्थ है—अपने प्रति तिरस्कार की भावना (स्वावमानन) या विषय-वैराग्य अथवा तत्त्वज्ञान (निर्वेदस्तत्त्वधीः ना० द० ३.१८३)।

इह शान्तरसं प्रति वादिनामनेकविधा विप्रत्तिपत्तयः, तत्र केचिदाहुः—'नास्त्येव शान्तो रसः' तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात् । अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति—अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात् । अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति । एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति । यथा तथास्तु । सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते, तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात् ।

यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितम्, तत्तु मलयवत्यनुरागेणाऽऽप्रबन्धप्रवृत्तेन विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्या विरुद्धम् । न ह्येकानुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ, अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वं तत्रैव

किन्तु 'शम' का अर्थ है—वैराग्य-दशा में आत्मरति से होने वाला आनन्द (शमो निरीहावस्थायामात्मविश्रामजं सुखम्, सा० द० ३.१८०) अथवा किसी प्रकार की इच्छा का अभाव (निस्पृहत्वं शमः, ना० द० ३.१८१) । नाट्यदर्पणकार ने मम्मट के मत का खण्डन किया है (ना० द० ३.१८३ वृत्ति) । (३) धनञ्जय के मतानुसार नाट्य में आठ ही रस होते हैं, शान्त रस नाट्य में नहीं होता; क्योंकि नाट्य में शम भाव की पुष्टि नहीं हो सकती । इसकी व्याख्या करते हुए धनिक ने बतलाया है—

शान्त रस के विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं । उनमें से कुछ कहते हैं कि शान्त रस नहीं होता; क्योंकि आचार्य (भरत) ने (नाट्यशास्त्र में) न तो उसके विभाव आदि का वर्णन किया है और न ही उसका लक्षण किया है । दूसरे कहते हैं कि वस्तुतः शान्त रस हो ही नहीं सकता; क्योंकि (शम भाव की पुष्टि ही शान्त रस है और शम-भाव का आविर्भाव राग-द्वेष का नाश होने पर होता है; किन्तु) अनादि काल से धारा रूप में चले आने वाले राग-द्वेष का नाश नहीं किया जा सकता । अन्य आचार्य तो वीर तथा बीभत्स आदि रसों में ही शान्त रस का अन्तर्भाव बतलाते हैं । और, इस प्रकार कहते हुए (विद्वान् लोग) शम भाव को भी स्वीकार नहीं करते । जो कुछ भी हो (इनमें से कोई मत ठीक हो), हम तो यहाँ केवल अभिनयात्मक नाटक आदि में शम के स्थायी होने का निषेध करते हैं, क्योंकि उस (शम की अवस्था) में समस्त क्रियाओं (व्यापार actions) का अभाव हो जाता है, इसलिये उसका अभिनय करना सम्भव नहीं है ।

जो किन्हीं (आचार्यों) ने नागानन्द आदि में 'शम' को स्थायी भाव बतलाया है, वह (कथन) तो नाटक के अन्त तक चलने वाले (जीमूतवाहन के) मलयवती के प्रति अनुराग तथा विद्याधर चक्रवर्ती पद की प्राप्ति के विरुद्ध है । क्योंकि एक ही अनुकार्य का विभाव रूप से आश्रय (आलम्बन) करके (उसमें) विषयों के प्रति अनुराग (रति) तथा वैराग्य (अपराग=शम) कहीं नहीं पाये जाते; इसलिये (नागानन्द में 'शम' स्थायी भाव नहीं है, अपि तु) दयावीर का उत्साह ही वहाँ

शृङ्गारस्याङ्गत्वेन चक्रवर्तित्वावाप्तेश्च फलत्वेनाविरोधात् । ईप्सितमेव च सर्वत्र कर्तव्यमिति परोपकारप्रवृत्तस्य विजिगीषोर्नान्तरीयकत्वेन फलं सम्पद्यत इत्यावेदितमेव प्राक् । अतोऽष्टावेव स्थायिनः ।

ननु च—

'रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः ।
निर्वेदादिष्वपि तत्प्रकाममस्तीति तेऽपि रसाः ।।

इत्यादिना रसान्तराणामप्यन्यैरभ्युपगतत्वात् स्थायिनोऽप्यन्ये कल्पिता इत्यवधारणानुपपत्तिः ।

स्थायी भाव है । उस (दयावीर के) उत्साह में ही शृङ्गार (रति भाव) अङ्ग रूप से आया है तथा चक्रवर्ती पद की प्राप्ति उसका फल है । इस प्रकार कोई विरोध नहीं होता । सर्वत्र कर्त्तव्य पालन करना ही अभीष्ट है, इस भावना से परोपकार में तत्पर हुए विजिगीषु (विजय के इच्छुक) को आनुषङ्गिक रूप से (अथवा उसके साथ अवश्यम्भावी होने के कारण) फल भी प्राप्त हो जाता है, यह पहले (२.४ उदात्त के लक्षण में) कहा ही जा चुका है ।

इस प्रकार नाट्य में आठ ही स्थायी भाव होते हैं ।

टिप्पणी—(१) शान्त रस के विषय में भिन्न-भिन्न वादी कौन-कौन हैं ? यह ज्ञात नहीं । (२) नागानन्द नाटक का नायक जीमूतवाहन धीरोदात्त है, यह सिद्ध करते हुए ऊपर (२.४) भी यह संकेत किया जा चुका है कि नागानन्द में शान्त रस नहीं । (३) तत्तु···विरुद्धम्—यदि नागानन्द में शम स्थायी भाव होता तो उसके नायक जीमूतवाहन में शम की प्रधानता होती । शम का अर्थ है—विषयों के प्रति निःस्पृहा फिर समस्त नाटक में जो जीमूतवाहन का मलयवती के प्रति अनुराग दिखलाया गया है, वह कैसे संगत हो सकता है ? इसी प्रकार फल के रूप में विद्याधरों के चक्रवर्ती पद की प्राप्ति जीमूतवाहन को हुई है वह भी शम भाव के विरुद्ध ही होगी । (४) एकानुकार्यविभावालम्बनौ=एको योऽनुकार्यलक्षणविभावः=चेतनस्तदालम्बनौ=तदाश्रयौ विषयस्यानुरागापरागौ (प्रभा) । नान्तरीयकत्वेन=तेन सहावश्यम्भावित्वेन (प्रभा) ।

इस प्रकार नाट्य में आठ ही स्थायी भाव होते हैं (हाँ, काव्य में शम नामक नवम स्थायी भाव भी हो सकता है) यह निर्धारण किया गया है । किन्तु रुद्रट आदि प्राचीन आचार्यों के मत में इनके अतिरिक्त और भी स्थायी भाव होते हैं । अतः उनकी ओर से शङ्का करके उसका समाधान करते हैं—

(शङ्का) 'जिस प्रकार मधुर (तिक्त) आदि आस्वाद्य होने के कारण रस कहलाते हैं, इसी प्रकार इन (रति आदि) को भी आस्वाद्य होने के कारण ही (रसनात्) आचार्यों ने रस कहा है । आस्वाद्यता (रसन) निर्वेद आदि भावों में यथेष्ट रूप से (प्रकामम्) विद्यमान है । इसलिये वे भी रस हैं । (रुद्रट काव्यालङ्कार १२.४)

अत्रोच्यते -

(४४) निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ॥३६॥

(अताद्रूप्यात्=) विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम् । अत एव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति । न च निष्फलावसानत्वमेतेषामस्थायित्वनिबन्धनम्, हासादीनामप्यस्थायित्वप्रसङ्गात् । पारम्पर्येण तु निर्वेदादीनामपि फलवत्त्वात् । अतो निष्फलत्वमस्थायित्वे प्रयोजकं न भवति, किन्तु विरुद्धैर्भावैरतिरस्कृतत्वम् । न च तन्निर्वेदादीनामिति न ते स्थायिनः ततो रसत्वमपि न तेषामुच्यते । अतोऽस्थायित्वादेवैतेषामरसता ।

इत्यादि कथन के द्वारा अन्य आचार्यों ने (आठ रसों से भिन्न) अन्य रसों को भी स्वीकार किया है । और, इसलिये अन्य स्थायी भावों की भी कल्पना की है । इस प्रकार आठ ही स्थायी भाव होते हैं, यह अवधारण नहीं बन सकता ।

(समाधान) इस पर कहा गया है—

निर्वेद आदि में विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न न होने का गुण (ताद्रूप्य) नहीं है, अतः वे स्थायी नहीं हैं और उनका आस्वादन भी नहीं हो सकता । यदि किसी प्रकार उनकी पुष्टि भी हो जाये तो वह वैरस्य उत्पन्न करने के लिये ही होगी । इसलिये आठ ही स्थायी भाव माने गये हैं ॥१६॥

(जो भाव विरोधी तथा अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होते वे ही स्थायी भाव कहलाते हैं=तद्रूपता); अर्थात् विरोधी तथा अविरोधी भावों से विच्छिन्न न होना, निर्वेद आदि में नहीं है । अतः वे स्थायी भाव नहीं माने जा सकते (तथा उनकी रसरूपता नहीं हो सकती) । यदि (शृङ्गार आदि के) अपने-अपने चिन्ता आदि व्यभिचारी भावों से व्यवहित होकर भी वे पुष्ट हो जाते हैं तो भी वे वैरस्य ही उत्पन्न किया करते हैं ।

कुछ विद्वानों का विचार था कि निर्वेद आदि का अन्त फल रहित (निष्फल) होता है अतः उन्हें स्थायी नहीं माना जा सकता, इस मत का निराकरण करते हुए कहते हैं—न च' इत्यादि ।

अन्त (अवसान) में फल रहित होना तो इनके स्थायी न होने का निमित्त (निबन्धन) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस प्रकार तो हास आदि भाव भी अस्थायी होने लगेंगे (उनका भी मनोरंजन के अतिरिक्त कोई लौकिक या पारलौकिक फल नहीं होता) यदि कहो कि परम्परा से हास आदि का फल होता है तब तो परम्परया निर्वेद आदि का भी फल होता ही है । इसलिये निष्फल होना किसी भाव के अस्थायी भाव होने का निमित्त नहीं हो सकता । विरुद्ध और

अविरुद्ध भावों से तिरस्कृत न होना ही स्थायी भाव कहलाने का निमित्त है। और यह बात निर्वेद आदि भावों में होती नहीं। अतः वे स्थायी भाव नहीं हैं। इसी हेतु उनकी रसरूपता (रसत्व) नहीं मानी जाती। इस प्रकार निर्वेद आदि भाव रस-रूप नहीं होते, क्योंकि वे स्थायी भाव ही नहीं हैं।

टिप्पणी—(१) रुद्रट ने निर्वेद आदि की भी रसरूपता स्वीकार की है (काव्यालङ्कार १२·४)। रुद्रट के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए नमि साधु लिखते हैं—अयमाशयो ग्रन्थकारस्य—यदुत नास्ति सा कापि चित्तवृत्तिर्या परिपोषं गता न रसीभवति। भरतेन हृदयावर्जकत्वप्राचुर्यात् संज्ञां चाश्रित्याष्टौ नव वा रसा उक्ता इति। (२) यहाँ 'निर्वेद' नामक व्यभिचारी भाव के स्थायी होने का निषेध किया गया है। शम इससे भिन्न होता है (द्र० ३·३५ टिप्पणी)। उसे तो धनञ्जय भी (काव्य में ही सही) स्थायी भाव मानते हैं। (३) अन्तरिता अपि=व्यवहिता अपि, भाव यह है कि शृङ्गार आदि रस की योजना में निर्वेद आदि भावों की तीन गतियाँ हो सकती हैं। प्रथम तो, उसका रति आदि भावों के अनन्तर उपनिबन्धन किया जाये और वे पुष्ट हो जायें। ऐसी दशा में (शृङ्गार और शान्त का) आनन्तर्य वीरोध होगा। अतः वैरस्य ही होगा। दूसरे शृङ्गार के चिन्ता आदि व्यभिचारी भावों के व्यवधान से उनका उपनिबन्धन किया जाये और वे पुष्ट हो जायें। ऐसी दशा में भी निर्वेद आदि की पुष्टि विरसता ही उत्पन्न करेगी। तीसरे, शृङ्गार आदि की योजना में निर्वेद आदि भाव कदाचित् व्यभिचारी रूप में आ जाते हैं उनकी पुष्टि नहीं होती। इस दशा में ही वे चमत्कारक हुआ करते हैं। (मि०,-प्रभा) अथवा यहाँ अपि का अन्वय 'नीयमानाः' के पश्चात्—परिपोषं नीयमाना अपि। भाव यह है कि निर्वेद आदि विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावों के द्वारा अविच्छिन्न होने वाले नहीं हैं। अतएव इनका परिपोष नहीं हो सकता और ये रस रूप नहीं हुआ करते। यदि यह मान भी लिया जाये कि इनका परिपोष हो सकता है तो इनका परिपोष विरसता को उत्पन्न करने वाला ही होगा।

स्थायी भाव तथा रस का काव्य से सम्बन्ध

काव्य तथा नाट्य के द्वारा सहृदयों को रस की प्रतीति कैसे होती है ? इस विषय में भारतीय साहित्य शास्त्र में कई मत हैं। इनमें से प्रमुख ये हैं:—(१) प्रभाकर मिश्र के अनुयायी मीमांसकों के अनुसार अभिधा के दीर्घ-दीर्घतर व्यापार से ही रस की प्रतीति हो जाती है। (१) भाट्टमतानुयायी मीमांसक मानते हैं कि तात्पर्य वृत्ति के द्वारा ही रस की प्रतीति होती है। (३) मुकुल भट्ट ने रस को लक्षणा का विषय भी बतलाया है—'तात्पर्यलोचन–सामर्थ्याच्च विप्रलम्भशृङ्गारस्याक्षेप इत्युपादानात्मिका लक्षणा (अभिधावृत्तिमातृका, पृ० १४)। (४) व्यक्तिविवेकार महिमभट्ट के मतानुसार अनुमान द्वारा ही रस का बोध होता है। (५) ध्वनिवाद को स्वीकार

कः पुनरेतेषां काव्येनापि सम्बन्ध ? न तावद्वाच्यवाचकभावः स्वशब्दैरनावेदितत्वात्, नहि शृङ्गारादिरसेषु काव्येषु शृङ्गारादिशब्दा रत्यादिशब्दा वा श्रूयन्ते येन तेषां तत्परिपोषस्य वाभिधेयत्वं स्यात्। यत्रापि च श्रूयन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्वमात्रेण।

करने वाले रसवादी आचार्य आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ इत्यादि के मत में व्यञ्जना वृत्ति द्वारा ही रस की प्रतीति होती है। काव्य, नाट्य रस के व्यञ्जक होते हैं और रस व्यङ्ग्य होता है। रस और काव्य में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध है। धनञ्जय से पूर्व ही आनन्दवर्धन इस मत की स्थापना कर चुके थे। धनञ्जय (तथा धनिक) को यह मत स्वीकार्य नहीं है। अतः यहाँ इस मत का खण्डन करते हुए रसप्रतीतिविषयक स्वमत की स्थापना करते हैं:—

ध्वनिवादी की युक्तियाँ (रस आदि तथा काव्य में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव)

इन (स्थायी भाव इत्यादि) का काव्य के साथ क्या सम्बन्ध है ? भाव आदि तथा काव्य में वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध (भाव वाच्य है और काव्य वाचक) तो हो नहीं सकता, क्योंकि (सर्वत्र ही) रति आदि शब्दों (स्वशब्द) के द्वारा (भाव या रस का) कथन नहीं किया जाता। शृङ्गार आदि रस के काव्यों में (सर्वत्र ही) शृङ्गार आदि या रति आदि शब्द नही सुने जाते, जिससे यह माना जा सकता कि रति आदि भाव अथवा उनके परिपुष्ट रूप (शृङ्गार आदि रस) वाच्य होते हैं। और, जहाँ कहीं (रति आदि या शृङ्गार आदि शब्द) सुनाई भी पड़ते हैं, वहाँ भी विभाव आदि के वर्णन-द्वारा इन (रति आदि) की आस्वाद्यता (रसत्व) होती है, केवल रति आदि शब्दों के वाच्य होने से नहीं।

टिप्पणी --(१) "रस आदि व्यङ्ग्य होते हैं", यह सिद्ध करते हुए ध्वनिवादी ने बतलाया है कि वे न तो वाच्य हो सकते हैं और न लक्ष्य ही। न तावद् वाच्य-वाचक-भाव-मात्रेण' इत्यादि में यह बतलाया गया है कि रस अभिधा का विषय (=वाच्य) नहीं हो सकता। कारण यह है कि रस या शृङ्गार आदि शब्दों के द्वारा रस-बोध नहीं हुआ करता अपितु विभाव आदि के द्वारा ही रस-प्रतीति हुआ करती है, विभाव आदि के वर्णन के बिना रस की प्रतीति होती नहीं। अतः रस आदि रति या शृङ्गार इत्यादि शब्दों के वाच्य नहीं हैं अपितु विभाव आदि के द्वारा प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) हैं। (विशेष द्र० ध्वन्यालोक वृत्ति १.४)। (२) अनावेदितत्वात् =कथन न करने से, प्रतिपादन न किये जाने के कारण। शृङ्गारादिरसेषु= जिनमें शृङ्गार आदि रस हैं, (शृङ्गारादयो रसाः येषु तेषु काव्येषु) ऐसे काव्यों में। तत्परिपोषस्य—रति आदि के परिपोष का, रति आदि स्थायी भाव का परिपोष (पुष्टि) ही रस है।

नापि लक्ष्यलक्षकभावः—तत्सामान्याभिधायिनस्तु लक्षकस्य पदस्याप्रयोगात् । नापि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्तिः; यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ । तत्र हि स्वार्थे स्रोतोलक्षणे घोषस्यावस्थानासम्भवात्स्वार्थे स्खलद्गतिर्गङ्गाशब्दः स्वार्थाविनाभूतत्वोपलक्षितं तटमुपलक्षयति । अत्र तु नायकादिशब्दाः स्वार्थेऽस्खलद्गतयः कथमिवार्थान्तरमुपलक्षयेयुः ? को वा निमित्तप्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्युपचरितं प्रयुञ्जीत ? अत एव 'सिंहो माणवकः' इत्यादिवत् गुणवृत्त्यापि नेयं प्रतीतिः ।

भाव आदि तथा काव्य का लक्ष्य-लक्षक-भाव सम्बन्ध भी नहीं हो सकता [यह नहीं माना जा सकता कि रति आदि भाव लक्ष्य हैं और काव्य उनका लक्षक है] । कारण यह है कि काव्य में सामान्य रस-भाव आदि (तत्) के वाचक किसी लक्षक शब्द का प्रयोग नहीं होता (जिससे उपादान लक्षणा द्वारा विशिष्ट अर्थ की प्रतीति हो सके ?) यहाँ लक्षण-लक्षणा के द्वारा भी भाव आदि (तत्) की प्रतीति नहीं हो सकती, जिस प्रकार 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में ('गङ्गा' शब्द से तट की प्रतीति) होती है । वहाँ तो गङ्गा शब्द का जो अपना (मुख्य) अर्थ है—गङ्गा-प्रवाह, उसमें घोष की स्थिति बन नहीं सकती । इसलिये गङ्गा शब्द अपने अर्थ (प्रवाह) को कहने में असमर्थ हो जाता है (स्खलद्गतिः = बाधित-प्रवृत्तिः) तथा अपने अर्थ से सम्बद्ध (अविनाभूत) गङ्गा-तट को ललित करता है किन्तु यहाँ (काव्य में) तो नायक आदि (के वाचक) शब्द (जो विभाव आदि का वर्णन करके रस की प्रतीति कराते हैं) अपने अर्थ को बतलाने में असमर्थ नहीं हैं, फिर वे अन्य अर्थ (भाव आदि) को कैसे लक्षित करेंगे ? अथवा निमित्त (मुख्यार्थबाध इत्यादि) तथा प्रयोजन के बिना कौन व्यक्ति मुख्य अर्थ सम्भव होने पर औपचारिक (लाक्षणिक, गौण) शब्द का प्रयोग करेगा ? इसीलिये 'सिंहो माणवकः' (बालक सिंह है) इत्यादि के समान गौणी वृत्ति से भी यह (भाव आदि की) प्रतीति नहीं हो सकती ।

टिप्पणी—(१) नापि लक्ष्यलक्षकभावः—रस आदि काव्य के द्वारा लक्ष्य भी नहीं हो सकते । जैसा कि ऊपर कहा गया है मुकुल भट्ट इत्यादि ने रस को लक्षणागम्य भी माना है (अभिधावृत्ति० पृ० १४) । धनिक ने भी आगे रति आदि भाव को लक्षणा का विषय बतलाया है—लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीतिः (४·३७ अवलोक टीका) ।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय हैः—मुख्य अर्थ का बोधक जो शब्द व्यापार (वृत्ति) है वह अभिधा कहलाता है । साधारणतः लोकव्यवहार में अभिधा द्वारा बोधित मुख्य अर्थ में ही शब्दों का प्रयोग किया जाता है; किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शब्द का मुख्य अर्थ प्रकरण में ठीक नहीं बैठता, वहाँ वक्ता का तात्पर्य नहीं बनता (तात्पर्यानुपपत्ति) । अतः वहाँ शब्द अपने से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ का बोध कराता

है। वह अन्य अर्थ या तो लोक-प्रसिद्ध (रूढ़) होता है अथवा उसका बोध कराने में कोई प्रयोजन हुआ करता है। वह अन्य अर्थ ही लक्ष्य अर्थ है। उसका बोधक शब्द लक्षक या लाक्षणिक कहलाता है और उसका बोध कराने वाला शब्द-व्यापार लक्षणा। अतः लक्ष्य = लक्षणागम्य = लक्षणा द्वारा बोध्य अर्थ। इस प्रकार लक्षणा के तीन हेतु होते हैं—मुख्यार्थ-बाध, मुख्यार्थ से सम्बन्ध तथा रूढि अथवा प्रयोजन (द्र०, का० प्र० २·९)। जो लक्षणा रूढि (= प्रसिद्धि) के कारण होती है वह रूढि लक्षणा कहलाती है, जैसे 'कर्मणि कुशलः' इत्यादि में 'कुशल' शब्द का मुख्यार्थ (कुशाओं को लाने वाला) बाधित हो जाता है और उसका लक्ष्यार्थ 'चतुर' लिया जाता है। जो लक्षणा किसी प्रयोजन से होती है वह प्रयोजनवती कहलाती है, जैसे 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा शब्द की तट में लक्षणा होती है। वहाँ शैत्य-पावनत्व आदि की प्रतीति कराना ही लक्षणा का प्रयोजन है।

यह स्पष्ट ही है कि रस आदि रूढि के विषय नहीं हो सकते। रही प्रयोजनवती लक्षणा। वह दो प्रकार की है—उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा (गौणी वृत्ति का यहाँ पृथक् उल्लेख किया जा रहा है) उपादान लक्षणा वहाँ होती है जहाँ कोई शब्द अपने मुख्यार्थ की सङ्गति के लिये अपने से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ का भी ग्रहण कर लेता है। वह अपने अर्थ का त्याग न करते हुए दूसरे अर्थ को लक्षित करता है अतः इसे अजहत्स्वार्था वृत्ति भी कहते हैं। इसके स्थलों पर सामान्य अर्थ के वाचक शब्द का प्रयोग किया जाता है और उसका लक्ष्यार्थ विशिष्ट अर्थ हो जाता है, जैसे कुन्ताः प्रविशन्ति' (भाले प्रवेश कर रहे हैं)। यहाँ 'कुन्त' शब्द से कुन्तधारी (कुन्तविशिष्ट) पुरुष का लक्षणा द्वारा बोध होता है। इसी प्रकार 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादि उपादान लक्षणा के उदाहरण हैं।

दूसरी लक्षण-लक्षणा है इसमें कोई शब्द अपने अर्थ को त्यागकर स्वसम्बद्ध अन्य अर्थ का उपलक्षक हुआ करता है। इसी हेतु इसे जहत्स्वार्था वृत्ति भी कहते हैं। जैसे 'गङ्गायां घोषः' (गङ्गा पर घोषियों की बस्ती है), यहाँ गङ्गा शब्द का मुख्य अर्थ है—गङ्गा = जल की धारा। उस पर 'घोष' नहीं रह सकता। अतः मुख्यार्थ का बाध हो सकता है। इस प्रकार शैत्य-पावनत्व आदि प्रयोजन की प्रतीति के लिये गङ्गा शब्द की तट में लक्षणा मानी जाती है।

ध्वनिवादी (पूर्वपक्षी) का आशय यह है कि उपादान लक्षणा या लक्षण-लक्षणा द्वारा काव्य से रस आदि की प्रतीति नहीं हो सकती (द्र० अनुवाद)।

(२) **सामान्याभिधायिनस्तु**—सामान्य अर्थ का वाचक जो लक्षक शब्द है, उसका काव्य में प्रयोग नहीं; अर्थात् काव्य में ऐसे सामान्य शब्दों का प्रयोग नहीं होता जो सामान्यतः रस आदि के वाचक हों किन्तु लक्षणा द्वारा शृङ्गार आदि विशेष रस का बोध करा सकें। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ उपादान लक्षणा की

ओर संकेत है, जैसा कि अभी ऊपर दिखलाया गया है। *लक्षित-लक्षणा = लक्षण-लक्षणा। काव्य से लक्षण-लक्षणा द्वारा रस आदि का बोध इसलिये नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ लक्षणा के हेतु ही नहीं हैं। काव्य में प्रयुक्त शब्दों का मुख्यार्थ बाध आदि नहीं होता। स्खलद्गतिः—स्खलिता बाधिता गतिः प्रवृत्तिः यस्य सः (शब्दः), जिसकी प्रवृत्ति रुक जाती है, जो अपने अर्थ का बोध कराने में असमर्थ हो जाता है ऐसा शब्द। को···वा प्रयुञ्जीत—जब शब्द का मुख्य अर्थ बन सकता है तो उसका औपचारिक अर्थ नहीं लिया जाता। फलतः काव्य में प्रयुक्त नायक आदि के वाचक शब्दों की रति आदि भाव अथवा शृङ्गार आदि रस में लक्षणा नहीं हो सकती। वे तो मुख्यार्थ के बोधन में ही समर्थ हैं। (३) गुणवृत्त्यापि नेयं प्रतीतिः—क्योंकि निमित्त के बिना औपचारिक शब्द का प्रयोग नहीं होता। इसलिये गौणी वृत्ति से भी काव्य में रस आदि की प्रतीति नहीं हो सकती। अभी कहा गया है कि उपचार का निमित्त (मुख्यार्थ बाध इत्यादि) वहाँ नहीं है।

मीमांसक गौणी वृत्ति को लक्षणा से भिन्न मानते हैं (गौणीवृत्तिः लक्षणातो भिन्नेति प्राभाकराः। प्रता० टीका पृ० ३३)। उनके अनुसार लक्षणा और गौणी का भेद यह है कि गौणी वृत्ति में लक्ष्य अर्थ के वाचक शब्द का भी प्रयोग हुआ करता हैं; जैसे 'सिंहो माणवकः' (बालक सिंह है), यहाँ पर (शौर्यादि विशिष्ट) माणवक लक्ष्य है, यहाँ माणवक शब्द का भी प्रयोग किया गया है। किन्तु 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में जो तट आदि लक्ष्य है, उसके वाचक शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता यही दोनों का भेद है (गौणे शब्द-प्रयोगो न लक्षणायाम्)। मम्मट इत्यादि आचार्यों ने गौणी वृत्ति को लक्षणा के ही अन्तर्गत माना है। तदनुसार लक्षणा दो प्रकार की है शुद्धा और गौणी। उपर्युक्त उपादान लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा ये दो भेद शुद्धा के हैं। जहाँ सादृश्य सम्बन्ध से लक्षणा होती है वहाँ गौणी लक्षणा है और जहाँ सादृश्य से भिन्न और किसी (सामीप्य आदि) सम्बन्ध से लक्षणा होती है वह शुद्धा है। 'सिंहो माणवकः' में गौणी लक्षणा है। गौणी भी मुख्यार्थबाध इत्यादि तीनों हेतुओं से हुआ करती है। अतः इसका लक्षणा में ही अन्तर्भाव माना गया है। (४) रस आदि (व्यङ्ग्य अर्थ) को गौणी वृत्ति का विषय नहीं माना जा सकता, ध्वनिकार ने इस मन्तव्य को इस प्रकार बतलाया है—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्याऽर्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः॥ (१.१७)

---

*कुछ आचार्यों ने लक्षितलक्षणा नाम की एक अन्य प्रकार की लक्षणा भी मानी है (परमलघुमञ्जूषा पृ० ६०)। लक्षित के अर्थ में लक्षणा = लक्षितलक्षणा; जैसे 'द्विरेफ' शब्द का मुख्य अर्थ है—दो रेफ (र) वाला। इसका लक्ष्यार्थ है—भ्रमर शब्द, जिसमें दो रेफ हैं। इससे भौंरा रूप अर्थ का बोध होता है। यहाँ ग्रन्थकार का तात्पर्य उस विशेष प्रकार की लक्षणा से नहीं है क्योंकि गङ्गायां घोषः उसका उदाहरण नहीं बन सकता।

यदि वाच्यत्वेन रसप्रतिपत्तिः स्यात्तदा केवलवाच्यवाचकभावमात्रव्युत्पन्नचेतसामप्यरसिकानां रसास्वादो भवेत् । न च काल्पनिकत्वम्—अविभागेन सर्वसहृदयानां रसास्वादोद्भूतेः । अतः केचिदभिधालक्षणागौणीभ्यो वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यो व्यतिरिक्तं व्यञ्जकत्वलक्षणं शब्दव्यापारं रसालङ्कारवस्तुविषयमिच्छन्ति ।

तथा हि विभावानुभावव्यभिचारिमुखेन रसादिप्रतिपत्तिरुपजायमाना कथमिव वाच्य स्यात्, यथा कुमारसम्भवे—

'विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥

दूसरी बात यह है कि यदि वाच्य रूप से रस की प्रतीति हुआ करे तो जो व्यक्ति काव्य के रसिक नहीं हैं केवल वाच्य-वाचकभाव मात्र का ज्ञान रखते हैं (अर्थात् काव्य का अर्थ समझते हैं) उनको भी रस का आस्वादन हो जाया करे (किन्तु ऐसा होता नहीं) । यह (रस आदि की प्रतीति) काल्पनिक भी नहीं है; क्योंकि समान रूप से सभी सहृदय जनों को रसास्वादन हुआ करता है । इसलिये कतिपय आचार्य व्यञ्जना नामक शब्द का एक व्यापार मानते हैं जो रस, अलङ्कार तथा वस्तु प्रतीति कराता है और जो उन अभिधा, लक्षणा तथा गौणी वृत्तियों से (नितान्त) भिन्न—है जिनका अन्य अर्थों के बोधन में सामर्थ्य निश्चित किया गया है ।

टिप्पणी—(१) अरसिकाना रसास्वादो भवेत्—मि० ध्वन्यालोक 'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते । वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् । (१.६) । (२) **काल्पनिकत्वम्**—रस आदि केवल काल्पनिक नहीं हैं उनकी सत्ता वास्तविकी है, यह अनुभव-सिद्ध है । यदि रस आदि काल्पनिक होते तब तो जो इनकी कल्पना करते उन्हीं को आस्वादन हुआ करता सभी रसिकों को समान रूप से आस्वादन न होता । रस आदि ध्वनि का अभाव मानने वालों के प्रति यह कथन है । मि०—यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयाह्लादकारि काव्यतत्त्वम् (ध्वन्यालोक वृत्ति १.१३) । तथा-तदेवमनुभवसिद्धस्य तत्तद्रसादिलक्षणार्थस्याशक्यापलापतया । (सा० द० ५.४ व्यञ्जनावृत्ति का उपसंहार) । (३) **वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यः**—वाच्यान्तरेषु परिकल्पिताः शक्तयो यासां ताभ्यः. यह 'अभिधालक्षणागौणीभ्यः' का विशेषण है । वाच्य=अर्थ । भाव, यह है कि अन्य अर्थों में जिनकी शक्ति निश्चित की गई है ऐसी अभिधा इत्यादि वृत्तियों से व्यञ्जना भिन्न है ।

ध्वनिवादी (पूर्वपक्षी) की ओर से अभी ऊपर यह कहा गया है कि व्यङ्ग्य (व्यञ्जना का विषय) अर्थ तीन प्रकार का होता है रस, वस्तु और अलङ्कार । इस तीनों प्रकार के व्यङ्ग्य अर्थ के उदाहरण इस प्रकार हैं :—

रस-व्यञ्जना—क्योंकि रस आदि की प्रतीति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के द्वारा हुआ करती है फिर वह वाच्य कैसे हो सकती है ?' जैसे कुमारसम्भव (३.६८) में—

पर्वतपुत्री (पार्वती) भी फूले हुए कदम्ब के समान (पुलकित) अङ्गों के द्वारा (प्रेम) भाव को प्रकट करती हुई, चञ्चल नेत्रों से युक्त तथा अधिक सुन्दर हुए मुख के साथ कुछ तिरछी सी खड़ी हो गईं' ।

इत्यादावनुरागजन्यावस्थाविशेषानुभाववद्गिरिजालक्षणविभावोपवर्णनादेवाशब्दापि शृङ्गारप्रतीतिरुदेति, रसान्तरेष्वप्ययमेव न्यायः।

न केवलं रसेष्वेव यावद्वस्तुमात्रेऽपि। यथा—

'भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥२९०॥

('भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स श्वाऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥')

इत्यादौ निषेधप्रतिपत्तिरशब्दापि व्यञ्जकशक्तिमूलैव।

इत्यादि श्लोक में अनुराग से उत्पन्न होने वाली जो विशेष प्रकार की अवस्था (अङ्गों का पुलकित होना, नेत्रों की चञ्चलता मुख की चारुता आदि) अनुभाव के रूप में है उससे युक्त पार्वती रूप विभाव के वर्णन से ही शृङ्गार की प्रतीति होती है, जब कि यहाँ (रति या शृङ्गार का वाचक) कोई शब्द नहीं है (अशब्दाऽपि) अन्य रसों की प्रतीति में भी यही नियम है [वहाँ भी वाचक शब्द के प्रयोग के बिना ही विभाव आदि के वर्णन से रस की प्रतीति हुआ करती है]।

टिप्पणी—(१) विवृण्वती—जिस समय महादेव पर काम-बाण गिरने लगे उस समय की पार्वती की अवस्था का वर्णन है। पार्वती आलम्बन विभाव है। उसके नेत्र आदि के विकार उसके हाव (द्र० योषिद् अलङ्कार तथा सा० द० ३.९४) हैं, जिन्हें अनुभावों के अन्तर्गत माना जाता है। इन अनुभावों से युक्त विभाव के वर्णन से शृङ्गार रस की प्रतीति हो रही है। (२) मि० ध्वन्यालोक वृत्ति (१.४) यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः। केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्याम् अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्, न त्वभिधेयत्वं कथञ्चन।

वस्तुव्यञ्जना—रसों में ही यह बात नहीं है अपितु वस्तुमात्र (की व्यञ्जना) में भी यही बात है [अर्थात् जहाँ वस्तु व्यङ्ग्य होती हैं वहाँ भी उसके वाचक शब्द के प्रयोग के बिना ही उसकी प्रतीति हुआ करती है]। जैसे (गाथा० २.७५)—[संकेत स्थान की ओर पुष्प-चयन के लिये जाने वाले किसी धार्मिक के प्रति अभिसारिका की उक्ति] 'हे धार्मिक, अब निश्चिन्त होकर भ्रमण करो, क्योंकि गोदावरी नदी के कछार के कुञ्जों में रहने वाले दर्पयुक्त सिंह ने उस कुत्ते को आज मार दिया है'।

इत्यादि में निषेधवाचक कोई शब्द नहीं है, केवल व्यञ्जना वृत्ति के आधार पर ही निषेध की प्रतीति होती है।

टिप्पणी—भ्रम धार्मिक० (मि०, ध्वन्यालोक १.४)—गोदावरी के तट-कुञ्ज पर किसी नायिका का सङ्केत स्थान है। वहाँ कोई धार्मिक (भगत) भी पुष्पचयन के लिये आ जाया करता है। नायिका के कार्य में उसके आने से विघ्न होता है। नायिका पहिले तो एक कुत्ता साथ ले आती है कि जिससे डर कर धार्मिक उस

तथालङ्कारेष्वपि—

'लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥३६१॥

इत्यादिषु 'चन्द्रतुल्यं तन्वीवदनारविन्दम्' इत्याद्युपमाद्यलङ्कारप्रतिपत्तिर्व्यञ्जकत्वनिबन्धनीति ।

न चासावर्थापत्तिजन्या—अनुपपद्यमानार्थापेक्षाभावात् । नापि वाक्यार्थत्वं

कुञ्ज में पुष्पचयन के लिये न आये । किन्तु धार्मिक कुत्ते से डरता-डरता भी वहाँ पुष्पचयन के लिये आता रहता है । इस पर नायिका ने धार्मिक को भयभीत करने के लिये उपर्युक्त वचन कहा है । यहाँ वाच्य अर्थ है—'निश्चिन्त होकर भ्रमण करो' । यह अर्थ विधिरूप है । किन्तु नायिका का अभिप्राय यह है कि कभी भूलकर भी इधर मत आना । यह अभिप्राय निषेध रूप है जो व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होता है । यह वाच्यार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इसका वाचक कोई शब्द यहाँ नहीं है ।

अलङ्कार-व्यञ्जना—इसी प्रकार अलङ्कारों (की व्यञ्जना) में भी हुआ करता है ! जैसे—'हे चञ्चल और विशाल नेत्रों वाली (प्रिये) इस समय लावण्य और कान्ति से दिशाओं के मुख को परिपूर्ण कर देने वाले तुम्हारे मुख के मुस्कान युक्त होने पर भी जो यह सागर तनिक भी क्षुब्ध नहीं हो रहा है, इससे मैं समझता हूँ कि यह स्पष्ट रूप में ही जलराशि (जाड्यपुञ्ज) है' ।

इत्यादि में 'तन्वी का मुख कमल चन्द्रमा के समान है' इस उपमा अलङ्कार की प्रतीति व्यञ्जना के निमित्त से होती है ।

टिप्पणी—(१) **लावण्य०**—(मि०, ध्वन्यालोक २.२७) यहाँ जलराशि का श्लेष से जडराशि (जाड्यपुञ्ज) अर्थ है, श्लेष की दृष्टि से ल और ड का अभेद मान लिया जाता है । भाव यह है कि यदि यह सागर जड न होता तो तुम्हारे चन्द्रतुल्य मुख को देखकर भी क्षुब्ध क्यों न हो जाता ? यहाँ श्लेष के द्वारा मुख और चन्द्रमा का साम्य (उपमा) व्यङ्ग्य हैं । यहाँ उपमा वाच्य नहीं हो सकती; क्योंकि उसका वाचक कोई शब्द नहीं है । (२) ध्वन्यालोक (२२.७) में इस स्थल पर रूपक अलङ्कार को व्यङ्ग्य बतलाया गया है । (३) **व्यञ्जकत्वनिबन्धनी**=व्यञ्जकत्वं निबन्धनं निमित्तं यस्याः सा तथाभूता, व्यञ्जना के निमित्त से होने वाली ।

यह (रस भाव आदि की प्रतीति) अर्थापत्ति से उत्पन्न होने वाली भी नहीं मानी जा सकती; क्योंकि इस (रस-प्रतीति के) लिये अनुपपद्यमान अर्थ की अपेक्षा नहीं होती ।

टिप्पणी—भाट्ट मीमांसक तथा वेदान्ती अर्थापत्ति नामक एक प्रमाण मानते हैं । जब कोई बात ठीक नहीं बैठती—अनुपपद्यमान होती है—तो उसे ठीक बैठाने के लिये अन्य बात की कल्पना कर ली जाती है । वह बात अर्थतः उपपन्न हो

व्यङ्ग्यस्य—तृतीयकक्षाविषयत्वात् । तथा हि—'भ्रम धार्मिक' इत्यादौ पदार्थविषयाभिधालक्षणप्रथमकक्षातिक्रान्तक्रियाकारकसंसर्गात्मकविधिविषयवाक्यार्थकक्षातिक्रान्ततृतीयकक्षाक्रान्तो निषेधात्मा व्यङ्ग्यलक्षणोऽर्थो व्यञ्जकशक्त्यधीनः स्फुटमेवावभासते अतो नासौ वाक्यार्थः ।

जाया करती है (अर्थात् आपद्यते) इसलिये अर्थापत्ति का विषय कहलाती है। और उसका ज्ञान कराने वाला प्रमाण अर्थापत्ति कहलाता है उदाहरणार्थ हम देखते या सुनते हैं कि देवदत्त पुष्ट है किन्तु दिन में नहीं खाता (पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते)। यहाँ देवदत्त की पुष्टता विना खाये तो बन नहीं सकती (अनुपपद्यमान है)। किन्तु यह भी सत्य है कि वह दिन में नहीं खाता, इसलिये यह कल्पना की जाती है कि वह रात्रि में खाता होगा। दिन में न खाने वाले देवदत्त की पुष्टता रात्रि-भोजन के विना नहीं बन सकती (अनुपपद्यमान है) अतः रात्रि-भोजन की कल्पना कर ली जाती है, जो अर्थापत्ति का विषय है।

कुछ विद्वानों (?) का मत है कि रस आदि की प्रतीति भी अर्थापत्ति के द्वारा ही हो सकती है; इनकी प्रतीति के लिये व्यञ्जना आदि को मानने की आवश्यकता नहीं। ध्वनिवादी के अनुसार यह मत ठीक नहीं। क्यों? जिस प्रकार ऊपर के उदाहरण में दिन में भोजन न करने वाले देवदत्त की पुष्टता रात्रि-भोजन के विना अनुपपद्यमान है, उसी प्रकार काव्य में रस आदि की प्रतीति के विना कोई अर्थ अनुपपद्यमान नहीं होता। काव्य में रस आदि की प्रतीति के बिना भी अर्थ ठीक बन ही जाता है। फिर अर्थापत्ति द्वारा रस आदि की प्रतीति कैसे मानी जा सकती है?

व्यङ्ग्य (रस आदि) को वाक्य का अर्थ भी नहीं कह सकते; क्योंकि यह (शब्दजन्य बोध में) तृतीय कक्षा का विषय है। उदाहरणार्थ 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि श्लोक में अभिधा नामक वृत्ति जो पदार्थों (पद के वाच्यार्थों) का बोध कराती है, यह प्रथम कक्षा है, इसके पश्चात् क्रिया और कारक का अन्वय (संसर्ग) रूप जो वाक्यार्थ है, जिसमें (हे धार्मिक, तुम स्वच्छन्द भ्रमण करो इत्यादि) विधि का बोध होता है (विधिविषया) यह द्वितीय कक्षा है, फिर इसके पश्चात् (तुम यहाँ कभी न आना इत्यादि) निषेध रूप से जो व्यङ्ग्य अर्थ जाना जाता है, वह तृतीय कक्षा का विषय है। यह व्यञ्जना वृत्ति के निमित्त से होता है, यह स्पष्ट ही भासित हो रहा है। इसलिये यह (रस आदि रूप व्यङ्ग्य अर्थ) वाक्य का अर्थ नहीं हो सकता।

टिप्पणी—(१) धनञ्जय तथा धनिक रस आदि की प्रतीति को वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) के रूप में मानते हैं, यह आगे (४·३७) बतलाया जायेगा। ध्वनिवाद की स्थापना से पूर्व भी इस मत के मानने वाले कतिपय आचार्य थे (द्र०, ध्वन्यालोक ३.३३ वृत्ति)। ध्वनिवाद की ओर से उस मत का खण्डन किया गया था, जिसे यहाँ

ननु च तृतीयकक्षाविषयत्वमश्रूयमाणपदार्थतात्पर्येषु 'विष भुंक्ष्व' इत्यादिवाक्येषु निषेधार्थविषयेषु प्रतीयत एव वाक्यार्थस्य। न चात्र व्यञ्जकत्ववादिनापि वाक्यार्थत्वं नेष्यते तात्पर्यादन्यत्वाद् ध्वनेः। तन्न, स्वार्थस्य द्वितीयकक्षायामविश्रान्तस्य तृतीयकक्षाभावात्, सैव निषेधकक्षा तत्र द्वितीयकक्षाविधौ क्रियाकारकसंसर्गानुपपत्तेः प्रकरणात्पितरि वक्तरि पुत्रस्य विषभक्षणनियोगाभावात्।

पूर्वपक्ष के रूप में रक्खा गया है (२) वाक्यार्थ का बोध कैसे होता है ? इस विषय में दो प्रसिद्ध मत हैं—अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद। भाट्ट मीमांसक अभिहितान्वयवादी हैं। उनके अनुसार प्रथमतः वाक्य में आये हुए शब्द अभिधा वृत्ति के द्वारा अपने अर्थ (पदार्थ) का बोध कराते हैं ? (यही प्रथम कक्षा है)। इसके पश्चात् अभिधा द्वारा अभिहित पदार्थों का आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के आधार पर अन्वय (संसर्ग) होता है (अभिहितानाम् अन्वयः=अभिहितान्वयः); और एक ऐसे अर्थ का बोध हो जाता है, जो पदों का अर्थ नहीं अपितु वाक्य का अर्थ होता है। यह पदार्थ से भिन्न होता है तथा तात्पर्य वृत्ति का विषय होता है, (यही दूसरी कक्षा है)। इस प्रकार अभिहितान्वयवादी के अनुसार वाक्यार्थ का बोध दूसरी कक्षा में होता है। किन्तु प्रभाकर (मीमांसक) अभिहितान्वयवाद को नहीं मानते वे अन्विताभिधानवादी हैं : उनके अनुसार अभिधा वृत्ति द्वारा परस्पर सम्बद्ध (अन्वित) अर्थ की ही प्रतीति होती है। शब्द अन्वित अर्थ का ही बोध कराते हैं (अन्वितानाम् अभिधानम्) उनके मत में तात्पर्य वृत्ति को पृथक् मानने की आवश्यकता ही नहीं (विशेष द्र० का० प्र० २.७ तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्)। (३) ध्वनिवादी का कथन है कि अभिहितान्वयवादी के मत में द्वितीय कक्षा में वाक्यार्थ की परिसमाप्ति हो जाती है, व्यङ्ग्यार्थ उसके पश्चात् हुआ करता है, वह तृतीय कक्षा में होता है। फिर वह वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ कैसे हो सकता है ? तृतीय कक्षा में तो वाक्यार्थ जाता ही नहीं।

इस पर वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) में ही तथाकथित व्यङ्ग्य अर्थ का समावेश मानने वाला ध्वनिविरोधी प्रश्न करता है—ननु च इत्यादि—

(प्रश्न) जिन वाक्यों का तात्पर्य वाक्य में अप्रयुक्त (अश्रूयमाण) शब्द के अर्थ में होता है, वहाँ वाक्य का अर्थ तृतीय कक्षा का ही विषय होता है; जैसे 'विष खालो' इत्यादि निषेधार्थक वाक्य का तात्पर्य (इसके घर कदापि न खाओ' इत्यादि) निषेध में है। और, इस स्थल पर व्यञ्जनावादी को भी निषेध को वाक्यार्थ मानना पड़ेगा; क्योंकि उसके अनुसार ध्वनि तो तात्पर्य से (सर्वथा) भिन्न है (अतः यह निषेध ध्वनि का विषय नहीं हो सकता)।

(उत्तर) यह कथन ठीक नहीं। कारण यह है कि जब तक द्वितीय कक्षा में वाक्य के अर्थ की परिसमाप्ति नहीं हो जाती तब तक तृतीय कक्षा होती ही नहीं। अतः यहाँ निषेध-अर्थ को प्रकट करने वाली वही अर्थात् द्वितीय कक्षा ही है। 'विषं भुंक्ष्व' यहाँ पर (तत्र) द्वितीय कक्षा में (विष खालो इस प्रकार का) विधिपरक अर्थ

रसवद्वाक्येषु च विभावप्रतिपत्तिलक्षणद्वितीयकक्षायां रसानवगमात् ।
तदुक्तम्—'अप्रतिष्ठमविश्रान्तं स्वार्थे यत्परतामिदम् ।
वाक्यं विगाहते तत्र न्याय्या तत्परताऽस्य सा ।

लेने पर क्रिया और कारक का अन्वय ही नहीं बनता; क्योंकि प्रकरण के अनुसार यहाँ वक्ता पिता है और पिता (अपने) पुत्र को विष खाने का आदेश (नियोग) नहीं दे सकता।

टिप्पणी—ध्वनि-विरोधी के प्रश्न का आशय यह है :—कहीं-कहीं वाक्यार्थ की समाप्ति तृतीय कक्षा में ही होती है अतः यह नियम नहीं बन सकता कि वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ तृतीय कक्षा में नहीं जाता। और, जब तत्पर्यार्थ का विषय तृतीय कक्षा भी है तो व्यङ्ग्य अर्थ भी तात्पर्यार्थ ही है, उससे भिन्न नहीं। यदि कहो कि वाक्यार्थ तृतीय कक्षा में कहाँ जाता है तो 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यादि उदाहरण को देखिये। यहाँ दो वाक्य हैं—(१) 'विषं भुङ्क्ष्व' (२) मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः (विष खालो, इसके घर न जाओ)। विषं मुङ्क्ष्व' का तात्पर्य भी दूसरे वाक्य के अर्थ में ही है; अर्थात् कदाचित भी इसके घर न खाओ, तात्पर्यार्थ है। यह तात्पर्य तृतीय कक्षा में परिसमाप्त होता है।

प्रथम कक्षा में 'विषम्' तथा 'भुङ्क्ष्व' पदों के अर्थ (पदार्थ) का बोध होता है, द्वितीय कक्षा में 'विष खालो' यह विधि रूप वाक्यार्थ जाना जाता है। तृतीय कक्षा में—जब 'विष खालो' यह वाक्यार्थ ठीक नहीं बैठता तो 'कदापि इसके घर न खाओ' इस निषेध रूप अर्थ में तात्पर्य का निश्चय किया जाता है।

ध्वनिवादी के उत्तर का आशय यह है:–'विषं भुङ्क्ष्व' आदि में भी दो कक्षाओं में ही वाक्यार्थ की परिसमाप्ति हो जाती है। प्रथम कक्षा में पदार्थ-बोध होता है। द्वितीय कक्षा में प्रथमतः (विष खालो, इस) विधि रूप अर्थ का बोध होता है। किन्तु यह अर्थ उपपन्न नहीं होता, कोई पिता अपने पुत्र को विष खाने के लिये नहीं कह सकता। अतः 'मा चाऽस्य गृहे भूङ्क्थाः' की एकवाक्यता से 'कदापि इसके घर न खाओ' इस निषेध में वाक्य का अर्थ (तात्पर्यार्थ) समझ लिया जाता है। जब तक वक्ता का तात्पर्य नहीं प्रकट होता तब तक तात्पर्यवृत्ति का कार्य अर्थात् वाच्यार्थ पूरा ही नहीं होता। इस प्रकार सभी जगह द्वितीय कक्षा में ही वाक्यार्थ की परिसमाप्ति हो जाती है।

किन्तु जो रस की प्रतीति कराने वाले (रसवद्) वाक्य हैं वहाँ तो द्वितीय कक्षा में विभाव आदि का बोध होता है, उस कक्षा में रस की प्रतीति नहीं होती (अपि तु तृतीय कक्षा में रस की प्रतीति होती है, जो वाक्यार्थ नहीं कही जा सकती)। जैसा कि कहा है (?)—

'जब वाक्य अपने अर्थ में ठीक नहीं बैठता और परिसमाप्त (विश्रान्त) नहीं होता तब वह जिस अर्थ में पहुँचकर विश्रान्त होता है, उस वाक्य का (अस्य) उसी अर्थ में तात्पर्य (तत्परता) मानना उचित है। किन्तु जब वाक्य अपने अर्थ में विश्रान्त

यत्र तु स्वार्थविश्रान्तं प्रतिष्ठां तावदागतम् ।'

तत्प्रसर्पति तत्र स्यात्सर्वत्र ध्वनिना स्थितिः ॥'

इत्येवं सर्वत्र रसानां व्यङ्ग्यत्वमेव । वस्त्वलङ्कारयोस्तु क्वचिद्वाच्यत्वं क्वचिद् व्यङ्ग्यत्वम् ।

तत्रापि यत्र व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येन प्रतिपत्तिस्तत्रैव ध्वनिः, अन्यत्र गुणीभूत-व्यङ्ग्यत्वम् । तदुक्तम्—

हो जाता है और ठीक बैठ जाता है फिर जो उससे आगे (किसी अर्थ में) पहुँचता है (प्रसर्पति) तो उस (अग्रिम अर्थ) में उस वाक्य की ध्वनि (व्यञ्जना) से ही स्थिति होती है ।

इस प्रकार सभी जगह रस व्यङ्ग्य ही होते हैं । वस्तु और अलङ्कार तो कहीं वाच्य होते हैं, कहीं व्यङ्ग्य ।

टिप्पणी—(१) द्र० ध्वन्यालोकवृत्ति तथा ध्वन्यालोकलोचन (१.४), का० प्र० उ० ५ व्यञ्जनासिद्धि का आरम्भ । (२) यद्यपि ध्वनि अनेक प्रकार की होती है तथापि संक्षेप में सभी ध्वनियों का समावेश वस्तु, अलङ्कार तथा रस ध्वनि में किया जा सकता है, क्योंकि वस्तु, अलङ्कार और रस आदि तीन प्रकार के ही व्यङ्ग्य अर्थ हुआ करते हैं । अथवा कहिये कि काव्यप्रतिपाद्य अर्थ तीन प्रकार का होता है । प्रथमतः उसके दो भेद हैं—वाच्यता-सह और वाच्यता असह । जो अर्थ वाच्य भी हो सकता है–अभिधावृत्ति से भी जाना जा सकता है, वह वाच्यतासह है । यह भी दो प्रकार का है अविचित्र तथा विचित्र । जो अलङ्कार रूप अर्थ है वह विचित्र कहलाता है । जो अलङ्कार से भिन्न वस्तु मात्र अर्थ है वह अविचित्र कहा जाता है । ये वस्तु तथा अलङ्कार कहीं वाच्य होते हैं और कहीं व्यङ्ग्य । जहाँ ये प्रधान रूप से व्यङ्ग्य होते हैं वहीं वस्तु ध्वनि यथा अलङ्कार ध्वनि कही जाती है, अन्यत्र नहीं । तीसरा जो रस आदि अर्थ है, वह तो वाच्यता-असह है, रस आदि कभी वाच्य नहीं हो सकते । वे तो विभाव आदि के द्वारा व्यङ्ग्य ही हुआ करते हैं । इन तीनों प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति तृतीय कक्षा में हुआ करती है प्रथम कक्षा में पदार्थ का बोध, द्वितीय कक्षा में वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) का बोध और तृतीय कक्षा में व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है ।

रस आदि के व्यङ्ग्य होने पर भी (तत्रापि) जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधान रूप में प्रतीति होती है वहीं ध्वनि (काव्य) कहलाता है । अन्य स्थलों में (जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ प्रधान नहीं होता, गौण हो जाता है) तो गुणीभूतव्यङ्ग्य (काव्य) माना जाता है । जैसा कि (ध्वनिकार ने) कहा है:—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।
प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः।

यथा—'उपोढरागेण' इत्यादि।

'जहाँ अर्थ अपने आपको (स्व) तथा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है'। (ध्वन्यालोक १.१३)

'जहाँ अन्य (अङ्गभूत रस आदि से भिन्न वाच्य या व्यङ्ग्य) अर्थ प्रधान रूप से वाक्यार्थ होता है और रस आदि उसमें अङ्ग होते हैं वहाँ अङ्गभूत रस आदि अलङ्कार (रसवदलङ्कार आदि) के विषय होते हैं (अर्थात् वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है), यह मेरा विचार है।' (ध्वान्यालोक २.५)।

जैसे 'उपोढरागेण' इत्यादि में (गुणीभूतव्यङ्ग्य) है।

टिप्पणी—(१) द्र० ध्वन्यालोक तथा ध्वन्यालोकलोचन (१.१३ तथा २.५), का० प्र० (१.४,५), सा० द० (४.१,१३)। (२) ध्वनिवाद के अनुसार काव्य के तीन भेद हैं (ध्वन्यालोक ३.४, २७ तथा का० प्र० १.४,५)—ध्वनि (उत्तम), गुणीभूत-व्यङ्ग्य (मध्यम) और चित्र (अधम)। व्यङ्ग्य अर्थ की दृष्टि से ही ये तीन भेद किये गये हैं। ध्वनि काव्य में व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता होती है अर्थात् वह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारक होता है। इसके उदाहरण आगे दिये जायेंगे। गुणीभूतव्यङ्ग्य में व्यङ्ग्यार्थ होता तो है, किन्तु वह वाच्यार्थ से दबा रहता है, वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण होता है। अथवा कोई एक व्यङ्ग्यार्थ दूसरे व्यङ्ग्य अर्थ का अङ्ग हुआ करता है। जैसे (ध्वन्यालोक वृत्ति १.१३)—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया, पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्॥

(उदय काल में) राग को धारण किये हुए चन्द्रमा ने निशा के चञ्चल तारों से युक्त मुख का इस प्रकार ग्रहण किया कि राग (लालिमा या नायिका के हृदय में उत्पन्न अनुराग) के कारण समस्त अन्धकार रूपी वस्त्र गिर जाने पर भी उसने नहीं देखा।'

यहाँ चन्द्रमा का वर्णन प्रस्तुत है, जो वाच्यार्थ है। किन्तु व्यङ्ग्य रूप में नायक नायिका के व्यवहार की प्रतीति हो रही है। यहाँ समासोक्ति अलङ्कार है। गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य है, ध्वनि नहीं; क्योंकि वाच्यार्थ (चन्द्रोदय-वर्णन) की प्रधानता

तस्य च ध्वनेर्विवक्षितवाच्याविवक्षितवाच्यत्वेन द्वैविध्यम् । अविवक्षितवाच्योऽप्यत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्चेति द्विधा । विवक्षितवाच्यश्च असंलक्ष्यक्रमः क्रमद्योत्यश्चेति द्विविधः, तत्र रसादीनामसंलक्ष्यक्रमध्वनित्वं प्राधान्येन प्रतिपत्तौ सत्यां अङ्गत्वेन प्रतीतौ रसवदलङ्कार इति ।

है, व्यङ्ग्यार्थ गौण ही है । काव्य का तीसरा भेद जो चित्रकाव्य है । वह किसी विशेष व्यङ्ग्यार्थ के प्रकाशन की शक्ति नहीं रखता, उसमें शब्द और अर्थ का विशेष चमत्कार ही विशेषकर होता है । जैसे—(काव्यप्रकाश उ० १ उदा० ५)—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् ।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ।।

अर्थात् (शत्रुओं का) मान-मर्दन करने वाले जिस (हयग्रीव) को अपने भवन से बिना किसी उद्देश्य के (यों ही, इच्छानुसार) ही निकला हुआ सुनकर घबराहट के साथ जिसकी अर्गला गिरा दी गई थी ऐसी अमरावती (मानों) भय के कारण आँखें बन्द की हुई सी प्रतीत होती थी ।'

यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार वाच्य है, उसी में कवि का तात्पर्य है और वही चमत्कारक है । यद्यपि हयग्रीव की वीरता भी झलकती है तथापि वह स्फुटतया प्रतीत नहीं होती । अतः यह चित्रकाव्य है ।

उस ध्वनि के दो भेद हैं—(१) **विवक्षितवाच्य और** (२) **अविवक्षितवाच्य अविवक्षितवाच्य ध्वनि भी दो प्रकार की है**—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य । विवक्षितवाच्य ध्वनि भी दो प्रकार की है—असंलक्ष्यक्रम और **संलक्ष्यक्रम** व्यङ्ग्य । जब रस आदि की प्रधान रूप से प्रतीति होती है तो असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है । किन्तु जब इनकी (किसी वाच्य या व्यङ्ग्य अर्थ के) अङ्ग रूप में प्रतीति होती है तो रसवद् अलङ्कार होता है ।

टिप्पणी—(१) ध्वन्यालोक तथा लोचन (२.१.२), का० प्र० (४.२४,२५) सा० द० (४.२,३,४) । (२) ध्वनि काव्य के अनेक प्रकार हैं । यहाँ उनमें से चार मुख्य भेदों का उल्लेख किया गया है । प्रथमतः ध्वनि के दो भेद होते हैं—(i) अविवक्षितवाच्य और (ii) विवक्षितवाच्य (१) अविवक्षितवाच्य वह ध्वनि है जहाँ वक्ता का तात्पर्य वाच्यार्थ में नहीं होता । वाच्यार्थ बाधित हो जाता है तथा लक्ष्यार्थ का बोध कराता हुआ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराता है । इस ध्वनि को लक्षणामूलक ध्वनि भी कहते हैं । यह अविवक्षितवाच्य ध्वनि दो प्रकार की होती है—(क) अर्थान्तरसंक्रमित तथा (ख) अत्यन्ततिरस्कृत ।

(क) अर्थान्तरसंक्रमित में वाच्यार्थ अपने रूप में बाधित होकर अपने अर्थ की सिद्धि के लिये दूसरे अर्थ में परिणत हो जाता है । वह अपने अर्थ, का त्याग न करते हुए ही दूसरे अर्थ में संक्रमित होता है अतः यह ध्वनि उपादानलक्षणा के स्थलों पर होती है । जैसे—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ।।

'अर्थात् में तुम्हें यह बतलाता हूँ कि यहाँ पण्डितों का समुदाय उपस्थित है इसलिये तुम अपनी बुद्धि का आश्रय लेकर सावधानी से व्यवहार करना' यहाँ पर 'वच्मि' का अर्थ है 'कहना' किन्तु जब वह कह ही रहा है तो 'कहता हूँ' (वच्मि) यह कथन व्यर्थ है और इसका लक्ष्यार्थ लिया जाता है—(वच्मि = उपदिशामि) 'उपदेश करता हूँ। इस लक्ष्यार्थ के द्वारा हितकारिता व्यङ्ग्य है। (ख) अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य ध्वनि में वाच्यार्थ बाधित होकर तिरस्कृत हो जाता है, उसका त्याग कर दिया जाता है और वह लक्ष्यार्थ का बोध कराता हुआ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति कराता है। ऐसा उपादानलक्षणा से भिन्न लक्षणा के स्थल पर होता है जैसे—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ॥
विदधदीदृशमेन सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥

'अर्थात् हे मित्र, आपने बहुत उपकार किया है। इस विषय में क्या कहा जावे; आपने तो केवल सज्जनता दिखलाई है। इसलिये ऐसा ही करते हुए सैंकड़ों वर्षों तक सुखपूर्वक रहो।' अनेक अपकारों से पीड़ित किसी व्यक्ति की अपने अपकारी के प्रति यह उक्ति है अतः 'उपकृतम्' इत्यादि का वाच्यार्थ बाधित होकर विपरीत अर्थ को लक्षित करता है; अर्थात् 'उपकृतम्' का लक्ष्यार्थ होता है—अपकृतम्। इसी प्रकार 'सुजनता' इत्यादि का लक्ष्यार्थ दुर्जनता आदि हो जाता है। और, यहाँ 'अपकार की अधिकता' व्यङ्ग्यार्थ होता है।

(ii) **विवक्षितवाच्य अथवा विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि**—यहाँ वाच्यार्थ विवक्षित (=तात्पर्य का विषय) तो होता है किन्तु अपने से अधिक रमणीय व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति कराने में तत्पर हो जाता है। यहाँ अभिधामूलक व्यञ्जना द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति हुआ करती है अतः इस ध्वनि को अभिधामूलक ध्वनि भी कहते हैं। यह भी दो प्रकार की होती है—(क) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (ख) संक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य।

(क) **असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य**—इसमें वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम लक्षित नहीं हुआ करता। जहाँ रस आदि व्यङ्ग्य होते हैं वहाँ यह ध्वनि होती है। जैसे आगे (उदा० २९२ इत्यादि) शृङ्गार आदि रसों के उदाहरणों में ध्वनिवादी की दृष्टि से रसध्वनि है।

(ख) **संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य**—यह ध्वनि अनेक प्रकार की होती है। इसमें वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम स्पष्टतः लक्षित हुआ करता है जैसे—

निरुपादानमसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥

अर्थात् विना तूलिका आदि उपकरण सामग्री के तथा विना आधार के विवध आकार के संसार का निर्माण करने वाले उस चन्द्रकला से शोभायमान शिव के लिये प्रणाम है।' यहाँ कलाकार उपमान है तथा शिव उपमेय है। उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष प्रकट हो रहा है (व्यङ्ग्य है)। अतः यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है। (विशेष द्र० का० प्र० तथा सा० द०)।

अत्रोच्यते—

(४६) वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया ।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः ॥३७॥

(३) प्राधान्येन प्रतीतौ···रसवदलङ्कारः—जहाँ रस आदि की प्रतीति प्रधान रूप से होती है वहाँ रस ध्वनि आदि हुआ करती है किन्तु जब रस आदि किसी वाच्य या व्यङ्ग्य अर्थ के अङ्ग होकर आते हैं तो रसवत् अलङ्कार आदि कहलाते हैं जैसे (महा० स्त्रीपर्व अ० २४)—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥

यहाँ रणभूमि में कट कर गिरे हुए भूरिश्रवा के हाथ को लेकर उसकी पत्नी विलाप कर रही है । यहाँ करुणरस की प्रधानता है । पूर्वानुभूत शृङ्गार का वह स्मरण कर रही है । शृङ्गार रस करुण का अङ्ग है अतः यहाँ रसवत् अलङ्कार है । मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के सन्दर्भ में इसका निर्देश किया है (का० प्र० ५ अपरस्याङ्ग-गुणीभूतव्यङ्ग्य) ।

इस प्रकार ध्वनिवादी के मत में रस आदि व्यङ्ग्य और काव्य उनका व्यञ्जक है । काव्य से व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा ही रस आदि की प्रतीति होती है । किन्तु धनञ्जय तथा धनिक इस मत को स्वीकार नहीं करते । अतः ध्वनिवादी के मत को पूर्वपक्ष में रखकर अपना सिद्धान्त बतलाते हैं ।

दशरूपक का सिद्धान्त (रस आदि तथा काव्य में भाव्य-भावक सम्बन्ध)

इस विषय में कहते हैं—

जिस प्रकार (शब्दों द्वारा) वाच्य अथवा प्रकरण आदि के द्वारा बुद्धि में स्थित क्रिया ही कारकों से युक्त होकर वाक्य का अर्थ हुआ करती है, उसी प्रकार अन्यों (विभाव आदि) से युक्त होकर स्थायी भाव वाक्यार्थ होता है ॥३७॥

टिप्पणी—यहाँ धनञ्जय ने यह दिखलाया है कि रति आदि भाव या रस काव्य के वाक्यार्थ ही होते हैं, रति आदि भाव और काव्य में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव सम्बन्ध नहीं होता । काव्य से भिन्न लौकिक वाक्यों के दृष्टान्त द्वारा इस मन्तव्य को स्पष्ट किया गया है । मीमांसक के अनुसार वाक्य के अर्थ में क्रिया की प्रधानता होती है । कारकों से अन्वित क्रिया ही वाक्य का अर्थ होती है । श्रोता को क्रिया का ज्ञान दो प्रकार से हो सकता है । कहीं तो वाक्य में क्रियावाचक पद का प्रयोग होता है, जैसे 'गामभ्याज' (गाय लाओ) । यहाँ क्रिया 'अभ्याज' (लाओ) पद की वाच्य है । कहीं क्रियावाचक पद का प्रयोग तो नहीं होता फिर भी प्रकरण के द्वारा या संकेत आदि से श्रोता को क्रिया का बोध हो जाता है; जैसे किसी ने कहा 'द्वारं द्वारम्' (द्वार को द्वार को) । यहाँ प्रकरण से या संकेत से श्रोता 'बन्द करो' इस

यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणक्रियेषु 'गामभ्याज' इत्यादिषु, अश्रूयमाणक्रियेषु च—'द्वारं द्वारम्' इत्यादिषु स्वशब्दोपादानात्प्रकरणादिवशाद् बुद्धिसन्निवेशिनी क्रियैव कारकोपचिता वाक्यार्थस्तथा काव्येष्वपि क्वचित् स्वशब्दोपादानात् 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्येवमादौ, क्वचिच्च प्रकरणादिवशान्नियताभिहितविभावाद्यविनाभावाद्वा साक्षाद्भावक-

---

क्रिया को समझ लेता है। इन दोनों ही स्थलों में कारकों से अन्वित होकर क्रिया ही वाक्यार्थ मानी जाती है। अथवा कहिये कि प्रथमतः कारक पदों तथा क्रिया पद का पदार्थ-बोध हो जाता है फिर कारक-पद के अर्थों से अन्वित क्रिया पद का अर्थ जाना जाता है। यही वाक्यार्थ है, जैसा कि अभिहितान्वयवादी मीमांसक मानते हैं।

काव्य में भी यही बात है। प्रथमतः काव्य के वर्णनों द्वारा विभाव आदि का पृथक्-पृथक्-बोध होता है। यह पदार्थ-बोध के समान है फिर विभाव आदि से संसृष्ट स्थायी भाव का बोध होता है। यह वाक्यार्थ-बोध के समान है। उपर्युक्त क्रिया-बोध के समान स्थायी भाव के बोध में भी दो अवस्थाएँ हो सकती हैं;—(क) कभी तो स्थायी भाव को शब्दों द्वारा कहा जाता है, जैसे 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' यहाँ 'प्रीति' शब्द के द्वारा 'रति भाव' का बोध होता है। (ख) कभी स्थायी भाव को शब्दों द्वारा नहीं कहा जाता, अपितु (i) या तो अनुराग आदि के वर्णन के प्रकरण से श्रोता के मन में रति आदि भाव प्रस्फुरित हो जाता है अथवा (ii) किसी रति आदि भाव के साथ नियम से रहने वाले (नियत) जो विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव हैं, उनका काव्य में वर्णन होता है। श्रोता यह जानता है कि ये विभाव आदि तो रति भाव के विना नहीं रहते। अतः उनके मन में रति आदि भाव स्फुरित हो जाता है। काव्यों के शब्दों के द्वारा या प्रकरण आदि से श्रोता के चित्त में स्फुरित हो जाने वाला वह स्थायी भाव काव्य में वर्णित विभाव आदि से पुष्ट हो जाया करता है। पुष्ट हुआ रति आदि स्थायी भाव ही शृङ्गार आदि रस कहलाता है। इस प्रकार काव्य में विभाव आदि का बोध पदार्थ-स्थानीय है और विभाव आदि से अन्वित स्थायी भाव की प्रतीति वाक्यार्थ के रूप में है। धनिक ने बतलाया है कि वाक्यार्थ–बोध के समान तात्पर्य वृत्ति से ही विभाव आदि से स्थायी भाव (=रस) की प्रतीति हो जाती है। रस-बोध के लिये व्यञ्जना वृत्ति की कल्पना आवश्यक नहीं है। इसका युक्ति-युक्त वर्णन आगे किया जा रहा है।

जिस प्रकार 'गाय लाओ' इत्यादि जिनमें (अभ्याज=लाओ) क्रिया का प्रयोग किया जाता है तथा 'द्वार को द्वार को' इत्यादि जिनमें (बन्द करो आदि) क्रिया का प्रयोग नहीं होता—दोनों प्रकार के लौकिक वाक्यों में क्रमशः क्रियावाचक शब्द के प्रयोग से अथवा प्रकरण आदि के कारण बुद्धि में स्थित होने वाली क्रिया ही कारकों से अन्वित होकर वाक्य का अर्थ हुआ करती है; उसी प्रकार काव्य के विषय में भी होता है। कहीं तो 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्यादि में स्थायी भाव के वाचक (प्रीति आदि) पद का प्रयोग होने से और कहीं प्रकरण आदि के द्वारा अथवा काव्य में वर्णित

चेतसि विपरिवर्तमानो रत्यादिः स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचारिभिस्तत्तच्छब्दोपनीतैः संस्कारपरम्परया परं प्रौढिमानीयमानो रत्यादिर्वाक्यार्थः ।

न चाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्, कार्यपर्यवसायित्वात्तात्पर्यशक्तेः । तथा हि, पौरुषेयमपौरुषेयं वा वाक्यं सर्वं कार्यपरम्, अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तादिवाक्यवत् । काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव

(अभिहित) नियत विभाव आदि के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण सहृदय जनों के चित्त में रति आदि स्थायी भाव साक्षात् रूप से स्फुरित होने लगता है (विपरिवर्तमानः) । वह स्थायी भाव (काव्य के) भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा प्रकट किये गये अपने-अपने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा संस्कार-परम्परा से अत्यन्त पुष्ट हो जाता है और वही (काव्य में) वाक्यार्थ होता है ।

टिप्पणी—स्वशब्दोपादानात्—क्रियावाचक शब्द (=स्वशब्द) के प्रयोग से बुद्धिसंनिवेशिनी—बुद्धि में स्थित । स्वशब्दोपादानात्—रति आदि स्थायी भाव के वाचक शब्द (स्वशब्द) के प्रयोग से । नियताभिहित०—किसी रस के साथ नियत तथा काव्य-शब्दों द्वारा अभिहित जो विभाव आदि उनके साथ अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण । संस्कारपरम्परया—विभाव आदि के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले संस्कारों की परम्परा से । भाव यह है कि काव्य-शब्दों के द्वारा जो विभाव आदि का ज्ञान होता है वह तो तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है । फिर विभाव आदि स्थायी भाव को पुष्ट कैसे कर सकते हैं ? इसलिये यह मानना चाहिये कि विभाव आदि के ज्ञान के पश्चात् भी उस ज्ञान के संस्कारों की परम्परा चलती रहती है । उस संस्कार से रति आदि भाव पुष्ट हुआ करता है । वाक्यार्थः=साक्षात् रूप से काव्य के वाक्यों का अर्थ है जो तात्पर्य वृत्ति से जाना जाता है ।

(शङ्का) यदि कोई कहे कि रस आदि पदों के अर्थ (पदार्थ) नहीं हैं अतः वे वाक्य के अर्थ (वाक्यार्थ) भी नहीं हो सकते (क्योंकि पदार्थों के संसर्ग से ही वाक्यार्थ बनता है) । (समाधान) यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि तात्पर्य शक्ति की विश्रान्ति कार्य (प्रवृत्ति या निवृत्ति रूप प्रयोजन) में ही हुआ करती है । भाव यह है कि दो प्रकार के वाक्य होते हैं—पौरुषेय तथा अपौरुषेय । उन सबका तात्पर्य कार्य में ही होता है । यदि किसी वाक्य का तात्पर्य कार्य में न हो तो वह ग्राह्य ही न होगा; जैसे पागलों की बात ग्राह्य नहीं होती । और, काव्य के शब्दों की प्रवृत्ति का विषय जो प्रतिपादक (विभाव आदि) तथा प्रतिपाद्य (रति आदि स्थायी भाव) हैं, उनका अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा निरतिशय आनन्दानुभूति के अतिरिक्त कोई अन्य प्रयोजन दिखलाई नहीं देता । इसलिये अपने आनन्द की अनुभूति कराना ही उनका प्रयोजन (कार्य) निश्चित किया

कार्यत्वेनावधार्यते। तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते, अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाऽऽकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते। तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः। तदेतत्काव्यवाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ।

जाता है (उसमें ही काव्य-शब्दों का तात्पर्य है)। और, विभाव आदि के संसर्ग से युक्त स्थायी भाव को ही उस आनन्दानुभूति का निमित्त माना जाता है। इस प्रकार काव्य-वाक्यों की जो अर्थ-कथन की शक्ति (तात्पर्य शक्ति) है वह भिन्न-भिन्न रसों के द्वारा अपनी ओर आकृष्ट कर ली जाती है तथा अपने भिन्न-भिन्न अर्थ के लिये अपेक्षित जो विभाव आदि हैं उनके प्रतिपादन के द्वारा उस (तात्पर्य शक्ति) की परिसमाप्ति अपने (भिन्न-भिन्न रस के) स्वरूप में कर ली जाती है (अर्थात् काव्य के वाक्यों की तात्पर्य-शक्ति भिन्न-भिन्न रस के प्रतिपादन में विश्रान्त हुआ करती है)। इस प्रक्रिया में विभाव आदि तो पदार्थों (पद के अर्थों) के स्थान में हैं और उनसे अन्वित (तत्संसृष्ट) रति आदि भाव वाक्यार्थ है। यह ऐसा काव्य-वाक्य ही है जिसके ये (विभाव आदि पदार्थ हैं तथा (रति आदि स्थायी भाव) वाक्यार्थ हैं।

टिप्पणी—(१) कार्यपरम्—कार्य का अर्थ है—भाव, भावना तथा अपूर्व। वैयाकरण, भाट्टमीमांसक तथा प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक तीनों के अनुसार ही वाक्य कार्यपरक होता है। किन्तु प्रथम मत में कार्य = क्रिया (भाव), वाक्य में क्रिया की प्रधानता होती है। द्वितीय मत में कार्य = मुख्य विधेय (भावना) में ही तात्पय होता है, वही वाक्य का अर्थ होता है। तृतीय मत में कार्य = अपूर्व, इनमें वाक्य का तात्पर्य होता है। यहाँ भाट्टमीमांसक के मत से कार्य = मुख्य प्रयोजन (भावना) को वाक्यार्थ कहा गया है (भावनैव वाक्यार्थः तन्त्रवा० प्र० ४४५)। मि०, प्रकरणपञ्चिका, पृ० ३७६ टि०।

(२) अतत्परत्वे—कार्यपरक न होने पर। काव्यशब्दानां प्रवृत्तिविषययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः—इत्यादि अन्वय है। काव्ये स्थायी वा रसो वा प्रतिपाद्यो विभावादिश्च प्रतिपादकः (प्रभा)।

स्वानन्दोद्भूतिरेव—अपने आनन्द की अनुभूति कराना काव्य के शब्दों का प्रयोजन है। यही काव्य वाक्य का कार्य है, जो तात्पर्य का विषय है तथा वाक्यार्थ ही है। यह आनन्दानुभूति ही रस है। विभाव आदि से अन्वित स्थायी भाव उसका निमित्त है। अतः विभाव आदि पदार्थ के समान हैं और विभाव आदि से संसृष्ट स्थायी भाव वाक्यार्थ है। स्वानन्द = आत्मानन्द, द्र० आगे (४.४३) स्वादः वाक्यार्थ-सम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः।

न चैवं सति गीतादिवत्सुखजनकत्वेऽपि वाच्यवाचकभावानुपयोगः। विशिष्ट-विभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वानन्दोद्भूतेः। तदनेनातिप्रसङ्गोऽपि निरस्तः।

(प्रश्न) यदि काव्य आनन्दोद्भूति का निमित्त है (एवं सति) तब तो वह भी गीत आदि के समान (अर्थ जाने बिना ही) आनन्द का जनक हो सकता है, फिर उसमें वाच्य-वाचक-भाव का कोई उपयोग नहीं होगा। (उत्तर) यह कथन ठीक नहीं क्योंकि जो व्यक्ति विशेष प्रकार की विभाव आदि सामग्री को जानते हैं तथा उस प्रकार की रति आदि की भावना से युक्त हैं, उन्हें ही काव्य के आनन्द की अनुभूति हुआ करती है। इस प्रकार इस कथन से (अरसिक जनों को भी काव्य से वाच्य-वाचक-भाव के द्वारा रसास्वाद होने लगेगा, इस) अतिप्रसङ्ग का भी निराकरण हो गया।

टिप्पणी—(१) यहाँ रसास्वाद के दो निमित्त बतलाये गये हैं—(i) किसी रस के विभाव आदि का ज्ञान और (ii) सहृदय के चित्त में रसास्वादन योग्य रति आदि की भावना होना। भाव यह है कि विभाव आदि का ज्ञान काव्य से होता है, काव्य के शब्द ही विभाव आदि को बतलाते हैं, अतः वे वाचक हैं और विभाव आदि उनके वाच्य हैं। इसलिये रसानुभूति में वाच्यवाचक-भाव का उपयोग है। जिस प्रकार किसी शास्त्रीय सङ्गीत में राग, लय आदि से ही सामाजिकों को आनन्द की प्राप्ति हो जाती है, वहाँ वाच्य-वाचक-भाव का कोई उपयोग नहीं होता उस प्रकार की बात काव्य में नहीं है। दूसरी बात यह है कि शृङ्गार आदि रस का आस्वादन उन्हीं को होता है जिनके हृदय में उस प्रकार की रति आदि भावना होती है। इसलिये जो केवल काव्य का अर्थ समझते हैं किसी रसास्वादन योग्य रति आदि की भावना से युक्त नहीं हैं उन्हें काव्य का रसास्वादन नहीं हो सकता (मि० न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्, सा० द० ३.८)। इस प्रकार दोनों समुदित रूप से (मिलकर) रसास्वादन के कारण हैं (२) **विशिष्टविभावादिसामग्री**—प्रत्येक रस में नियत विभाव आदि सामग्री। **तथाविध०**—रस के आस्वादन के योग्य; भाव यह है कि यदि किसी के चित्त में रति आदि की भावना दबे रूप में है तो उसे रसास्वादन नहीं हो सकता। यदि वह भावना रसास्वादन के योग्य होगी तभी रसास्वादन हो सकेगा। (मि० स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववताम्, का० प्र० वृत्ति ४.२८)। **अनेन**—इस नियम से कि उस प्रकार की रति आदि भावना से युक्त जनों को ही काव्य से आनन्द की अनुभूति होती है। **अतिप्रसङ्ग**—अनिष्ट की प्राप्ति; अरसिक जनों को रसास्वादन होता है, यह मानना अभीष्ट नहीं। किन्तु यदि केवल वाच्य-वाचक-भाव के द्वारा ही रसास्वादन होगा तो उन्हें भी होने लगेगा, यही अतिप्रसङ्ग है।

ईदृशि च वाक्यार्थनिरूपणे परिकल्पिताभिधादिशक्तिवशेनैव समस्तवाक्यार्थावगते शक्त्यन्तरपरिकल्पनं प्रयासः, यथावोचाम काव्यनिर्णये—

'तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनिः ।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि ॥१॥
विषं भक्षय पूर्वो यश्चैवं परसुतादिषु ।
प्रसज्यते प्रधानत्वाद् ध्वनित्वं केन वार्यते ॥२॥

इस प्रकार के वाक्यार्थ का निर्णय हो जाने पर स्वीकृत (परिकल्पित) अभिधा (तात्पर्य, लक्षणा) शक्ति के द्वारा ही सब प्रकार के वाक्यार्थ का बोध हो जाता है। इसलिये अन्य शक्ति (व्यञ्जना) की कल्पना केवल (व्यर्थ का) प्रयास ही है; जैसा कि हमने काव्यनिर्णय नामक ग्रन्थ में बतलाया है।

व्यङ्ग्य कहा जाने वाला अर्थ (व्यञ्जनीय) तात्पर्य अर्थ से भिन्न नहीं होता। अतः कोई व्यञ्जना नामक वृत्ति (ध्वनि) नहीं होती (न ही ध्वनि नामक काव्य ही होता है)।

टिप्पणी (१)—ईदृशि—सभी वाक्य कार्यपरक होते हैं, कार्य (प्रवृत्ति निवृत्ति रूप प्रयोजन) का बोध तात्पर्य शक्ति से ही हो जाया करता है और तात्पर्य शक्ति द्वारा बोध्य अर्थ वाक्यार्थ ही होता है। रस (आनन्दोद्भूति) काव्य वाक्यों का कार्य है, उसका बोध तात्पर्य शक्ति से ही हो सकता है अतः वह वाक्यार्थ ही है—इस प्रकार के वाक्यार्थ का निरूपण करने पर। परिकल्पित-सकलप्रसिद्ध (प्रभा) सबके द्वारा जानी गई। अभिधादि अभिधा, तात्पर्य तथा लक्षणा। समस्तवाक्यार्थावगतेः—सब प्रकार के वाक्यर्थ का बोध हो जाने से; अर्थात् रस आदि भी वाक्यार्थ हैं और उनका बोध भी मानी गई शक्तियों के आधार पर ही हो सकता है। (२) काव्यनिर्णय०—यह धनिक का काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ था, अब अनुपलब्ध है। (३) तात्पर्या०—इस पंक्ति में धनिक ने अपने मत की स्थापना की है। व्यङ्ग्य कहे जाने वाले अर्थ का तात्पर्यार्थ में ही अन्तर्भाव हो जाता है अतः उसके बोध के लिये व्यञ्जना वृत्ति को मानने की आवश्यकता नहीं। ध्वनि,—व्यञ्जना, अथवा वह काव्य जिसमें व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता होती है।

(धनिक की स्थापना में ध्वनिवादी की शङ्का)—यदि ध्वनि (व्यञ्जना) नहीं होती तो जहाँ प्रयुक्त (श्रुत) शब्दों के (वाक्य) अर्थ में तात्पर्य नही हो सकता उस अन्योक्ति रूप वाक्य के विषय में आप क्या कहेंगे ? [जैसे 'कस्त्वं भोः,······मां विद्धि शाखोटकम्' ऊपर ऊदा० २१९, इत्यादि] ॥१॥ इसी प्रकार जब पिता आदि एक व्यक्ति (पूर्वः) दूसरे व्यक्ति (पर) पुत्र आदि से कहलाता है कि 'विष खालो' वहाँ (इसके घर खाना विष खाने से भी बुरा है, इत्यादि) प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता के कारण वह (वाक्य) ध्वनि होगा, उसे कौन रोक सकता है ॥२॥ इस प्रकार (ध्वनि और तात्पर्यार्थ का स्पष्ट भेद है) यदि वाक्य अपने अर्थ में परिसमाप्त (विश्रान्त) होकर भी

ध्वनिश्चेत्स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम् ।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ,
तन्न विश्रान्त्यसम्भवात् ।।३।।
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किंकृतम् ।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ।।४।।
भ्रम धार्मिक विश्रब्धमिति भ्रमिकृतास्पदम् ।
निर्व्यावृत्ति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति ।।५।।

अन्य अर्थ का बोधक होता है तो वह द्वितीय अर्थ ध्वनि (व्यङ्ग्य) होता है; किन्तु यदि वाक्य अपने अर्थ में विश्रान्त नहीं होता और (अपनी विश्रान्ति के लिये) किसी अन्य अर्थ का भी बोध करा देता है तो वह अन्य अर्थ तात्पर्यार्थ होता है ।

टिप्पणी—धनिक की स्थापना के विरोध में ध्वनिवादी की युक्तियाँ इस प्रकार हैं:—(i) तात्पर्य का अर्थ है वक्ता की इच्छा । तात्पर्य किसी भी चेतन का होता है, जड़ का नहीं । अत: जहाँ जड़ वस्तु को सम्बोधित करके अन्योक्ति रूप वाक्य कहा जाता है और उससे किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ प्रतीयमान अर्थ को तात्पर्यार्थ नहीं कहा जा सकता; जैसे ऊपर उदा० २१९ में शाखोटक वृक्ष के प्रति जो संवाद है, उसमें 'निर्वेद' की प्रतीति हो रही है, वह तात्पर्यार्थ कैसे होगी ? (ii) 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यादि (उपर पृ० ३२६) में प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ है—'इसके घर भोजन करना विष खाने से भी बुरा है' और, यही अर्थ प्रधान है । जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्राधनता होती है वह काव्य ध्वनि होता है । यह व्यङ्ग्य अर्थ तात्पर्यार्थ हो नहीं सकता, यह ऊपर कहा जा चुका है । (iii) ध्वनि और तात्पर्यार्थ में स्पष्ट भेद भी है (द्र० अनुवाद) । अतः ध्वनि का तात्पर्यार्थ में अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।

[ध्वनिवादी की शङ्का का समाधान, तन्न इत्यादि]—यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि वाक्य के अर्थ की (तब तक) विश्रान्ति नहीं हो सकती (जब तक कि समस्त तात्पर्य का बोध न हो जाये) ।।३।। केवल इतने (नियत) अर्थ में ही तात्पर्य की विश्रान्ति हो जाती है, इसका नियम किसने बना दिया ? वस्तुतः कार्य (प्रवृत्ति निवृत्ति रूप प्रयोजन) के बोध पर्यन्त तात्पर्य शक्ति का प्रसार होता है, वह तराजू पर तोला नहीं गया (कि यहीं तक तात्पर्य का विषय है आगे नहीं ।।४।।

और, (ध्वनिवादी का जो प्रश्न है कि) 'हे धार्मिक निश्चित होकर भ्रमण करो' यहाँ भ्रमण क्रिया का ही प्रतिपादन किया गया है, इस वाक्य में निषेधवाचक कोई पद नहीं (निर्व्यावृत्ति) है, फिर यह वाक्य भ्रमण के निषेध अर्थ में कैसे जा सकता है ? (ध्वनिवादी के मत में तो निषेध अर्थ व्यञ्जना द्वारा प्रतीत हो जाता है)।।५।।

प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद्यदि ।
वक्तुर्विवक्षिताप्राप्तेरविश्रान्तिर्न वा कथम् ॥६॥
पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता ।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते ॥७॥ इति ।

(इस पर धनिक का उत्तर है) यदि 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि में (श्रोता की) आकांक्षा पूर्ण हो जाने के कारण (ध्वनिवादी के अनुसार) तात्पर्य (प्रतिपाद्य) अर्थ की परिसमाप्ति (विश्रान्ति) मानी जाती है तो वक्ता के विवक्षित अर्थ की प्राप्ति न होने के कारण यहाँ तात्पर्य की अविश्रान्ति क्यों नहीं मानी जा सकती ? ॥६॥

किञ्च, मनुष्यों के सभी वाक्य विवक्षा के अधीन होते हैं (कुछ कहने की इच्छा से ही मनुष्य वाक्य का प्रयोग करता है) इसलिये वक्ता के अभिप्रेत अर्थ में ही वाक्य का तात्पर्य मानना उचित है ॥७॥

टिप्पणी—(१) धनिक का आशय यह है—(i) विवक्षित अर्थ का पूर्णतया बोध कराये बिना तात्पर्यार्थ की विश्रान्ति नहीं होती । और, वाक्य के द्वारा जो कुछ भी प्रतिपादन किया जाता है वह उसके तात्पर्यार्थ के ही अन्तर्गत है । यह नहीं कहा जा सकता कि वाक्य का तात्पर्य यहीं तक है, आगे नहीं (तन्न···तुलाधृतम्) । (ii) 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि में जो ध्वनिवादी ने कहा है कि श्रोता की काकांक्षा विधि अर्थ (निश्चित होकर भ्रमण करो) में पूर्ण हो जाती है, उसके पश्चात् होने वाला जो निषेध अर्थ (यहाँ कभी न आना) है, वह व्यङ्ग्य है । यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि वक्ता का विवक्षित अर्थ तो पूर्ण नहीं होता । वहाँ वक्ता है एक कुलटा स्त्री, उसका विवक्षित अर्थ है—तुम यहाँ कभी न आना । इस निषेध अर्थ की प्रतीति के बिना वक्ता के विवक्षित अर्थ की परिसमाप्ति नहीं होती । अतः यह निषेध अर्थ तात्पर्यार्थ ही है । तात्पर्य अर्थ की विश्रान्ति न होने पर जो अन्य अर्थ जाना जाता है वह तात्पर्यार्थ (तथा वाक्यार्थ) ही होता है, यह ध्वनिवादी ने भी स्वीकार किया है । इस प्रकार यहाँ भ्रमण-निषेध तात्पर्यार्थ ही होगा, व्यङ्ग्य नहीं । (iii) वस्तुतः वक्ता का विवक्षित अर्थ ही तात्पर्यार्थ होता है, श्रोता की आकांक्षा के थूर्ण हो जाने से तात्पर्य परिसमाप्त नहीं हो जाता । तथ्य यह है कि वक्ता को जब कुछ कहने की इच्छा (विवक्षा) होती है तभी वह वाक्य का प्रयोग करता है । अतः मनुष्यों के वाक्य विवक्षा के आधीन होते हैं और जो विवक्षित अर्थ होता है, उसी में वाक्य का तात्पर्य होता है । काव्य-वाक्यों के विषय में भी यही बात है । काव्य का तात्पर्य भी वक्ता (कवि) के अभिप्रेत अर्थ में ही होता है । इस प्रकार रस आदि तात्पर्यार्थ ही हैं, व्यङ्ग्य नहीं । (२) **भ्रमिकृतास्पदम्**=भ्रमणप्रतिपादकम् (प्रभा), **निर्व्यावृत्ति**='भ्रमणव्यावृत्ति-रहितम्=भ्रमणनिषेधबोधक-पदरहितम् (प्रभा) । **अपेक्षापूरणात्**=वक्ता की आकांक्षा पूर्ण हो जाने के कारण ।

अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः। किं तर्हि ? भाव्यभावक-सम्बन्धः। काव्यं हि भावकं, भाव्या रसादयः। ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते।

न चान्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम्--भावनाक्रियावादिभिस्तथाङ्गीकृतत्वात्। किञ्च मा चान्यत्र तथास्तु अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथाऽवगमात्। तदुक्तम्--

'भावाभिनयसम्बन्धान्भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः।' इति।

धनिक के मत का उपसंहार—

इस प्रकार रस आदि का काव्य के साथ व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव सम्बन्ध नहीं है फिर इनमें क्या सम्बन्ध है ? भाव्य-भावक सम्बन्ध है। काव्य (रस आदि का) भावक (भावना या आस्वादन कराने वाला) है और रस आदि भाव्य (जिनकी भावना या आस्वादन कराया जाये) हैं। वे (रति आदि भाव) सहृदयों के चित्त में स्वतः (स्वभावतः) विद्यमान रहते हैं। भिन्न-भिन्न रसों के विशेष प्रकार के विभाव आदि का वर्णन करने वाले काव्य के द्वारा उनकी भावना करा दी जाती है।

टिप्पणी—(१) अतः इत्यादि में धनिक ने अपने इस मत का उपसंहार किया है कि रस आदि तथा काव्य में भाव्य-भावक सम्बन्ध है। (२) स्वतो भवन्तः—सहृदयों के चित्त में स्वभावतः रहते हुए। इससे विदित होता है कि अभिनवगुप्त से पहले ही धनिक ने यह स्पष्ट कर दिया था कि सहृदयों के चित्त में रति आदि भाव विद्यमान रहा करते हैं। काव्यों के द्वारा भावित होकर उन्हीं का आस्वादन किया जाया करता है। (३) भावकेषु—सहृदयों में, सहृदयों के चित्त में। धनिक ने काव्य के लिये भी भावक शब्द का प्रयोग किया है और सहृदय को भी भावक कहा है। काव्य तो भावना (चर्वणा, आस्वादन) कराने वाला है अतः भावक है; किन्तु सहृदय जन भावना करने वाले हैं इसलिये भावक कहलाते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि दूसरे स्थलों पर (व्याकरण आदि के) अन्य शब्दों में तो भाव्य-भावक-रूप सम्बन्ध नहीं होता अतः काव्य के शब्दों में भी वह सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि भावना के रूप में क्रिया को मानने वालों (मीमांसकों) ने अन्यत्र भी (शब्दों में) भाव्य-भावक सम्बन्ध स्वीकार किया है। दूसरी बात यह भी है कि चाहे अन्यत्र भाव्य-भावक सम्बन्ध स्वीकार किया है। दूसरी बात यह भी है कि चाहे अन्यत्र भाव्य-भावक सम्बन्ध न भी हो तथापि यहाँ (काव्य में) अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा यह सम्बन्ध माना जाता है। जैसा कि कहा गया है—(नाट्यशास्त्र ७·३) 'क्योंकि ये (चिन्ता आदि) सामाजिकों को (इमान्) भाव तथा अभिनय (अथवा भाव के अभिनय) से सम्बन्ध रखने वाले रसों की भावना कराते हैं इसलिये नाट्य-प्रयोक्ता जन इन्हें भाव मानते हैं।'

कथं पुनरगृहीतसम्बन्धेभ्यः पदेभ्यः स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत् ? लोके तथाविधचेष्टायुक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाऽविनावेन लाक्षणिकी रत्यादि-प्रतीतिः । यथा च काव्यार्थस्य रसभावकत्वं तथाऽग्रे वक्ष्यामः ।

टिप्पणी—(१) भावनाक्रियावादिभिस् तथाङ्गीकारात्—भाट्ट मीमांसक के अनुसार क्रिया का अर्थ है—भावना । यह भावना दो प्रकार की होती है—शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना । शब्दी भावना का अर्थ है किसी मनुष्य को क्रिया में प्रवृत्त कराने वाला विशेष प्रकार का व्यापार, जो वक्ता का अभिप्राय रूप व्यापार होता है तथा शब्दों में लिङ् लकार आदि के द्वारा प्रकट होता है (वेद में वह शाब्दी भावना शब्दनिष्ठ ही होती है) । किसी कार्य में प्रवृत्त होकर जब कर्त्ता फल की इच्छा से उसके साधनों का अनुष्ठान करता है तो यह कर्त्ता का प्रयत्न ही आर्थी भावना है जो आख्यात (तिङ् प्रत्यय) की वाच्य होती है । इस प्रकार शाब्दी भावना —प्रवर्तना, आर्थी भावना=प्रयत्न । जैसे 'स्वर्गकामो यजेत्'=स्वर्ग की कामना वाला याग से स्वर्ग को भावित करे, इस वाक्य के द्वारा याग में प्रवृत्त हुआ पुरुष याग से स्वर्ग को भावित करता है । यहाँ याग क्रिया भावक है और स्वर्ग भाव्य है । इसी प्रकार काव्य में भी काव्य भावक है और रस आदि भाव्य हैं (२) अन्वयव्यति-रेकाभ्याम्—जहाँ काव्यरस की चर्वणा होती है वहाँ काव्य-शब्द अवश्य हुआ करते हैं (अन्वय); यदि काव्य के शब्द नहीं होते तो काव्य-रस की चर्वणा भी नहीं होती (व्यतिरेक) । इस अन्वय व्यतिरेक से काव्य के शब्दों (=काव्य) को रस आदि का भावक माना जाता है और रस आदि को काव्य का भाव्य । (३) भावाभिनय-सम्बन्धान्—नाट्यशास्त्र (७.३) में 'नानाभिनयसम्बद्धान्' पाठ है । यद्यपि ना० शा० के इस श्लोक में (चिन्ता आदि) भावों को रस का भावक कहा गया है तथापि भावों का बोध कराने वाले काव्य के शब्द भी रस के भावक होते हैं, यह समझना चाहिये । इस प्रकार काव्य के शब्द तथा अर्थ दोनों मिलकर रस आदि के भावक होते हैं ।

(प्रश्न) [जिन शब्दों का जिन अर्थों के साथ सम्बन्ध-ग्रहण (संकेत-ग्रह) होता है उन शब्दों से उन्हीं अर्थों का बोध हुआ करता है, यह नियम है] किन्तु रति आदि के साथ काव्य के शब्दों का सम्बन्ध-ग्रहण नहीं किया गया है फिर उन शब्दों से (रति आदि) स्थायी भावों का बोध कैसे हो सकता है ? (उत्तर) लोक में रति आदि से उत्पन्न होने वाली (तथाविध) चेष्टाओं से युक्त स्त्री-पुरुषों में (उन चेष्टाओं का) रति आदि स्थायी भाव के साथ नियत सम्बन्ध (=अविनाभाव) देखा जाता है । जब काव्य में भी उसी प्रकार का वर्णन होता है तो रति आदि भाव के बिना न रह सकने वाली जो चेष्टाएँ हैं उनके वाचक शब्द सुने जाते हैं और उन शब्दों के वाच्य अर्थ (चेष्टाओं) के साथ नियत रूप से रहने के कारण लक्षणा द्वारा रति आदि भाव की प्रतीति हो जाती है । काव्यार्थ रस की भावना कैसे कराता है, यह आगे बतलायेंगे ।

(४७) रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात् ।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः ॥३८॥
द्रष्टुः प्रतीतिव्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसङ्गतः ।
लौकिकस्य स्वरमरणीसंयुक्तस्येव दर्शनात् ॥३९॥

टिप्पणी—**तथाविधचेष्टा**—रति आदि भाव से उत्पन्न होने वाली चेष्टा अनुभाव इत्यादि। **रत्याद्यविनाभावदर्शयात्०**—इत्यादि में मीमांसक की प्रक्रिया के अनुसार यह दिखलाया गया है कि काव्य के शब्दों से लक्षणा द्वारा रति आदि भावों की प्रतीति होती है। कुमारिल भट्ट के अनुसार 'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' (मि० का० प्र० २.१२) यह लक्षणा का स्वरूप है। प्रथमतः रति आदि से उत्पन्न होने वाली चेष्टाओं से युक्त स्त्री-पुरुषों में इस प्रकार के अविनाभाव सम्बन्ध (व्याप्ति) का ग्रहण किया जाता है कि ये चेष्टाएँ रति आदि भाव के विना नहीं हुआ करती (अथवा जहाँ-जहाँ उस प्रकार की चेष्टाएँ होती हैं वहाँ रति आदि भाव अवश्य होता है)। फिर काव्य में रति आदि की अविनाभावी चेष्टाओं के वाचक शब्द सुनकर अनका अर्थ समझ लिया जाता हैं और उन अर्थों (चेष्टाओं) के साथ रति आदि का अविनाभाव सम्बन्ध है अतः रति आदि की प्रतीति हो जाती है (रत्याद्यविनाभूत-चेष्टादि०, इस कथन से व्याप्ति-स्मरण और पक्ष-धर्मता दिखलाई गई है, काव्य-प्रकाश २.१२ के अनुसार कुमारिल के वचन में अविनाभाव का अर्थ व्याप्ति नहीं)।

लाक्षणिकी—काव्य के शब्दों द्वारा अभिधा से चेष्टा आदि (अनुभाव इत्यादि) का बोध होता है, चेष्टा आदि अभिधेय हैं। उस चेष्टा आदि के साथ नियत रूप से रहने वाले रति आदि भाव का बोध लक्षणा द्वारा होता है वह प्रतीति लाक्षणिकी (लक्षणाजन्य) है।

इस प्रकार रस आदि तथा काव्य का भाव्य-भावक सम्बन्ध है, यह बतलाकर आगे रस-प्रक्रिया आदि के विषय में बतलाते हैं—

रस का आश्रय

वह (काव्यार्थ से भावित रति आदि स्थायी भाव) ही रस है, क्योंकि उसका आस्वादन किया जाता है (रस्यते स्वाद्यते रसः)। यह (रस) रसिक के हृदय में रहता है, क्योंकि रसिक ही (रस-प्रतीति के समय) विद्यमान होता है। अनुकार्य (राम, दुष्यन्त आदि) के हृदय में यह नहीं होता; क्योंकि वे तो अतीत काल में थे (काव्य या नाटच के समय नहीं हैं)। और काव्य उनके (रसास्वादन के) लिये रचा भी नहीं जाता ॥३८॥ (यदि अनुकार्य राम आदि में रस माना जाये तो) जिस प्रकार अपनी रमणी से युक्त किसी लौकिक पुरुष को देखकर हुआ करता है, उसी प्रकार अभिनय के दर्शक (या काव्य के श्रोता अथवा पाठक) को (इसमें रति भाव है इस प्रकार की) प्रतीति मात्र होगी (रसास्वादन न होगा) अथवा लज्जा, ईर्ष्या, राग, द्वेष आदि होने लगेंगे ॥३९॥

टिप्पणी—भा० प्र० (पृ० १५२), ना० द० (३.१६३ वृत्ति), सा० द०, अनुकार्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत् (३.१८)।

काव्यार्थोपप्लावितो रसिकवर्ती रत्यादिः स्थायी भावः स इति प्रतिनिर्दिश्यते स च स्वाद्यतां निर्भरानन्दसंविदात्मतामापाद्यमानो रसो रसिकवर्तीति वर्तमानत्वात्, नानुकार्यरामादिवर्ती वृत्तत्वात्तस्य ।

अथ शब्दोपहितरूपत्वेनावर्तमानस्यापि वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव, तथापि तदवभासस्यास्मदादिभिरनुभूयमानत्वादसत्समतैवाऽऽस्वादं प्रति, विभावत्वेन तु रामादेर्वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव । किञ्च न काव्यं रामादीनां रसोपजननाय कविभिः प्रवर्त्यते, अपि तु सहृदयानानन्दयितुम् । स च समस्त भावकस्वसंवेद्य एव ।

यदि चानुकार्यस्य रामादेः शृङ्गारः स्यात्ततो नाटकादौ तद्दर्शनेन लौकिके इव नायके शृङ्गारिणि स्वकान्तासंयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्रं भवेन्न रसानां स्वादः, सत्पुरुषाणां च लज्जा, इतरेषां त्वसूयानुरागाप-

---

यहाँ ('रसः स एव' इत्यादि कारिका में) 'सः' (वह) शब्द से इस रति आदि स्थायी भाव का निर्देश किया गया है, जो रसिकों के हृदय में रहता है और काव्यार्थ (विभाव आदि) के द्वारा उद्भावित हुआ करता है । वह रति आदि भाव ही आस्वादन का विषय होकर अर्थात् पूर्ण आनन्दानुभूति के रूप में आकर रस कहलाता है । वह (रस) रसिक के हृदय में रहता है; क्योंकि (रस-प्रतीति के समय) रसिक ही विद्यमान होता है । अनुकार्य (राम आदि) में वह नहीं रहता; क्योंकि (रस-प्रतीति के समय) वे तो हो चुके होते हैं ।

यद्यपि यह ठीक है कि अनुकार्य राम आदि विद्यमान न होकर भी विद्यमान के समान प्रतीत हुआ करते हैं क्योंकि (काव्य के) शब्दों द्वारा उनका रूप उपस्थित हो जाता है, तथापि हम लोगों (सामाजिकों) को ही उनका विद्यमान के समान आभास होता है, वस्तुतः रसास्वादन के लिये तो वे अविद्यमान ही होते हैं । हाँ, विभाव रूप में तो राम आदि की विद्यमान के समान प्रतीति अभीष्ट ही है । दूसरी बात यह भी है कि कवियों ने राम आदि को रसास्वादन कराने के लिये काव्य रचना नहीं की है अपि तु सहृदय जनों को आनन्दित करने के लिये ही । और, वह रस समस्त सहृदय जनों की अपनी अनुभूति का विषय हुआ करता है ।

किञ्च, यदि यह माना जाये कि अनुकार्य राम आदि को शृङ्गार (रति भाव) आदि की प्रतीति होती है तो जिस प्रकार किसी लौकिक व्यक्ति को अपनी प्रिया से युक्त देखकर केवल यह 'शृङ्गार-युक्त' है इस प्रकार की प्रतीति हुआ करदी है, उसी प्रकार नाटक के दर्शकों (अथवा काव्य के पाठकों) को भी यह 'शृङ्गारी है' यही प्रतीति हुआ करेगी, रस का आस्वादन न होगा । और (राम आदि रति-भाव से युक्त हैं) इस प्रकार की प्रतीति से सत्पुरुषों को लज्जा होगी तथा अन्य जनों को (स्वभाव के अनुसार) ईर्ष्या, राग एवं (नायिका के) अपहरण की इच्छा आदि होने लगेंगे ।

द्वारेच्छादयः प्रसज्येरन् । एवं च सति रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमपास्तम् । अन्यतो लब्धसत्ताकं वस्त्वन्येनापि व्यज्यते, प्रदीपेनेव घटादि, न तु तदानीमेवाभिव्यञ्जकत्वाभिमतैरापाद्यस्वभावम् । भाव्यन्ते च विभावादिभिः प्रेक्षकेषु रसा इत्यावेदितमेव ।

और ऐसा सिद्ध हो जाने पर (कि काव्य द्वारा रसिक के हृदय में भावित रति आदि भाव ही रस) हैं रस आदि व्यङ्ग्य होते हैं, इस मत का भी निराकरण हो गया । जो वस्तु पहिले किसी अन्य कारण से उत्पन्न हो चुकती है (लब्धसत्ताकम् = लब्धा सत्ता येन तत्) वह किसी दूसरे निमित्त के द्वारा व्यङ्ग्य हुआ करती है जैसे घट आदि (जो पहले से ही विद्यमान होता है) दीपक के द्वारा व्यङ्ग्य (व्यञ्जनीय) हुआ करता है । दूसरी ओर वह वस्तु तो व्यङ्ग्य नहीं कहलाती जिसका स्वरूप (स्वभाव) अभिव्यञ्जक रूप में माने गये कारणों के द्वारा उसी (व्यञ्जना के) समय उत्पन्न किया जाता है । और (रस के स्थल में यही बात है क्योंकि) विभाव आदि के द्वारा सामाजिकों के चित्त में रस की भावना कराई जाती है, यह पहिले ही बतलाया जा चुका है ।

टिप्पणी—(१) अभिनय से सम्बन्ध रखने वाले तीन प्रकार के व्यक्ति हो सकते हैं:—एक अनुकार्य (राम, दुष्यन्त आदि, जिनका अभिनेता लोग अनुकरण करते हैं), दूसरे अनुकर्ता (नट, नर्तक) और तीसरे सामाजिक (दर्शक श्रोता आदि) । इनमें से रस का आस्वादन किसे होता है ? इस विषय में साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में विचार किया गया है । यह भी ध्यान रखने योग्य है कि इस सन्दर्भ में रस का अर्थ, है नाट्य या काव्य से भावित आनन्द । इस रस का आस्वादन सहृदय सामाजिक (रसिक) को हुआ करता है, इसमें प्रायः सभी एक मत हैं । वस्तुतः नाट्य की योजना या काव्य की रचना दर्शक या पाठक (श्रोता) के रसास्वादन के लिये ही की जाती है । वही अभिनय आदि के समय विद्यमान होता है अतः उसको रस का आस्वादन होता है । अनुकार्य राम आदि को रस का आस्वादन नहीं होता । क्यों ? इसके लिये दशरूपक में तीन हेतु प्रस्तुत किये गये हैं–(१) अनुकार्यस्य वृत्तत्वात् (II) काव्यस्यातत्परत्वतः, (III) द्रष्टु...दर्शनात् (द्र० अवलोक से टीका तथा अनुवाद) । हाँ, दशरूपक के अनुसार नट (अभिनेता) को भी रस का आस्वादन हो सकता है, यदि वह काव्यार्थ की भावना करता है । जैसा कि सा० द० (३·१९) में बतलाया गया है उस समय नट भी सहृदय (रसिक) की श्रेणी में ही आ जाता है । अतः रसिक को ही रस का आस्वादन होता है (रसिकस्यैव) यह निर्विवाद है । (२) **काव्यार्थोपप्लावितः**— काव्यार्थ के द्वारा भावित । **शब्दोपहितरूपत्वेन**—द्र० ऊपर ४·२· अवलोक टीका तथा टिप्पणी । **आपाद्यस्वभावम्**=लब्धसत्ताकम् (प्रभा) वह वस्तु जो तथाकथित अभिव्यञ्जकों के द्वारा अपना रूप प्राप्त करती है, अर्थात् जो उनसे अभिव्यक्त नहीं होती अपितु उत्पन्न होती है । **भावयन्ते च०**—भाव यह है कि विभाव आदि के संयोग से रसिक के चित्त में स्थित रति आदि स्थायी भाव आस्वादन के योग्य हो जाता है, वही रस कहलाता है । ऐसा नहीं होता कि रस नामक वस्तु पहिले से रसिक के चित्त में विद्यमान होती है और विभाव आदि के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति हुआ करती है । इस लिये रस को व्यङ्ग्य नहीं कहा जा सकता ।

ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः कथं च सीतादीनां देवीनां विभावत्वेनाऽविरोधः ? उच्यते—

(४८) धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः ।
विभावयति रत्यादीन्स्वदन्ते रसिकस्य ते ॥४०॥

नहि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासवदुपनिबध्नन्ति, किं तर्हि ? सर्वलोकसाधारणाः स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधीः धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिनीः (वि) दधति ।

(४९) ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः ।

तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः किमिवानिष्टं कुर्युः ?

(प्रश्न) सामाजिकों में रहने वाले रसों का विभाव क्या होता है ? और सीता आदि (पूज्य) देवियों को (सामाजिकों के रतिभाव का) आलम्बन विभाव मानने में दोष (विरोध) क्यों नहीं होता है ? इस पर कहा जाता है—(उत्तर)

(नाटक आदि में अभिनीत) राम इत्यादि धीरोदात्त आदि अवस्थाओं को दिखलाने वाले होते हैं । ते रति आदि भावों को (सामाजिक के चित्त में) भावित करते हैं और उन रति आदि भावों का (=ते) सहृदय सामाजिक के द्वारा आस्वादन किया जाता है ॥४०॥

भाव यह है कि कविजन योगियों के समान ध्यानचक्षु से देखकर काव्य में इतिहास आदि की भाँति राम आदि की व्यक्तिगत अवस्था का वर्णन नहीं करते । तो फिर कवि क्या करते हैं ? वे ऐसी धीरोदात्त आदि अवस्थाओं का वर्णन करते हैं, (विदधति), जो सभी (धीरोदात्त आदि) जनों में साधारण होती हैं और जिनकी योजना कवि कल्पना से करता है, केवल किसी (राम आदि) व्यक्ति को उनका आश्रय बना लेता है ।

और, (राम आदि की) निजी विशेषताओं से रहित वे (उदात्त आदि अवस्थाएँ=ताः) ही रस के निमित्त हुआ करती हैं ।

इस प्रकार (काव्य में) सीता आदि शब्द 'जनकपुत्री होना' इत्यादि विशेषताओं को छोड़कर केवल स्त्रीमात्र के वाचक होते हैं । फिर क्या दोष (अनिष्ट) हो सकता है ? (अर्थात् सीता आदि पूज्य देवियाँ सामाजिकों का आलम्बन विभाव कैसे होंगी, यह दोष नहीं होता) ।

टिप्पणी—(१) प्रश्न है कि सीता आदि देवियाँ तो पूज्य हैं वे सामाजिक की रति का आलम्बन नहीं हो सकती । इसका उत्तर दशरूपक (४.४०-४१) तथा टीका में दिया गया है । भाव यह है कि कविजन जो राम आदि का वर्णन करते हैं वह इतिहास आदि के समान राम आदि का व्यक्तिगत वर्णन नहीं होता अपितु धीरोदात्त आदि अवस्था के प्रतीक रूप में उनका वर्णन होता है । जब कवि को धीरोदात्त

किमर्थं तर्ह्युपादीयन्त इति चेत् ? उच्यते—

(५०) क्रीडतां मृन्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः ॥४०॥
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः ।

एतदुक्तं भवति—नात्र लौकिकशृङ्गारादिवत्स्त्र्यादिविभाववद्दीनामुपयोगः, किं तर्हि प्रतिपादितप्रकारेण लौकिकरसविलक्षणत्वं नाट्यरसानाम् । यदाह—'अष्टौ नाट्य-रसाः स्मृताः' इति ।

अवस्था के किसी नायक का वर्णन करना होता है तो इतिहास आदि तथा लोकवृत्त से प्राप्त अनुभव के आधार पर अपनी उर्वरा कल्पना से धीरोदात्त नायक के भावों तथा कार्यों की उद्भावना कर लेता है और उसका चरित्र-चित्रण कर देता है । वह चित्रण राम व्यक्ति का नहीं अपितु साधारणतः किसी भी धीरोदात्त नायक का हुआ करता है । राम आदि को तो उसका आश्रय बना लिया जाता है; क्योंकि किसी व्यक्तिविशेष का आश्रय लिये बिना सामान्य अवस्था का तो चित्रण किया नहीं जा सकता । इसी प्रकार काव्यगत या नाट्यगत सीता आदि भी केवल प्रतीक मात्र होती हैं, वहाँ वे जनकपुत्री सीता या राम की पत्नी सीता के रूप में नहीं होतीं । वे अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं को छोड़कर (परित्यक्तविशेषा) स्त्रीमात्र के रूप में रस का निमित्त हुआ करती हैं तथा कोई दोष नहीं आता । (२) स्वदन्ते=आस्वादन के विषय होते । प्रातिस्विकीम्=किसी एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाली, व्यक्तिगत अवस्था को । सर्वलोकसाधारणाः=सभी व्यक्तियों में हो सकने वाली. सभी धीरोदात्त आदि नायकों में समान रूप से रहने वाली (अवस्थाओं को) । ताः=सीताद्याः (प्रभा) वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि ताः=धीरोदात्ताद्यवस्थाः, क्योंकि पहली कारिका में धीरोदात्तादि अवस्थाओं का वर्णन है । परित्यक्तविशेषाः=साधारणीकृताः सामान्यतो नायिकादिरूपेणोपस्थिताः (प्रभा), वस्तुतः व्यक्तिगत विशेषताओं से रहित केवल धीरो-दात्त इत्यादि अवस्थायें । ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार के कथन से काव्य द्वारा विभाव आदि का साधारणीकरण बतलाया गया है मि०, विभावादिसाधारणीकरणा-त्मना भावकत्वव्यापारेण—भट्टनायक, का० प्र० ।]

(प्रश्न) [जब काव्य में सीता आदि व्यक्तिविशेष के वाचक नहीं अपितु स्त्री-मात्र के वाचक हैं] तब सीता आदि का ग्रहण क्यों किया जाता है ? उत्तर है—

श्रोता गण को अर्जुन आदि (पात्रों) के द्वारा उसी प्रकार अपने उत्साह का आस्वादन होता है जिस प्रकार खेलने वाले बालकों को मिट्टी से बने हाथी इत्यादि के द्वारा (अपने उत्साह का) ॥४१॥

यह कहा जा सकता है कि काव्य-नाट्य के रसास्वादन में (अत्र) लौकिक रतिभाव के समान स्त्री आदि विभावों का उपयोग नहीं होता; प्रत्युत, जैसा कि बतलाया जा चुका है, नाट्य रस लौकिक रस से विलक्षण होते हैं । (भरत ने ना० शा० ६·१५ में) कहा भी है—'नाट्य में आठ रस माने जाते हैं' ।

(५१) काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ॥४२॥

नर्तकोऽपि न लौकिकर से न रसवान् भवति तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत्काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते ।

टिप्पणी—स्वोत्साहः स्वदते—अपने उत्साह का आस्वादन होता है । जब रसिक जन काव्य में अर्जुन आदि वीरों का वर्णन सुनते हैं तो उनकी बुद्धि में उत्साह युक्त अर्जुन आदि का रूप उपस्थित हो जाया करता है (द्र० शब्दोपहितरूपांस्तान् ऊपर ४·२ टीका) और अर्जुन आदि के सम्बन्ध में वर्णित विभाव आदि से संसृष्ट उत्साह (स्थायी भाव) के साथ सामाजिक के चित्त की तन्मयता (=संभेद) हो जाती है । इस प्रकार रसिक जन अपने ही उत्साह का आस्वादन किया करते हैं । सामाजिक के रसास्वादन में उस व्यक्ति के लौकिक रूप की अपेक्षा नहीं होती, जिसके प्रति अर्जुन का उत्साह भाव है (=विभाव), अपि तु शब्दों द्वारा सामाजिक की बुद्धि में उपस्थित होने वाले विभाव ही रसास्वादन के निमित्त हो जाया करते हैं । शृङ्गार में भी यही बात है । वहाँ भी लौकिक शृङ्गार के समान स्त्री आदि आलम्बन विभाव इत्यादि नहीं हुआ करते, अपि तु शब्द द्वारा सामाजिक की बुद्धि में स्थित विभाव आदि ही रसास्वादन के निमित्त हुआ करते हैं । लौकिकरसविलक्षणत्वम्—भाव यह है कि काव्य-रस लौकिक रस से विलक्षण होते हैं इसलिये वहाँ नायिका इत्यादि की अपने रूप से उपस्थिति अपेक्षित नहीं होती ।

इस प्रकार मुख्य रूप से रसिक (सहृदय सामाजिक) को ही रस का आस्वादन हुआ करता है, उसको रसास्वादन कराने के लिये ही काव्य-रचना की जाती है, किन्तु—

काव्यार्थ की भावना से नर्तक (नट=अभिनेता) को भी रस का आस्वादन हो सकता है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता ॥४२॥

भाव यह है कि नर्तक (नट) को भी लौकिक रस (रति भाव आदि) से रसयुक्त नहीं माना जा सकता; क्योंकि उस समय वह भोग्य रूप में अपनी स्त्री आदि का ग्रहण नहीं करता । किन्तु नर्तक को भी सामाजिक के समान (अस्मदादिवत्=हमारे समान) काव्यार्थ की भावना से रस का आस्वादन हुआ करता है, इस बात से नकार नहीं किया जा सकता ।

टिप्पणी—(१) रस का आस्वादन किसे होता है ? इस विषय में विशेष द्रष्टव्य अभि० भा० (ना० शा० ६.३३), भा० प्र० षष्ठ अधिकार (पृ० १५२—१५४), ना० द० (३.१६३ वृत्ति), सा० द० (३.१८—) । (२) **काव्यार्थभावनया**—काव्यार्थ के साथ तन्मयता होने से, भाव यह है कि यदि नट रसिक है तो उसे भी रसास्वादन हो सकता है, अन्यथा नहीं ।

कथं च काव्यात्स्वानन्दोद्भूतिः किमात्मा चासाविति व्युत्पाद्यते—

(५२) स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः॥४३॥
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि॥४४॥
अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।

काव्यार्थेन=विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः सम्भेदे=अन्योन्य-संवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः स्वादः। तस्य च सामान्यात्मकत्वेऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्येन सम्भेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति। तद्यथा—शृङ्गारे विकासः, वीरे विस्तरः, बीभत्से क्षोभः, रौद्रे विक्षेप इति। तदन्येषां चतुर्णां हास्याद्भुतभयानककरुणानां स्वसामग्रीलब्धपरिपोषाणां त एव चत्वारो विकासाद्याश्चेतसः सम्भेदाः, अत एव—

रस की प्रक्रिया तथा स्वरूप

अब यह प्रतिपादित किया जाता है कि काव्य से किस प्रकार अपने ही आनन्द की अनुभूति (रसास्वादन) होती है और उस (रस) का स्वरूप क्या है ?

काव्यार्थ के साथ तन्मयता (संभेद=एकतानता) के द्वारा जो अपने आनन्द का अनुभव होता है, वही स्वाद (रस) कहलाता है। वह स्वाद चार प्रकार का होता है—चित्त का विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप, जो क्रमशः शृङ्गार, वीर, बीभत्स, और रौद्र में हुआ करते हैं। हास्य, अद्भुत, भयानक (=भयोत्कर्ष) और करुण रस में भी क्रमशः ये (विकास आदि) चारों ही होते हैं। ४३-४४॥ इसीलिये हास्य आदि रसों को (क्रमशः) करुण आदि से उत्पन्न होने वाला (जन्य) कह दिया जाता है। और, इसी हेतु से (आठ ही रस हैं, इस प्रकार का) नियम भी किया जाता है।

काव्यार्थ का अभिप्राय है—विभाव आदि से संयुक्त स्थायी भाव। उसके साथ सहृदय (भावक) के चित्त का संभेद होता है। संभेद का अर्थ है—एक दूसरे का परस्पर घुल-मिल जाना (एकात्मकता, तन्मयता, एकतानता); अर्थात् (काव्य में वर्णित विभाव आदि से संयुक्त स्थायी भाव के विषय में) सहृदय का 'यह मेरा है या पराया इस प्रकार का भेद ही नष्ट हो जाता है। ऐसा होने पर जो उत्कृष्ट आत्मानन्द की प्राप्ति होती है वही स्वाद कहलाता है। यद्यपि वह स्वाद (सभी रसों में) समान रूप से होता है तथापि प्रत्येक रस में अपने-अपने विभाव आदि कारणों से उत्पन्न चित्त-संभेद (तन्मयता) हुआ करता है इसलिये चित्त की चार प्रकार की अवस्थायें हो जाती हे। जैसे कि शृङ्गार रस में चित्त का विकास होता है, वीर रस में विस्तार, बीभत्स में क्षोभ और रौद्र में विक्षेप। इनसे भिन्न जो हास्य, अद्भुत,

'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥'

इति हेतुहेतुमद्भाव एव सम्भेदापेक्षया दर्शितो न कार्यकारणभावाभिप्रायेण तेषां कारणान्तरजन्यत्वात् ।

'शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति कीर्तितः ।'

इत्यादिना विकासादिसम्भेदैकत्वस्यैव स्फुटीकरणात् । अवधारणमप्यत एव 'अष्टौ' इति सम्भेदान्तराणामभावात् ।

भयानक और करुण रस हैं, जिनकी पुष्टि अपनी-अपनी कारण-सामग्री (विभाव आदि) से होती है उनमें भी विकास आदि चित्त की चार अवस्थाएँ हुआ करती हैं । इसलिये (भरतमुनि ने ना० शा० ६.३९) कहा है—'शृङ्गार से हास्य होता है और रौद्र से करुण रस : वीररस से अद्भुत रस की उत्पत्ति होती है और बीभत्स से भयानक की।'

यहाँ चित्त-संभेद की अपेक्षा से ही शृङ्गार आदि को हेतु तथा हास्य आदि को हेतुमान् (कार्य) कहा गया है, कार्यकारणभाव के अभिप्राय से नहीं ऐसा। [नहीं कि शृङ्गार आदि कारण हैं और हास्य आदि उनके कार्य]; क्योंकि वे हास्य आदि तो अन्य कारणों (अपने विभाव आदि) से उत्पन्न हुआ करते हैं (शृङ्गार आदि से नहीं)। दूसरे स्थल (ना० शा० ६·४०) पर भी 'जो शृङ्गार की अनुकृति है वह हास्य कहा जाता है' इत्यादि कथन के द्वारा (शृङ्गार तथा हास्य आदि में) विकास आदि चित्त-संभेद की एकता को ही स्पष्ट रूप में बतलाया गया है। और (चित्त के संभेद की चार अवस्थाएँ हैं' तथा एक-एक अवस्था का दो-दो रसों से सम्बन्ध है) इसलिये 'आठ ही रस हैं' इस प्रकार का अवधारण किया गया है, इन चार से भिन्न तो चित्त की तन्मयता (संभेद) की अवस्थाएँ नहीं होती ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (६.३९–४१) ।

(२) स्वाद—रस । **काव्यार्थ**=विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव से संसृष्ट स्थायी भाव; काव्य के विभाव आदि पदार्थ के समान हैं और उनसे संयुक्त स्थायी भाव वाक्यार्थ के समान; अतः संयुक्त स्थायी भाव ही काव्यार्थ है (द्र० ऊपर ४.३७) । **संभेद**=अन्योन्यसंवलन=प्रत्यस्तमितस्वपरविभागः—एक दूसरे से घुल-मिल जाना, 'यह मैं हूँ यह दूसरा है इस प्रकार के भेद का समाप्त हो जाना, तन्मयता । **आत्मानन्दसमुद्भवः**=आत्मानन्द की उत्पत्ति या अनुभूति, आत्मा=स्व (Self); अपने चित्त में विद्यमान रति आदि भाव के आनन्द की प्राप्ति । इस प्रकार संक्षेप में रस-प्रक्रिया यह है—काव्य के प्रतिपाद्य विभाव आदि से संयुक्त रति आदि स्थायी भाव के साथ रसिक जनों के चित्त में विद्यमान रति आदि भाव की तन्मयता (संभेद) हो जाती है और रसिक जन अपने ही रति आदि भाव का आस्वादन करने लगते हैं (विशेष द्र० आगे ४.४६) । (कारिका) में **अतस्तज्जन्यता**—क्योंकि जिस प्रकार शृङ्गार

ननु च युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसम्भेवाद् आनन्दोद्भव इति करुणादौ तु दुःखात्मके कथमिवासौ प्रादुःष्यात् ? तथाहि—तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति, न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते । सत्यमेतत्, किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम्, अन्यश्च लौकिकात्करुणात्काव्यकरुणः; तथा ह्यत्रोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः । यदि च लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चिदत्र प्रवर्तेत, ततः करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत् । अश्रुपातादयश्चेतिवृत्तवर्णनाकर्णनेन, विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत्, प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते तस्माद्रसान्तरवत्करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव ।

में चित्त का विकास होता है उसी प्रकार हास्य में भी इसलिये हास्य शृङ्गार से उत्पन्न ('शृङ्गाराद् हि भवेद् हास्यः' इत्यादि) कह दिया जाता है । अत एव = क्योंकि चित्त की विकास इत्यादि चार भूमियाँ होती हैं तथा प्रत्येक के साथ दो-दो रसों का सम्बन्ध है, इसलिये आठ ही रस हैं, यह अवधारण किया गया है । तस्य० = आस्वाद के । यद्यपि वह आस्वाद सभी रसों में समान रूप से हुआ करता है तथापि प्रत्येक रस के विभाव आदि पृथक्-पृथक् होते हैं अतः रसिक के चित्त की तन्मयता (संभेद) भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हो जाती है । इसलिये भिन्न-भिन्न रस माने जाते हैं । हेतुहेतुमद्० —'हेतुहेतुमद्भावः सम्भेदापेक्षया एव दर्शितः' यह अन्वय है ।

सभी रसों की आनन्दरूपता

(शङ्का) शृङ्गार, वीर तथा हास्य आदि के स्थलों पर वाक्यार्थ के साथ सहृदय के चित्त की तन्मयता (संभेद) होने से आनन्द की उत्पत्ति हो सकती है, यह तो ठीक है क्योंकि वे (शृङ्गार आदि) सुखात्मक हैं; किन्तु करुण आदि में आनन्द की उत्पत्ति कैसे हो सकती है, वे तो दुःखात्मक हैं' ? क्योंकि करुण रस का काव्य सुनने से सहृदयों (के चित्त) में दुःख उत्पन्न होता है तथा अश्रुपात आदि होते हैं । यदि करुण रस सुखात्मक होता तो ऐसा न हुआ करता ।

(समाधान) यह ठीक है (कि करुण रस का काव्य सुनने से सहृदयों को दुःख होता है और अश्रुपात आदि हो जाते हैं); किन्तु काव्य से उत्पन्न होने वाला यह आनन्द (रस) उसी प्रकार सुखदुःखात्मक होता है, जिस प्रकार सुरतावस्था में प्रहार आदि होने पर स्त्रियों के कुट्टमित (आनन्दपूर्वक कोप) में होने वाला आनन्द सुख-दुःखात्मक होता है । लौकिक करुण से काव्य का करुण रस भिन्न भी होता है । इसलिये काव्य के करुण रस में सहृदयों की पुनः प्रवृत्ति हुआ करती है । यदि लौकिक करुण के समान काव्य में (इह) भी करुण रस दुःखात्मक ही होता तो कोई भी (सहृदय जन) इसमें प्रवृत्त न होता । इस प्रकार जिनमें करुण रस की प्रधानता

है ऐसे रामायण आदि महाकाव्य का उच्छेद ही हो जाता। (जहाँ तक अश्रुपात आदि की बात है) जिस प्रकार दुःखित व्यक्तियों को देखकर (विनिपातितेषु = दलित) लोक में हृदय का द्रवित होना (वैक्लव्य) देखा जाता है, उसी प्रकार कथा के वर्णन को सुनने से दर्शकों (या श्रोताओं) को अश्रुपात आदि हो जाते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार अन्य रसों के समान करुण भी आनन्दात्मक ही है।

टिप्पणी—(१) द्र०, अभि० भा० (पृ० २७६ तथा सर्वेऽमी सुखप्रधानाः, पृ० २८२) ना० द० (३.१६३) सा० द० (३.५–६), शृङ्गारप्रकाश तथा रस कलिका इत्यादि। (२) रस सभी सुखात्मक हैं या नहीं इस विषय में मुख्य रूप से चार मत हैं :—

(i) सभी रस सुखात्मक हैं—साहित्यदर्पण आदि।

(ii) सभी रस सुखदुःखात्मक हैं—अभि० भा० पृ० २७६ अज्ञात आचार्य का मत, 'रसाः हि सुखदुःखरूपाः, शृ० प्र० भाग २ पृ० ३६६ तथा रस-कालिका)।

(iii) शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत तथा शान्त रस सुखात्मक हैं किन्तु रौद्र बीभत्स, भयानक और करुण रस दुःखात्मक हैं नाटयदर्पण (३.१६३)।

(iv) शृङ्गार आदि रस सुखात्मक हैं किन्तु करुण आदि सुख-दुःखात्मक हैं।

आचार्य विश्वेश्वर का विचार है कि वस्तुतः नाटयदर्पणकार इस चतुर्थ मत को ही मानते होंगे (ना० द० भूमिका, पृ० ९५)। धनिक ने सभी रसों को आनन्दात्मक माना है अतः करुण आदि को भी आनन्दात्मक बतलाया है। किन्तु करुण में होने वाले आनन्द को सुखदुःखात्मक कहा है—'तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मकः। इस प्रकार धनिक उपर्युक्त मतों में से चतुर्थ मत को मानने वाले प्रतीत होते हैं। करुण आदि सुखदुःखात्मक होते हुए भी आनन्दात्मक होते हैं। इस कथन से लौकिक सुख तथा काव्यानन्द का अन्तर प्रकट होता है। वस्तुतः रसात्मक स्वाद लौकिक सुख-दुःख की अपेक्षा विलक्षण ही होता है। (३) साहित्यदर्पणकार ने भी प्रायः इसी प्रकार की युक्तियों के आधार पर करुण आदि को सुखात्मक कहा है। साथ ही यह भी बतलाया है—'सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्, सहृदयों का अनुभव ही इसमें प्रमाण है कि करुण आदि रस सुखात्मक होते हैं। (४) कुट्टमिते = कुट्टमित युवतियों का सात्त्विक अलङ्कार है (द्र० ऊपर २.४०)। विनिपातितेषु = दुखं प्राप्तेषु (प्रभा) गिराये हुओं, सताये हुओं के विषय में। वैक्लव्यम् = शोकावेगः (प्रभा)।

शान्तरसस्य चाऽनभिनेयत्वात् यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यते। अतस्तदुच्यते—

(५३) शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ।।४५।।

शान्तो हि यदि तावत्—

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ।।''

इत्येवंलक्षणस्तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्, तस्य च स्वरूपेणानिर्वचनीयतां श्रुतिरपि—'स एष नेति नेति' इत्यन्यापोहरूपेणाह। न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति, अथापि तदुपायभूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च विकासविस्तारक्षोभविक्षेपरूपतैवेति तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपितः।

शान्त का भी विकास इत्यादि चार अवस्थानों में अन्तर्भाव :—

शान्त रस का अभिनय नहीं किया जा सकता इसलिये यद्यपि नाट्य में शान्त रस का प्रवेश नहीं होता (पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ४.३५) तथापि सूक्ष्म तथा अतीत और सभी वस्तुओं का शब्द द्वारा प्रतिपादन किया जा सकता है अतः शान्त रस भी काव्य का विषय होता है इस (तथ्य) का निषेध नहीं किया जा सकता। इसलिये यह कहा गया है —

यदि शम नामक स्थायी भाव का प्रकर्ष शान्त रस होता है तो वह अनिर्वचनीय है (उसका स्वरूप नहीं बतलाया जा सकता)। किन्तु (उसको प्रकट करने के उपाय) जो मुदिता (मैत्री, करुणा तथा उपेक्षा) आदि हैं वे उन (विकास, विस्तार, क्षोभ तथा विक्षेप नामक चित्त की अवस्थाओं) के स्वरूप में ही होते हैं। [अतः शान्त रस का भी उपर्युक्त चित्त की चार अवस्थाओं में ही समावेश हो जाता है]।

भाव यह है कि शान्त रस का यह लक्षण माना जाये—'जहाँ न दुःख है न सुख है, न चिन्ता है न राग-द्वेष हैं और न ही कोई इच्छा है, समस्त भावों में शम की ही प्रधानता है; उसे श्रेष्ठ मुनिजनों ने शान्त रस कहा है।' तब तो उस (शान्त रस) का प्रादुर्भाव उस मोक्ष-अवस्था में ही हो सकता है, जहाँ आत्म-स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। और वह (आत्मा) स्वरूपतः अनिर्वचनीय है, यह बात श्रुति ने भी अन्यव्यावृत्ति के रूप में कही है कि वह (आत्मस्वरूप) यह नहीं है, यह नहीं है'। और, उस प्रकार के (अनिर्वचनीय) शान्त रस का सहृदय जन आस्वादन नहीं कर सकते। किन्तु यदि (अथापि) उस (शम) के उपाय होने वाले मुदिता, मैत्री, करुणा तथा उपेक्षा ही उस (शान्त) का स्वरूप है तब तो वह (शान्त रस) भी विकास, विस्तार, क्षोभ तथा विक्षेप के रूप में ही होगा। इसलिये उस (विकास आदि) के कथन द्वारा ही शान्त रस के आस्वादन का निरूपण कर दिया गया।

टिप्पणी—(१) शान्त रस के विषय में द्र०, ना० शा० तथा अभि० भा० (६·८२ से आगे), का० प्र० (४·३५), ना० द० (३.१७६), प्रता० (पृ० १६८), सा० द० (३·२४५–२५०)। (२) अभी (कारिका ४३) यह बतलाया गया है कि काव्यार्थं से उत्पन्न होने वाला स्वाद (रस) चित्त के विकास आदि भेद से चार प्रकार का होता हैं। चित्त की इन चार अवस्थाओं में ही आठों रसों का समावेश हो जाता है। किन्तु प्रश्न यह है कि इन चार अवस्थाओं में शान्त रस का समावेश कैसे होगा। यद्यपि नाट्य में शान्त रस सम्भव नहीं है तथापि श्रव्य काव्य में तो वह होता ही है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए दो विकल्प दिये गये हैं:—वह शान्त रस शम भाव का प्रकर्ष (पुष्टि) है अथवा शम के उपायभूत मुदिता आदि भावों का प्रकर्ष है ? यदि शम का प्रकर्ष शान्त रस है तो कहना यह है कि शम तो समस्त दुःख सुख आदि भावों के अभाव का नाम है। ऐसी अवस्था तो तभी प्राप्त हो सकती है जब मनुष्य आत्मरूप या ब्रह्मरूप में स्थित हो जाये—मुक्त हो जाये। उस स्थिति का वर्णन नहीं किया जा सकता। उसे तो श्रुति ने भी अनिर्वचनीय कहा है। फिर न तो लोक में ऐसे शम भाव का अनुभव करने वाले हो सकते हैं, न यह काव्य का विषय हो सकता है और न ही इसका आस्वादन करने वाले रसिक जन ही हो सकते हैं। इसलिये यदि दूसरा विकल्प माना जाये; अर्थात् शम भाव के जो उपाय हैं मुदिता, मैत्री, करुणा तथा उपेक्षा मि० योगसूत्र १.३३), उनकी पुष्टि ही शान्त रस है तब तो कोई दोष नहीं आता; क्योंकि मुदिता आदि चारों भावों का क्रमशः विकास आदि चित्त की चार अवस्थाओं में समावेश हो जाता है। (यहाँ ग्रन्थ का अनुसरण करके ऐसी व्याख्या ही उचित प्रतीत होती है, विद्वज्जन तथ्यातथ्य का स्वयं निर्णय करेंगे) (३) **तदात्मता**—तस्य शान्तरसस्यात्मलाभो जायते (प्रभा); वस्तुतः मुदितादेः विकासविस्तारक्षोभविक्षेपरूपता एव, यह अर्थ प्रतीत होता है (द्र० अवलोक टीका तथा अनुवाद)। **तस्य १**=इत्येवं-लक्षणस्य, शमप्रकर्ष रूप शान्त का। **तस्य २**=आत्मस्वरूपापत्तिलक्षणस्य, आत्मस्वरूप प्राप्ति रूप का। **तस्य ३**=मुदितादिलक्षणस्य, मुदिता आदि रूप वाले का। **अन्यापोहरूपेण**=अन्यव्यावृत्ति के रूप में, अर्थात् आत्मस्वरूप को इस प्रकार नहीं बतलाया जा सकता है कि 'यह ऐसा है'; इसलिये श्रुति ने बतलाया है कि जिसे तुम आत्मा समझते हो वह आत्मा नहीं है, इससे भिन्न है, विलक्षण है। **तदुक्त्यैव**= विकास आदि के कथन द्वारा ही।

इदानीं विभावादिविषयावान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकः प्रकरणेनोपसंहारः प्रतिपाद्यते-

(४५) पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः ।
काव्याद्विभावसञ्चार्यनुभावप्रख्यतां गतैः ॥४६॥
भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ।

अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशेषैश्चन्द्राद्यैरुद्दीपनविभावैः प्रमदाप्रभृतिभिरालम्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभावैः रोमाञ्चाश्रुभ्रूक्षेपकटाक्षाद्यैरनुभावैरवान्तरव्यापारतया पदार्थीभूतैर्वाक्यार्थः स्थायिभावो विभावितः=भावरूपतामानीतः स्वदते स रस इति प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम् ।

रस-प्रक्रिया तथा रसस्वरूप का उपसंहार

अब विभाव आदि के विषय में जो काव्य का अवान्तर व्यापार होता है उसको दिखलाते हुए प्रकरण का उपसंहार किया जाता है—

काव्य में विभाव, सञ्चारी भाव तथा अनुभाव की संज्ञा को प्राप्त करने वाले क्रमशः चन्द्रमा, निर्वेद तथा रोमाञ्च आदि पदार्थों के द्वारा भावित रति आदि स्थायी भाव का जो आस्वादन किया जाता है, वही रस कहलाता है ।

काव्य का व्यापार है अतिशयोक्ति=चमत्कारोत्पादक कथन । उसके द्वारा विशेषता (अलौकिकता या चमत्कार) प्राप्त करके चन्द्रमा आदि ही उद्दीपन विभाव कहलाते हैं, प्रमदा आदि ही आलम्बन विभाव, निर्वेद आदि ही व्यभिचारी भाव तथा रोमाञ्च, अश्रु-विक्षेप और कटाक्ष इत्यादि ही अनुभाव कहलाते हैं । वे विभाव आदि) काव्य के अवान्तर व्यापार के वाच्य होते हैं । अतएव वे पदार्थ के समान हुआ करते हैं (पदार्थीभूतैः) । उनसे भावित=भावना का विषय बनाया गया रति आदि स्थायी भाव ही (काव्य में) वाक्यार्थ हुआ करता है जो आस्वाद्य होकर रस कहलाता है । इस प्रकार ऊपर के प्रकरण में (इस कारिका का) तात्पर्य है ।

टिप्पणी—(१) रस-प्रक्रिया तथा रसस्वरूप के लिये विशेष द्र० ना० शा० तथा अभि० भा० (६.३१–४५), का० प्र० (४.२७–३५), भा० प्र० (षष्ठोऽधिकारः, पृ० १५२–१५४), ना० द० (३.१६३–१६५), प्रता० (रसप्रकरण, पृ० १५५–१५८), सा० द० (३.१–२८), रसगङ्गाधर (रसप्रकरण) इत्यादि । (२) अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापारः=चमत्कारोत्पादक वर्णन करना ही काव्य का कार्य है, मि० 'लोकोत्तर वर्णनानिपुणकविकर्म (का० प्र० १.२) । आहितविशेषैः=आहिताः विशेषाः अतिशयाः येषु तैः, जिनमें विशेषता उत्पन्न कर दी गई है उनके द्वारा, विशिष्ट रूप में हो जाने वालों के द्वारा । अवान्तरव्यापारः=जिस प्रकार व्यवहार में भाट्ट मीमांसक की दृष्टि से वाक्यार्थ बोध में दो प्रकार का व्यापार होता है एक अवान्तर व्यापार दूसरा प्रधान व्यापार । प्रथमतः शब्द अभिधा वृत्ति से अपने अपने अर्थ (पदार्थ) का बोध कराते हैं,

यही अवान्तरव्यापार हैं। फिर आकांक्षा आदि से अन्वित होकर शब्दसमुदाय या वाक्य से तात्पर्य वृत्ति द्वारा अन्वित अर्थ (=वाक्यार्थ) का बोध होता है, यही प्रधान व्यापार है। इसी प्रकार काव्य में भी अवान्तर व्यापार द्वारा विभाव आदि का बोध होता है जो पदार्थ के समान है तथा प्रधान व्यापार द्वारा विभाव आदि से संसृष्ट स्थायी भाव का बोध होता है जो वाक्यार्थ के समान है। भावित=विभावितः=भावरूपताम् आनीतः, भावना का विषय बनाया गया, आस्वादन के योग्य हुआ।

(३) प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम्—भाव यह है कि रस-प्रक्रिया का यहाँ उपसंहार किया जा रहा है। चतुर्थ प्रकाश के आरम्भ से कारिका ४७ तक रस-प्रक्रिया तथा रस-स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। संक्षेप में इनमें से कुछ कारिकाओं में ही रस-प्रक्रिया तथा रस-स्वरूप स्पष्ट हो जाते हैं; जैसे—विभावैः ४.१, वाच्या प्रकरणादिभ्यो० ४.३७, रसः स एव स्वाद्यत्वात् ४.३८, धीरोदात्ताद्यवस्थानाम् ४.४०, ता एव ४.४१, स्वादः काव्यार्थसम्भेदाद् आत्मानन्दसमुद्भवः ४.३५, पदार्थैः ४.४६, अभेदाद् रसभावयोः ४.४७।

इसके आधार पर यह कहा जा सकता है:—सहृदयों के चित्त में रति आदि स्थायी भाव विद्यमान रहा करता । जब सहृदय जन अभिनय देखते हैं या काव्य सुनते हैं तो वहाँ किसी नायक नायिका के अनुराग आदि का चित्रण उनके समक्ष आता है। उदाहरणार्थ शकुन्तला नाटक का अभिनय देखते समय शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के अनुराग का वर्णन सहृदय जन के समक्ष होता है। यह वर्णन काव्य के लोकोत्तर व्यापार (अतिशयोक्ति) द्वारा किया गया होता है, इसलिये लोक की शकुन्तला आदि काव्य तथा नाट्य में एक विशेष रूप में हुआ करती हैं, अर्थात् काव्य में शकुन्तला आदि आलम्बन विभाव के रूप में होती है, लौकिक प्रेम को उद्दीप्त करने वाले निमित्त चन्द्रिका इत्यादि उद्दीपन विभाव के रूप में होते हैं। इसी प्रकार चिन्ता आदि भाव व्यभिचारी भाव के रूप में दुष्यन्त की भुजा फड़कना, रोमाञ्च इत्यादि चेष्टाएँ अनुभाव के रूप में होती हैं। इन विभाव आदि का काव्य के अवान्तर व्यापार द्वारा सहृदयों को बोध हुआ करता है। ये काव्यशब्दों के वाच्य हैं। अतः इनकी काव्यार्थ में वही अवस्था होती है जो वाक्यार्थ के बोध में पदार्थ की। साथ ही यह शकुन्तला आदि काव्य में साधारण रूप में चित्रित किये जाया करते हैं। उनका अपना व्यक्तिगत रूप न होकर केवल नायिका (स्त्री) रूप ही होता है। इसलिये ये सभी सहृदयों के आलम्बन विभाव आदि हो जाते हैं और यह दोष नहीं आता कि वे पूज्य देवियाँ सहृदयों का आलम्बन विभाव कैसे होगी। अथवा कहिये कि सहृदयों के आलम्बन विभाव होने में शकुन्तला आदि के लौकिक रूप का कोई उपयोग नहीं होता। होता यह है कि इनका शब्दों द्वारा उपस्थित बुद्धिगत रूप ही सहृदय का आलम्बन विभाव आदि हो जाया करता है। काव्य शब्दों के वाच्यार्थ इन विभाव आदि के द्वारा लक्षणा से रति आदि स्थायी भाव की प्रतीति हो जाती है, (लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीतिः ४·३७

टीका)। तब तात्पर्य वृत्ति द्वारा विभाव आदि से संसृष्ट रति आदि स्थायी भाव का बोध होता है, यही काव्यार्थ कहलाता है जो काव्य-वाक्य का अर्थ है (तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयाः तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः ४.३७ टीका)।

भाट्टमीमांसक के मत से व्यवहार में भी वाक्य का अर्थ तात्पर्य वृत्ति द्वारा ही जाना जाता है। इसी प्रकार विभाव आदि से संसृष्ट रति आदि स्थायी भाव (जो काव्य-वाक्य का अर्थ होता है) भी तात्पर्य वृत्ति से ही प्रतीत हो जाता है। इस काव्यार्थ के साथ सहृदय के चित्त की तन्मयता (सम्भेद) हो जाती है। और, उसके चित्त में विकास, विस्तार, क्षोभ या विक्षेप के रूप में एक विलक्षण आनन्द का उद्भव हुआ करता है। यही स्वाद या रस कहलाता है। काव्य इसका भावक होता है और यह काव्य का भाव्य। इस प्रकार रस, भाव आदि तथा काव्य में भाव्य-भावक सम्बन्ध है, व्यङ्ग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध नहीं, जैसा ध्वनिवादियों ने माना है।

यह आनन्द या स्वाद बाहर से नहीं आता अपितु रसिक जन दुष्यन्त आदि के चित्रण द्वारा अपने चित्त में स्थित रति आदि भाव का आस्वादन किया करते हैं, जिस प्रकार बालक मिट्टी के हाथी इत्यादि के द्वारा अपने उत्साह का आनन्द लिया करते हैं इस प्रकार रसिकवर्ती रति आदि स्थायी भाव ही आस्वाद्य होकर रस कहलाता है, क्योंकि आस्वादन किया जाता है (रस्यते इति रसः)—'रसः स एव स्वाद्यत्वात्'। या कहिये कि स्थायी भाव तथा रस में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, स्थायी भाव का प्रकर्ष ही रस है (अभेदाद् रसभावयोः)।

ग्रन्थ के अनुशीलन से दशरूपक का रस-सिद्धान्त यही प्रतीत होता है। इस रस सिद्धान्त के मुख्य तत्त्व हैं:—(i) रति आदि स्थायी भाव सहृदय के चित्त में पहिले से विद्यमान होते हैं। इस मन्तव्य को अभिनवगुप्त आदि ने भी स्वीकार किया है। (ii) विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा व्याभिचारी भाव के द्वारा वह स्थायी भाव भावित हो जाता है, आस्वादन योग्य हो जाता है (४.)। यहाँ सात्त्विक भावों का पृथक्शः ग्रहण किया गया है, जो भरत के रस-सूत्र आदि में नहीं है। स्थायी भाव की पुष्टि की बात भट्टलोल्लट ने भी कही थी। किन्तु वह अनुकार्यगत रति आदि-भाव (लौकिक रस) की लौकिक विभाव (प्रमदा आदि) इत्यादि से पुष्टि है अतः इससे नितान्त भिन्न है। वस्तुतः दशरूपक का यह मन्तव्य अभिनवगुप्त द्वारा स्थापित मत से बहुत साम्य रखता है, किन्तु रस की प्रक्रिया में अन्तर है। (iii) लौकिक प्रमदा आदि काव्य के अतिशयोक्ति रूप व्यापार से विभाव आदि कहलाने लगते हैं (मि. का. प्र.) काव्य में उनके साधारण स्वरूप का चित्रण होता है, विशेष व्यक्तिगत स्वरूप का नहीं। सहृदय के रति आदि भाव का पोषण करने में उनका शब्द से उपस्थित बुद्धिगत रूप ही अपेक्षित होता है, बाह्य रूप नहीं। यह मन्तव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है भट्टनायक के 'विभावादि-साधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण (का० प्र०) तथा अभिनवगुप्त के 'त्रासकस्यापारमार्थिकत्वात् (अभि. भा. पृ. २७९) से इसकी तुलना की जा सकती है।

विशेषलक्षणान्युच्यन्ते, तत्राचार्येण स्थायिनां रत्यादीनां शृङ्गारादीनां च पृथग्लक्षणानि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि । अत्र तु—

(५५) लक्षणैक्यं विभावैक्यादभेदाद्रसभावयोः ॥४७॥

क्रियते इति वाक्यशेषः ।

(iv) विभाव आदि से संसृष्ट स्थायी भाव ही काव्यार्थ है । उसके साथ सहृदय के चित्त की तन्मयता हो जाती है और आत्मानन्द का उद्भव होता है, यही रस है । इस मन्तव्य की अभिनवगुप्त के रति आदि भाव के साधारणीकरण (विशेष रूपत्वाभावाद्, भीत इति, अभि० भा० पृ० २७९, तथा साधारण्येन गोचरीकृतः का० प्र०) से तुलना की जा सकती है । साहित्यदर्पण (३·९–१०) में जो अनुकार्य के साथ सामाजिक का तादात्म्य बतलाया है, वह भी इससे समानता रखता है । (v) काव्य से तात्पर्य वृत्ति द्वारा रस की प्रतीति होती है । विभाव आदि का बोध पदार्थ के समान है तथा विभाव आदि से संसृष्ट स्थायी भाव का बोध वाक्यार्थ के समान है । काव्य रस का भावक (=भावना कराने वाला) है, किन्तु तात्पर्य वृत्ति द्वारा ही । यहाँ भट्टनायक का विशेष प्रकार का भावना-व्यापार नहीं माना गया, न ही ध्वनिवादियों के समान काव्य में व्यञ्जना व्यापार माना गया है ।

इस प्रकार दशरूपक का रसविषयक मन्तव्य भट्टलोल्लट, श्रीशङ्कुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्ताचार्य के रस सम्बन्धी चार-प्रसिद्ध मतों से भिन्न है । इसका अपना विशिष्ट रूप है । रस-सम्बन्धी मतों के लिये द्र० अभि० भा० रससूत्र व्याख्या तथा का० प्र० चतुर्थ उल्लास आदि ।

इस प्रकार सामान्य रूप से रस तथा स्थायी भाव आदि का विवेचन करके अब शृङ्गार आदि आठ रसों के विशेष लक्षण इत्यादि बतलाते हैं ।

रसों के लक्षण, भेद तथा उदाहरण

अब (रसों के) विशेष लक्षण बतलाये जाते हैं । आचार्य (भरत) ने तो विभाव आदि का प्रतिपादन करते हुए रति आदि स्थायी भावों के तथा शृङ्गार आदि रसों के पृथक् लक्षण बतलाये हैं, किन्तु यहाँ—

(शृङ्गार आदि) रस तथा (रति आदि) स्थायी भाव का एक ही लक्षण बतलाया जा रहा है; क्योंकि रस और स्थायी भाव के विभाव एक ही होते हैं अतः दोनों में अभेद होता है (स्थायी भाव का प्रकर्ष ही रस कहलाता है) ॥४७॥

(कारिका में) 'लक्षणैक्यम्' के साथ 'क्रियते' (किया जाता है) यह वाक्य का शेष अंश समझना चाहिये ।

टिप्पणी—आचार्य भरत ने षष्ठ अध्याय (श्लोक ४५ से आगे गद्य) में 'तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः' इत्यादि प्रकार से विभाव आदि का निर्देश करते हुए शृङ्गार आदि रसों के लक्षण किये हैं । दूसरी ओर सप्तम अध्याय (श्लोक ८ से

तत्र तावच्छृङ्गारः—

(५६) रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः ॥
प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः ।
प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥४८॥

इत्थमुपनिबध्यमानं काव्यं शृङ्गारास्वादाय प्रभवतीति कव्युपदेशपरमेतत् ।

आगे गद्य) में 'रतिर्नाम प्रमोदात्मिका' इत्यादि के द्वारा फिर विभाव आदि का निर्देश करते हुए रति आदि स्थायी भावों के लक्षण किये हैं। किन्तु शृङ्गार रस तथा रति भाव के विभाव एक ही हैं। धनञ्जय की दृष्टि से विभाव आदि के द्वारा आस्वादन योग्य किया गया रति स्थायी भाव ही शृङ्गार रस है या कहिये कि आस्वाद्यमान रति ही शृङ्गार है। अतः स्थायी भाव और रस में कोई तात्त्विक भेद नहीं। इसलिये दोनों का पृथक्-पृथक् लक्षण करने की आवश्यकता नहीं।

शृङ्गार रस का लक्षण, भेद तथा उदाहरण

उन (रसों) में शृङ्गार का लक्षण है—

रमणीय देश, कला, काल, वेष तथा भोग आदि के सेवन के द्वारा परस्पर अनुरक्त युवक युवति को जो प्रमोद होता है वह रति भाव कहलाता है, वही मधुर अङ्ग चेष्टाओं से पुष्ट होकर (प्रहृष्यमाणा) शृङ्गार रस कहलाता है ॥४८॥

भाव यह है कि इस प्रकार के वर्णन करने वाला काव्य शृङ्गार रस का आस्वादन कराने में समर्थ होता है। इसका अभिप्राय कवि को उपदेश (शिक्षा) देना है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० ६ श्लोक ४५ से आगे गद्य), का० प्र० (४·२९) भा० प्र० (चतुर्थ अधिकार), ना० द० (३·१६६), प्रता० (पृ० १६३), सा० द० (३·१७६, १८३–१८६), रसगङ्गाधर (१ पृ० १३६) (१) यहाँ काव्य वर्णनीय शृङ्गार का स्वरूप दिखाया गया है, वह लौकिक शृङ्गार है। उसके काव्यगत वर्णन द्वारा जो सहृदयों के चित्त में विशेष प्रकार का आनन्द होता है वस्तुतः वही शृङ्गार रस है। इसी प्रकार अन्य रसों में भी समझना चाहिये। (३) **प्रमोदात्मा**—प्रमोद ही है स्वरूप (आत्मा) जिसका, एक विशेष प्रकार की आनन्दात्मक चित्तवृत्ति रति कहलाती है, इस पद द्वारा रति का स्वरूप बतलाया गया है मि० 'रतिर्मोदात्मिका' (ना० शा० अ० ७ श्लोक ८ से आगे पृ० ३५०) तथा 'रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्' (सा० द० ३·१७६)। **रम्यदेश०**—रमणीय देश आदि शृङ्गार के उद्दीपन विभाव हैं। युवक तथा युवति नायक-नायिका आलम्बन विभाव हैं। **अन्योन्यरक्तयोः**—परस्पर अनुरक्त युवक, युवति का। अभिप्राय यह है कि जहाँ नायक नायिका एक दूसरे के प्रति अनुराग रखते हैं, वहाँ शृङ्गार रस हुआ करता है। यदि एक में अनुराग होता है दूसरे में नहीं तो शृङ्गाराभास हो जाता है द्र० साहित्यदर्पण (रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ३.२६३)। मधुर अङ्ग-चेष्टाएँ इसके अनुभाव हैं, मि०, 'ललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिर् अनुभावैः (ना० शा० अ० ६ श्लो० ४५ से आगे, पृ० ३०५) तथा 'मधुराङ्गविहारैः' (ना० शा० ७·४८)। शृङ्गार के व्यभिचारी भावों का आगे (४.४९) निरूपण किया जायेगा।

तत्र देशविभावो यथोररामचरिते—

'स्तमरसि सुतनु तस्मिन्पर्वते लक्ष्मणेन
प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि ।
स्मरसि सरसतीरां तत्र गोदावरीं वा
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ॥२९२॥

कलाविभावो यथा—

'हस्तैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासैर्लयमुपगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयः षड्विकल्पोऽनुवृत्तै—
र्भावे भावे नुदति विषयान् रागबन्धः स एव ॥२९३॥

यथा च—

'व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना
विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधाऽयं लयः ।
गोपुच्छप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता—
स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक् त्रयो दर्शिताः ॥९४॥

प्रत्येक देश विभाव आदि के उदाहरण इस प्रकार हैं:—

उनमें देश-विभाव जैसे उत्तररामचरित (१.२६) में—'(राम सीता से कहते हैं) हे सुन्दर शरीर वाली (सीता), क्या तुम उस पर्वत पर लक्ष्मण के द्वारा की गई सेवा से आनन्दपूर्वक रहते हुए अपने (दोनों के) उन दिनों का स्मरण करती हो ? या तुम्हें सरस तट वाली गोदावरी याद है ? और उसके निकट हम दोनों के विहार करने का स्मरण होता है ।

टिप्पणी—देश-विभाव वहाँ होता है जहाँ किसी रमणीय स्थल नदीतीर इत्यादि के निमित्त से रति, भाव के उद्बोध का वर्णन किया जाता है । यहाँ पर्वत तथा गोदावरी के रमणीय तटों के निमित्त से होने वाली राम की रति का वर्णन किया गया है ।

कला–विभाव, जैसे (?)

जिनके भीतर (मानों) वचन छिपे हैं ऐसे हाथों ने अर्थ को भली भाँति प्रकट कर दिया, पाद-विक्षेपों के द्वारा लय प्राप्त हो गई तथा रसों में तन्मयता भी, अनुवृत्तों (?) के द्वारा शाखा (विचित्र प्रकार का हस्तचालन) से उत्पन्न होने वाला ६ प्रकार का कोमल अभिनय हो गया । यह प्रत्येक भाव में विषयों को प्रेरित करता है, यही रागबन्ध (?) है' ।

और, जैसे (नागानन्द १.१५)—यहाँ इस (सङ्गीत) ने दश प्रकार की व्यञ्जन धातु के द्वारा व्यक्तता प्राप्त कर ली है, द्रुत, मध्य तथा विलम्बित रूप से विभक्त यह तीन प्रकार का लय भी स्पष्ट हो गया है, गोपुच्छ इत्यादि तीनों यतियाँ भी क्रमशः की गई हैं तथा तत्त्व, ओघ और अनुगीत तीनों वाद्य-विधियाँ भली-भाँति दिखला दी गई हैं' ।

कालविभावो यथा कुमारसम्भवे—

असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमाशिञ्जितनूपुरेण ।।२९५।।

इत्युपक्रमे—

'मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्त्तमानः ।
शृङ्गेण संस्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ।।२९६।।

टिप्पणी—(१) कला-विभाव वहाँ होता है जहा नृत्य संगीत आदि कला के निमित्त से रति भाव के उद्भव का दर्शन होता है । यहाँ 'हस्तैः' इत्यादि में नृत्य के निमित्त से उद्बुद्ध होने वाली रति का वर्णन है तथा 'व्यक्ति०:' इत्यादि में संगीत के निमित्त से उद्बुद्ध होने वाली रति का । (३) लय—क्रिया के अनन्तर विश्राम ही लय है, यह तीन प्रकार का होता है—द्रुत, मध्य और विलम्बित, जैसा कि संगीतरत्नाकर (अ० ५) में बतलाया है—

क्रियानन्तरविश्रान्तिर्लयः स त्रिविधो मतः ।
द्रुतो मध्यों विलम्बश्च द्रुतः शीघ्रतमो मतः ।
द्विगुणद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान् मध्यविलम्बितौ ।।

शाखा—विचित्र प्रकार से हस्तचालन, जैसा कि संगीतरत्नाकर (७) में कहा है—'तत्र शाखेति विख्याता विचित्रा करवर्तना' । **शाखायोनिः**—शाखा से उत्पन्न होने वाला (शाखा योनिर् यस्य तादृशः, अभिनयः) षड्विकल्पः = ६ प्रकार का; अभिनय ६ प्रकार का होता है—तीन प्रकार (शरीर, मुखज और चेष्टाकृत) का २.३ आङ्गिक तथा ४. वाचिक, ५. आहार्य और ६. सात्त्विक (ना० शा० अ० ८) (४) **व्यञ्जन-धातुना** ना० शा० (अ० २९) में वीणा में दस व्यञ्जन धातुओं का प्रयोग बतलाया गया है, उनके द्वारा संगीत की व्यक्तता हो जाती है वे दस व्यञ्जन धातु हैं, पुष्प, कल, तल, निष्कोटित, उद्घृष्ट, रेफ, अनुबन्ध, अनुस्वनित, बिन्दु तथा अपमृष्ट । **यतयः**—संगीत में लय की प्रवृत्ति का नियम यति कहलाता है, जैसा कि संगीतरत्नाकर (अ० ५) में कहा है—'लयप्रवृत्तिनियमो यतिरित्यभिधीयते । समा स्रोतोगता गोपुच्छा त्रिविधेति सा' । **वाद्यविधयः**—वादन के प्रकार, ये तीन होते हैं—तत्त्व, अनुगत और ओघ (संगीतरत्नाकर अ० ६)

काल-विभाव, जैसे कुमारसम्भव (३.२६) में—(वसन्त के आगमन से) अशोक वृक्ष ने तत्काल ही तने से लेकर ऊपर तक पल्लव-सहित कुसुमों को उत्पन्न कर दिया और उसने झङ्कृत नूपुरों वाले सुन्दरियों से चरण के स्पर्श (प्रहार) की भी अपेक्षा न की' ।

इससे आरम्भ करके (कुमारसम्भव ३.३६) 'भ्रमर अपनी प्रिया का अनुवर्तन करते हुए एक ही पुष्प-मात्र में मकरन्द पीने लगा । काला हरिण अपने सींग से हरिणी को खुजलाने लगा जो उसके स्पर्श से आँखें मूंद रही थी' ।

टिप्पणी—काल-विभाव वहाँ होता है जहाँ कालविशेष वसन्त आदि के निमित्त से रतिभाव के उद्बुद्ध होने का वर्णन होता है । यहाँ वसन्त के आगमन से वृक्षों तथा पशुओं आदि में रतिभाव के उद्भव का वर्णन किया गया है अतः वसन्त ऋतु (काल विभाव है ।

वेषविभावो यथा तत्रैव—

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥२६७॥

उपभोगविभावो यथा—

'चक्षुर्लुप्तमषीकणं कवलितस्ताम्बूलरागोऽधरे
विश्रान्ता कबरी कपोलफलके लुप्तेव गात्रद्युतिः ।
जाने सम्प्रति मानिनि प्रणयिना कैरप्युपायक्रमै—
र्भग्नो मानमहातरुस्तरुणि ते चेतःस्थलीवर्धितः ॥२६८॥

प्रमोदात्मा रतिर्यथा मालतीमाधवे—

'जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतीमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥२६९॥

वेषविभाव, जैसे (कुमारसम्भव ३.५३)—(महादेव के निकट जाती हुई) पार्वती वसन्त ऋतु के पुष्पों के आभूषण धारण कर रही थी, जिनमें स्थित अशोक (पत्रों) के द्वारा पद्मराग मणि तिरस्कृत हो रही थी, कर्णिकार के द्वारा सुवण की कान्ति आकृष्ट की जा रही थी, सिन्दुवार (के पुष्पों) को मोतियों की माला के समान किया गया था' ।

टिप्पणी—वेषविभाव वहाँ होता है जहाँ रमणीय वेष-विन्यास के निमित्त से रति के उद्भव का वर्णन किया जाता है । यहाँ पार्वती के वेष से शिव के चित्त में रतिभाव का उद्भव दिखलाया गया है ।

उपभोग विभाग, जैसे (?)—(नायिका में उपभोग के चिह्नों को देखकर कोई सखी उससे कहती है) 'हे सखी, तुम्हारे नेत्रों का काजल कण कुछ छूट गया है, अधर की पान की लालिमा भी चाट ली गई है, केशपाश (कबरी) कपोल तल पर बिखरा है, शरीर की कान्ति लुप्त सी हो गई है । हे मानिनी, ऐसा जान पड़ता है कि इस समय प्रियतम ने किन्हीं उपायों से तुम्हारे चित्त की भूमि में बढ़े हुए मान रूपी वृक्ष को तोड़ डाला है ।'

टिप्पणी—उपभोग विभाव वहाँ होता है जहाँ नायक-नायिका के उपभोग-चिह्नों के द्वारा रति भाव लक्षित होता है । यहाँ तरुणी के काजल की लुप्तता आदि उपभोग-चिह्नों के द्वारा नायक का रतिभाव लक्षित होता है ।

प्रमोदात्मक रति, जैसे मालतीमाधव (१.३९) में 'संसार में नवीन चन्द्रकला इत्यादि पदार्थ विजयी (उत्कृष्ट) हैं । स्वभाव से मधुर दूसरे भी पदार्थ हैं जो मन को प्रफुल्लित कर देते हैं । किन्तु संसार में नेत्र-कौमुदी यह (मालती) जो मेरे नेत्रों का विषय हुई है, मेरे लिये जीवन में एक यही महान् उत्सव है' ।

टिप्पणी—अभी ऊपर रति भाव का स्वरूप बतलाते हुए उसे प्रमोदात्मा कहा गया है । प्रमोद = विशेष प्रकार का आनन्द । 'जगति' इत्यादि में आनन्द-रूप रति भाव दिखलाया गया है । यहाँ मालती को देखकर माधव के प्रमोद का वर्णन है वही प्रमोद रति भाव का स्वरूप है ।

युवतिविभावो यथा मालविकाग्निमित्रे—

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः स्पष्टं तथाऽस्या वपुः ॥३००॥

यूनोर्विभावो यथा मालतीमाधवे—

'भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्-
गाढोत्कण्ठालुलितललितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥३०१॥

अन्योन्यानुरागो यथा तत्रैव—

'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त—
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥३०२॥

युवतिविभाव, जैसे मालविकाग्निमित्र (२.३) में—(राजा अग्निमित्र मन ही मन मालविका के विषय में सोच रहे हैं) 'इसका मुख विशाल नेत्रों वाला तथा शरत् के चन्द्रमा के समान कान्ति वाला है, भुजाएँ कन्धों पर झुकी हैं, वक्षःस्थल घने तथा उभरे स्तनों से कसा (संक्षिप्त) है, दोनों पार्श्व भाग मानों परिमार्जित किये हुए हैं, मध्य भाग मुट्ठी भर (पाणि-मितः=हाथ से मापा गया) है, जंघायें सुन्दर नितम्बों से युक्त हैं, चरण थोड़ी झुकी हुई (अराल) अङ्गुलियों से युक्त हैं । इस प्रकार नृत्य कराने वाले (नृत्याचार्य) की जैसी इच्छा होती है उसी प्रकार का इसका शरीर गढ़ा गया है ।'

टिप्पणी—युवतिविभाव वहाँ होता है जहाँ किसी युवति के यौवन का वर्णन रतिभाव का निमित्त हुआ करता है । यहाँ मालविका का यौवन अग्निमित्र के रति-भाव के उद्भव का निमित्त दिखलाया गया है ।

युवक तथा युवति दोनों का विभाव, जैसे मालतीमाधव' (१.१८) में—(कामन्दकी कहती है) 'महल की अटारी के ऊँचे वातायन में बैठी रति जैसी मालती बार-बार अपने समीप की नगरी की गली से घूमने वाले साक्षात् नवीन कामदेव के समान माधव को देख-देखकर गाढ उत्कण्ठा से युक्त हुई कम्पित सुन्दर अङ्गों से पीडित हो रहा है' ।

टिप्पणी—जहाँ युवक और युवति दोनों के यौवन को पारस्परिक रति भाव के निमित्त रूप में वर्णित किया जाता है वहाँ दोनों ही विभाव होते हैं 'भूयो भूयः' इत्यादि में मालती तथा माधव दोनों ही शृङ्गार के विभाव हैं ।

(नायक-नायिका का) परस्पर अनुराग, जैसे वहीं (मालतीमाधव १.३२) (माधव अपने मित्र मकरन्द से कह रहा है) 'जाते हुए बार-बार (मुझे देखने के लिये)

मधुराङ्गविचेष्टितं यथा तत्रैव—

'स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम् ।
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चितानां
विविधमहमभूवं पात्रमालोकितानाम् ॥२०३॥

(५७) ये सत्त्वजाः स्थायिन एव चाष्टौ
त्रिंशत्त्रयो ये व्यभिचारिणश्च ।
एकोनपञ्चाशदमी हि भावा
युक्त्या निबद्धाः परिपोषयन्ति । (स्थायिनम्)
आलस्यमौग्र्यं मरणं जुगुप्सा
तस्याश्रयाद्वैतविरुद्धमिष्टम् ॥४६॥

घूमी हुई ग्रीवा वाले अतएव झुके वृन्त से युक्त कमल के सदृश मुख को धारण करती हुई सुन्दर लोमों से युक्त (पक्ष्मल) नेत्रों वाली मालती ने अमृत तथा विष से बुझा हुआ कटाक्ष मानों मेरे हृदय में गहरा गाड़ दिया है' ।

टिप्पणी—श्रृङ्गार के लक्षण में जो 'अन्योन्यरक्तयोः' यह पद दिया गया है; उसका उदाहरण है 'यान्त्या' इत्यादि । यहाँ मालती और माधव दोनों के परस्पर अनुराग का वर्णन किया गया है ।

अङ्गों की मधुर चेष्टाएँ, जैसे वहीं (मालतीमाधव १.३०)—(माधव मकरन्द से कह रहा है) 'उस समय निश्चल तथा विकसित, ऊपर को चलती भ्रूलताओं से युक्त, अनुरागपूर्ण (मसृण=अनुराग-कषायित) तथा मुकुलित, अपाङ्ग (नेत्र-छोर) तक विस्तार वाली, तथा मेरी दृष्टि पड़ने पर कुछ सङ्कुचित हुई (मालती की) विविध दृष्टियों का मैं पात्र बन गया ।'

टिप्पणी—मधुर अङ्ग चेष्टाएँ अनुभाव हैं । ना० शा० में नायिका के नयन-चातुर्य, भ्रूक्षेप, कटाक्ष के साथ नेत्र-सञ्चार आदि को मधुर अङ्ग चेष्टा कहा गया है । स्तिमित आदि में मालती की मधुर अङ्ग-चेष्टाओं का वर्णन है ।

श्रृङ्गार के पोषक भाव—

जो आठ सात्त्विक भाव तथा आठ स्थायी भाव और तैंतीस व्यभिचारी भाव हैं वे सभी मिलकर ४६ होते हैं। उनकी युक्तिपूर्वक योजना श्रृङ्गार रस का परिपोष करती है । आलस्य, उग्रता, मरण और जुगुप्सा—इन भावों का श्रृङ्गार के साथ (तस्य) आलम्बनैक्य विरोध माना गया है ॥४६॥

त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणश्चाष्टौ स्थायिनः, अष्टौ सात्त्विकाश्चेत्येकोनपञ्चाशत्। युक्त्या=अङ्गत्वेनोपनिबध्यमानाः शृङ्गारं सम्पादयन्ति। आलस्यौग्र्यजुगुप्सामरणादीन्येकालम्बनविभावाश्रयत्वेन साक्षादङ्गत्वेन चोपनिबध्यमानानि विरुध्यन्ते। प्रकारान्तरेण चाऽविरोधः प्राक् प्रतिपादित एव।

---

३३ व्यभिचारी भाव, आठ स्थायीभाव तथा आठ सात्त्विक भाव ये उनचास (४९) भाव हैं। युक्ति के साथ अर्थात् अङ्ग रूप में आकर ये (भाव) शृङ्गार रस को भावित करते हैं। आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा और मरण इत्यादि भावों की यदि एक (अर्थात् रति भाव के) आलम्बन विभाव का ही आश्रय लेकर साक्षात् रूप से या अङ्ग रूप से योजना की जाती है तो विरोध हो जाता है। अन्य प्रकार से इनकी योजना करने में तो कोई विरोध नहीं होता, यह पहिले (४.३४) ही बतलाया जा चुका है।

टिप्पणी--(१) ना० शा० (६.४५ के पश्चात् गद्य तथा ७.१०९ और १०९ से पूर्व का पाठान्तर), का० प्र० (४.२९), भा० प्र० (चतुर्थ अधिकार), ना० द० (३.१६६), प्रता० (पृ० १६३), सा० द० (३.१८३-१८६)। (२) ना० शा० में 'आलस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्याः' यह कहा गया है। वहाँ 'मरण' को विप्रलम्भ के व्यभिचारी भावों में गिनाया गया है। किन्तु व्याख्याकारों का विचार है कि वस्तुतः मरण का शृङ्गार में वर्णन नहीं किया जाता। हाँ, मरणासन्नता का वर्णन किया जा सकता है। सम्भवतः इसी हेतु दश० में 'मरण' नामक व्यभिचारी भाव को शृङ्गार का विरोधी बतलाया गया है। सा० द० (३.१९३-१९४) में इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है—

रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते।
जातप्रायं तु तद् वाच्यं चेतसा काङ्क्षितं तथा।
वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरतः॥

(३) स्थायिन एव चाष्टौ—आठ स्थायी भावों में से रति तो शृङ्गार के स्थायी भाव के रूप में रहता है और शेष सात भाव इसके सञ्चारी हो जाते हैं। **एकोनपञ्चाशत्०**—यहाँ परिपोषयन्ति=सम्पादयन्ति (धनिक)=(उद्भावयन्ति ना० शा० १०९)। ये सभी भाव शृङ्गार रस को उद्भावित करते हैं। आगे कहे गये ४ भावों को छोड़कर शेष ४५ भाव शृङ्गार रस के उद्भावक हैं। ना० शा० (७.१०९ से पहले) में ४६ भाव बतलाये गये हैं क्योंकि वहाँ वर्जित भावों में मरण को नहीं गिना गया। **आश्रयाद्वैतविरुद्धम्**—एकालम्बनविभावाश्रयत्वेन विरुद्धयन्ते (धनिक, टीका); भाव यह है कि जो प्रमदा आदि रति भाव का आलम्बन होता है उसी को आलम्बन करके आलस्य, उग्रता या घृणा आदि का वर्णन नहीं करना चाहिये। इसका रति भाव से विरोध है। अतः रस-विच्छेद हो जाता है (आलस्यादि च स्वविभावप्रमदादिविषयमेव निषिद्धम्, अभि० भा० पृ० ३०६)। **प्रकारान्तरेण**=भावान्तरव्यवधानेन (प्रभा); वस्तुतः अन्यालम्बनाश्रयत्वेन—दूसरे आलम्बन विभाव का आश्रय लेकर आलस्य आदि का वर्णन किया जा सकता है।

विभागस्तु (शृङ्गारस्य)—

(५८) अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिधा ।

अयोगविप्रयोगविशेषत्वाद्विप्रलम्भस्यैतत्सामान्याभिधायित्वेन विप्रलम्भशब्द उपचरितवृत्तिर्मा भूदिति न प्रयुक्तः, तथा हि—दत्त्वा सङ्केतमप्राप्तेऽवध्यतिक्रमे साध्येन नायिकान्तरानुसरणाच्च विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोगो वञ्चनार्थत्वात् ।

शृङ्गार के भेद—

वह (शृङ्गार रस) तीन प्रकार का होता है—अयोग, विप्रयोग और सम्भोग ।

विप्रलम्भ शब्द औपचारिक न हो जाये' इस हेतु से यहाँ दोनों (अयोग + विप्रयोग) को सामान्य रूप से बतलाने के लिये (दोनों के वाचक रूप में) 'विप्रलम्भ' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया । वस्तुतः विशेष प्रकार का अयोग तथा विप्रयोग ही विप्रलम्भ होता है । जब (किसी स्थान पर जाने का) संकेत देकर नायक वहाँ नहीं पहुँचता (अप्राप्ते), समय की अवधि बीत जाती है और नायक के द्वारा (साध्येन) दूसरी नायिका का अनुसरण कर लिया जाता है, उस अर्थ में 'विप्रलम्भ' शब्द का मुख्यतः प्रयोग होता है; क्योंकि इसका अर्थ है—वञ्चना ।

टिप्पणी—(१) शृङ्गार-भेद के लिये द्र०, ना० शा० तथा अभि० भा० (अ० ६, पृ० ३०३), ध्वन्यालोक वृत्ति (२.१३), का० प्र० (४.२९), भा० प्र० (वियोगायोग-संभोगैः शृङ्गारो भिद्यते त्रिधा, पृ० ८५), ना० द० (३·१६६), सा० द० (३·१८६), रसगङ्गाधर (१. पृ० १३८) । (२) भा० प्र० तथा दश० के अतिरिक्त प्रायः सभी ने शृङ्गार के दो भेद माने हैं—सम्भोग तथा विप्रलम्भ । सम्भोग के लिये 'संयोग' शब्द का भी प्रयोग किया गया है तथा विप्रलम्भ के लिये 'वियोग' का भी । (३) धनिक की टीका का आशय यह प्रतीत होता है:—प्रश्न उठ सकता है कि आचार्य भरत ने शृङ्गार के दो भेद किये हैं सम्भोग तथा विप्रलम्भ । वहाँ 'विप्रलम्भ' शब्द के द्वारा अयोग तथा विप्रयोग दोनों को कहा गया है, फिर धनञ्जय ने ऐसा क्यों नहीं किया । इसके उत्तर में धनिक का कथन है कि वस्तुतः विप्रलम्भ शब्द का अर्थ है वञ्चना । जहाँ किसी नायिका को संकेत देकर भी कोई नायक समय पर नहीं आता और दूसरी नायिका के पास चला जाता है, उस वञ्चना को साहित्यशास्त्र में विप्रलम्भ कहते हैं । यही विप्रलम्भ का मुख्य अर्थ है । इस प्रकार विशेष प्रकार का अयोग तथा विप्रयोग ही विप्रलम्भ है । सभी प्रकार का (सामान्य) अयोग तथा विप्रयोग तो विप्रलम्भ है नहीं; फिर सभी प्रकार के अयोग तथा विप्रयोग को सामान्य रूप से बतलाने के लिये यदि विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग किया जायेगा तो वह मुख्य अर्थ में नहीं होगा अपितु औपचारिक होगा । किन्तु मुख्य अर्थ के सम्भव होने पर औपचारिक अर्थ में प्रयोग करना दोष माना जाता है ।

अन्य आचार्यों ने विप्रलम्भ शब्द को पारिभाषिक माना है अतः उन्होंने अयोग तथा वियोग दोनों के लिये इस शब्द का प्रयोग किया है—परस्परानुरक्तयोरपि विलासिनोः पारतन्त्र्यादेरघटनं चित्तविश्लेषो वा विप्रलम्भः (ना० द० ३·१६६)

(५६) तत्रायोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयोः ।।५०।।
पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसङ्गमः ।

योगोऽन्योन्यस्वीकारस्तदभावस्त्वयोगः, पारतन्त्र्येण विप्रकर्षाद्दैवपित्राद्यायत्तत्वात् सागरिकामालत्योर्वत्सराजमाधवाभ्यामिव दैवाद् गौरीशिवयोरिवासमागमोऽयोगः ।

(ग्रन्थ के अनुशीलन से यही आशय प्रतीत होता है, इसके तथ्यातथ्य का निर्णय विद्वान् स्वयं करेंगे)। (३) **अयोगविप्रयोगविशेषत्वात्**—क्योंकि विप्रलम्भ तो अयोगविशेष तथा विप्रयोगविशेष होता है। **एतत्सामान्याभिधायित्वेन**—सामान्य अयोग तथा विप्रयोग के वाचक रूप से। **उपचरितवृत्तिः**=उपचरिता वृत्तिः यस्य, औपचारिक। विशेष अर्थ का वाचक शब्द सामान्य अर्थ में औपचारिक (लाक्षणिक) हो जाया करता है जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' यहाँ 'काक' शब्द 'दध्युपघातक' के अर्थ में लाक्षणिक माना जाता है। **साध्येन**=नायकेन (प्रभा)।

अयोग—

उनमें अयोग वह होता है कि जब नवयौवन से युक्त एक चित्त वाले (समान रूप से अनुरक्त) नायक तथा नायिका में अनुराग तो होता है किन्तु दूसरे (माता-पिता आदि) के अधीन होने के कारण या दैववश दोनों एक दूसरे से दूर रहते हैं अतः मिलन नहीं होता ।।५०।।

योग का अर्थ है नायक और नायिका द्वारा एक दूसरे को स्वीकार कर लेना। उसका अभाव ही अयोग कहलाता है। पराधीनता के कारण दूर रहने से जो अयोग होता है उसका उदाहरण है; जैसे दैव (?) तथा पिता आदि के अधीन होने के कारण सागरिका का वत्सराज के साथ तथा मालती का माधव के साथ मिलन नहीं होता। दैववश होने वाला अयोग है, जैसे पार्वती और शिव का (बहुत समय तक) मिलन नहीं होता।

टिप्पणी—(१) का० प्र० (४.२६) में अभिलाष-हेतुक विप्रलम्भ के रूप में तथा सा० द० (३.१८८) में पूर्वराग विप्रलम्भ के रूप में अयोग का वर्णन किया गया है। (१) **विप्रकर्षात्**—दूरी होने से, इसका पारतन्त्र्येण तथा दैवात् दोनों से सम्बन्ध है। **दैवपित्राद्ययत्तत्वात्**-दैव तथा पिता आदि के अधीन होने से। सागरिका देवी वासवदत्ता के अधीन है और दैव भी उसके अयोग में निमित्त है ही, इसी प्रकार मालती माता-पिता के अधीन है और दैव भी वहाँ निमित्त है। दूसरी ओर पार्वती और शिव का अयोग केवल दैववश है, वहाँ माता-पिता आदि निमित्त नहीं। अथवा उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि 'देवीपित्राद्यायत्तत्वात्' यह पाठ रहा होगा (?)।

(६०) दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम् ।।५१।।
स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वराः, ।
जडता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ।।५२।।
(६१) अभिलाषः स्पृहा तत्र कान्ते सर्वाङ्गसुन्दरे ।
दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः ।।५३।।
साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासु दर्शनम् ।
श्रुतिर्व्याजात्सखीगीतमागधादिगुणस्तुतेः ।।५४।।

अयोग शृङ्गार की अवस्थाएँ--

उस (अयोग) की दश अवस्थाएं होती हैं। उनमें प्रथम अभिलाषा है। फिर (क्रमशः) चिन्तन, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जडता और मरण की अवस्थाएं होती हैं। इनमें बाद वाली अवस्था पहली-पहली से दुःखदायिनी होती है ।।५२।।

टिप्पणी—(१) वैशिकशास्त्रकारैश्च दशावस्थोऽभिहितः, ना० शा० (६.४५ से आगे गद्य पृ० ३०६ तथा अ० २२), भा० प्र० (पृ० ८५), प्रता० (पृ० १६४) में १२ दशाओं का वर्णन है उनके नाम तथा क्रम में भी भेद है; सा० द० (३.१८६–१६४)। इनके अतिरिक्त रसमञ्जरी आदि साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में तथा कामसूत्र आदि में भी कामदशाओं का वर्णन किया गया है। इन अवस्थाओं का स्वरूप तथा उदाहरण आदि आगे दिखलाते हैं—

१. अभिलाष—

उन (दश अवस्थाओं) में से अभिलाषा वह है जो सर्वाङ्ग-सुन्दर प्रिय का दर्शन होने पर या उसके विषय में सुनकर उसके प्रति इच्छा (चाह) होती है उसमें विस्मय, आनन्द तथा सम्भ्रम (साध्वस) (ये तीन अनुभाव) हुआ करते हैं (प्रिय का) दर्शन १. साक्षात् रूप से, २. चित्र में, ३. स्वप्न में, ४. छाया में अथवा ५. माया (इन्द्रजाल आदि) में हुआ करता है। उसका श्रवण (श्रुति) १. सखी, २. गीत, तथा ३. मागध आदि द्वारा गुण-कीर्तन से हुआ करता है ।।५३–५४।।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२२.१५७–१५८), का० प्र० (४.२६ वृत्ति) में अभिलाषा को विप्रलम्भ के पाँच भेदों में दिखलाया गया है। वहाँ अभिलाष=पूर्वराग=अयोग विप्रलम्भ। भा० प्र० (पृ० ८८), ना० द० (३.१६६ वृत्ति), सा० द० (अभिलाषः स्पृहा ३.१६१)। (२) प्रतिकृति=चित्र। व्याजात्=द्वारा (प्रभा), उपाय से, सखीगीतमागधादिगुणस्तुतेः व्याजात्—यह अन्वय है, स्तुतेः में षष्ठी विभक्ति है।

अभिलाषो यथा शाकुन्तले—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः ॥३०४॥

विस्मयो यथा—

'स्तनावालोक्य तन्वङ्ग्याः शिरः कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिर्मग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ॥३०५॥

आनन्दो यथा विद्धशालभञ्जिकायाम्—

सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैः कवलितां
किरञ्ज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनीम् ।
उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना—
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ॥३०६॥

साध्वसं यथा कुमारसम्भवे—

'तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि—
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥३०७॥

अभिलाषा जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल (१.२३) में (कण्व के आश्रम में शकुन्तला को देखकर राजा दुष्यन्त सोचते हैं)—'निस्सन्देह, यह क्षत्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य है, तभी तो मेरा पवित्र मन इसके प्रति अभिलाषा करता है । सन्देहास्पद विषयों में सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है ।

विस्मय, जैसे (?) कृशाङ्गी के स्तनों को देखकर युवक सिर हिलाने लगता है । मानों उन स्तनों के बीच गड़ी हुई अपनी दृष्टि को उखाड़ रहा हो' ।

आनन्द, जैसे विद्धशालभञ्जिका (१.३१) में (राजमहल के परकोटे के समीप नायिका के मुख को देखकर नायक कहता है)—'तनिक परकोटे के अग्रभाग पर दृष्टि तो डालो और विचार करो कि आकाश के बिना ही, मृग (के लाञ्छन) से रहित यह कौन सा चन्द्रमा है, जो लवली-फल के पाक में प्रणयिनी तथा अमृत के ग्रसन में तत्पर (?) उपवन के चकोरों द्वारा पान की जाती हुई निर्मल चाँदनी को छिटका रहा है ।'

साध्वस (सम्भ्रम), जैसे कुमारसम्भव (५.८५) में 'उस (शिव) को देखकर पर्वतराज (हिमालय) की पुत्री (पार्वती) का कोमल कृश शरीर काँपने लगा । आगे रखने के लिये उठाये हुए पग को लिये हुए वह मार्ग में पर्वत के आ जाने से क्षुब्ध हुई नदी के समान न चल सकी न ठहर सकी' ।

यथा वा—

'व्याहृता प्रविवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥३०८॥

(६२) सानुभावविभावास्तु चिन्ताद्याः पूर्वदर्शिताः ।

गुणकीर्तनं तु स्पष्टत्वान्न व्याख्यातम् ।

(६३) दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायोवृत्त्या निर्दशितम् ॥५५॥
महाकविप्रबन्धेषु दृश्यते तदनन्तता ।

दिङ्मात्रं तु—

(६४) दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाच्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ॥५६॥
अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नाति चिन्तनात् ।

अथवा जैसे (कुमारसम्भव ८·२) 'कुछ कहा जाने पर उत्तर नहीं दिया, आँचल पकड़ लिया जाने पर चलने के लिये उद्यत हो गई । वह (पार्वती) शय्या पर दूसरी ओर मुख करके सोई । फिर भी शङ्कर के आनन्द का निमित्त बनी ।'

टिप्पणी—अभिलाषा (=प्राप्त करने की इच्छा) होने पर (i) विस्मय आनन्द तथा (ii) साध्वस (सम्भ्रम) हुआ करते हैं । ये अभिलाषा के अनुभाव हैं । ऊपर (i) 'स्तना०' इत्यादि में कृशाङ्गी के विशाल स्तनों को देखकर युवक के विस्मय का वर्णन है (ii) 'सुधा०' इत्यादि में नायिका को देखकर नायक के आनन्द का वर्णन है । (iii) (क) 'तं वीक्ष्य' इत्यादि में विवाह से पूर्व शङ्कर को देखकर पार्वती के सम्भ्रम का वर्णन है तथा (ख) 'व्याहृता' इत्यादि में विवाह के पश्चात् शङ्कर के समक्ष पार्वती के संकोच का वर्णन किया गया है । इस उदाहरण से यह प्रकट होता है कि अयोग की अभिलाष नामक अवस्था (विवाह के पश्चात् भी) मिलन पर्यन्त रहती है ।

अनुभाव तथा विभाव सहित चिन्ता आदि तो पहिले ही दिखलाये जा चुके हैं ।

यहाँ गुणकीर्तन (गुणकथा) की व्याख्या नहीं की गई, क्योंकि वह स्पष्ट ही है ।

टिप्पणी—पूर्वम्–व्यभिचारी भावों के प्रकरण में ४.९–३३) । गुणकथा—प्रिय के गुणों का वर्णन ।

आचार्यों ने (अयोग की) दश ही अवस्थाएँ इसलिये दिखलाई हैं कि प्रायः ये अवस्थाएँ हुआ करती हैं । वस्तुतः महाकवियों की कृतियों में उन अवस्थाओं के अनन्त प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं ॥५५॥

केवल दिग्दर्शन के लिये यह बात है—

प्रिय को देखकर या उस (के गुणों का श्रवण कर जब अभिलाषा उत्पन्न होती है तो उस अभिलाषा से क्या (मिलन की) उत्सुकता नहीं होती, फिर प्रिय के न मिलने पर क्या निर्वेद नहीं होता और अत्यधिक चिन्ता से क्या ग्लानि नहीं हो जाती ? ॥५६॥

शेष प्रच्छन्नकामितादि कामसूत्रादवगन्तव्यम् ।

अथ विप्रयोगः—

(६५) विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविस्रम्भयोर्द्विधा ॥५७॥
मानप्रवासभेदेन, मानोऽपि प्रणयेर्ष्ययोः ।

प्राप्तयोरप्राप्तिर्वियोगस्तस्य द्वौ भेदौ—मानः प्रवासश्च । मानविप्रयोगोऽपि द्विविधः—प्रणयमान ईर्ष्यामानश्चेति ।

(६६) तत्र प्रणयमानः स्यात्*कोपावसितयोर्द्वयोः ॥५८॥

प्रेपूर्वको वशीकारः प्रणयः, तद्भङ्गो मानः प्रणयमानः स च द्वयोर्नायकयोर्भवति । तत्र नायकस्य यथोत्तररामचरिते—

छिपकर प्रेम करना आदि (अयोग की) अवस्थाएँ कामसूत्र से जानी जा सकती हैं ।

टिप्पणी—प्रायोवृत्त्या—प्रायः इन्हीं का वर्णन (या व्यवहार) के कारण । तदनन्तता—कामावस्था की अनन्तता ।

विप्रयोग

जिनका गाढ़ अनुराग (विस्रम्भ) होता है ऐसे नायक तथा नायिका का पृथक् हो जाना (विश्लेष) विप्रयोग कहलाता है । यह दो प्रकार का है—मान-विप्रयोग और प्रवास-विप्रयोग । मान भी दो प्रकार का होता है—प्रणय में और ईर्ष्या में ॥५७॥

एक दूसरे को प्राप्त कर लेने वाले नायक, नायिका का अलग होना ही विप्रयोग है । उसके दो भेद हैं—मान और प्रवास । मानविप्रयोग भी दो प्रकार का होता है—प्रणयमान और ईर्ष्यामान ।

टिप्पणी—का० प्र० (४.२९ वृत्ति) में अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप के हेतु से होने वाला पाँच प्रकार का विप्रलम्भ शृङ्गार बतलाया गया है । ना० द० (३.१६६) में मान, प्रवास, शाप, ईर्ष्या और विरह—ये पाँच भेद हैं, तथा सा० द० (३.१८७) में पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण विप्रलम्भ—ये चार भेद हैं । का० प्र० का अभिलाष तथा सा० द० का पूर्वराग दश० के अयोग के स्थान में रक्खा, जा सकता है । (२) रूढविस्रम्भयोः—दृढ अनुराग वालों (नायक-नायिका) का, विस्रम्भ = प्रणय, 'विस्रम्भः प्रणयेऽपि च' (अमरकोष) ।

प्रणयमान

उनमें नायक नायिका में से किसी एक या दोनों के कोपयुक्त होने पर प्रणय मान होता है ।

प्रेम के द्वारा (प्रिय को) वश में करना प्रणय कहलाता है । उसको भङ्ग करने वाला मान प्रणयमान है । वह नायक तथा नायिका दोनों में हुआ करता है । उनमें से नायक का प्रणयमान है, उत्तररामचरित (३.३७) में—

---

*कोपावेशितयोः, इत्यपि पाठः ।

'अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते ।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥३०९॥

नायिकाया यथा श्रीवाक्पतिराजदेवस्य—

प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित-
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत् ।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता-
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ॥३१०॥

उभयोः प्रणयमानो यथा—

'पणअकुविआणं दोह णवि अलिअपसुत्ताणं माणइन्ताणम् ।
णिच्चलणिरुद्धणीमासदिण्णकण्णाणं को मल्लो ॥३११॥
('प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः ।
निश्चलनिरुद्धनिश्वासदत्तकर्णयोः को मल्लः ॥')

'(वनदेवी वासन्ती राम से कहती है) इसी लतागृह में आप उस (सीता) के आने के मार्ग में दृष्टि लगाये हुए थे, और वह हंसों के साथ क्रीडा करती हुई गोदावरी के वालुकामय तट पर बहुत समय तक ठहरी रही । जब वह आई तो आपको कुपित सा देखकर उसने कातरतापूर्वक कमल की कली के समान सुन्दर (मुग्ध) प्रणामाञ्जलि बाँधी' ।

नायिका का प्रणयमान, जैसे श्री वाक्पतिराज देव के पद्य में—

देवी (पार्वती) को प्रणय से कुपित देखकर सम्भ्रम और आश्चर्य से भरे हुए तीनों लोकों के गुरु शिव प्रणाम करने लगे । किन्तु प्रणाम में सिर झुकाये हुए शिव के सिर पर गङ्गा को देखकर पार्वती ने (तया) पाद-प्रहार कर दिया । त्रिलोचन शिव की यह अनोखी (विलक्षम्=Strange) दशा आपकी रक्षा करे ।

दोनों का प्रणयमान, जैसे (गाथा० २७)—

(दोनों के प्रणयमान से युक्त देखकर सखियाँ आपस में कह रही हैं) दोनों प्रणय से कुपित हैं, मानयुक्त है, सोने का बहाना कर रहे हैं बिना हिले-डुले साँस रोके हुए (सोता है या जागता है, यह जानने के लिये) एक दूसरे की ओर कान लगाये हुए हैं । देखो तो इनमें कौन वीर (मल्ल=पहलवान) है' ?

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० ८६), सा० द० (३.१६८-१६९) । (२) भा० प्र० में 'कोपोद्दृतयोर्द्वयोः' पाठ है । सा० द० में इसे अधिक स्पष्ट किया गया है । नायक और नायिका के बहुत अधिक प्रेमयुक्त होने पर भी यह अकारण कोप हुआ करता है, क्योंकि प्रेम की गति ही निराली है—प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् ।

(६७) स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये ।
श्रुते वाऽनुमिते दृष्टे, श्रुतिस्तत्र सखीमुखात् ॥५९॥
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनकल्पितः ।
त्रिधाऽनुमानिको दृष्टः साक्षादिन्द्रियगोचरः ॥६०॥

ईर्ष्यामानः पुनः स्त्रीणामेव नायिकान्तरसङ्गिनि स्वकान्ते उपलब्धे सति । अन्यासङ्गः श्रुतो वानुमितो दृष्टो वा स्यात् ।

तत्र श्रवणं सखीवचनात् तस्या विश्वास्यत्वात् । यथा ममैव—

'सुभ्रु त्वं नवनीतकल्पहृदया केनापि दुर्मन्त्रिणा
मिथ्यैव प्रियकारिणा मधुमुखेनास्मासु चण्डीकृता ।
किं त्वेतद्विमृश क्षणं प्रणयिनामेणाक्षि कस्ते हितः
किं धात्रीतनया वयं किमु सखी किंवा किमस्मत्सुहृत् ॥३२॥

ईर्ष्यामान

अपने प्रिय को अन्य नायिका में आसक्त सुनकर, अनुमान करके या देखकर जो स्त्रियों को कोप होता है वह ईर्ष्यामान कहलाता है। इनमें सुनना तो सखी के मुख से होता है। अनुमान तीन प्रकार से हुआ करता है—स्वप्न की बड़बड़ाहट (उत्स्वप्नायित) से, सम्भोग के चिह्नों (भोगाङ्क) से या भूल से दूसरी नायिका का नाम लेने (गोत्र-स्खलन) से। साक्षात् इन्द्रियों का विषय होने पर देखा हुआ कहा जाता है ॥५९—६०॥

टिप्पणी—द्र०, भा० प्र० (पृ० ८६), प्रता० (पृ० २००), सा० द० (३.१९९.२००)।

अपने प्रिय को किसी दूसरी नायिका में आसक्त जानकर ईर्ष्यामान होता है। वह केवल स्त्रियों को ही हुआ करता है। प्रिय की अन्य नायिका में आसक्ति सुनी हुई, अनुमान से जानी गई या आँखों देखी हो सकती है।

(१) इन में से सुनना सखी के वचन से होता है, क्योंकि वह (सखी) विश्वसनीय हुआ करती है। जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

'(ईर्ष्यामान से युक्त नायिका से नायक कह रहा है) हे सुन्दर भौहों वाली तुम मक्खन के समान (मृदु) हृदय वाली हो अतः किसी दुष्ट मन्त्रणा देने वाले झूठे ही तुम्हारा हितकारी बनने वाले, मीठी बात कहने वाले (मधुमुख) व्यक्ति ने तुम्हें हम पर कुपित कर दिया है किन्तु क्षण भर को यह तो विचारो कि इन सभी प्रिय जनों में तुम्हारा (सच्चा) हितैषी कौन है, यह धाय की पुत्री, या वह सखी, या हमारे मित्र अथवा हम।'

टिप्पणी—यहाँ सखी-वचन से प्रिय की अन्यासक्ति को सुनकर किये जाने वाले ईर्ष्यामान का वर्णन है। इन शब्दों के द्वारा नायक मानवती को समझा रहा है।

(२) अनुमान से अन्यासक्ति का ज्ञान होने के उदाहरण इस प्रकार हैं:—

उत्स्वप्नायितो यथा रुद्रस्य—

'निर्मग्नेन मयाऽम्भसि स्मरभरादाली ममालिङ्गिता
केनालीकमिदं तवाद्य कथितं राधे मुधा ताम्यसि ।
इत्युत्स्वप्नपरासु शयने श्रुत्वा वचः शार्ङ्गिणः
सव्याजं शिथिलीकृतः कमलया कण्ठग्रहः पातु वः ।।३१३।।

भोगाङ्कानुमितो यथा—

'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ।।३१४।।

गोत्रस्खलनकल्पितो यथा—

'केलीगोत्तक्खलणे विकुप्पए केअवं अआणन्ती ।
दुट्ठ उअसु परिहासं जाआ सच्चं विअ परुण्णा ।।३१५।।
('केलीगोत्रस्खलने विकुप्यति कैतवमजानन्ती ।
दुष्ट पश्य परिहासं जाया सत्यमिव प्ररुदिता ।।')

(क) स्वप्न की कड़बड़ाहट से होने वाला, जैसे रुद्र (?) का पद्य है—

'जल में डुबकी लगाये मैंने काम-वश सखी का आलिङ्गन कर लिया, यह झूठी बात आज किसने तुमसे कह दी । हे राधा, तुम तो व्यर्थ ही कुपित हो रही हो'' इस प्रकार स्वप्न की बड़बड़ाहट में शय्या पर सोये कृष्ण (विष्णु) के वचन को सुनकर लक्ष्मी (रुक्मणी) ने किसी बहाने से (कृष्ण के) कण्ठग्रहण को शिथिल कर दिया ।'

(ख) भोग के चिह्न से अनुमित (अन्यासक्ति) यह है, जैसे (माघ ११·३४ कोई नायिका नायक से कहती है)—'नवीन नख-क्षत से युक्त अङ्ग को तो वस्त्र से छिपा रहे हो, दष्ट (कटे) अधर को हाथ से ढक रहे हो । किन्तु अन्य स्त्री के समागम को प्रत्येक दिशा में बतलाने वाला सर्वत्र फैलता हुआ यह नव परिमल गन्ध किस प्रकार छिपाया जा सकता है' ?

(ग) गोत्र-स्खलन से अनुमित (अन्यासक्ति), जैसे (हाल ९६७, नायिका की सखी नायक से कह रही है)—'हे दुष्ट, परिहास में तुम्हारे द्वारा अन्य स्त्री का नाम लिया जाने पर छल-कपट (कैतव) को न जानने वाली वह वधू (जाया) सचमुच ही रोने लगी । अपने परिहास को देखो तो' ।

टिप्पणी—(१) उत्स्वप्नायित=स्वप्न की बड़बड़ाहट, उससे प्रिय की अन्यासक्ति का अनुमान होता है, जिससे ईर्ष्यामान हुआ करता है । 'निर्मग्नेन' इत्यादि में नींद में बड़बड़ाते हुए कृष्ण राधा से कह रहे है । उनके कथन को सुनकर कमला की राधा में आसक्ति का अनुमान करती है । यही ईर्ष्यामान का निमित्त है । (२) भोगाङ्कानुमित=भोग के चिह्नों से अनुमित अन्यासक्ति, उसके द्वारा ईर्ष्यामान होता

दृष्टो यथा श्रीमुञ्जस्य

'प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित—
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणापपरोऽभवत् ।
नमितशिरसो गङ्गालोके तथा चरणाहता—
वक्तु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थिम् ॥३१६॥

एषाम्—

(६८) यथोत्तरं गुरुः षड्भिरुपायैस्तमुपाचरेत् ।
साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षा रसान्तरैः ॥६१॥

एषाम् = श्रुतानुमितदृष्टान्यसङ्गप्रयुक्तानामुक्तानां मानानां मध्ये उत्तरोत्तरं मानो गुरुः = क्लेशेन निवार्यो भवतीत्यर्थः । तम् = मानम् । उपाचरेत् = निवारयेत् ।

द्र० नवनख० इत्यादि । (३) गोत्रस्खलन० = गोत्र-स्खलन द्वारा अनुमित, भूल से अन्य नायिका का नाम ले देना गोत्र-स्खलन कहलाता है । उससे अन्यासक्ति का अनुमान हो जाता है जिससे ईर्ष्यामान हुआ करता है (द्र० केली इत्यादि) ।

(३) प्रत्यक्ष से देखा गया (दृष्ट), जैसे श्री मुञ्ज (?) का पद्य है—
'प्रणयकुपिताम्' इत्यादि (ऊपर, उदा० ३१०) ।

टिप्पणी—दृष्टः—अन्य नायिका में आसक्त देखा गया, उससे ईर्ष्यामान हुआ करता है । **प्रणयकुपिताम्०** = यहाँ पहले तो पार्वती प्रणय-मान से युक्त थीं, बिना कारण के ही रूठ बैठी थीं अतः छन्द के पूर्वार्द्ध में प्रणयमान का वर्णन है । किन्तु जब प्रणाम करते हुए शिव के सिर पर पार्वती ने अपनी सपत्नी गङ्गा को देख लिया तो पार्वती में ईर्ष्यामान उत्पन्न हो गया । इस प्रकार छन्द का उत्तरार्ध अन्य नायिका के प्रति देखी गई आसक्ति से होने वाले ईर्ष्यामान का उदाहरण है ।

इन (श्रुत, अनुमित तथा 'दृष्ट अन्यासक्ति से होने वाले ईर्ष्या मानों) में—
क्रमशः पूर्ववर्ती की अपेक्षा उत्तरवर्ती (उत्तरोत्तर) अधिक कष्टसाध्य (गुरु) हुआ करता है । इन मानों का इन ६ उपायों के द्वारा प्रतिकार करना चाहिये—साम, भेद, दान, प्रणति, उपेक्षा तथा अन्य रस (रसान्तर) ।

इनमें अर्थात् सुनी गई, अनुमान से जानी गई तथा देखी गई अन्यासक्ति के द्वारा होने वाले मानों में बाद-बाद वाला (पहले-पहले की अपेक्षा) भारी (गुरु) अर्थात् कठिनाई से दूर करने योग्य हुआ करता है । तम् (उसको) का अर्थ है—मान को । उपाचरेत् का अर्थ है = निवारण करे, दूर करे ।

(६९) तत्र प्रियवचः साम, भेदस्तत्सख्युपार्जनम् ।
दानं व्याजेन भूषादेः पादयोः पतनं नतिः ॥६२॥
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम् ।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥६३॥
कोपचेष्टाश्च नारीणां प्रागेव प्रतिपादिताः ।

तत्र प्रियवचः साम यथा ममैव—

स्मितज्योत्स्नाभिस्ते धवलयति विश्वं मुखशशी
दृशस्ते पीयूषद्रवमिव विमुञ्चन्ति परितः ।
वपुस्ते लावण्यं किरति मधुरं दिक्षु तदिदं
कुतस्ते पारुष्यं सुतनु हृदयेनाद्य गुणितम् ॥३१७॥

यथा वा—

इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन
कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन ।

इनमें प्रिय वचन कहना साम कहलाता है । उस (नायिका) की सखियों को अपनी ओर मिला लेना (उपार्जन) भेद है । किसी बहाने आभूषण आदि देना दान कहलाता है और चरणों में गिरना नति (प्रणति) है । साम आदि (चार उपायों) के विफल (क्षीण) हो जाने पर (नायिका के प्रति) उदासीनता रखना उपेक्षा है । रभस (उद्विग्नता, शीघ्रता, जल्दबाजी) भय तथा हर्ष आदि से (नायिका के) कोप का नाश हो जाना ही रसान्तर (अन्य रस का आ जाना) कहलाता है । नारियों को जो कोप-चेष्टाएँ हुआ करती हैं, उनका तो पहले ही प्रतिपादन किया जा चुका है ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (२३.६२-६५), भा० प्र० (पृ० ८६), सा० द० (३.२०१–२०३) इत्यादि । (२) रसान्तर—अन्यभाव का उत्पन्न हो जाना, अकस्मात् किसी भय, हर्ष आदि का प्रसङ्ग आ जाने से नायिका का कोप दूर हो जाया करता है (द्र०, आगे उदा० ३२३) । प्रागेव—पहले ही (दश० २·२५, २६, २८) ।

प्रिय वचन कहना साम हैं, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—(कोई नायक नायिका की मनौती करता हुआ कहता है) 'हे सुन्दर शरीर वाली (सुतनु) 'तेरा मुखचन्द्र अपनी मुस्कराहट रूपी चन्द्रिका से विश्व को धवलित कर रहा है, तेरी दृष्टियाँ चारों ओर अमृत रस सा बरसा रही हैं, तेरा शरीर समस्त दिशाओं में मधुर लावण्य बिखेर रहा है । फिर आज तेरे हृदय ने यह कठोरता कहाँ से बटोर ली है' ?

अथवा जैसे (श्रृङ्गारतिलक ३) 'हे प्रिया विधाता ने नीलकमल द्वारा तुम्हारे नेत्रों को बनाया है, लाल कमल द्वारा मुख को, कुन्द पुष्पों से दांतों को, नई (लाल) कोपल से अधर को और चम्पा की पंखुड़ियों से अङ्गों को बनाया है । फिर हृदय को पाषाण से क्यों बना दिया' ?

अङ्गानि चम्पकदलैः स विधाय वेधाः
कान्ते कथं रचितवानुपलेन चेतः ॥११८॥

नायिकासखीसमावर्जनं भेदो यथा ममैव—

'कृतेऽप्याज्ञाभङ्गे कथमिव मया ते प्रणतयो
धृताः स्मित्वा हस्ते विसृजसि रुषं सुभ्रु बहुशः ।
प्रकोपः कोऽप्यन्यः पुनरयमसीमाद्य गुणितो
वृथा यत्र स्निग्धाः प्रियसहचरीणामपि गिरः ॥३१९॥

दानं व्याजेन भूषादेर्यथा माघे—

मुहुरुपहसितामिवालिनादै—
वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।
अधिरजनि गतेन धाम्नि तस्याः
शठ कलिरेव महांस्त्वयाऽद्य दत्तः ॥३२०॥

पादयोः पतनं नतिर्यथा—

णेउरकोडिविलग्गं चिहुरं दइअस्स पाअपडिअस्स ।
हिअअं माणपउत्थं उन्मोअं त्ति च्चिअ कहेइ ॥३२१॥
(नूपुरकोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।
हृदयं मानपदोत्थमुन्मुक्तमित्येव कथयति ॥

नायिका की सखियों को अपनी ओर मिला लेना भेद कहलाता है, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

(नायिका से नायक कह रहा है), हे सुन्दर भौंहों वाली अनेक बार आज्ञा का भङ्ग करके भी जब मैं तुम्हारे सामने नत हो जाता था तो तुम मुस्कराकर मुझे हाथ से उठाकर कोप को छोड़ देती थीं । किन्तु आज यह कैसा (अनोखा) असीमित कोप तुमने धारण किया है, जिस पर प्रिय सखियों के स्नेह पगे वचन भी व्यर्थ हो रहे हैं ।'

किसी बहाने से आभूषण आदि देना ही दान है, जैसे माघ (७.५५) में—

(कोई मानवती नायिका नायक से कहती है) 'जिसका मानों भ्रमरों के गुञ्जार से बार-बार उपहास किया जा रहा है, उस कलिका (छोटी सी कली) को हमें क्यों दे रहे हो ? हे शठ, उस (नायिका) के घर रात्रि में जाकर आज तुमने बड़ी कलि (१. कलेश २. कली) ही हमें दे दी है ।

(नायिका के) चरणों में गिरना नति कहलाती है, जैसे गाथा (१८८)—

'प्रिया के चरणों में गिरे हुए प्रियतम के केश उसके नूपुरों के कोनों में लगे हैं । वे मानों यह कह रहे हैं कि मान की अवस्था से उठा हुआ हृदय उन्मुक्त हो गया है (?)'

उपेक्षा तदवधीरणं यथा—

'किं गतेन नहि युक्तमुपैतुं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।
आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥३२२॥

रभसत्रासहर्षादे रसान्तरात्कोपभ्रंशो यथा ममैव—

'अभिव्यक्तालीकः सकलविफलोपायविभव-
श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम् ।
इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषां धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम् ॥३२३॥

अथ प्रवासविप्रयोगः—

(७०) कार्यतः सम्भ्रमाच्छापात्प्रवासो भिन्नदेशता ॥६४॥
द्वयोस्तत्राश्रुनिश्वासकार्श्यलम्बालकादिता ।
(७१) स च भावी भवन् भूतस्त्रिधाद्यो बुद्धिपूर्वकः ॥६५॥

उपेक्षा का अर्थ है उस (नायिका) के प्रति उदासीनता, जैसे (?)—

[जब बार-बार मनाने पर नायिका नहीं मानती तो नायक उपेक्षा करके चला जाता है, इस पर पश्चात्ताप करती हुई नायिका सखी से कहती है] 'हे सखी, उसके पास जाने से क्या (लाभ) ? जाना ठीक नहीं है । किन्तु स्वामी के प्रति कठोरता भी ठीक नहीं, तुम उसको अनुनय करके ले आओ । अथवा (छोड़ो) अप्रिय कार्य करने वाले व्यक्ति से अनुनय भी कैसे किया जा सकता है ?'

शीघ्रता, भय तथा हर्ष आदि अन्य भाव (रस) की उत्पत्ति के कारण कोप का नाश हो जाता है, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—'अभिव्यक्तालीकः' इत्यादि (ऊपर २.५० उदा० १७६) ।

प्रवास-विप्रयोग

अब प्रवास-विप्रयोग का स्वरूप बतलाते हैं—

किसी कार्य से, संभ्रम (घबराहट) से या शाप से दोनों (नायक और नायिका) का अलग-अलग प्रदेश में रहना ही प्रवास कहलाता है । उसमें अश्रुपात, निःश्वास, दुर्बलता बालों का बढ़ जाना इत्यादि (अनुभाव) हुआ करते हैं ॥६४-६५॥

टिप्पणी—(१) सर० क० (परिच्छेद ५), का० प्र० (४.२९), भा० प्र० (पृ० ८६), ना० द० (३.१६६), प्रता० (पृ० २०१), सा० द० (३.२०४–२०५) । (२) का० प्र० तथा ना० द० में प्रवास और शाप को भिन्न-भिन्न माना गया है । भा० प्र० तथा सा० द० का निरूपण प्रायः दश० के समान ही है । (३) प्रवास से होने वाले वियोग में नायिका प्रोषितप्रिया या प्रोषितपतिका कहलाती है ।

इनमें से प्रथम (कार्य से होने वाला) प्रवास बुद्धिपूर्वक (समझबूझ कर) होता है । वह तीन प्रकार का है—आगे होने वाला (भावी), वर्तमान समय का (भवन्) और बीता हुआ (भूत) ॥६५॥

अद्यः कार्यजः समुद्रगमनसेवादिकार्यवशप्रवृत्तौ बुद्धिपूर्वकत्वाद् भूतभविष्यद्वर्तमानतया त्रिविधः ।

तत्र यास्यत्प्रवासो यथा—

'होन्तपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्सम् ।
पुच्छन्ती भमइ घरं घरेसु पिअविरहसहिरीआ ॥३२४॥
(भविष्यत्पथिकस्य जाया आयुःक्षणजीवधारणरहस्यम् ।
पृच्छन्ती भ्रमति गृहाद् गृहेषु प्रियविरहसह्रीका ॥)

गच्छत्प्रवासो यथाऽमरुशतके—

'प्रहरविरतौ मध्ये वाऽह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
दिनकृति गते वास्तं नाथ त्वमद्य समेष्यसि ।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥३२५॥

यथा वा तत्रैव—

'देशैरन्तरिता शतैश्च सरितामुर्वीभृतां काननै-
र्यत्नेनापि न याति लोचनपथं कान्तेति जानन्नपि ।
उद्ग्रीवश्चरणार्धरुद्धवसुधः कृत्वाऽश्रुपूर्णे दृशौ
तामाशां पथिकस्तथापि किमपि ध्यात्वा चिरं तिष्ठति ॥३२६॥

प्रथम=कार्य से होने वाले प्रवास में समुद्र यात्रा तथा सेवा (नौकरी) आदि कार्य के लिये बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति होती है, अतः वह तीन प्रकार का होता है—भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान । उनमें से भविष्य में जाने वाले (पुरुष) का प्रवास है, जैसे (गाथा० ४७)—

'यात्रा के लिये उद्यत पथिक की पत्नी प्रियतम के विरह की आशङ्का (ह्रीका—भय) से युक्त होकर (विरहकालीन) आयु के क्षणों में कैसे जीवन धारण किया जाता है, इस रहस्य को पूछती हुई घर-घर घूम रही है' ।

(वर्तमान काल में) जाते हुए (पुरुष) का प्रवास यह है, जैसे अमरुशतक (१२) में—(परदेश जाते हुये प्रिय से प्रिया कहती है) 'हे प्रिय एक पहर बीतने पर या मध्याह्न में या उसके बाद अथवा सूर्य के अस्त हो जाने तक तो तुम आज यहाँ लौट आओगे न ? बाला इस प्रकार की अपनी बातों में सौ दिन में पहुँचने योग्य देश को जाने के इच्छुक प्रिय का जाना रोक रही है' ।

अथवा जैसे वहाँ (अमरुशतक ६६) ही—

(किसी विरही पुरुष का वर्णन है)—'प्रिया सैकड़ों प्रदेशों, नदी तथा पर्वतों के जङ्गलों से अन्तर्हित है, वह यत्न करने पर भी दृष्टिपथ में नहीं आ सकती, यह बात पथिक जानता है, तथापि वह गर्दन उठाकर, आधे पग से भूमि को रुद्ध करके नेत्रों को अश्रुयुक्त करके उस दिशा की ओर कुछ सोचकर (देखकर) बहुत देर तक खड़ा रहता है ।'

गतप्रवासो तथा मेघदूते—

'उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां भूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥३२७॥

आगच्छदागतयोस्तु प्रवासाभावादेष्यत्प्रवासस्य च गतप्रवासाऽविशेषात्त्रैविध्यमेव युक्तम्।

(७२) द्वितीयः सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात्।

उत्पातनिर्घातवातादिजन्यविप्लवात् परचक्रादिजन्यविप्लवाद्वाऽबुद्धिपूर्वकत्वादेकरूप एव संभ्रमजः प्रवासः। यथोर्वशीपुरूरवसोर्विक्रमोर्वश्यां यथा च कपालकुण्डलापहृतायां मालत्यां मालतीमाधवयोः।

(भूतकाल में) चले गये (पुरुष) का प्रवास यह है, जैसे मेघदूत (उत्तरमेघ २३) में—(यक्ष मेघ से कह रहा है) अथवा, हे सौम्य, मलिन वस्त्रों वाली गोदी में वीणा रखकर मेरे नाम से युक्त रचे गये पदों वाले गीत को गाने की इच्छुक, किन्तु नेत्र-जल से गीले तार को किसी प्रकार ठीक करके बार-बार स्वरचित मूर्च्छना को भी भूलती हुई (मेरी प्रिया तेरी दृष्टि में पड़ेगी)'।

(प्रियतम) लौटकर आ रहा हो (आगच्छत्) या आ गया हो (आगत) तब तो प्रवास ही नहीं रहता। और, जब, (प्रियतम) लौटकर आने वाला हो (एष्यत्) तब गतप्रवास से कोई भेद नहीं होता। इसलिये (प्रवास-विप्रयोग को) तीन प्रकार का मानना ही युक्तियुक्त है।

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० ८६), सा० द० (३.२०८)। (२) विद्या, धन या धर्म आदि का संग्रह करना ही कार्य है। उसके लिये विचारपूर्वक देशान्तर गमन ही कार्य-प्रवास कहलाता है। यदि कार्य के लिये देशान्तर गमन हो चुका हो तो गतप्रवास, कार्यार्थ बाहर जाते हुए पुरुष का गच्छत्प्रवास तथा जो भी आगे जाने वाला है उसका यास्यत् प्रवास कहलाता है। (३) कुछ (?) साहित्यशास्त्रियों ने आगच्छत् प्रवास, आगतप्रवास तथा एष्यत्प्रवास पृथक् भी माने थे। उनके मत का निराकरण करते हुए धनिक ने बतलाया है कि इनमें से पहिले दो तो प्रवास ही नहीं हैं। जब प्रियतम लौटकर आ रहा है या आ गया है तो उसका प्रवास कहाँ रहा? हाँ, प्रियतम लौटकर आने वाला है तब प्रवास अवश्य है; किन्तु उसका गतप्रवास में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

सम्भ्रम से होने वाला प्रवास

द्वितीय अर्थात् सम्भ्रम से उत्पन्न होने वाला प्रवास वह है, जो दैवी या मनुष्यकृत उपद्रव से सहसा (यकायक) हो जाता है।

भूकम्प आदि आपत्तियाँ (उत्पात), बिजली गिरना (निर्घात), आँधी (वात) इत्यादि से उत्पन्न होने वाले (दिव्य) उपद्रव के कारण अथवा शत्रु द्वारा घेरा डालना (चक्र) आदि से उत्पन्न होने वाले (मानुष) उपद्रव के कारण होने वाला संभ्रमजन्य प्रवास एक प्रकार का ही होता है; क्योंकि वह सभी अबुद्धिपूर्वक (पूर्व विचार के)

(७३) स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सन्निधावपि ॥६६॥

यथा कादम्बर्यां वैशम्पायनस्येति ।

(७७) मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः ।
*व्याश्रयत्वान्न शृङ्गारः, प्रत्यापन्ने तु नेतरः ॥६७॥

यथेन्दुमतीमरणादजस्य करुण एव रघुवंशे, कादम्बर्यां तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासशृङ्गार एवेति ।

विना ही सहसा) हुआ करता है । जैसे विक्रमोर्वशीय नाटक में उर्वशी और पुरूरवा का (दैवी उपद्रव से किया गया) तथा मालतीमाधव में कपालकुण्डल द्वारा मालती हरण कर लिया जाने पर मालती और माधव का (मनुष्यकृत उपद्रव से किया गया प्रवास होता है ।)

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० ८६), सा० द० (३.२०८ से आगे गद्य)। (२) संभ्रम का अर्थ है—घबराहट, आवेग । यह दैवी या मानवीय उपद्रवों से उत्पन्न हुआ करता है । और, उससे नायक या नायिका एक-दूसरे प्रदेश में चले जाते हैं तथा प्रवास हो जाता है ।

शाप से होने वाला प्रवास

नायक तथा नायिका दोनों के समीप रहने पर भी जो स्वरूप बदल जाने के कारण देशान्तर गमन (का भान) होता है, वह शापज प्रवास है ॥६६॥

जैसे कादम्बरी में वैशम्पायन का प्रवास है ।

टिप्पणी—(१) भा० प्र० (पृ० ८६), सा० द० (३.२०८ से आगे पद्य) इत्यादि (२) दश० का शापज प्रवास का लक्षण अपूर्ण सा प्रतीत होता है वस्तुतः शाप के कारण जो नायक या नायिका का देशान्तरगमन है वही शापज प्रवास है । मेघदूत में यक्ष का प्रवास इसका उदाहरण है । इसी लक्षण के अनुसार कादम्बरी में वैशम्पायन का प्रवास भी शापज प्रवास होगा, क्योंकि स्वरूप बदल जाने के कारण समीप में स्थित होता हुआ भी वैशम्पायन देशान्तर में गया सा प्रतीत होता है ।

प्रवास-विप्रयोग तथा करुण का अन्तर

('नायक' नायिका में से) एक के मर जाने पर जहाँ दूसरा विलाप करता है, वहाँ तो करुण (शोक) रस ही होता है, शृङ्गार नहीं, क्योंकि वहाँ शृङ्गार का आलम्बन (आश्रय) ही समाप्त हो चुका होता है और याद पुनर्जीवित हो जाता है तो करुण (इतरः) नहीं होता (अपितु शृङ्गार) ही होता है ॥६७॥

जैसे रघुवंश में इन्दुमती की मृत्यु पर अज का विलाप करुण ही है (प्रवास-विप्रयोग नहीं) । 'कादम्बरी में भी पहिले तो पुण्डरीक के (परलोक गमन पर) करुण ही है । आकाशवाणी होने के पश्चात् वहाँ प्रवास-विप्रयोग (शृङ्गार) ही है ।

'निराश्रयात्' इत्यपि पाठः ।

टिप्पणी--(१) सर० क० (परि० ५), भा० प्र० (पृ० ८६-८७), सा० द० (३.२०६) रसार्णवसुधाकर (उल्लास २) इत्यादि। (२) कुछ आचार्य करुण-विप्रलम्भ नामक पृथक् भेद मानते हैं। भोजराज का कथन है—

भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति।
नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते॥
पूर्वरागो मानश्च प्रवासः करुणश्च सः।
पुरुषस्त्रीप्रकाण्डेषु चतुःकाण्डः प्रकाशते॥ (सर० क० परि० ५)

रसार्णवसुधाकर (उल्लास २) में इसे करुण का भ्रम उत्पन्न करने वाला (करुण सा भासित होने वाला) वियोग श्रृङ्गार बतलाया है—

द्वयोरेकस्य मरणे पुनरुज्जीवनावधौ।
विरहः करुणोऽन्यस्य सङ्गमाशानिवर्तनः।
करुणभ्रमकारित्वात् सोयं करुण उच्यते॥

सा० द० [३.२०९] में करुणविप्रलम्भ का कुछ अधिक विशद विवेचन है—

यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्ततो भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः॥

इस प्रकार नायक और नायिका में से किसी एक के परलोक चले जाने पर किन्तु पुनः [इसी जन्म में] मिलन की आशा होने पर जो दूसरा शोक करता है वहाँ [रति भाव का मिश्रण होने से] करुण-विप्रलम्भ होता है। यदि परलोक गये व्यक्ति के फिर मिलने की आशा नहीं रहती अथवा दूसरे जन्म में मिलने की आशा होती है तो करुण ही होता है। सा० द० के अनुसार कादम्बरी में पुण्डरीक और महाश्वेता के वृत्तान्त में करुणविप्रलम्भ है।

इस सन्दर्भ में दशरूपककार का मन्तव्य है कि पुण्डरीक तथा महाश्वेता के वृत्तान्त में आकाशवाणी से पूर्व करुण ही है, क्योंकि वहाँ रतिभाव का आलम्बन ही समाप्त हो जाता है अतः रतिभाव का उद्भव ही नहीं हो सकता। हाँ, आकाशवाणी होने पर महाश्वेता के हृदय में पुण्डरीक के पुनर्मिलन की आशा हो जाती है अतः रतिभाव का उद्भव होता है तथा वहाँ विप्रयोग नामक श्रृङ्गार है, जिसका शापजन्य प्रवास में अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार दशरूपक के अनुसार करुणविप्रलम्भ नाम का कोई एक रस नहीं होता। सा० द० [३.२०९ वृत्ति] में 'इत्यभियुक्ता मन्यन्ते' कहकर दश० के मत को प्रस्तुत किया गया है।

(३) **व्याश्रयत्वात्**—आलम्बन रूप आश्रय के न रहने से। एक के मरण के बाद आलम्बन के समाप्त हो जाने से रति भाव का उद्भव नहीं हो सकता है। किन्तु शोक का आलम्बन तो 'इष्टनाश' होता है अतः करुण हो सकता है। प्रत्यापन्ने =पुनरुज्जीविते, फिर जीवित हो जाने पर, फिर जीवित होने की आशा हो जाने पर तो रतिभाव हो सकता है।

तत्र नायिकां प्रति नियमः—

(७५) प्रणयायोगयोरुत्का, प्रवासे प्रोषितप्रिया।
कलहान्तरितेर्ष्यायां विप्रलब्धा च खण्डिता ॥६८॥

अथ सम्भोगः—

(७६) अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोगो मुदान्वितः ॥६९॥

यथोत्तररामचरिते—

'किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
सपुलकपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो—
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥३२८॥

उन (अयोग तथा विप्रयोग के भेदों) में नायिका (की अवस्था) के विषय में यह नियम है—

प्रणयमान (विप्रयोग) में तथा अयोग में उत्कण्ठिता (विरहोत्कण्ठिता) नायिका होती है, प्रवास-विप्रयोग में प्रोषितप्रिया, ईर्ष्यामान (से होने वाले विप्रयोग) में कलहान्तरिता, विप्रलब्धा और खण्डिता नायिका होती है ॥६८॥

टिप्पणी—ऊपर [२.२३–२७] नायिका की आठ अवस्थाएँ बतलाई गई हैं। उनमें ही उत्कण्ठिता इत्यादि प्रकार हैं।

सम्भोग श्रृङ्गार

वह आनन्दपूर्ण अवस्था सम्भोग श्रृङ्गार है, जब दो विलासी जन अनुकूल होकर परस्पर दर्शन, स्पर्शन आदि का उपभोग करते हैं ॥६९॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० तथा अभि० भा० (४५ के बाद गद्य), ध्वन्यालोक तथा लोचन (२.१२ वृत्ति), का० प्र० (४.२९ वृत्ति), भा० प्र० (पृ० ८७), ना० द० (३.१६६), प्रता० (पृ० १९९), सा० द० (३.२१०–२१३), रसगङ्गाधर (१ पृ० १३८)। (२) प्रायः सभी ने इसे सम्भोग श्रृङ्गार नाम से कहा है किन्तु रसगङ्गाधर तथा वाग्भटालङ्कार में संयोग नाम से कहा गया है।

जैसे उत्तररामचरित (१.२७) में—

(राम सीता से कह रहे हैं कि हे सीता, तुम्हें याद है यह वही स्थल है जहाँ) एक-दूसरे के साथ कपोलों को सटाये धीरे-धीरे विना किसी क्रम के कुछ बातें करते हुए, अपने एक-एक बाहु को गाढ आलिङ्गन में लगाये हुये हम दोनों की वह रात्रि बीत गई थी, उसके बीतते हुए प्रहरों का पता ही न चला था।

अथवा । 'प्रिये किमेतत्—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा ।
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥३२६॥

यथा च ममैव—

लावण्यामृतवर्षिणि प्रतिदिशं कृष्णागुरुश्यामले
वर्षाणामिव ते पयोधरभरे तन्वङ्गि दूरोन्नते ।
नासावंशमनोज्ञकेतकतनुर्भ्रूपत्रगर्भोल्लसत्-
पुष्पश्रीस्तिलकः सहेलमलकैर्भृङ्गैरिवापीयते ॥३३०॥

(७७) चेष्टास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाद्या दश योषिताम् ।
दाक्षिण्यमार्दवप्रेम्णामनुरूपाः प्रियं प्रति ॥७०॥

ताश्च सोदाहृतयो नायकप्रकाशे दर्शिता ।

(७८) रमयेच्चाटुकृत्कान्तः कलाक्रीडादिभिश्च ताम् ।
न ग्राम्यमाचरेत् किञ्चिन्नर्मभ्रंशकरं न च ॥७१॥

ग्राम्यः सम्भोगो रङ्गे निषिद्धोऽपि काव्येऽपि न कर्तव्य इति पुनर्निषिध्यते ।

अथवा प्रिया, यह क्या है ? विनिश्चेतुम् इत्यादि (उत्तर० १.३५; ऊपर उदा० २५६) ।

और, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

(कोई नायक, नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करता है) 'हे कृशाङ्गी, वर्षा ऋतु की घनघटा के समान प्रत्येक दिशा में अमृत बरसाने वाला, काले अगरु (की पत्र-रचना) से श्यामल तुम्हारा स्तन-भार अत्यधिक उभर आया है । उसके उभर आने पर तुम्हारे नासिका-वंश (उठा हुआ अस्थि भाग) रूपी सुन्दर केतकी के भौहों रूपी पत्तों में से निकलते हुए पुष्प की शोभा वाले तिलक का तुम्हारे केशरूपी भ्रमरों द्वारा पान किया जा रहा है ।

सम्भोग शृङ्गार की चेष्टाएँ ।

उस (सम्भोग शृङ्गार) में युवतियों की प्रिय के प्रति लीला आदि दश चेष्टाएँ हुआ करती हैं, जो दाक्षिण्य, मृदुता तथा प्रेम के अनुरूप होती हैं ॥७०॥

वे चेष्टाएँ उदाहरण सहित-नायकविषयक द्वितीय प्रकाश (३०–४२) में दिखला दी गई हैं ।

नायक को प्रिय वचन कहते हुए (काम-सम्बन्धी) कला तथा क्रीडा आदि के द्वारा उस (नायिका) के साथ रमण करना चाहिये । कोई भी ग्राम्य या नर्म को भ्रष्ट करने वाला आचरण न करना चाहिये ॥७१॥

ग्राम्य सम्भोग का रंगमञ्च पर (दिखलाने का) तो निषेध किया ही जा चुका है । यहाँ फिर इसलिये निषेध किया जा रहा है कि काव्य में भी इसका वर्णन न करना चाहिये ।

यथा रत्नावल्याम्—

'स्पृष्टस्त्वयैव दयिते स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन ।
उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलय इव लक्ष्यतेऽशोकः ॥३३१॥ इत्यादि ।

नायकनायिकाकैशिकीवृत्तिनाटकनाटिकालक्षणाद्युक्तं कविपरम्परावगतं स्वयमौचित्यसम्भावनानुगुण्येनोत्प्रेक्षितं चानुसन्दधानः सुकविः शृङ्गारमुपनिबध्नीयात् ।

(नायक के समुचित आचरण का उदाहरण है), जैसे रत्नावली (१.२१) में [राजा वासवदत्ता से कहते हैं] 'हे प्रिया, तुम्हारे द्वारा कामदेव की पूजा में तत्पर हाथ से जिसका स्पर्श किया गया है वह अशोक ऐसा प्रतीत होता है मानों उसमें दूसरा अधिक कोमल नूतन पल्लव फूट आया है ।'

इस प्रकार (१) नायक, नायिका, कैशिकी वृत्ति, नाटक, नाटिका आदि के लणक्षों में बतलाये गये; (२) कवि-परम्परा से जाने गये तथा (३) औचित्य की सम्भावना के अनुकूल स्वयं कल्पित (तत्त्वों) का ध्यान रखते हुए श्रेष्ठ कवि को शृङ्गार रस का निबन्धन (योजना) करना चाहिये ।

टिप्पणी—(१) चाटुकृत्—चाटुकारी करने वाला, प्रिय वचन कहने वाला । ग्राम्यम्—असंस्कृत जनों का आचरण, अविदग्ध जनों का कार्य: ग्राम्य शब्द-प्रयोग या अर्थ को साहित्यिक दोष भी माना गया है (द्र० का० प्र० तथा सा० द०) । नर्म—वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म' इत्यादि उपर (२.४८) । नर्मभ्रंशकरम्—नर्म को भ्रष्ट करने वाला क्रोध आदि । (२) इस प्रकार भेद-प्रभेदों सहित शृङ्गार का निरूपण किया गया है । शृङ्गार के भेद-प्रभेदों के विषय में कतिपय प्रमुख मत इस प्रकार हैः—

	ना० शा०	ध्वन्यालोक	दशरूपक	काव्यप्रकाश	साहित्यदर्पण
श्रृगार-भेद सम्भोग	सम्भोग, विप्रलम्भ	सम्भोग, विप्रलम्भ	सम्भोग तथा अयोग + विप्रयोग (= विप्रलम्भ)	सम्भोग विप्रलम्भ ।	सम्भोग विप्रलम्भ
विप्रलम्भ-भेद		१. अभिलाष २. ईर्ष्या ३. विरह ४. प्रवास	(विप्रयोग) १. मान = (प्रणयमान ईर्ष्यामान) २. प्रवास = (कार्य संभ्रम तथा शाप से होने वाला)	१. अभिलाष २. विरह, ३. ईर्ष्या ४. प्रवास ५. शाप से होने वाला	१. पूर्व राग, २. मान, ३. प्रवास = (कार्य, शाप तथा संभ्रम) ४. करुण—विप्रलम्भ ।

अथ वीरः—

(७९) वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व-
मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः ।
उत्साहभूः स च दयारणदानयोगात्
त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः ॥७२॥

प्रतापविनयादिभिर्विभावितः करुणायुद्धदानाद्यैरनुभावितो गर्वधृतिहर्षामर्षस्मृतिमतिवितर्कप्रभृतिभिर्भावित उत्साहः स्थायी स्वदते = भावकमनोविस्तारानन्दाय प्रभवतीत्येष वीरः। तत्र दयावीरो यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य, युद्धवीरो वीरचरिते रामस्य, दानवीरः परशुरामबलिप्रभृतीनाम्—'त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः' इति ।

वीर रस

प्रताप, विनय, अध्यवसाय, सत्त्व, मोह, अविषाद, नय, विस्मय, पराक्रम इत्यादि (विभावों) के द्वारा होने वाले उत्साह (स्थायी भाव) से वीर रस होता है । वह दया, युद्ध और दान (अनुभावों) के योग से तीन प्रकार का हो जाता है । और उसमें मति, गर्व, धृति, प्रहर्ष (व्यभिचारी भाव) हुआ करते हैं ॥७२॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (६.६६ से आगे गद्य तथा ६७–६८, ७-२१, ११३, ११४), का० प्र० (४.२९ वृत्ति), भा० प्र० (पृ० ५,६०), ना० द० (३.१७२), सा० द० (३.२३२–२३४), रसगङ्गाधर (१ पृ० १५०) । (२) 'हर्ष' के स्थान पर प्रहर्ष शब्द का प्रयोग छन्द-पूर्ति के लिये किया गया है, यह वसन्ततिलका छन्द है । (३) प्रताप आदि का विवरण नायक के गुणों के प्रसङ्ग में (प्रकाश २) दिया जा चुका है ।

प्रताप विनय आदि (विभावों) के द्वारा विभावित होकर, दया, युद्ध, दान आदि (अनुभावों) के द्वारा अनुभावित होकर तथा गर्व, धृति, हर्ष, अमर्ष, स्मृति, मति, वितर्क इत्यादि (व्यभिचारी भावों) के द्वारा भावित होकर उत्साह नामक स्थायी भाव का आस्वादन होता है; अर्थात् वह सहृदयों के चित्त का विस्तार करते हुए आनन्द प्रदान करता है; यही वीर रस है । (वह तीन प्रकार का होता है, दया-वीर, युद्धवीर और दानवीर); उनमें से दयावीर (का उदाहरण) है जैसे नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन का (उत्साह), युद्धवीर का उदाहरण है महावीरचरित में राम का उत्साह, तथा दानवीर का उदाहरण है परशुराम तथा बलि आदि का दान-विषयक उत्साह । जैसे (महावीरचरित २.३५ में परशुराम के प्रति राम कहते हैं)—'सातों समुद्रों से सीमित भूमि को निष्कपट भाव से दान करने पर्यन्त आपका त्याग है ।'

'खर्वग्रन्थिविमुक्तसन्धि विकसद्वक्षः स्फुरत्कौस्तुभं
निर्यन्नाभिसरोजकुड्मलकुटीगम्भीरसामध्वनि ।
पात्रावाप्तिसमुत्सुकेन बलिना सानन्दमालोकितं
पायाद्वः क्रमवर्धमानमहिमाश्चर्यं मुरारेर्वपुः ॥३३२॥

यथा च ममैव—

'लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्गकुङ्कुमारुणितो हरेः ।
बलिरेष स येनास्य भिक्षापात्रीकृतः करः ॥३३३॥

विनयादिषु पूर्वमुदाहृतमनुसन्धेयम् । प्रतापगुणावर्जनादिनापि वीराणां भावात्त्रैधं प्रायोवादः । प्रस्वेदरक्तवदननयनादिक्रोधानुभावरहितो युद्धवीरोऽन्यथा रौद्रः ।

[दानवीर का दूसरा उदाहरण है]—(बलि से दान लेते समय वामन के विराट् रूप का वर्णन) 'जिस (विराट्) शरीर में छोटी (खर्व) ग्रन्थियों से संधिस्थलों के मुक्त हो जाने के कारण वक्षःस्थल विकसित हो रहा था तथा कौस्तुभ मणि चमक रही थी; नाभि कमल की कली रूपी कुटी से गम्भीर साम गान की ध्वनि निकल रही थी; जिसे दान-पात्र को प्राप्त करने के लिये उत्सुक बलि ने आनन्दपूर्वक देखा, वह क्रमशः बढ़ते हुए गौरव एवं आश्चर्य से भरा हुआ विष्णु का शरीर तुम्हारी रक्षा करे ।

[दानवीर का ही अन्य उदाहरण]—और, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

'यह वही राजा बलि है जिसने लक्ष्मी के स्तनमण्डल के कुंकुम से लाल हुए विष्णु के हाथ को भिक्षा का पात्र बनाया था ।'

विनय आदि के विषय में पहिले (नायक प्रकरण में) दिये गये उदाहरण ही समझने चाहियें । प्रताप, गुण तथा आवर्जन (आकर्षण) इत्यादि के भेद से भी (प्रतापवीर इत्यादि) वीर हुआ करते हैं । इसलिये (दयावीर इत्यादि) तीन प्रकार के ही वीर बतलाना प्रायिक कथन है (अर्थात् प्रायः तीन प्रकार के वीर हुआ करते हैं, इसलिये यहाँ तीन ही प्रकार के कहे गये हैं) । किञ्च, प्रस्वेद, मुख तथा नेत्रों का लाल होना इत्यादि जो क्रोध के अनुभाव हैं, जब वे नहीं होते तब युद्धवीर हुआ करता है, जब वे होते हैं (अन्यथा) तब रौद्र रस हुआ करता है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रताप आदि को सामान्य रूप से विभाव कहा गया है । ना० शा० तथा ना० द० में भी इसी प्रकार कुछ गुणों को विभाव कहा गया है । इससे यह प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों के समय रसों के आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों के पृथक्शः निरूपण की परम्परा नहीं थी । सा० द० (३.२३२-२३४) आदि के अनुसार विजेतव्य (जिस पर विजय प्राप्त करना होता है) आदि व्यक्ति ही वीर रस का आलम्बन विभाव होता है—आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः । इस प्रकार ये प्रताप आदि वीर रस के उद्दीपन विभाव हैं । (२) उपर्युक्त परशुराम

अथ बीभत्सः—

(८०) बीभत्सः कृमिपूतिगन्धिवमथुप्रायैर्जुगुप्सैकभू-
रुद्वेगी रुधिरान्त्रकीकसवसामांसादिभिः क्षोभणः।
वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घृणाशुद्धोऽनुभावैर्वृतो
नासावक्त्रविकूणनादिभिरिहावेगार्तिशङ्कादयः ॥७३॥

के उदाहरण में परशुराम का दान के प्रति उत्साह स्थायी भाव है, दान से पात्र ब्राह्मण आलम्बन विभाव हैं, सत्त्व, अध्यवसाय इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं, तथा सर्वस्व त्याग इत्यादि अनुभाव हैं। हर्ष, धृति इत्यादि सञ्चारी भाव हैं। इनसे पुष्ट होकर सहृदय के चित्त में स्थित उत्साह नामक स्थायी भाव आस्वादन का विषय होता है तथा दानवीर रस कहलाता है। (मि०, सा० द० ३·२३२–२३४ वृत्ति)। (३) सा० द० (३.२३४) में वीर के चार भेद माने गये हैं—दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर तथा दयावीर। युधिष्ठिर आदि धर्मवीर के उदाहरण हैं। हेमचन्द्र ने (काव्यानुशासन में) वीर रस के तीन ही भेद माने हैं तथा भा० प्र० (पृ० ६५) में भी। ना० द० (३.१७२ वृत्ति) में युद्ध, दान आदि उपाधियों के द्वारा वीर के अनेक भेद माने गये हैं, इसमें धनिक की टीका के साथ बहुत समानता है। (४) **युद्धवीर तथा रौद्र का अन्तर**—(i) रौद्र का स्थायी भाव क्रोध है तथा युद्धवीर का उत्साह (ii) रौद्र में मुख तथा नेत्रों का लाल हो जाना इत्यादि अनुभावों का वर्णन होता है, युद्धवीर में नहीं (धनिक तथा सा० द०) (iii) युद्धवीर में मोहरहित तत्त्वनिश्चय (अध्यवसाय) की प्रधानता रहती है, किन्तु रौद्र में तमोगुण की अधिकता के कारण मोह और विस्मय की प्रधानता रहती है। (मि०, अभि० भा० ६.६८ तथा काव्यानुशासन)। (iv) रौद्र में शत्रु का सिर काटने के बाद भी क्रोधवश उसकी भुजा आदि को काटने का वर्णन होता है, युद्धवीर में नहीं, यह अनुभाव-भेद है (अभि० भा० ६.६५)। (v) युद्धवीर में उत्साह तथा न्याय की प्रधानता होती है, रौद्र में मोह, अहङ्कार, अन्याय की (ना० द० ३.१७२ वृत्ति)।

बीभत्स रस

बीभत्स रस जुगुप्सा नामक स्थायी भाव से होता है। (यह तीन प्रकार का है) (क) कीड़े, दुर्गन्ध, वमन आदि (विभावों) से होने वाला उद्वेगी बीभत्स होता है, (ख) रुधिर; अंतड़ियाँ, हड्डी (कीकस), मज्जा (वसा), मांस आदि (विभावों) से होने वाला क्षोभण बीभत्स तथा (ग) जघन, स्तन आदि के प्रति वैराग्य से होने वाला घृणाशुद्ध बीभत्स होता है। यह नाक सिकोड़ना, मुँह फेरना (विकूणन) आदि अनुभावों से युक्त होता है तथा इसमें आवेग, व्याधि (आर्ति), शङ्का आदि (व्याभिचारी भाव) हुआ करते हैं ॥७३॥

अत्यन्ताहृद्यैः कृमिपूतिगन्धिप्रायविभावैरुद्भूतो जुगुप्सास्थायिभावपरिपोषणलक्षण उद्वेगी बीभत्सः। यथा मालतीमाधवे—

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोपभूयांसि मांसा—
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का—
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥३३४॥

रुधिरान्त्रवसाकीकसमांसादिविभावः क्षोभणो बीभत्सो यथा वीरचरिते—

अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कङ्कण—
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम्।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (६.७२ से आगे गद्य तथा ७३.७४; ७.२६, ११६), का० प्र० (४.२९ वृत्ति), भा० प्र० (पृ० ६, ६३); ना० द० (३.१७४), प्रता० (पृ० १६), सा० द० (३.२३९–२४१), रसगङ्गाधर (१ पृ० १७०)। (२) यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है। (३) जुगुप्सा नामक स्थायीभाव का परिपोष ही बीभत्स रस है। मानसिक अवस्था के आधार पर इसके तीन भेद किये गये हैं। उद्वेग, क्षोभण और शुद्ध घृणा तीनों मानस अनुभाव हैं। कभी उद्वेग से मिश्रित घृणा (जुगुप्सा) होती है, कभी क्षोभ से मिश्रित और कभी शुद्ध घृणा; जैसा कि आगे उदाहरणों से स्पष्ट है। (४) यहाँ भी सभी विभावों को समान रूप से कहा गया है। सा० द० के अनुसार दुर्गन्ध, मांस रुधिर आदि इसके आलम्बन विभाव हैं। उनमें कीड़े पकड़ना आदि उद्दीपन है।

(क) हृदय को बिल्कुल अच्छे न लगने वाले कीड़े तथा दुर्गन्ध आदि से होने वाला जुगुप्सा नामक स्थायी भाव है उसका परिपोष ही उद्वेगी बीभत्स रस होता है। जैसे मालतीमाधव (५.४६) में—

'क्षुधा से पीड़ित, सभी ओर ताकता हुआ, दाँत निकाले हुए यह दरिद्र प्रेत पहले चर्म (कृत्ति) को उधेड़ उधेड़कर तब कन्धे (अंस), उरुमूल (स्फिक्) तथा जंघा के ऊपरी भाग (पृष्ठपिण्ड) आदि में सुलभ बहुत पुष्टि के कारण पर्याप्त (पृथुना महता उच्छोपेन-उच्छ्रिततया भूयांसि) तीव्र दुर्गन्ध वाले मांस को खाकर (जग्ध्वा) अपनी गोद में पड़े अस्थिपञ्जर (करङ्क) में से अस्थियों के ऊँचे नीचे भागों (स्थपुट) में स्थित कच्चे माँस को (क्रव्य) धीरे-धीरे खा रहा है।' (मि० का० प्र० उदा० ४२)। ['पृथूच्छोफ' पाठ युक्त प्रतीत होता है।]

(ख) रुधिर, अंतड़ियाँ, हड्डी, मज्जा, मांस आदि विभावों से क्षोभण-बीभत्स रस होता है; जैसे महावीरचरित (१.३५) में—

'अंतड़ियों में पिरोये बड़े-बड़े कपाल तथा जंघा की हड्डियों (नलक) से बने हुये, भयानक शब्द करने वाले कङ्कण आदि बहुत से चञ्चल (प्रेङ्खित) आभूषणों की ध्वनि से आकाश को प्रतिध्वनित करती हुई; पीकर उगले हुए रुधिर की कीचड़ से लिपटे शरीर के ऊपरी भाग पर भयङ्कर रूप से दिखाई देने वाले (उल्लसत्) येग

पीतोच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लस—
द्व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्बन्धोद्धतं धावति ॥३३५॥

रम्येष्वपि रमणीजघनस्तनादिषु वैराग्याद् घृणाशुद्धो बीभत्सो यथाः—

'लालां वक्त्रासवं वेत्ति मांसपिण्डौ पयोधरौ ।
मांसास्थिकूटं जघनं जनः कामग्रहातुरः ॥३३६॥

न चायं शान्त एव विरक्तः, यतो बीभत्समानो विरज्यते ।

अथ रौद्रः—

(८१) क्रोधो मत्सरवैरिवैकृतमयैः पोषोऽस्य रौद्रोऽनुजः
क्षोभः स्वाधरदंशकम्पभृकुटिस्वेदास्यरागैर्युतः ।

से हिलते हुए स्तन भार से भयावने शरीर वाली, यह कौन है जो बन्ध के कारण उद्धत रूप से 'भाग रही है'। [का० प्र० उदा० २६८, वहाँ दर्पोद्धतं' पाठ है (दर्प से उद्धत) वही शुद्ध प्रतीत होता है]

रमणी के सुन्दर जंघा स्तन आदि के प्रति भी वैराग्य के निमित्त होने वाली घृणा शुद्ध बीभत्स है; जैसे (?)—

'काम-ग्रह से व्याकुल जन लार को मुख-मदिरा समझता है, मांस के पिण्डों को स्तन और हाड़, मांस के उठे भागों को जांघ।'

यहाँ (वर्णित) विरक्त जन को शान्त (शान्त रस से युक्त) नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जब कोई (रमणीय विषयों से) घृणा करता है तब विरक्त होता है [अतः यहाँ घृणा या बीभत्स ही है जो वैराग्य का कारण है] ।

टिप्पणी—(१) उत्कृत्य० इत्यादि में शव आलम्बन विभाव है; शव को बार-बार काटना आदि उद्दीपन हैं। देखने वाले का थूकना, नाक सिकोड़ना आदि (जो कल्पना से जाने गये हैं) अनुभाव हैं तथा आवेग, शङ्का आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे पुष्ट होकर जुगुप्सा भाव ही उद्वेगी बीभत्स रस कहलाता है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझना चाहिये। (२) **बीभत्समानो विरज्यते**—रमणीय विषयों में घृणा करता हुआ व्यक्ति विरक्त होता है तथा विरक्ति के पश्चात् शम युक्त (शान्त) होता है इस प्रकार यहाँ शान्तरस नहीं है, क्योंकि यहाँ तो केवल वैराग्य के निमित्त शुद्ध घृणा (बीभत्स) का वर्णन है (?) (मि० प्रभा)।

रौद्र रस

मात्सर्य तथा शत्रु द्वारा किये गये अपकार आदि (विभावों) से होने वाला जो क्रोध है उसकी पुष्टि रौद्र रस कहलाता है। उसके पश्चात् (मानस, अनुभाव) क्षोभ उत्पन्न होता है, जो ओठ चबाना, काँपना, भौंहें टेढ़ी करना, पसीना, मुख लाल होना आदि तथा शस्त्र उठाना, डींग मारना (विकत्थन=आत्मश्लाघा) (हाँथ से) अपने कन्धे पर तथा (पैर से) भूमि पर

शस्त्रोल्लासविकत्थनांसधरणीघातप्रतिज्ञाग्रहै—
रत्रामर्षमदौ स्मृतिश्चपलतासूयौग्र्यवेगादयः ॥७४॥

मात्सर्यविभावो रौद्रो यथा वीरचरिते—

'त्वं ब्रह्मवर्चसधरो यदि वर्तमानो
यद्वा स्वजातिसमयेन धनुर्धरः स्याः।
उग्रेण भोस्तव तपस्तपसा दहामि
पक्षान्तरस्य सदृशं परशुः करोति ॥३३७॥

वैरिवैकृतादिर्यथा वेणीसंहारे—

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य।

चोट करना, प्रतिज्ञा करना इत्यादि (आङ्गिक, वाचिक अनुभावों तथा सात्त्विक भावों) से युक्त होता है। इसमें अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता तथा वेग आदि अनुभाव हुआ करते हैं ॥७४॥

टिप्पणी—(१) ना० शा० (६.६३ के आगे गद्य तथा ६४–६६, ७.१५, ११२), का० प्र० (४.२९ वृत्ति), भा० प्र० (पृ० ६, ६६ आदि), ना० द० (३.१७१), सा० द० (३.२२७–२३१), रसगङ्गाधर (१ पृ० १४६)। (२) यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है। (३) भा० प्र० (पृ० ३५, अधिकार २) में क्रोध तीन प्रकार का बतलाया गया है—क्रोध, कोप और रोष। सा० द० के अनुसार रौद्र का आलम्बन विभाव शत्रु होता है तथा उसकी चेष्टायें उद्दीपन विभाव होती हैं। (४) वैरिवैकृतम्=वैरिकृतापकारस् तन्मयैः तत्प्रधानैः विभावैः (प्रभा) वैरी के द्वारा किये अपकार हैं मुख्य जिनमें ऐसे विभावों से क्रोध उत्पन्न होता है। अनुजः क्षोभः—क्रोध के अनन्तर क्षोभ उत्पन्न होता है। यह क्रोध का मानसिक अनुभाव है जो कि वाचिक तथा आङ्गिक अनुभावों के साथ हुआ करता है। 'स्वाधर०' तथा 'शस्त्रोल्लास०' इत्यादि पदों के द्वारा वाचिक एवं आङ्गिक अनुभाव बतलाये गये हैं। इनमें स्वेद आदि सात्त्विक भाव भी हैं।

मात्सर्य (किसी के गुणों में दोष देखना) विभाव से होने वाला रौद्र जैसे महावीरचरित (३.४४) में—

(परशुराम विश्वामित्र से कह रहे हैं) 'तुम इस समय ब्रह्मतेज को धारण करके उपस्थित हो (वर्तमानः) अथवा अपनी जाति के नियम के अनुसार (समयेन) धनुर्धारी हो सकते हो। फिर भी मैं अपने उग्र तप से तुम्हारे तप को जला दूंगा और दूसरे पक्ष (धनुर्धारी होने) के अनुकूल मेरा परशु कार्य करेगा।'

शत्रु द्वारा किये गये अपकार आदि (विभाव) से होने वाला रौद्र यह है, जैसे वेणीसंहार (१.८) में—(नेपथ्य में भीम कहता है) 'लाक्षागृह में आग' विष-युक्त भोजन और सभा में प्रवेश के द्वारा हमारे प्राणों तथा धन पर प्रहार करके और

आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥३३८॥

इत्येवमादिविभावैः प्रस्वेदरक्तवदननयनाद्यनुभावैरमर्षादिव्यभिचारिभिः क्रोधपरिपोषो रौद्रः, परशुरामभीमसेनदुर्योधनादिव्यवहारेषु वीरचरितवेणीसंहारादेरनुगन्तव्यः ।

अथ हास्यः—

(८२) विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा ।
हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः ॥७५॥

आत्मस्थान् विकृतवेषभाषादीन् परस्थान् वा विभावानवलम्बमानो हासस्तत्परिपोषात्मा हास्यो रसो द्वयधिष्ठानो भवति, स चोत्तममध्यमाधमप्रकृतिभेदात्षड्विधः ।

पाण्डवों की वधू (द्रौपदी) के वस्त्र एवं केशों को खींचकर भी धृतराष्ट्र के पुत्र मेरे (भीम के) जीवित रहते कुशलपूर्वक रह सकते हैं ?'

इस प्रकार (मात्सर्य आदि) के विभावों से प्रस्वेद, मुख का लाल होना इत्यादि अनुभावों से तथा अमर्ष आदि व्यभिचारी भावों से जो क्रोध का परिपोष होता है, वही रौद्र रस है । इसे परशुराम, भीमसेन तथा दुर्योधन आदि के व्यवहारों में महावीरचरित तथा वेणीसंहार आदि नाटकों से खोजा जा सकता है ।

टिप्पणी लाक्षागृह० इत्यादि में धृतराष्ट्र के पुत्र क्रोध के आलम्बन हैं, उनके किये गये लाक्षागृह में आग लगाना इत्यादि अपकार ही उद्दीपन विभाव हैं । 'स्वस्था भवन्तु' में काकु द्वारा प्रकट किया गया कौरवों के नाश का संकल्प ही अनुभाव है । इस कथन के द्वारा जाने गये अमर्ष, गर्व आदि ही व्यभिचारी भाव हैं । इनसे पुष्ट हुआ क्रोध नामक स्थायी भाव रौद्र रस कहलाता है । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझना चाहिये ।

हास्य रस

अपने या दूसरे के विकारयुक्त (बिगड़े हुए) आकार, वचन तथा वेष आदि (विभावों) से जो हास (स्थायी भाव) होता है उसका परिपोष हास्य रस कहलाता है । इसे (हास को) त्रिप्रकृति (तीन प्रकार के आश्रयों में होने वाला) कहा गया है ॥७५॥

अपने (आत्मस्थ) अथवा दूसरे के (परस्थ) विकृत वेष तथा भाषा आदि विभावों का आलम्बन करके उत्पन्न होने वाला हास (नामक स्थायी भाव) है । उसका परिपोष ही हास्य रस है । इस (हास) के दो निमित्त होते हैं (आत्मस्थ और परस्थ) और वह उत्तम, मध्यम, अधम प्रकृति के भेद से ६ प्रकार का हो जाता है ।

आत्मस्थो यथा रावणः—

'जातं मे परुषेण भस्मरजसा तच्चन्दनोद्धूलनं
हारो वक्षसि यज्ञसूत्रमुचितं क्लिष्टा जटाः कुन्तलाः ।
रुद्राक्षैः सकलैः सरत्नवलयं चित्रांशुकं वल्कलं
सीतालोचनहारि कल्पितमहो रम्यं वपुः कामिनः ।।३३६।।

परस्थो यथा—

भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे ? किं तेन मद्यं विना
किं ते मद्यमपि प्रियम् ? प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ।

टिप्पणी— १) द्विविधश्चायम् आत्मस्थः परस्थश्च । यदा स्वयं हसति तदाऽऽत्मस्थः । यदा तु परं हासयति तदा परस्थः, ना० शा० (६.४८ से आगे गद्य तथा ना० शा० ६.४९,६१; ७.१०); का० प्र० (४.२९ वृत्ति), भा० प्र० (पृ० ५, ६४ आदि), ना० द० (३. १६८-१६९), प्रता० (पृ० १६४), सा० द० (३. २१४-२२१), रसगङ्गाधर (१ पृ० १६८) । (२) सा० द० के अनुसार विकृत आकार वाणी तथा चेष्टा वाला व्यक्ति हास का आलम्बन विभाव होता है, उसकी चेष्टायें उद्दीपन विभाव । (३) हास का अर्थ है वाणी आदि की विकृति को देखकर चित्त का विकास (सा० द० ३,१७६) जिसके चित्त में हास नामक भाव (लौकिक रस) होता है यदि उसका कहीं साक्षात् वर्णन नहीं किया जाता तो भी उसको विभाव आदि के वर्णन से समझ लिया जाता है । (मि०, सा० द० ३. २२०–२२१) । इसी प्रकार बीभत्स आदि रसों के सन्दर्भ में भी जानना चाहिये । (४) द्व्यधिष्ठान—दो हैं, अधिष्ठान जिसके; भाव यह है कि विकृत आकार, चेष्टा आदि ही हास के निमित्त हैं, वे कहीं तो आत्मस्थ (=हंसने वाले के अपने भीतर स्थित) होते हैं और कहीं परस्थ (=किसी अन्य जन में स्थित) होते हैं । षड्विधः ६ प्रकार का, जिनके चित्त में हास नामक भाव होता है (=हास का आश्रय) वे तीन प्रकार के होते हैं उत्तम मध्यम तथा अधम । इस प्रकार आतमस्थ तथा परस्थ निमित्तों से होने वाला प्रत्येक हास तीन प्रकार का होता है और कुल ६ प्रकार के हो जाते हैं; जैसे १. आत्मस्थ उत्तम प्रकृति, २. आत्मस्थ मध्यम प्रकृति, ३. आत्मस्थ अधम प्रकृति, ४. परस्थ उत्तम प्रकृति, ५. परस्थ मध्यम प्रकृति, ६. परस्थ अधम प्रकृति ।

अपने विकृत वेष आदि से होने वाला हास, जैसे (?) (रावण—अपने आपको देखकर हँस रहा है)—'कठोर भस्म की धूलि से मेरे शरीर में यह चन्दन का लेप हो गया है, ब्राह्मण-योग्य (उचित) यज्ञोपवीत ही वक्षः स्थल पर हार है, उलझी जटाएँ ही (कोमल) केश हैं, समस्त रुद्राक्षों के द्वारा रत्नयुक्त वलय (कड़े) बन गये हैं, वल्कल वस्त्र ही रंग बिरंगे रेशमी वस्त्र (=अंशुक) हैं । अहो, यह सीता के नेत्रों को लुभाने वाला ऐसा सुन्दर कामी का रूप बन गया है ।'

दूसरे के विकृत वेष आदि से होने वाला हास, जैसे (?)—'हे भिक्षुक, क्या तुम मांस का सेवन करते हो ? (उत्तर) मदिरा के बिना मांस से क्या (लाभ) ? (प्रश्न) क्या तुम्हें मदिरा भी प्रिय है ? (उत्तर) अहो, वेश्याओं के साथ ही मदिरा

वेश्या द्रव्यरुचिः कुतस्तव धनम् ? द्यूतेन चौर्येण वा ।
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो नष्टस्य काऽन्या गतिः ? ।।३४०।।

(८३) स्मितमिह विकासिनयनम्, किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तु हसितं स्यात्
मधुरस्वरं विहसितम्, सशिरःकम्पमिदमुपहसितम् ।।७६।।
अपहसितं सास्राक्षम्, विक्षिप्ताङ्गं भवत्यतिहसितम् ।
द्वे द्वे हसिते चैषां ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः ।।७७।।

उत्तमस्य स्वपरस्थविकारदर्शनात् स्मितहसिते, मध्यमस्य विहसितोपहसिते, अधमस्याऽपहसितातिहसिते । उदाहृतयः स्वयमुत्प्रेक्ष्याः ।

प्रिय होती है । (प्रश्न) वेश्या तो धन में रुचि रखने वाली होती हैं और तुम्हारे पास धन कहाँ ? (उत्तर) धन तो द्यूत या चोरी से आता है । (प्रश्न) क्या आप जुआ और चोरी भी करते हैं ? (उत्तर) जो नष्ट हो चुका है उसकी और गति ही क्या है ?'

टिप्पणी—(१) 'जातं मे' इत्यादि आत्मस्थ निमित्त से होने वाले हास का उदाहरण है । यहाँ विकृत वेष वाला रावण स्वयं ही अपने हास का आलम्बन है, उसका विकृत वेष उद्दीपन है, अपने को देखकर नेत्र-विकास, मुस्कराहट आदि होना अनुभाव हैं तथा शङ्का, ग्लानि, आदि व्यभिचारी भाव हैं । इनसे परिपुष्ट हुआ सहृदय के चित्त का हास नामक स्थायी भाव हास्य रस कहलाता है । (२) 'भिक्षो' इत्यादि परस्थ निमित्त से होने वाले हास का उदाहरण है । यहाँ भिक्षु तथा उसकी विकृत वाणी आदि ही प्रश्नकर्त्ता के हास के निमित्त हैं ।

उत्तम आदि प्रकृति में होने वाले हास के भेद

इस हास में (इह) (१) वह स्मित कहलाता है जिसमें (केवल) नेत्र विकसित होते हैं (२) वह हसित है जिसमें दाँत कुछ-कुछ दिखलाई देते हैं, (३) वह विहसित है जिसमें मधुर स्वर होता है, (४) वह विहसित जब सिर हिलाने के साथ होता है तो उपहसित कहलाता है, (५) वह अपहसित है जिसमें नेत्र अश्रुयुक्त हो जाते हैं और (६) वह अतिहसित है जिसमें अङ्गों को (इधर-उधर) फैंका जाता है । इन (६) में से क्रमशः दो-दो उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के हुआ करते हैं ।।७६-७७।।

अर्थात् अपने या दूसरे के (आकार आदि) विकार को देखकर उत्तम जन को स्मित और हसित हुआ करते हैं, मध्यम को विहसित और उपहसित तथा अधम को अपहसित और अतिहसित । इनके उदाहरण स्वयं देखने चाहियें ।

व्यभिचारिणश्चास्य—

(८४) निद्रालस्यश्रमग्लानिमूर्च्छाश्च सहचारिणः (व्यभिचारिणः) ।

अथाद्भुतः—

(८५) अतिलौकैः पदार्थैः स्याद्विस्मयात्मा रसोऽद्भुतः ।।७८।।
कर्मास्य साधुवादाश्रुवेपथुस्वेदगद्गदाः ।
हर्षावेगधृतिप्राया भवन्ति व्यभिचारिणः ।।७९।।

लोकसीमातिवृत्तपदार्थवर्णनादिविभावितः साधुवादाद्यनुभावपरिपुष्टो विस्मयः स्थायिभावो हर्षवेगादिभावितो रसोऽद्भुतः । यथा—

'दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्धत—
ष्टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर—
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमसौ नाद्यापि विश्राम्यति ।।३४१।।

इत्यादि ।

इस (हास्य रस) के व्यभिचारी भाव ये हैं—

निद्रा, आलस्य, श्रम, ग्लानि, तथा मूर्च्छा (हास्य रस के) व्यभिचारी भाव होते हैं ।

टिप्पणी—यहाँ सभी व्यभिचारी भावों का उल्लेख नहीं किया गया । ना० शा० (७.११०) में शङ्का आदि तथा ना० शा० एवं सा० द० आदि में नेत्रसङ्कोच, मुस्कराना (स्मेरता) आदि का भी उल्लेख है ।

अद्भुत रस

अलौकिक पदार्थों (के दर्शन, श्रवण आदि) से उत्पन्न होने वाला विस्मय (स्थायी भाव) ही जिसका जीवन (आतमा) है, वह अद्भुत रस है । साधुवाद (सराहना करना), अश्रु, कम्पन, प्रस्वेद, तथा गद्गद होना आदि उसके कार्य (अनुभाव) हैं, हर्ष, आवेग और धृति इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं ।।७८–७९।।

भाव यह है कि लोक-सीमा का अतिक्रमण करने वाले पदार्थों के वर्णन आदि से विभावित होकर, साधुवाद आदि अनुभावों से परिपुष्ट होकर तथा हर्ष, आवेग आदि (व्यभिचारी भावों) से भावित होकर विस्मय नामक स्थायी भाव ही अद्भुत रस कहलाता है ।

जैसे (महावीरचरित १.५४)—

(धनुर्भङ्ग के पश्चात् उसकी टङ्कारध्वनि का वर्णन है) (राम के) भुजदण्डों से खींचे गये शिव के धनुर्दण्ड के टूटने से उत्पन्न होने वाली टंकार की यह ध्वनि आज भी क्यों नहीं विश्रान्त हो रही है जो (ध्वनि) मानो आर्य राम के बालचरित की प्रस्तावना का डिण्डिम घोष है (अद्भुत बालचरित को सूचित करती है) दूर तक फैले कपाल-सम्पुटों के मिलने से बने हुए ब्रह्माण्ड रूपी पात्र के उदर में घूमने से जिसकी प्रचण्डता घनीभूत हो गई है ।

अथ भयानकः—

(८६) विकृतस्वरसत्त्वादेर्भयभावो भयानकः।
सर्वाङ्गवेपथुस्वेदशोषवैवर्ण्यलक्षणः ॥
दैन्यसम्भ्रमसंमोहत्रासादिस्तत्सहोदरः ॥८०॥

रौद्रशब्दश्रवणाद्रौद्रसत्त्वदर्शनाच्च भयस्यायिभावप्रभवो भयानको रसः, तत्र सर्वाङ्गवेपथुप्रभृतयोऽनुभावाः, दैन्यादयस्तु व्यभिचारिणः।

भयानको यथा—

'शस्त्रमेतत्समुत्सृज्य कुब्जीभूय शनैः शनैः।
यथातथागतेनैव यदि शक्नोषि गम्यताम् ॥३४२॥

यथा च रत्नावल्यां प्रागुदाहृतम्—'नष्टं वर्षवरैः' इत्यादि।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (६.७४ से आगे गद्य तथा ७५.७६; ७.२७, ११७), का० प्र० (४.२९ वृत्ति) भा० प्र० (पृ० ४.३५, ६६), ना० द० (३.१७५), प्रता० (पृ० १६८), सा० द० ३.२४२–२४५), रसगङ्गाधर (१, पृ० १६५)। (२) सा० द० के अनुसार लोकातिक्रान्त वस्तु इसका आलम्बन विभाव है, उस वस्तु के अद्भुत गुण या कार्य उद्दीपनविभाव हैं। (३) अतिलोकैः—लोकसीमातिक्रान्तैः, अलौकिक। साधुवाद—'साधु'इति वदनम्, 'बहुत अच्छा' इस प्रकार कहना वाह-वाही करना, शाबासी देना, सराहना। (४) दोर्दण्ड० इत्यादि उदाहरण में राम द्वारा धनुष तोड़ा जाना आलम्बन विभाव है, उसकी टङ्कार-ध्वनि उद्दीपन विभाव है, उसकी सराहना करना अनुभाव है, हर्ष, आवेग आदि व्यभिचारी भाव हैं।

भयानक रस

विकृत (डरावने) शब्द अथवा सत्त्व (पराक्रम, प्राणी, पिशाच आदि) आदि (विभावों) से उत्पन्न होने वाला भय नामक स्थायी भाव ही (परिपुष्ट होकर) भयानक रस होता है। सारे शरीर का काँपना, पसीना छूटना, मुंह सूख जाना, रंग फीका पड़ जाना (वैवर्ण्य) आदि इसके चिह्न(कार्य, अनुभाव) होते हैं। दीनता, सम्भ्रम, सम्मोह, त्रास आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं ॥८०॥

भयावने शब्द को सुनने या भयानक सत्त्व को देखने से उत्पन्न होने वाले भय स्थायी भाव से (परिपुष्ट होकर) भयानक रस होता है। इसमें अङ्गों में कम्पन इत्यादि अनुभाव होते हैं तथा दैन्य इत्यादि व्यभिचारी भाव होते हैं।

भयानक (शब्द), जैसे (?)—इस शस्त्र को छोड़कर कुबड़े से होकर (झुककर) जिस किसी प्रकार से भी, यदि जा सकते हो तो चले जाओ'।

और (भयानक सत्त्व के दर्शन से होने वाला भय), जैसे रत्नावली (२.३) में 'नष्टं वर्षवरैः' इत्यादि (वानर को देखकर अन्तःपुर के भय का वर्णन है), जिसका उदाहरण पहले (२.५९ उदा० १८५) दिया जा चुका है।

यथा—

स्वगेहात्पन्थानं तत उपचितं काननमथो
गिरिं तस्मात्सान्द्रद्रुमगहनमस्मादपि गुहाम् ।
तदन्वङ्गान्यङ्गैरभिनिविशमानो न गणय—
त्यरातिः क्वालीये तव विजययात्राचकितधीः ॥३४३॥

अथ करुण :—

(८७) इष्टनाशादनिष्टाप्तौ*शोकात्मा करुणोऽनु तम् ।
निश्वासोच्छ्-वासरुदितस्तम्भप्रलपितादयः ॥८१॥
स्वापापस्मारदैन्याधिमरणालस्यसम्भ्रमाः ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥८२॥

अथवा जैसे (कोई कवि किसी राजा की स्तुति करते हुए कहता है)—आपकी विजय—यात्रा से चकित बुद्धि वाला शत्रु अपने घर से भागकर मार्ग में गया, वहाँ से घने वन में और फिर पर्वत पर, वहाँ से घने वृक्षों से गहन स्थान में गया और वहाँ से भी गुफा में चला गया। इसके पश्चात् भी अपने अङ्गों में ही प्रविष्ट होता हुआ वह (शत्रु) यह नहीं सोच पाता कि कहाँ छिपूँ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (६.६८ से आगे गद्य तथा ६९-७२ : ७. २२-२५, ११५), का० प्र० (४.२९ वृत्ति), भा० प्र० (पृ० ५, ३६, ६७) ना० द० (३.१७३), प्रता० (पृ० १६७), सा० द० (३.२३५–२३८), रसगङ्गाधर (१ पृ० १७०)। (२) सा० द० के अनुसार जिस व्यक्ति से भय उत्पन्न होता है वह भयानक रस का आलम्बन विभाव है; उसकी भयावनी चेष्टायें उद्दीपन विभाव हैं। (३) 'स्वगेहात्०' इत्यादि में विजेता राजा ही आलम्बन विभाव है; उसके पराक्रम आदि उद्दीपन विभाव हैं; भयभीत शत्रु का इधर-उधर भागना; छिपना आदि अनुभाव हैं; दैन्य, सम्भ्रम, सम्मोह आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे पुष्ट होकर भय नामक स्थायी भाव भयानक रस होता है। (४) सत्त्वदर्शनम् सत्त्वानां पिशाचानां दर्शनम् (अभि० भा०); अथवा सत्त्व =प्राणी, भयोत्पादक प्राणी; या सत्त्व =पराक्रम, बल (मि० ना० द०)।

करुण रस

करुण रस का स्थायी भाव शोक है जो इष्ट के नाश तथा अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् निःश्वास, उच्छ्वास, रुदन, स्तम्भ तथा प्रलाप आदि (अनुभाव) होते हैं। निद्रा, अपस्मार, दैन्य, व्याधि, मरण, आलस्य, सम्भ्रम, विषाद, जडता, उन्माद तथा चिन्ता इत्यादि इसके व्यभिचारी भाव हैं ॥८1–८२॥

---

* 'आप्तेः' इति पाठान्तरम् ।

इष्टस्य बन्धुप्रभृतेर्विनाशादनिष्टस्य तु बन्धनादेः प्राप्त्या शोकप्रकर्षजः करुणः, तमन्विति तदनुभावनिःश्वासादिकथनम् व्यभिचारिणश्च स्वापापस्मारादयः। इष्टनाशात्करुणो यथा कुमारसंभवे—

'अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ॥३४४॥

इत्यादि रतिप्रलापः। अनिष्टावाप्तेः सागरिकाया बन्धनाद्यथा रत्नावल्याम्।

(८८) प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः ॥८३॥

प्रिय बन्धु आदि के नाश से तथा अनिष्ट कार्य बन्धन (बन्दी होना) आदि से उत्पन्न होने वाले शोक से परिपोष से करुण रस उत्पन्न होता है। (कारिका में) तम् अनु (=उसके पश्चात्) आदि के द्वारा उसके अनुभाव निःश्वास आदि का कथन किया गया है। निद्रा, अपस्मार आदि उसके व्यभिचारी भाव हैं।

इष्टनाश से होने वाला करुण; जैसे कुमारसम्भव (४.३) में—'हे प्राणनाथ तुम जीवित हो ? यह कहकर उठती हुई उस रति को अपने सामने भूमि पर पड़ी हुई केवल पुरुष की आकृति वाली शिव की कोपाग्नि की भस्म दिखलाई पड़ी। इत्यादि रति का प्रलाप है।

अनिष्ट की प्राप्ति से होने वाला करुण; जैसे रत्नावली नाटिका में बन्धन के कारण होने वाला सागरिका का (शोक) है।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (६.६१ के आगे गद्य तथा ६२, ६३, अ० ७. ११-१४, १११), का० प्र० (४.२९ वृत्ति), भा० प्र० (पृ० ४. ४७, ४९, ६६-६७ आदि), ना० द० (३.१७०), प्रता० (पृ० १६५), सा० द० (३.२२२-२२६), रसगङ्गाधर (१. पृ० १४३)। (२) सा० द० के अनुसार करुण रस का आलम्बन विभाव वह विनष्ट बन्धु बान्धव आदि है जिसके प्रति शोक किया जाता है, उसकी दाह आदि अवस्था उद्दीपन विभाव हैं। (३) करुण तथा विप्रलम्भ का भेद द्र० ऊपर (४.६७) तथा सा० द० (३-२२६)। (४) अयि जीवितनाथ, इत्यादि में नष्ट हुआ कामदेव आलम्बन विभाव है; उसकी भस्म आदि उद्दीपन विभाव हैं; रति का प्रलाप आदि अनुभाव हैं तथा दैन्य, ग्लानि आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनसे पुष्ट होकर शोक नामक स्थायी भाव सहृदय सामाजिकों को करुण रस के रूप में आस्वादनीय होता है।

अन्य भाव आदि का उक्त भावों में ही अन्तर्भाव

स्नेह (प्रीति) भक्ति आदि भावों का, शिकार खेलना (मृगया), द्यूत (अक्ष) इत्यादि रसों का हर्ष तथा उत्साह आदि में ही स्पष्ट रूप में अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिये उनका पृथक् निरूपण नहीं किया गया ॥८३॥

स्पष्टम् ।

(८९) षट्त्रिंशद् भूषणादीनि सामादीन्येकविंशतिः ।
*लक्ष्मसन्ध्यन्तराख्यानि सालङ्कारेषु तेषु च ॥८४॥

'विभूषणं चाक्षरसंहतिश्च शोभाभिमानौ गुणकीर्तनं च' इत्येवमादीनि षट्त्रिंशत् (विभूषणादीनि) काव्यलक्षणानि 'साम भेदः प्रदानं च इत्येवमादीनि सन्ध्यन्तराण्येकविंशतिरुपमादिष्वलङ्कारेषु हर्षोत्साहादिषु चान्तर्भावान्न पृथगुक्तानि ।

यह (कारिका) स्पष्ट ही है ।

टिप्पणी—(१) रुद्रट काव्यालङ्कार (१५.१७-१९), सर० क० (५.२५२), रसतरङ्गिणी (६), सा० द० (३.२५१) । (२) कुछ आचार्यों ने स्नेह तथा भक्ति आदि को पृथक् भाव के रूप में माना था जैसे रुद्रट ने प्रेयान् नामक रस माना है जिसका स्थायी भाव स्नेह है । स्नेह का अर्थ है समान प्रकृति वाले जनों का परस्पर निश्छल मधुर भाव, जैसा दो मित्रों में हुआ करता है (काव्या० १५.१७-१९) । इसी प्रकार किन्हीं ने (?) मृगया और द्यूत को भी पृथक् रस बतलाया था । उनको लक्ष्य करके ही धनञ्जय ने यह कहा है । (३) रूपगोस्वामी ने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्ति रस का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है तथा विश्वनाथ कविराज (सा० द० ३-२५१) ने वात्सल्य रस को भरतमुनि सम्मत बतलाया है ।

(इसी प्रकार) ३६ भूषण इत्यादि जो (नाट्य, काव्य के) लक्षण कहलाते हैं तथा २१ सम इत्यादि जो सन्ध्यन्तर कहलाते हैं उनका भी (उपमा आदि) अलङ्कारों तथा उन (हर्ष, उत्साह आदि) भावों में ही अन्तर्भाव हो जाता है ॥८४॥

विभूषण, अक्षरसंहति, शोभा, अभिमान तथा गुणकीर्तन इत्यादि, ३६ काव्यलक्षण कहे गये हैं तथा साम, भेद और दान इत्यादि २१ सन्ध्यन्तर नाम से कहे गये हैं । उनका उपमा आदि अलङ्कारों में तथा हर्ष, उत्साह आदि भावों में ही अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिये वे यहाँ पृथक् नहीं बतलाये गये ।

टिप्पणी—(१) ना० शा० (अ० १६) में तथा सा० द० (६.१७१-१९४) में भी विभूषण, अक्षर-संहति इत्यादि काव्यलक्षण या नाट्यलक्षण बतलाये गये हैं । इन्हें भूषण भी कहा जाता है । भरत मुनि का कथन है कि इनकी प्रत्येक रस के अनुसार काव्य में योजना करनी चाहिये । अभिनवगुप्त ने गुण तथा अलङ्कारों से भेद दिखलाते हुए इन लक्षणों के स्वरूप और महत्त्व का भी निरूपण किया है । ये लक्षण महापुरुषों के पद्म आदि चिह्नों के समान काव्य के सौन्दर्य-बर्द्धक होते हैं । उदाहरणार्थ विचित्र अर्थ वाले नपे-तुले शब्दों द्वारा वस्तु-वर्णना ही अक्षरसंघात कहलाता है, जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल में 'राजा-कच्चित् सखीं वो नातिबाधते शरीरसंतापः ? प्रियंवदा—साम्प्रतं लब्धौषधमुपशमं गमिष्यति' । प्रियंवदा के इस उत्तर में एक विशेष लावण्य आ गया है जो शृङ्गार रस के नितान्त अनुरूप ही है ।

---

* 'लक्ष्यसन्ध्यन्तराख्यानि' इति पाठान्तरम् ।

(९०) रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच—
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ॥८५॥

(९१) विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः ।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥८६॥

इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके
रसविचारो नाम चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः ।
समाप्तश्चायं ग्रन्थः

---

(२) सन्ध्यन्तर—रूपकों की मुख आदि सन्धियों के समान ही सन्ध्यन्तर भी काव्य शरीर की शोभा बढ़ाते हैं (सन्ध्यन्तराणि सन्धीनां विशेषास्त्वेकविंशतिः)। इनका ना० शा० (अ० १९) में निरूपण किया गया है ।

चतुर्थ प्रकाश का उपसंहार

रमणीय या घृणित, उत्तम या अधम, उग्र या आह्लादक, और गम्भीर या विकृत ऐसी कोई भी (मूलकथा में वर्णित) वस्तु या (कविकल्पित) अवस्तु लोक में नहीं है जो कवि तथा भावक के द्वारा भावित होकर रस-रूपता (रसभावम्) को प्राप्त नहीं होती ॥८५॥

टिप्पणी—(१) वसन्ततिलका वृत्त है । (२) कविभावकभाव्यमानम् = भावकेन कविना भाव्यमानम् (प्रभा)। वस्तुतः कविभावकाभ्यां भाव्यमानम् (कवि तथा भावक के द्वारा भावित) यह अर्थ उचित प्रतीत होता है ।

ग्रन्थ का उपसंहार

राजा मुञ्ज की सभा में विदग्धता को प्राप्त करने वाले विष्णु के पुत्र धनञ्जय ने विद्वानों के हृदय में आनन्द उत्पन्न करने के लिये इस दशरूपक (नामक ग्रन्थ) की रचना की है ॥८६॥

टिप्पणी—इस कथन से धनञ्जय के जीवनवृत्त पर कुछ धुंधला सा प्रकाश पड़ता है । विशेषकर यह प्रतीत होता है कि धनञ्जय के पिता का नाम विष्णु था, धनञ्जय राजा मुञ्ज की सभा में प्रतिष्ठित विद्वान् था । इससे धनञ्जय के काल-निर्णय में भी सहायता मिलती है, जिसका भूमिका में विशद विवेचन किया गया है ।

इस प्रकार यह ग्रन्थ (दशरूपक) समाप्त होता है ।

—:o:—

उत्तरप्रदेशस्थमयराष्ट्रमण्डलान्तर्गत—रसूलपुरजाहदग्रामनिवासिनां
श्रीचन्द्रभानुनम्बरदारमहोदयानाम् आत्मजेन
विविधबुधजनचरणाधिगतविद्येन
श्रीनिवासशास्त्रिणा कृता हिन्दीव्याख्या समाप्ता ।

परिशिष्टम् १

दशरूपकावलोके समुपन्यस्तानां ग्रन्थानां ग्रन्थकाराणां चानुक्रमणिका

---

*ग्रन्थकृता पुष्पाङ्कितानां नामोल्लेखो न विहितः ।

*अत्र पृष्ठाङ्का उल्लिखिताः ।

———

परिशिष्टम् २

उदाहृतपद्यानुक्रमणिका

— ० —

